श्रीशुभचन्द्राचार्यका समयनिर्णय ।

इस परमप्रसिद्ध पवित्र ग्रन्थके कर्त्ता पूज्यपाद श्रीशुभचन्द्राचार्यके विषयमें यह लेख लिखने के प्रारंभमें हमको खेद होता है कि, उन्होंने हम लोगोंके साथ बड़ी भारी प्रतारणा की, जो अपना परिचय देनेके लिये एक श्लोक भी नहीं लिखा। हमारे उपकारके लिये जिन्होंने अश्रान्त परिश्रम करके इतना बड़ा ग्रन्थ रचना कठिन न समझा, उन्होंने दो चार श्लोकोंके बनानेमें कंजूसी क्यों की? यह समझमें नहीं आता। माना कि, हम लोगोंके समान उन्हें कीर्तिकी चाह न थी, और न मानकषाय उनके समीप आने पाती थी, परन्तु अपना परिचय न देनेसे भी तो उनकी कीर्ति कहीं छुपी न रही। आज प्रत्येक जैनीको उनका नाम भगवत्तुल्य आदरके साथ लेनेमें सकोच नहीं होता। फिर परिचय न देनेसे सिवाय हम लोगोंको दुःखित व विडम्बित करनेके और क्या लाभ हुआ? सुनामधेय महात्माओंका जीवनवृत्तान्त जाननेकी श्रद्धा, किसको इच्छा नहीं होती? और फिर वर्तमान कालमें, जब कि, इतिहासके प्रेमकी मात्रा दिनोंदिन बढ रही है कौन ऐसा होगा, जो भगवान् शुभचन्द्र जैसे ग्रन्थकर्त्ताकी जीवनवार्ता जाननेको उत्कंठित न हो? अर्थात् कोई नहीं। इसीलिये आचार्य भगवान्को उलहना देकर हम खेदके साथ विविध ग्रन्थोंके सहारे युक्ति और अनुमानोंको स्थिर करके अपने विचारोंका उपक्रम करते हैं।

श्रीविश्वभूषण आचार्यका बनाया हुआ एक भक्तामरचरित्रनामका संस्कृतग्रन्थ है। उसकी उत्थानिकामें शुभचन्द्र और भर्तृहरिकी एक कथा है, उसे हम पृथक् प्रकाशित करते हैं। उससे जाना जाता है कि, भर्तृहरि, भोज, शुभचन्द्र और मुंज समकालीन पुरुष थे। इसके सिवाय भक्तामरस्तोत्रके बननेकी [1]कथासे जिसका कि इससे घनिष्ट सम्बन्ध है, यह भी प्रगट होता है कि, मानतुंग, कालिदास, वररुचि और धनंजय भी शुभचन्द्रके समसामयिक हैं। इस लिये उपर्युक्त व्यक्तियोंमें किसी एकका भी समय ज्ञात हो जानेसे शुभचन्द्रका समय ज्ञात हो सकता है।

मुंज।

परमारवंशावतंस महाराज मुंजराजका समय खोजनेमें हमको कुछ भी कठिनाई नहीं हुई। क्योंकि धर्मपरीक्षा, श्रावकाचार, सुभाषितरत्नसंदोह आदि ग्रन्थोंके सुप्रसिद्ध रचयिता श्रीअमितगतिआचार्य उन्हींके समयमें हुए हैं। सुभाषितरत्नसंदोहकी प्रशस्तिमें लिखा है —

समारूढे पूतत्रिदशवसतिं विक्रमनृपे। सहस्रे वर्षाणां प्रभवति हि पञ्चाशदधिके।
समाप्तं पञ्चम्यामवति धरणिं मुञ्जनृपतौ। सिते पक्षे पौषे बुधहितमिदं शास्त्रमनघम् ॥

अर्थात् विक्रमराजाके स्वर्गगमनके १०५० वर्षके पश्चात् अर्थात् विक्रमसंवत् १०५० (ईस्वी सन् ९९४) में पौषशुक्ला पंचमीको मुंज राजाकी पृथ्वीपर विद्वानोंके लिये यह पवित्रग्रन्थ बनाया गया। श्रीअमितगतिसूरिने श्रीमुंजमहाराजकी राजधानी [2]उज्जयनीमें ही सुभाषितरत्नसंदोह ग्रन्थ

---

१ जैनग्रन्थरत्नाकरकार्यालय-बम्बईसे प्रकाशित आदिनाथस्तोत्रकी भूमिकामें यह कथा प्रकाशित हुई है। पाठक उसे मँगाकर पढ सकते हैं।

२ राजा भोजने राजधानी उज्जयनीसे उठाकर धारा नगरीमें स्थापित की थी।

समाप्त किया था, इसलिये मुंजका राज्यकाल विक्रमसंवत् १०५० मान लेनेमें किसीप्रकारका सन्देह नहीं रह सकता । इसके सिवाय श्रीमेरुतुंगसूरिने भी अपने प्रबन्धचिन्तामणि ग्रन्थमें जो कि विक्रमसंवत् १३६१ (ई० स० १३०४) में रचा गया है, इस समयको सुनिश्चित कर दिया है। प्रबन्धचिंतामणिमें लिखा है —

विक्रमाद्वासरादष्टमुनिव्योमेन्दुसंमिते ।
वर्षे मुञ्जपदे भोजभूप पट्टे निवेशित ।

अर्थात् विक्रम संवत् १०७८ (ई० स० १०२८) में राजा मुंजके सिंहासनपर महाराज भोज बैठे। अर्थात् श्रीअमितगतिसूरिके लिखे हुए संवत् १०५० से १०७८ तक मुंजमहाराजका राज्य रहा, पश्चात् भोजको राजतिलक हुआ। और श्रीविश्वभूषणसूरिके कथानकके अनुसार यही समय श्रीशुभचन्द्राचार्यका था।

भोज ।

मुंजका समय निर्णीत हो चुकनेपर भोजके समयके विषयमें कुछ शंका नहीं रहती। क्योंकि मुंजके सिंहासनके उत्तराधिकारी महाराज भोज ही हुए थे। अतएव प्रबन्धचिन्तामणिके आधारसे संवत् १०७८ के पश्चात् भोजका राज्यकाल समझना चाहिये। अनेक पाश्चात्य विद्वानोंका भी यही मत है कि, ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दिके पूर्वार्धमें राजा भोज जीवित थे। श्रीभोजराजका दिया हुआ एक दानपत्र एपिग्राफिका इंडिकाके वाल्यूम 111, p 48—50 में छपा है, जो विक्रम सं० १०७८ (ई० सन् १०२२) में लिखा गया था। उससे भी भोजराजका समय ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दिका पूर्वार्ध निश्चित होता है। बृहद्द्रव्यसंग्रहकी संस्कृतटीकाकी प्रस्तावनामें श्रीब्रह्मदेवने एक लेख लिखा है। जिससे विदित होता है कि, श्रीभोजदेवके समयमें ही श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिचक्रवर्ती हुए हैं। वह लेख यह है —

मालवदेशे धारानामनगराधिपतिराजभोजदेवाभिधानकलिकालचक्रवर्तिसम्बन्धिनः श्रीपालमण्डलेश्वरस्य सम्बन्धिन्याऽऽश्रमनामनगरे श्रीमुनिसुव्रततीर्थकरचैत्यालये शुद्धात्मद्रव्यसंवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतरसास्वादविपरीतनारकादिदुःखभयभीतस्य परमात्मभावनोत्पन्नसुखसुधारसपिपासितस्य भेदाभेदरत्नत्रयभावनाप्रियस्य भव्यवरपुण्डरीकस्य भाण्डागाराद्यनेकनियोगाधिकारिसोमाभिधानराजश्रेष्ठिनो निमित्तं श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवैः पूर्वं षड्विंशतिगाथाभिर्लघुद्रव्यसंग्रहं कृत्वा पश्चाद्विशेषतत्त्वपरिज्ञानार्थं विरचितस्य बृहद्द्रव्यसंग्रहस्याधिकारशुद्धिपूर्वकत्वेन वृत्तिः प्रारभ्यते।

इसका सारांश यह है कि, मालवदेश-धारानगरीके कलिकालचक्रवर्तिराजा भोजदेवके सम्बन्धी, मंडलेश्वर राजा श्रीपालके राज्यान्तर्गत आश्रम नामक नगरके मुनिसुव्रत भगवानके चैत्यालयमें सोम राजश्रेष्ठीके निमित्त श्रीनेमिचन्द्रसैद्धान्तिकदेवने द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ बनाया था। इससे श्रीनेमिचन्द्रकी और भोजकी समकालीनता प्रगट होती है। परन्तु श्रीनेमिचन्द्रके समयका विचार

१ श्रीअमितगत्याचार्यने धर्मपरीक्षानामक ग्रन्थ संवत् १०७० में पूर्ण किया है। परन्तु खेद है कि, उनकी प्रशस्तिमें मुंजके विषयमें उन्होंने कुछ नहीं लिखा।

२ रायचन्द्रजैनशास्त्रमालाके द्वारा यह ग्रन्थ छप चुका है।

कारणसे इस विषयमें सन्देह उत्पन्न होता है। क्योंकि श्रीचामुंडरायका समय इतिहास लेखकोंने प्राय: ग्यारहवीं शताब्दीमें माना है। और श्रीनेमिचन्द्र सि० च० श्रीचामुंडरायके परमगुरु थे, यह सब जगतमें प्रसिद्ध है। यथा:—

> भास्वद्देशीगणाग्रमरगुरुविरसिद्धान्तविन्नेमिचन्द्र
> श्रीपादाग्रे सदा षण्णवतिदशशतद्रव्यभूमामवर्यान् ।
> दत्वा श्रीगोमठशोत्सववरतरनित्यार्पनावैभवाय
> श्रीमच्चामुण्डराजो निजपुरमथुरां सजगाम क्षितीश ॥ १॥
>
> (बाहुबलिचरित्रे)

इसके सिवाय बम्बईके दिगम्बरजैनमन्दिरमें जो एक अन्य (भोराज)की लिखी हुई पुस्तक है, जिसमें कि अनेक पट्टावलियोंके तथा ग्रन्थोंके आधारसे आचार्योंकी नामावली तथा किसी २ आचार्यका समय लिखा है। उसमें लिखा है कि, "श्रीनेमिचन्द्रसैद्धान्तिकचक्रवर्ती (श्रीअभयनन्दीके शिष्य) विक्रमसंवत् ७९४ (ई० सन् ७३८) में हुए हैं।" और इससे श्रीचामुंडरायका समय प्राय: निकलता है। श्रवणबेलगुलके इतिहासमें लिखा है, "चामुंडरायने जिसे स्थापित किया था, वह पन्थ शकसंवत् ७७७ (इसी सन् ८५५) में हयसाल देशके राजाके अधीन हो गयो। चामुंडरायके वंशजोंमें वह १०९ वर्षतक रहा।' और "कर्नाटकमें जैनियोंका निवास" नामक लेखमें एक साहब कहते हैं। "बल्लालवंशके स्थापक राजा चामुंडराय थे, जिनका राज्य सन् ७१४ में था।" और श्री गोमटेशकी प्रतिष्ठाका समय जो कि श्रीचामुंडरायने कराई थी, बाहुबलिचरित्रमें इस प्रकार लिखा है —

> कल्क्यब्दे षट्शताख्ये विनुतविभवसंवत्सरे मासि चैत्रे ।
> पञ्चम्यां शुक्लपक्षे दिनमणिदिवसे कुम्भलग्ने सुयोगे ॥
> सौभाग्ये मस्तनाम्नि प्रकटितभगणे सुप्रशस्तां चकार ।
> श्रीमच्चामुण्डराजो बेल्गुलनगरे गोमटेशप्रतिष्ठाम् ॥ १ ॥

अर्थात् कल्की संवत् ६०० (इसासन् ६७८)में श्रीचामुंडरायने श्रीबाहुबलिकी प्रतिष्ठा कराई। कल्की संवत् से यहांपर शक संवत् समझना चाहिये। क्योंकि शक राजाको जैन ग्रन्थोंमें कल्की माना है।

इन प्रमाणोंसे श्रीचामुंडरायका समय इसाकी ७ वीं सदीके लगभग ही जान पडता है।

अनेक लोगोंका कथन है कि, भोजदेव नामक दो राजा हुए हैं, और वे दोनों ही धारामें हुए हैं। यदि यह बात सत्य है और श्रीनेमिचन्द्रका समय ७ वीं शताब्दि निश्चित हो जावे, तो हो सकता है कि, श्रीब्रह्मदेवलिखित धाराधीश प्रथम भोज हों, और प्रबन्धचिंतामणिलिखित दूसरे भोज हों। कुछ भी हो, परन्तु यह निश्चय है कि, श्रीशुभचन्द्राचार्य ग्यारहवीं सदीके भोजके समयमें हुए हैं।

भर्तृहरि।

भर्तृहरिका नाम सुनते ही शतकत्रयके कर्ता राजर्षी भर्तृहरिका स्मरण हो आता है। और आचार्य

---

१ अर्थात् ८५५-१ ९=७४६ इसी सन् तक चामुंडरायका शासनसमय था।

विश्वभूषणकी कथाका आशय प्राय इन्हींकी ओर झुकता हुआ है। परंतु शुभचन्द्रके समयसे भर्तृहरिका समय मिलानेमें बड़ी २ अड़चनें हैं। सबसे पहली बात तो यही है कि, प्रसिद्धिके अनुसार भर्तृहरि विक्रमादित्यके बड़े भाई हैं, और विश्वभूषणजी उन्हें भोजका भाई बतलाते हैं। जमीन आसमान जैसा अन्तर है। क्योंकि भोज ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दिमें हुए हैं, और विक्रमादित्य संवत्के प्रारंभमें अर्थात् ईसासे ५७ वर्ष पहले हुए हैं। लोकमें जो किंवदन्तियां प्रसिद्ध हैं, और भर्तृहरिसम्बन्धी दो एक कथाग्रन्थ हैं, उनसे जाना जाता है कि, भर्तृहरि विक्रमके ज्येष्ठभ्राता थे। उन्होंने बहुत समयतक राज्य किया है। एक बार अपनी प्रियतमा स्त्रीका दुश्चरित्र देखकर वे संसारसे विरक्त होकर योगी हो गये थे। स्त्रीके विषयमें उस समय उन्होंने यह श्लोक कहा था —

या चिंतयामि सततं मयि सा विरक्ता
साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या
धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च॥

अर्थात् जिसका मैं निरंतर चिंतवन किया करता हूं, वह मेरी स्त्री मुझसे विरक्त है। इतना ही नहीं, किन्तु दूसरे पुरुषपर आसक्त है। और वह पुरुष किसी दूसरी स्त्रीपर आसक्त है। तथा वह दूसरी स्त्री मुझपर प्रसन्न है। अतएव उस स्त्रीको, उस पुरुष को, उस कामदेवको, इस (मेरी स्त्रीको) को, और मुझको भी धिक्कार है। भर्तृहरिके विषयमें छोटी मोटी बहुतसी कथायें प्रसिद्ध हैं, जिनका यहां उल्लेख करनेकी आवश्यकता नहीं दिखती। भर्तृहरिके पिताका नाम वीरसेन था। उनके छह पुत्र थे, जिनमें एक विक्रमादित्य भी थे। भर्तृहरिकी स्त्रीका नाम पद्माक्षी अथवा पिङ्गला था।

जैसे विक्रम नामके कई राजा हो गये हैं, उसी प्रकार भर्तृहरि भी कई हो गये हैं। एक भर्तृहरि वाक्यपदीय तथा भट्टिकाव्यका कर्ता गिना जाता है। किसीके मतमें शतकत्रय और वाक्यपदीय दोनोंका कर्ता एक है। इत्सिंग नामका एक चीनीयात्री भारतमें ईसाकी सातवीं सदीमें आया था। उसने भर्तृहरिकी मृत्यु सन् ६५० ईस्वीमें लिखी है।

इन सब बातोंसे यह कुछ भी निश्चय नहीं हो सकता कि, शुभचन्द्राचार्यके भाई भर्तृहरि उपर्युक्त दोनों तीनोंमें से कोई एक है, अथवा कोई पृथक् ही है। विद्वान् मधुसूदन विद्यावाचस्पतिने तत्त्वबिन्दु ग्रन्थमें भर्तृहरिको धर्मबाह्य लिखा है। और उपरिलिखित भर्तृहरि वैदिकधर्मके अनुयायी माने जाते हैं। इसलिये आश्चर्य नहीं कि, इस धर्मबाह्यसे जैनका ही तात्पर्य हो, और शुभचन्द्रके भाई भर्तृहरिको ही यह धर्मबाह्य संज्ञा दी गई हो। क्योंकि उन्होंने जैनधर्मकी दीक्षा ले ली थी। शतकत्रयके अनेक श्लोक ऐसे हैं, जिनसे जैनधर्मके अभिप्राय स्पष्ट व्यक्त होते हैं। यथा,—

एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः।
कदाहं सम्भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः॥ ६०॥ (वैराग्यशतक)

अर्थात्—मैं एकाकी निःस्पृह शान्त और कर्मोंका नाश करनेमें समर्थ पाणिपात्र (हाथ ही जिसके पात्र हैं) दिगम्बरमुनि कब होऊंगा। वैराग्यशतकके ५७ वें श्लोकमें जैनसाधुकी प्रशंसा इस प्रकार की है। देखिए —

पाणि पात्र पवित्र भ्रमणपरिगत भैक्षमक्षय्यमन्न
विस्तीर्ण वस्त्रमाशादशकममलिन तल्पमस्वल्पमुर्वी।
येषां निःसङ्गताङ्गीकरणपरिणतिः स्वात्मसंतोषिणस्ते
धन्या संन्यस्तदैन्यव्यतिकरनिकराः कर्म निर्मूलयन्ति ॥ १ ॥

अर्थात्—जिनके हाथरूपी पवित्र पात्र है, जो सदा भ्रमण करते हैं, जिन्हें भिक्षामें अक्षय्य अन्न मिलता है, जिनके दिशारूपी लम्बे चौड़े वस्त्र हैं, परिग्रहत्यागरूप जिनकी परिणति रहती है, अपने आत्मामें ही जिन्हें सन्तोष रहता है और जो कर्मोंका नाश करते रहते हैं, ऐसे दीनतारूपी दुःखसमूहसे रहित महात्माओंको धन्य है।

भर्तृहरिका वैराग्यशतक बड़ी ही उत्तम रचना है। प्रायः यह सबका सब जैनसिद्धान्तोंसे मिलता जुलता है। यदि शतकत्रयके कर्ता भर्तृहरि ही शुभचन्द्रके भाई सिद्ध हों, तो हम कह सकते हैं कि, शृंगार और नीतिशतक उन्होंने अपनी युवावस्थामें बनाये थे और वैराग्यशतक दीक्षा लेनेपर बनाया था। यह देखकर हमको आश्चर्य हुआ कि, ज्ञानार्णव और वैराग्यशतकके अनेक श्लोकोंका भाव एक सा मिलता है। बल्कि देखिये, इन दोनों श्लोकोंमें कितना साम्य है:—

विन्ध्याद्रिनगरं गुहा वसतिका शय्या शिला पार्वती
दीपाश्चन्द्रकरा मृगाः सहचरा मैत्री कुलीनाङ्गना।
विज्ञानं सलिलं तपः सदशनं येषां प्रशान्तात्मनां
धन्यास्ते भवपङ्कनिर्गमपथप्रोद्देशका सन्तु नः ॥ २१

(ज्ञानार्णव पृष्ठ ८७)

शय्या शैलशिला गृहं गिरिगुहा वस्त्रं तरूणां त्वचः
सारङ्गाः सुहृदो ननु क्षितिरुहां वृत्तिः फलैः कोमलैः।
येषां निर्झरमम्बुपानमुचितं रत्यै विद्याङ्गना
मन्ये ते परमेश्वराः शिरसि यैर्बद्धो न सेवाञ्जलिः ॥

(वैराग्यशतक श्लोक ९२)

इस कवितासाम्यसे और कुछ नहीं तो इतना अवश्य कहा जा सकता है कि, (शतकत्रयके) भर्तृहरि और शुभचन्द्र एक दूसरेके ग्रन्थोंके पठन अध्ययन करनेवाले अवश्य होंगे, या एक समयमें न रहे हों।

अन्य कवि।

कालिदास अनेक हुए हैं। उनमें जो सबसे प्रसिद्ध हैं, वे महाराज विक्रमकी सभाके रत्न थे और दूसरे भोजकी सभामें थे, जिनके विषयमें हमारे यहां अनेक किंवदन्तियां प्रसिद्ध हैं। ये ही कालिदास शुभचन्द्रके समकालीन जान पड़ते हैं। भक्तामरकी कथामें जिस वररुचिका जिकर आया है, वह कोई अन्य पण्डित होगा। क्योंकि वररुचि जो विक्रमकी सभाके रत्न थे, वे ये नहीं हो सकते। यथा—

१ अभी कुछ दिन हुए भर्तृहरिके नामसे एक विज्ञानशतक [illegible] हुआ है। [illegible] पर ऐसे यह किसी दूसरे भर्तृहरिका बनाया हुआ जान पड़ता है।

धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशङ्कुवेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः ।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपते सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥ १ ॥

मानतुंगके विषयमें और कुछ भी नहीं कहा जा सकता, परन्तु उनका भोजसे सम्बन्ध अवश्य है। श्वेताम्बर ग्रन्थकारोंने भी मानतुंग तथा भोजकी कथा लिखी है। इससे भोज तथा शुभचन्द्रका समय ही उनका समय मानना चाहिये। धनंजयके विषयमें काव्यमालाके सम्पादकने लिखा है, कि अनुमानसे ईसाकी आठवीं सदीके पूर्वमें धनंजयका समय मानना चाहिये। क्योंकि ईस्वीसन ८८४ तक राज्य करनेवाले काश्मीरनरेश अवन्तिवर्माके समसामयिक आनन्दवर्धन और रत्नाकर कविने तथा ई० स० ९५९ में श्रीसोमदेवमहाकविने राजशेखरकविकी प्रशंसा की है, और उस राजशेखरने धनंजयकी प्रशंसा की है। इसलिये धनंजय राजशेखरके पूर्ववर्ती थे। और ऐसा माननेसे भोजकी समकालीनता धनंजयके साथ नहीं बन सकती। तब क्या कालिदासके समान धनंजय भी कई हुए हैं, ऐसा मान लेना चाहिये? विद्वानोंको निर्णय करना चाहिये कि, कथाओंमें इसप्रकार ऐतिहासिक तत्त्वोंका अभाव क्यों है?

शुभचन्द्राचार्य ।

ज्ञानार्णवमें श्रीशुभचन्द्रसूरिने अपने विषयमें कुछ भी नहीं लिखा। और तो क्या अपना नाम भी नहीं लिखा। यदि प्रत्येक सर्गके अन्तमें उनका नाम नहीं मिलता और परम्परासे उनके ग्रन्थके पढ़नेकी परिपाटी न चली आई होती, तो आज यह जानना भी कठिन हो जाता कि, ज्ञानार्णवके रचयिता कौन हैं। उनके समयादिके विषयमें बाह्य प्रमाणोंसे एक प्रकारसे यह निश्चय हुआ कि, वे ईसाकी ग्यारहवीं सदीमें हुए हैं। परन्तु अब देखना चाहिये कि, उनका ग्रन्थ भी इस विषयमें कुछ साक्षी दे सकता है, या नहीं। मंगलाचरणमें उन्होंने लिखा है,—

जयन्ति जिनसेनस्य वाचस्त्रैविद्यवन्दिताः ।
योगिभिर्यत्समासाद्य स्खलितं नात्मनिश्चये ॥ १ ॥

अर्थात् "जिसे योगीजन पा करके आत्माके निश्चयमें स्खलित नहीं होते हैं, वह त्रैविद्यों (न्याय, व्याकरण और सिद्धान्तके ज्ञाताओं) करके वन्दनीय भगवत् जिनसेनकी वाणी जयवन्ती रहै।" इस श्लोकसे यह निश्चय होता है कि, श्रीशुभचन्द्राचार्यसे भगवान् जिनसेन पहले हुए हैं। और भगवत् जिनसेनका समय ईसा सन ८९८ के पहले पुष्ट प्रमाणोंसे सिद्ध होता है। प्रायः यह सब ही जानते हैं कि, भगवज्जिनसेन महापुराणको पूरा नहीं कर सके थे, केवल उसका पूर्वभाग आदिपुराण (कुछ कम) बना था और उनका स्वर्गवास हो गया था। पीछे उनके प्रमुख शिष्य श्रीगुणभद्राचार्यने उत्तरपुराण बनाकर महापुराणको पूर्ण किया था। उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमें उन्होंने लिखा है—

शकनृपकालाभ्यन्तरविंशत्यधिकाष्टशतमिताब्दान्ते ।
मङ्गलमहार्थकारिणि पिङ्गलनामनि समस्तजनसुखदे ॥ ३२
श्रीपञ्चम्यां बुधार्द्रायुजि दिवसवरे मन्त्रिवारे बुधांशे ।
पूर्वायां सिंहलग्ने धनुषि धरणिजे वृश्चिकार्कौ तुलायाम् ।

सूर्ये शुक्रे कुलीरे गवि च सुरगुरौ निष्ठितं भव्यवर्यैः।
प्राप्तेज्यं शास्त्रसारं जगति विजयते पुण्यमेतत्पुराणम्॥ ३३

जिसका सारांश यह है कि, शक संवत् ८२० (ई० सन ८९८) में उत्तरपुराण पूर्ण किया गया। इसके सिवाय भगवज्जिनसेनके प्रिय शिष्य महाराज अमोघवर्षका राज्यकाल शक सं० ७३७ से ८०० पर्यन्त निश्चित है। इससे सिद्ध है कि, ई० सन् ८९८ के कुछ वर्ष पहले आदि पुराणके कर्त्ता भगवज्जिनसेनका अस्तित्व था और उनके पीछे श्री शुभचन्द्राचार्यजी हुए हैं; नवमी शताब्दिके पहले शुभचन्द्रका समय अब किसी प्रकारसे नहीं माना जा सकता।

मंगलाचरणमें शुभचन्द्रजीने स्वामिसमन्तभद्र भट्टाकलङ्कदेव और देवनन्दि (पूज्यपाद) को भी नमस्कार किया है। परन्तु अकलङ्कदेव जिनसेनसे भी पहले हुए हैं। क्योंकि आदिपुराणमें जिनसेनने अकलङ्कदेवका स्मरण किया है। और स्वामिसमन्तभद्र तथा पूज्यपादस्वामी इन से भी पहले हुए हैं। इस लिये समय निर्णयके विषयमें जिनसेनके समान इनसे कुछ सहायता नहीं मिल सकती। क्या ही अच्छा हो, यदि शुभचन्द्रके पीछेके किसी आचार्यने उनका स्मरण किया हो, और वह हमें प्रमाणस्वरूप मिल जावे। ऐसे प्रमाणसे यह सीमा निर्धारित हो जावगी कि अमुक समयसे वे पहले ही हुए हैं, पीछे नहीं।

शुभचन्द्र नामके एक दूसरे आचार्य सागवाडाके पट्टपर विक्रम संवत् १६००(ई०सन् १५४३)में हुए हैं। उन्हें षट्भाषाकविचक्रवर्तीकी उपाधि थी। पांडवपुराण, स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी संस्कृत टीका आदि ४०-५० ग्रन्थ उनके बनाये हुए हैं। परन्तु ज्ञानार्णवके कर्त्ता शुभचन्द्रसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। शुभचन्द्र नामके और भी कई विद्वान्, भट्टारक सुने जाते हैं। पट्टवर्धन राजाके समय श्रवणबेलगुलके एक पट्टाचार्य भी शुभचन्द्र नामधारी हुए हैं। और उनका समय भी पहले शुभचन्द्रके निकट ही अर्थात् ग्यारहवीं शताब्दी माना जाता है।

इस ग्रन्थके कर्त्ता शुभचन्द्राचार्यके जीवनचरित्रके विषयमें यहां विशेष कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि इस भूमिकाके अन्तमें उनकी एक स्वतन्त्रकथा लिखी गई है, जिससे उनके कुटुम्बादिका सब विषय स्पष्ट हो जाता है। यहां इतना ही कहना बस होगा कि, वे एक बड़े भारी योगी थे, और संसारसे उन्हें अतिशय विरक्ति थी। राज्य छोड़कर इस विरक्तिके कारण ही वे योगी हुए थे। यह समस्त ज्ञानार्णवग्रन्थ उनकी योगीश्वरता और विरक्तताका साक्षी है।

ज्ञानार्णव।

इसका दूसरा नाम योगार्णव है। इसमें योगीश्वरोंके आचरण करने योग्य, जानने योग्य सम्पूर्ण जैनसिद्धान्तका रहस्य भरा हुआ है। जैनियोंमें यह एक अद्वितीय ग्रन्थ है। इसके पठन मनन करनेसे जो आनन्द प्राप्त होता है, वह वचन अगोचर है। "करकंकनको आरसी क्या?" पाठक स्वयं ही इसका अध्ययन करके हमारी सम्मतिको पुष्ट करेंगे। इस ग्रन्थकी कविता और कविकी प्रतिभा कैसी है, इसका निर्णय करना मतिमन्तराली विद्वानोंका काम है, हम जैसे अज्ञोंका नहीं। परन्तु इतना कहे बिना हमारा भी जी नहीं मानता, कि ऐसी स्वाभाविक, (अकृत्रिम) शीघ्रबोधक, सौम्य, सुन्दर और हृदयग्राही, कविता बहुत थोड़ी देखी जाती है। खेद है कि, भर्तृहरिके शतकत्रयके समान इस ग्रन्थका सर्व साधारणमें प्रचार नहीं हुआ। यदि होता, तो विधर्मीय विद्वानोंके द्वारा इसकी प्रशंसा होते हुए सुनकर आज हमारा हृदय शीतल हो गया होता।

श्वेताम्बरजैनसमाजमें एक योगशास्त्र नामका ग्रन्थ प्रसिद्ध है। उसके देखनेसे विदित हुआ कि ज्ञानार्णव तथा योगशास्त्रके अनेक अंश एकसे मिलते हैं। उदाहरणके लिये हम तीन चार समानश्लोकोंको उद्धृत करते हैं।

किंपाकफलसम्भोगसन्निभं तद्धि मैथुनम्।
आपातमात्ररम्यं स्याद्विपाकेऽत्यन्तभीतिदम्॥ १० (ज्ञानार्णव पृष्ठ १३४।)

रम्यमापातमात्रे यत् परिणामेऽतिदारुणम्।
किंपाकफलसंकाशं तत्कः सेवेत मैथुनम्॥ ७८ (योगशास्त्र द्वितीयप्रकाश।)

मनस्यन्यद्वचस्यन्यद्वपुष्यन्यद्विचेष्टितम्।
यासां प्रकृतिदोषेण प्रेम तासां कियच्चिरम्॥ ८० (ज्ञानार्णव पृष्ठ १४०।)

मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्क्रियायामन्यदेव हि।
यासां साधारणस्त्रीणां ताः कथं सुखहेतवे॥ ८९ (योगशास्त्र द्वि० प्र०।)

विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम्।
यस्य चित्तं स्थिरीभूतं स हि ध्याता प्रशस्यते॥ ३
स्वर्णाचल इवाकम्पा ज्योतिःपथ इवामलाः।
समीर इव निःसङ्गा निर्ममत्वं समाश्रिताः॥ १५ (ज्ञानार्णव पृष्ठ ८४।८६)

विरक्तः कामभोगेभ्यः स्वशरीरेऽपि निःस्पृहः।
संवेगह्रदनिर्मग्नः सर्वत्र समतां श्रयन्॥ ५
सुमेरुरिव निष्कम्पः शशीवानन्ददायकः।
समीर इव निःसङ्गः सुधीर्ध्याता प्रशस्यते॥ ७ (योगशास्त्र सप्तमप्रकाश।)

ज्ञानार्णवकी एक दो संस्कृतटीकायें सुनी हैं, परन्तु अभी तक देखनेमें नहीं आईं। केवल इसके गद्यभाग मात्रकी एक छोटीसी टीका श्रीश्रुतसागरसूरिकृत प्राप्त हुई है। भाषामें जयपुर निवासी पंडित जयचन्द्रजीकृत एक सुन्दरटीका है। हमको खास पं० जयचन्द्रजीकी लिखी हुई और शोधी हुई वचनिकासहित १ प्रति मुरादाबादसे और १ मूल सटिप्पण प्रति जयपुरसे प्राप्त हुई थी। उसीके अनुसार मान्यवर पण्डित पन्नालालजी बाकलीवालने यह सरल हिन्दीटीका तयार की है। इसके बनानेका सम्पूर्ण श्रेय स्वर्गीय पंडित जयचन्द्रजीको है। और नवीन पद्धतिसे संस्कृत करनेका द्वितीय श्रेय पन्नालालजीको है। नियमानुसार इसकी भूमिका पं० पन्नालालजीको ही लिखनी चाहिये। परन्तु उनका आग्रह इसे मुझसे ही लिखानेका हुआ, इसलिये उनकी आज्ञाका पालन करना मैंने अपना कर्तव्य समझा है। इसके लिखनेमें मेरी मन्दबुद्धिके अनुसार कुछ भूल हुई हो, तो उदारपाठक क्षमा करें। क्योंकि ऐसे विषयोंके लिखनेके लिये जितने साहित्यकी आवश्यकता है, जैनियोंका उतना साहित्य अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है, और न कहीं ऐसा संग्रह अथवा लायब्रेरी है, जहां लेखककी इच्छा पूरी हो सके।

अन्तमें—श्रीरायचन्द्रजैनशास्त्रमालाके उदारव्यवस्थापकोंको हार्दिक धन्यवाद देकर मैं यह लेख समाप्त करता हूं, जिन्होंने जैनसाहित्यके प्रचार करनेके लिये एक ऐसी उदारसंस्था स्थापित की है, जो जैनियोंकी अन्य संस्थाओंसे अनोखी और अभूतपूर्व है। श्रीजिनदेवसे प्रार्थना है कि, यह संस्था चिरंजीव होकर अन्यधनिकोंको भी उत्साहित करनेमें समर्थ हो। अलमतिविस्तरेण।

चन्दावाड़ी-बम्बई १८—०—०७ जिनवाणीका सेवक—नाथूराम प्रेमी।

आचार्यप्रवर श्रीशुभचन्द्रका जीवनचरित ।

प्राचीनकालमें मालवदेशकी उज्जयनी नगरीमें एक सिंह नामका राजा राज्य करता था। वह बड़ा धर्मात्मा था। और प्रजाका अपने पुत्रके समान पालन करता था । उसके राज्यमें सब लोग बड़े आनन्दसे निर्भय होकर अपने दिन व्यतीत करते थे। राजाके कोई संतान नहीं थी, इसलिये एक दिन एकान्तमें बैठे हुए उसे इस प्रकारकी चिन्ता हुई, कि—"हाय ! मेरे कोई पुत्र नहीं है! बिना पुत्रके यह सम्पूर्ण वैभव शून्य है ! पुत्रके बिना मेरे वीरवंशकी अब कैसे रक्षा हो सकेगी! सचमुच पुत्रके बिना संसार निरानन्दमय है, और यह जीवन भी दुःखमय है। इस प्रकारके आन्तरिक दुःखमें मग्न होनेसे राजाकी मुखश्री कुछ मलिन देखकर मंत्रीने पूछा कि, महाराज! उदासी नताका क्या कारण है? यदि हम लोगोंके वशका होगा, तो उसके दूर करनेका प्रयत्न करेंगे! मंत्रीके अधिक आग्रह से इच्छा न रहते भी राजाको अपने हृदयकी व्यथा कहनी पड़ी। बुद्धिमान् मंत्रीने इस दैवाधीन बातको सुनकर निवेदन किया कि, महाराज! सम्पूर्ण सांसारिक सुखोंकी प्राप्ति पुण्यके प्रभावसे होती है। बिना पुण्यके उदयके कुछ नहीं होता । इस लिये इसके सिवाय अन्य कारण नहीं है। पुण्य कमाइये, आपकी सब इच्छायें पूर्ण होंगी। मंत्रीके इस प्रकारके सम्बोधनसे राजाको संतोष हुआ, और वह धर्मकृत्योंमें विशेष सावधान होकर राज्य करने लगा।

एक दिन राजा अपनी रानी और मंत्रीको साथ लेकर वनक्रीड़ा करनेके लिये गया। वहां एक सरोवरके समीप मुंजके (कांसके) खेतमें राजा टहल रहा था कि, अचानक उसकी दृष्टि एक बालक पर पड़ी, जो मुंजके पेड़ोंकी ओटमें पड़ा हुआ, अंगूठा चूस रहा था । उसे देखते ही राजाके हृदयमें प्रेमका संचार हुआ । वह उस बालकको उठा कर वह सरोवरके समीप बैठी हुई रानीके पास आया और उसकी गोदमें बालकको रखकर बोला, प्रिये! देखो यह कैसा प्यारा और सम्पूर्ण श्रेष्ठ लक्षणोंसे संयुक्त बालक है, इसे थोड़े समय हृदय से लगाकर आनन्दानुभवन तो करो। रानी पुत्रको गोदमें ले विहँसकर बोली, नाथ! अभी २ आप यह मनोमोहन बालक कहांसे ले आये? राजाने कहा, मैं इस खेतमें टहल रहा था कि, अचानक एक मुंजके पेड़के नीचे इसपर मेरी दृष्टि जा पड़ी । मंत्रीसे भी राजाने यह सब सच्चा वृत्तान्त कह दिया। उसने सम्मति दी कि, महाराज ! यह एक होनहार बालक है। आपके सौभाग्यसे इसकी प्राप्ति हुई है । अब नगरमें चलकर महाराणीका गूढ़गर्भ प्रगट कीजिये और पुत्रोत्सव मनाइये। ऐसा करनेमें लोगोंको कुछ सन्देह न होगा। समझेंगे कि, महाराणीके पहलेसे गर्भ होगा, परन्तु किसी कारणसे प्रगट नहीं किया गया था । मंत्रीकी सम्मति राजाको पसन्द आई। और फिर नगरमें आकर ऐसा ही किया गया। घर घर बधनवारे बांधे गये। उत्सव मनाया जाने लगा। राज्यकी ओरसे इच्छित दान बंटने लगा। सारांश—जैसा चाहिये, सम्पूर्ण रीतिसे पुत्रजन्मका उत्सव किया गया। प्रजाको भी संतोष हुआ कि, हमारे पूज्य महाराजकी गोद भर गई।

बालक मुंजके नीचे मिला था, इसलिये राजाने उसका नाम मुंज रख दिया । मुंज राजकुमार दिन दिन बढ़ने लगा। और कुछ दिनोंमें गुरुके पास अध्ययन करके सकलकलाओंमें कुशल हो

---

१ मुंजका दूसरा नाम वाक्पतिराज अथवा अमोघवर्ष भी प्रसिद्ध है। एक ग्रन्थमें उत्पलराज भी इसका नाम बतलाया है । अमोघवर्षके विषयमें कई विद्वानोंका मत है कि, यह एक पदवी है। जो एक चालुक्यवंशीय राजाको भी प्राप्त थी।

गया । योग्य वय प्राप्त होने पर महाराजने रत्नावती नामक एक राजकन्याके साथ इसका विवाह कर दिया। मुंज राजकुमार उससे प्रसन्न होकर सुखसे कालयापन करने लगा।

इधर कुछ दिनोंमें महाराज सिंहकी रानीने गर्भ धारण किया । और दशवें महीनेमें एक पुत्र प्रसव किया। इसका नाम सिंहल (सिंधुराज) रक्खा गया । इस पुत्रके जन्मका और भी अधिक उत्सव किया गया। महाराज और महारानीको वर्णनातीत सुख हुआ । सिंहलकुमार का विवाह मृगावती नामक राजकन्यासे कर दिया गया।

मृगावती कुछ दिनोंमें गर्भवती हुई। उसके शुभमुहूर्तमें युगल पुत्र हुए । बडेका नाम शुभचन्द्र और छोटेका भर्तृहरि रक्खा । बाल्यपनसे ही इन बालकोंका चित्त तत्त्वज्ञानकी ओर सविशेष था, इसलिये वयः प्राप्त होने पर इन्होंने तत्त्वज्ञानमें अच्छी योग्यता सम्पादन की। ये ही दोनों पीछे से परमयोगी श्रीशुभचन्द्राचार्य और राजर्षि भर्तृहरि हुए ।

एक दिन अभ्रपटलोंको रंग बदलते और लुप्त होते हुए देखकर महाराज सिंहको वैराग्य उत्पन्न हो गया। सम्पूर्ण विषयसुखोंको बादलोंके समान क्षणभंगुर जान कर उन्होंने मुंज और सिंहल को राजनीतिसम्बन्धी शिक्षा देकर जिनदीक्षा ले ली। राजा मुंज अपने भाईके साथ सुखपूर्वक राज्य करने लगे।

एक दिन राजा मुंज वनक्रीडा से लौट रहे थे कि, उन्होंने मार्गमें एक तेलीको कंधेपर कुदाली रक्खे हुए खडा देखा। उसे गर्व मत्ततासे खडा देखकर मुंजने पूछा, इस तरह क्यों खडा है ? उसने कहा कि, मैंने एक अपूर्वविद्या साधी है । उसके प्रभाव से मुझमें इतना बल है कि, मुझे कोई जीत नहीं सकता। यह सुन राजाने घृणायुक्त परिहास से कहा, कि, तभी भी कहीं बलवान् हुए हैं ? इसके उत्तरमें तेलीने एक लोहेका दंड बडे जोरसे जमीनमें गाड दिया और कहा, अच्छा महाराज ! आपके सामन्तोंमें यदि कोई वीरताका घमंड रखता हो, तो इस दंडको उखाड के मेरे बलकी परीक्षा करे । सुनकर मुंजने अपने सैनिकोंकी ओर देखा । इशारा पाते ही सामन्तगण उसे उखाडने का प्रयत्न करने लगे। परन्तु किसीसे भी वह रंचमात्र नहीं हिला। तब राजा सिंहल वीरोंकी लज्जा जाते हुए देखकर स्वयं उठ खडा हुआ, और एक हाथ से उस लोहदंड को उखाडकर बोला, अच्छा अब मेरा गाडा हुआ कोई उखाडे । ऐसा कहकर उसने एक हाथसे उस लोहदंडको फिर गाड दिया। तब तेली बल लगा लगाकर थक गया, परन्तु लोहदंड नहीं उखडा। अन्यान्य सामन्त भी अपना २ बल आजमाके देख चुके, पर सफलमनोरथ कोई

---

१ प्रबंधचिन्तामणिमें मुंजकी स्त्रीका नाम भीमराजाकी कन्या श्रीमती लिखा है, यथा-भीमभूपसुता सिंहभटेन मेदिनीभुजा। श्रीमतीं सन्महः मुंजकुमारं परिणायितः ॥

२ नागपुरके एक शिलालेखसे, श्वेताम्बरजैनकवि धनपालकृत तिलकमञ्जरीसे नवसाहसांकचरितसे और उदयपुरप्रशस्तिसे भोजकी वंशावलीमें सिन्धुराजके पिताका नाम सीयकदेव, सीयक अथवा श्रीहर्षसीयक प्रगट होता है, सिंह किसी भी लेखमें नहीं मिलता । हां सीयकदेवके पिताका नाम वैरिसिंह अवश्य ही प्रसिद्ध है। एपीग्राफिका इंडिकाके वोल्यूम १ पृष्ठ २२२-२२५ में सीयकदेवका एक नामान्तर सिंहदन्त सिंहभट बतलाया गया है, शायद सिंहदन्त, सिंहभटको ही इस कथाके लेखकने संक्षेपरूपमें सिंह लिखा हो ।

३ सिंहल (सिंधुराज) को कई पाश्चात्य विद्वानोंने मुंजका पुत्र और कई ग्रंथकारोंने मुंजका बडा भाई माना है परन्तु प्रबन्धचिन्तामणि आदि अनेक ग्रंथोंके आधारसे यह निश्चय हुआ है कि सिंहल मुंजका छोटा भाई था। इसके विरुद्ध माननेवालोंका खंडन सुभाषितरत्नसन्दोहकी भूमिकामें विस्तारसे किया गया है।

ओ नहीं हुए। अन्तमें राजकुमार शुभचन्द्र और भर्तृहरि दोनोंने मुजके सम्मुख हाथ जोड़कर कहा, तात ! यदि आज्ञा हो, तो हम लोग इस लोहदण्डको उखाड़ें । इस पर राजाने विहँसकर कहा, बच्चो ! तुम लोगोंका यह काम नहीं है। अभी तुम बालक हो, इसलिये अखाड़ेमें जाकर अपनी वयके लड़कोंमें कुश्ती लड़ो । बालकोंने कहा, महाराज ! सिंहनीके बच्चोंको हाथीका मस्तक विदारण करना कौन सिखलाता है ? हम लोग आपके पुत्र हैं। इस दण्डको हाथसे उखाड़ना क्या बड़ी बात है। आप आज्ञा दें, तो बिना हाथ लगाये इसको निकालके फेंक सकते हैं। यदि ऐसा न कर सकें, तो आप हमें क्षत्रियपुत्र नहीं कहना। इस प्रार्थनापर भी मुजने कुछ ध्यान न दिया और उन्हें समझाकर टालना चाहा, परन्तु बालहठ बुरा होता है, अन्तमें आज्ञा देनी ही पड़ी। तब कुमारोंने पाटीके बालोंका फन्दा लगाकर देखते देखते एक झटकेमें लोहदण्डको निकालके फेंक दिया। चारों ओरसे धन्य धन्यकी ध्वनि गूंज उठी। तेली निर्मद होकर अपनी राह लग गया।

राजतृष्णा बहुत बुरी होती है। बड़े २ विद्वान् इसके फन्देमें पड़कर अनर्थ कर बैठते हैं। उस दिन राजा मुंजको बालकोंका यह कौतुक देखकर विचार हुआ, ओह ! इन बालकोंके बलका कुछ ठिकाना है ? इनके जीते जी क्या मेरे राज्यसिंहासनकी कुशलता हो सकती है ? अवश्य ही जब ये लोग इच्छा करेंगे, मुझे सिंहासनसे च्युत करनेमें देर न लगावेंगे। यदि इस समय इनका निर्मूलन न किया जावेगा, तो राजनीतिकी बड़ी भारी भूल होगी। विषवृक्षके अंकुरको ही नष्टकर डालना बुद्धिमानी है। तत्काल ही मंत्रीको बुलाकर मुजने अपना विचार प्रगट किया और कहा, शीघ्र ही इनको परलोकका मार्ग दिखानेका प्रयत्न करो। मंत्री सन्न हो गया। छातीपर पत्थर रखकर उसने मुजको बहुत समझाया कि, यह अनर्थ न कीजिये। राजकुमारोंके द्वारा ऐसी शंका करनेके लिये कोई कारण नहीं दीखता। परन्तु मुजने एक न सुनी। कहा, राजनीतितत्त्वमें अभी तक तुम अपरिपक्व ही हो। इसमें तुम कुछ विचाराविचार मत करो, और हमारी आज्ञाका पालन करो। मंत्री हृदयमें दुःखी हो "जो आज्ञा" कहकर चला गया। पश्चात् उसने राजाज्ञाकी पालना करनेकी बहुत चेष्टा की, परन्तु उसका हृदय तत्पर नहीं हुआ। एकान्तमें राजपुत्रोंको बुलाकर उसने मुजके भय कर विचारको प्रगट कर दिया और उज्जयनी छोड़कर भाग जानेकी सम्मति दी। तब राजकुमारोंने अपने पिता सिंहलके निकट मुजकी गुप्तमंत्रणा प्रगटकर पूछा, हम लोगोंका अब क्या कर्तव्य है, यह आपको स्थिर करना चाहिये। मुजके पामर विचारको सुनकर सिंहलका क्रोध उबल उठा। उन्होंने अधीर होके कहा, यदि मुज ऐसा नीच है, तो तुम क्यों चुप बैठे हो ? जाओ और इसके पहले ही कि वह अपने षड्यन्त्रको कार्यमें परिणत करे, तुम उसे यमलोकको पहुंचा दो। क्योंकि राजनीतिमें "हनिये ताहि हनै जो आपू" ऐसा कहा है। इसपर तत्त्वविशारद उदार हृदय राजकुमारोंने कहा, तात ! यह कृत्य हमलोगोंके करने योग्य नहीं हैं। वे हमारे आपके समान ही पूज्य पितृव्य हैं। हम उन्हें मारकर अपयशकी गठड़ी अपने सिर नहीं रखना चाहते। और किनसे जीवनके लिये यह कृत्य करें ? उन्हें उनके पापोंका बदला स्वयं मिल जावेगा। हम उसका प्रयत्न करके आपको दोषी क्यों बनावें ? वे शायद अपनेको अमर समझते हैं, परन्तु हम इस शरीरको क्षणस्थायी माननेवाले हैं। इसलिये अब हम सब झगड़ोंसे मुक्त होकर इस शरीरसे कुछ आत्म कृत्य करना चाहते हैं। संसारमें कोई किसीका नहीं है, सब अपने २ मतलबके सगे हैं। यह बुद्धिमान, पुरुषोंके सेवन करने योग्य नहीं है। इत्यादि विचार प्रगट करके दोनों भाई वहांसे चल दिये। पिता विषाद नेत्रोंसे उन्हें देखते ही रह गये।

महामति शुभचन्द्रने किसी वनमें जाकर एक मुनिराजके निकट जिनदीक्षा ले ली और निर्ग्रन्थ चारित्रका पालन करते हुए उन्होंने घोर तप करना प्रारंभ किया। परन्तु भर्तृहरिने एक कौल (तपस्वी) तपस्वीके निकट जाकर उसकी सेवामें मन लगाया। उसको दीक्षा ले ली। जटा रख ली, शरीरमें भस्म रमाली, कमंडलु तीमरा ले लिया और कन्दमूलसे उदरपोषण प्रारम्भ कर दी। एक जंगलमें घूम कर वे एक स्थानमें पहुंचे, जहां एक योगी समाधि लगाये हुए पञ्चाग्नि तप रहा था। उसे सिद्ध जानकर इन्होंने चेला बननेकी प्रार्थना की। उसने यह जानकर कि, यह एक राजपुत्र है, चेला बना लिया और कहा, मेरे पास बहुत सी विद्यायें हैं, तुम्हें जो चाहिये, प्रसन्नतासे सीखो। तबसे ये उसीके पास रहने लगे, और अपनी सेवासे प्रसन्नकर उससे विद्या सीखने लगे। बारह वर्ष रहकर भर्तृहरिने बहुत सी विद्या मंत्र यंत्र तंत्र सीखकर वहांसे चलनेका मानस किया। तब योगीने एक रसविद्या और रसतुम्बी देकर जिस रसके संसर्गसे तांबा सुवर्ण हो जाता था, जानेकी आज्ञा दे दी। भर्तृहरि प्रणाम करके वहांसे चल दिये और एक स्वतंत्र स्थानमें आसन जमा कर रहने लगे। वहां उनके सैकड़ों शिष्य हो गये, और तनमनसे सेवा करने लगे। रसतुम्बीके प्रभावसे वहां उन्हें सब प्रकारके सुख सुलभ हो गये।

एक दिन उन्हें अपने भाइकी चिन्ता हुई कि, वे कहां रहते हैं, और किस प्रकार सुख दुःखसे अपना जीवन निर्वाह करते हैं। इसलिये अपने एक शिष्यको उन्होंने शुभचन्द्रकी खबर लानेके लिये भेजा। वह शिष्य अनेक जंगलोंकी खाक छानता हुआ वहां पहुंचा, जहां श्रीशुभचन्द्र मुनि तपस्या करते थे। देखा, उनके शरीरमें एक अंगुलभर वस्त्र भी नहीं है, और कमण्डलुके सिवाय कुछ परिग्रह नहीं है। शिष्यजी दो दिन रहे, सो दो उपवास करना पड़े! वहां कौन पूछनेवाला था कि, भाई! तुम भोजन करोगे या नहीं। आखिर तीसरे दिन प्रणाम करके वहांसे चले आये। अपने गुरुदेवसे आकर कहा, महाराज! आपके भाइ बड़े कष्टमें हैं। और तो क्या चार अंगुल लंगोटी भी उनके पास नहीं है। खाने पीनेके लिये कुछ प्रबंध नहीं है। मैं स्वयं वहां दो उपवास करके आया हूं! आपको चाहिये कि, उन्हें कुछ सहायता पहुंचावें, जिसमें वे उक्त घोर दारिद्र्यसे मुक्त हो जावें। यह सुनकर भर्तृहरिको बहुत दुःख हुआ। उन्होंने उसी समय तुम्बीमेंसे आधा रस दूसरी तुम्बीमें भरके उसी शिष्यको दिया, और कहा, भाइको यह दे देना और कहना कि, अब इस रससे मनोवांछित सुवर्ण तयार करके दारिद्र्यसे मुक्त हो जाओ और सुख चैनसे रहो। चेला तत्काल ही वहांको रवाना हो गया। मुनिराजशुभचन्द्रके समीप जाकर उसने रसतुम्बी समर्पण की और उसका गुण वर्णनकरके भाइका सदेशा कह सुनाया। मुनिराजने कहा, अच्छा, इसे पत्थरपर डाल दो। शिष्य आश्चर्यचकित हो बोला, महाराज! यह क्या? ऐसी अपूर्व वस्तुको आप यों ही व्यर्थ क्यों खोते हैं? उन्होंने कहा, तुम्हें इससे क्या? जब तुम हमें दे चुके हो, तो हम कुछ भी करें। जो ऐसा नहीं है, तो ले जाओ। अपने गुरुको वापिस दे देना, हमको नहीं चाहिये। चेला बड़ी चिन्तामें पड़ा। अन्तमें यह सोचकर कि "रस वापिस ले जाऊंगा, तो गुरुजी अप्रसन्न होंगे जब इन्हें दिया जा चुका है, तो ये चाहे जो करें मुझे इससे क्या? इनका भाग्य ही ऐसा है, जो यह मूर्खता सूझी है" चेला रस पत्थरपर डालकर अपने गुरुके पास लौट गया। जाके सब समाचार कहे। सुनकर भर्तृहरिको बहुत दुःख हुआ। परन्तु यह विचार करके कि, शायद इस चेलाने उनसे रसका गुण यथार्थ नहीं कहा होगा, इससे उन्होंने रस फिकवा दिया होगा, वे अपने अनेक चेलोंको लेकर स्वयं शुभचन्द्रजीसे मिलनेको चले। साथमें बचा हुआ आधी तुम्बी रस भी ले लिया। वहां

पहुंचकर श्री शुभचन्द्रमुनिको बड़ी नम्रतासे नमस्कार कर कुशलप्रश्न किया। पश्चात्, वह रसतुंबी भेंट स्वरूप आगे रख दी। मुनिने पूछा इसमें क्या है?

भर्तृहरि—इसमें एक भेदी रस है। इसके स्पर्शसे तांबा सुवर्ण हो जाता है। बड़े परिश्रमसे यह प्राप्त हुआ है।

शुभचन्द्र—(तुंबीको पत्थरकी शिलापर मारके) भाई! यह पत्थर तो सुवर्णका नहीं हुआ। तुम्हारा तुम पत्थरमें मालूम कहां भाग गया!

भर्तृहरि—(विरक्त होकर) यह आपने क्या किया? मेरी बारह वर्षकी कमाईको आपने नष्ट कर दी। मैं ऐसा जानता तो आपके पास नहीं आता। तुंबीको फोड़कर आपने बुद्धिमानीका कार्य नहीं किया है। भला, आप अपनी भी तो कुछ कला दिखाइये कि, इतने दिनोंमें क्या सिद्धि प्राप्त की है?

शुभचन्द्र—भाई! क्या तुम्हें अपने रसके नष्ट होनेका इतना रंज हुआ है? भला, इस सुवर्णादि धनकी ही इच्छा थी तो घर द्वार किस लिये छोड़ा था? क्या वहां सुवर्ण रत्नोंकी न्यूनता थी। अरे मूर्ख! क्या इस सांसारिक दुःखकी निवृत्ति इन मन्त्र जन्त्रों अथवा रसोंसे हो जावेगी? तेरा ज्ञान कहां चला गया, जो एक जरासे रसके लिये विवाद करके मेरी कला जानना चाहता है। मुझमें न कोई कला है, और न जादू है। तो भी तपमें यह शक्ति है कि, अनुचितकी धारसे यह पर्वत सुवर्णमय हो सकता है।

इतना कहकर शुभचन्द्रने अपने पैरके नीचेकी थोड़ी सी धूल उठाकर पासमें पड़ी हुई उसी शिलापर डाल दी। डालते ही वह विस्तृत शिला सुवर्णमय हो गई। यह देखकर भर्तृहरि अवाक् हो गये। चरणोंपर गिरके बोले, भगवन्! क्षमा कीजिये। अपनी मूर्खतासे आपका माहात्म्य न जानकर मैंने यह अपराध किया है। सचमुच मैंने इन मन्त्रविद्याओंमें फँसकर अपना इतना समय व्यर्थ ही खो दिया और पापोपार्जन किये। अब कृपा करके मुझे यह लोकोत्तर दीक्षा देकर अपने समान बना लीजिये जिससे इस दुःखमय संसारसे हमेशाके लिये मुक्त होनेका प्रयत्न कर सकूं।

भर्तृहरिको इस प्रकार उपशान्तचित्त देखकर श्रीशुभचन्द्रमुनिने विस्तृतरीतिसे धर्मोपदेश दिया। तत्पश्चात् तत्त्वपदार्थोंका कथन करके उनके हृदयके कपाट खोल दिये। तब भर्तृहरि उसी समय उनके समीप दीक्षा लेकर दिगम्बर हो गये। इसके पश्चात्, भगवान् शुभचन्द्रने उन्हें मुनिमार्गमें दृढ़ होनेके लिये तथा योगका अध्ययन करानेके लिये ज्ञानार्णव (योगप्रदीप) ग्रन्थकी रचना की, जिसे पढ़कर भर्तृहरि परमयोगी हो गये[1]।

आचार्य विश्वभूषणकृत भक्तामरचरित्रकी पीठिकामें शुभचन्द्रजीके विषयमें उक्त कथा लिखी है। महाराज सिंहलके विषयमें इतना कहनेको और रह गया कि राजामुंज राज्यतृष्णा और असूयासे उन्हें भी मारनेका प्रयत्न करने लगा। एकबार एक मदोन्मत्त हाथी उनपर छोड़ा, परन्तु उसे उन्होंने वशमें कर लिया। अन्तमें एक दासीके द्वारा जो तैलमर्दन करती थी, सिंहलके नेत्र फुड़वा कर वह तुष्ट हुआ। उसी समय सिंहलके प्रसिद्ध पण्डितमान्य और यशस्वी भोजकुमारने

[1] उज्जयिनीके पास एक भर्तृहरि नामकी गुफा है। कहते हैं। भर्तृहरिने उसी गुफामें घोर तपस्या की थी।

[2] श्रीमेरुतुंगसूरिने भी सिंधुलके नेत्र फुड़वानेकी बात लिखी है। परन्तु उसमें भी सिंधुलकी उद्दंडताके सिवाय और कोई कारण नहीं लिखा। एकबार मुंजने सिंधुलको अपने देशसे इसी उद्दंडताके कारण निकाल भी दिया था। भोजको मारनेके लिये भेजनेकी और फिर उसका लिखा हुआ मान्धाता स महीपति इत्यादि श्लोक पढ़कर उसके लिये पश्चात्ताप करनेकी बात भी मेरुतुंगसूरिने लिखी है।

[illegible] । [illegible] अपनी [illegible] के दुःखको कुछेक भूल गये। हिहलके [illegible] देखने [illegible] किया, और लेखका अपने पुत्रके समान मानकर जब वह [illegible] [illegible] करके [illegible] एकान्तमें मुझसे कथोपकथन करने लगी। [illegible]

अनुवादककी प्रार्थना ।

[illegible] इस ग्रन्थका जैसा महान् नाम है, वैसा ही यह ग्रन्थ भी महान् है। [illegible] [illegible] मधुर और [illegible] सुनानेवाला प्रौढ़ अथात् उत्कृष्ट [illegible] है। [illegible] [illegible] करना भी किसी बड़े [illegible] काम था, । परन्तु श्रीपरमधाराम [illegible] होनेके कारण मुझ अल्पज्ञको यह कार्य करना पड़ा है। [illegible] [illegible] कुछ भी नहीं है। स्वर्गीय पण्डित जयचन्द्रराय (जयपुरनिवासी) [illegible] [illegible] अनुकरणमात्र है। [illegible] बात यह है कि, [illegible] [illegible] उनकी सोची हुई प्रथम प्रतिसे हमने यह ग्रन्थ लिया है। [illegible] के विषयमें कहनेकी कुछ आवश्यकता ही नहीं है। [illegible] [illegible] [illegible] प्रति भी मैंने जो [illegible] [illegible] है कि, वह ग्रन्थ जैसा [illegible] [illegible] [illegible] अनेक अशुद्धियां रह गई हैं, [illegible] [illegible] [illegible] चाहिये कि, उसके अनुसार [illegible]

[illegible] अशुद्धियां रह गई हैं। [illegible] [illegible] आवश्यकता नहीं [illegible] [illegible] करना चाहिये, [illegible] [illegible] नहीं है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]



श्रीपरमात्मने नमः ।

रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला ।

५—७—९.

दिगम्बरजैनाचार्यश्रीशुभचन्द्राचार्यविरचित

ज्ञानार्णवः ।

सुजानगढनिवासिपन्नालालबाकलीवालकृत-
हिन्दीभाषानुवादसहित ।

ज्ञानार्णवस्य माहात्म्यं चित्ते को वेत्ति तत्त्वतः ।
यज्ज्ञानात्तीर्यते भव्यैर्दुस्तरोऽपि भवार्णवः ॥ १ ॥

स च

मुम्बापुरीस्थ–श्रीपरमश्रुतप्रभावकमण्डलस्वत्वाधिकारिभि
निर्णयसागराख्यमुद्रणालये मुद्रयित्वा
प्रकाश्यं नीतः ।

श्रीवीरनिर्वाण संवत् [illegible] । ईस्वी सन् [illegible] ।
Ab[illegible]

अथ ज्ञानार्णवस्य विषयानुक्रमणिका



इति विषयानुक्रमणिका समाप्ता।

सूचना—ज्ञानार्णव पृष्ठ ३८९ में जो हमने अनाहतका स्वरूप लिखनेकी प्रतिज्ञा की है। तदनुसार अनाहतका लक्षण व आकार यहां लिखते हैं।

अनाहतका लक्षण

उविन्द्वाकारहरोर्द्धरेफबिन्दुज्ञानवाक्षरम्।
मालाधस्यन्दिपीयूपबिन्दु विदुरनाहतम् ॥ १ ॥

अनाहतका आकार



इसमें निम्न लिखित ना ९ अक्षर मिले हुए हैं

१ उकार २ अनुस्वार ३ इकार ४ ऊर्द्धरकार ५ हकार
६ हकार ७ निम्न रकार ८ अनुस्वार ९ इकार

यह अनाहतका लक्षण व आकार हमको श्रीजवाहरलालजी शास्त्रीने बड़े परिश्रमसे प्रतिष्ठाविधिसंबधी पुस्तकोंमेंसे निकालकर बतलाया है, इस लिये हम उनके कृतज्ञ हैं।

अनुवादक

स्वाध्याय करनेवाले महाशयो !

सबसे पहिले नीचे लिखे शुद्धिपत्रको देखकर इस ग्रंथको शुद्ध कर लीजिये तत्पश्चात् स्वाध्याय करना प्रारम्भ कीजिये।

शुद्धिपत्रम्।

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
१	१	-विरचितम्	विरचित
१	२	ज्ञानार्णवम्	ज्ञानार्णव
१	४	-सहितम्	-सहित
२	२७	विशेषणोंके	विशेषणोंकरके
४	१५	इसीकारण	(इसीकारण)
५	४	आचार्य	आचार्य महाराज
६	२५	छन्दो	छन्द
८	६	-भि देप-	-नि देप-
९	२२	अन्य आ-	अन्यआ-
१०	१५	-विशुद्धि दे	विशुद्धिदे
१०	२४	कुशाग्रप्रमना	कुशाग्रप्रमदना
११	५-६	यदपि सुननेमें सत्पुरुषोंके कायमे	यदपि कार्यशून्य और सज्जनोंको भी
११	६	रहित	•
१२	६	दुराचारानिर्दोषा-	दुराचारा निर्दोषा-
१२	२५	कान्तासार-	कान्ता स्मर-
१३	२	गत	गता
१३	१८	रघु-	इषु-
१५	१	कामाथा	कामाथा'
१७	७	रचीहुई	रचीहुई अत्यन्त सुंदर
१९	२९	पनन्य-	पनन्लाभ-
२१	९	निज	भिन
२२	६	यह	ये
२२	८	करते हैं	कहते हैं
२३	२	साथ	साद
२३	४	पतने	अनेक
२३	१२	कहते	करते
२४	८	-ऽधवारम्भा-	-ऽधवा रम्भा
२४	१८	मुमन्दमिश-	सुमन्दस्मित-
२६	२६	होष्द्वे	होवन्ति
२६	२७	बुद्धिविभवना	बुद्धिविभवेन

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
२६	१७	दृग	दृग
२७	७	आपदाआको	आपदाओंके समान अपनी आपदाओंको
२९	१४	आरम्धामृग-	आरब्धा मृग
२९	१५	नीवस्लाति रति	जीवकला निरेति
३	११	दृग	दृग
३१	२९	खपचो-	श्वपचो-
३७	१८	तद्देशो	गदेशो
३८	२६	निर्विशल्लय-	निविशराय-
४	३	गलित	गलित
४२	८	कुणिप-	कुणप
४२	९	निपिन	निषण्ण
४३	७	कायवाग्मनो कर्मयोग	कायवाङ्मन कर्मयोग
४७	१७	उसे	उसे मुनिजन
५०	१९	पयन्य	पनन्य
५१	६	कारण	शरण
५१	१०	स त्राता	सत्राता
५१	१९	पतिता	पतता
५७	२८	-यामूत्-	-व्यामूत्-
७४	१२	प्रक्रिया	अक्रिया
८१	१३	पातु	ज्ञात
८६	१२	सघट	सघट्ट
८९	२०	विपर्योम	विपर्योंमें नहीं
८९	२९	पाप	पाद
९०	२२	पुन	पुन
९०	२३	ये	यें
९२	१८	तत्त्वार्थ श्रद्धान	तत्त्वार्थश्रद्धान
९२	२७	तीव्र	तीन
९३	२६	सिद्ध	सिद्ध
९६	१४	समासा	समास
९७	११	कार्म	कर्म
१ २	२१	दर्शन	दर्शनम्
१०२	२४	महाभाग्य है	महाभाग्य शुरू है ऐसा मैं मानता हूँ
१०५	१६	इन्द्रियजानित	इन्द्रियजनित
१०५	१६	आमाका	आ मासे
१०५	२१	स्फुर-	स्फुर-
१०७	७	यह कालमें	यह किसीकालमें
१११	३	(१०५)	(१०८)
१११	२१	यह	यह जीवोंके हितरूप

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
११२	८	त्रिजगत	जगत्
११३	१९	करणा	करुणा
११६	२७	पापे अगन्तोत्थ	पापप्रसक्तोत्थ
११	२२	कुन्बी	निकली
१३२	९	स्वप्नमेंभी	स्वप्नमें भी
१३६	३	कर्म्	कर्दमम्
१३७	१५	यह	प्रयोजनो प्राप्तहुआ यद
१३८	२५	क्षणभरसे	आधे क्षणसे
१४०	१	क्षु	क्षुद
१४०	२७	(परजातिकी स्त्री)	(पशुजातिकी स्त्री)
१४३	३	शङ्का	शङ्का
१४३	२५	वेगसे	वेगसे बंधी हुई
१४४	८	नर	नरके
१४४	२४	क्यांकि	क्योंकि लीलामात्रसे
१४५	८	त्रियद्दरम्	त्रियस्थिरम्
१४५	२१	करती	रहती
१४६	२९	पाकर भी	पाकर भी स्वभावसे
१५	२३	आर	और ज्ञानही है निमल नेत्र जिनके तथा निर्ग्रन्थ व
१५६	२२	संघ	संग
१५७	४	शरीरको	पेटको
१५८	१३	सासे	मासे
१६५	१	मानी	लोभी
१६७	२६	मनुष्योंका	वृद्धावस्थासे मनुष्योंका
१७०	४	कुविद्यारूपी	कुविद्यामय रागरूपी
१७४	१५	यों ही	सो ही
१७९	९	विषयर्थ्यां-	विषयव्या-
१८४	५	बाह्याभ्यान्तर	बाह्याभ्यन्तर
१८४	१७	तथा	तन
१८८	२७	इप्या	ईर्ष्या
१९२	२७	पाया	हेरा
१९३	६	कराहुआ	कहाहुआ-
१९४	२	तथा	अर्थात्
१९५	३०	अठाद्श	अष्टादश
१९	३	कहता	करता
२ ३	१	पुगा	पुंस
२०३	१८	तप	
२ ७	२६	सत्कार करे	सत्कार न करे

पृष्ठम्	पङ्क्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
२०८	२१	[illegible]	[illegible]
२०९	२३	[illegible]	[illegible]
२१८	२०	[illegible]	[illegible]
[illegible]१०	३	[illegible]	[illegible]
२३१	२४	[illegible]	[illegible]
२३४	२१	[illegible]	[illegible]
२३५	२९	[illegible]	[illegible]
२३७	८	गमा गमा	गमो गमो
२३९	१६	मगुरमें	[illegible]
२४४	१२	[illegible]	[illegible]
२४६	४	[illegible]	[illegible]
२४९	१	प्राप्त	[illegible]
२५०	१२	[illegible]	[illegible]
२५३	८	[illegible]	[illegible]
२५	९	पाता	पाता
२५६	३	[illegible]	[illegible]
२५७	८	[illegible]	[illegible]
२५९	७	यथा-	यथा-
२६०	१०	यात्रान-	यात्रार्थ-
२६०	१२	निदान	जो निदान
२६४	१७	कुम	कुमें
२६४	२१	शक्तिको	समय और शक्तिको
२६६	१८	वर्णे	वर्ग
२६६	२	प्रवीणताके	प्रवीणतामें
२६६	२१	प्रवर्तेगा	प्रवर्तेगे
२६६	२६	रौद्रध्यान	मृषानंदी रौद्रध्यान
२६७	२६	कीयी जाय सो	की जाय सो तीसरा चौर्यानन्दी
२७१	१	-फजाय	-फज्ञाय
२७१	२८	संसार	संसारसे
२७२	२३	-समुद्रासे रोग-	-समुद्रासरोग-
२७३	१६	माध्यस्त	माध्यस्थ्य
२७४	७	वृत्तांतको	वृत्तान्तको जानकर
२७५	८	कौलि-	कील-
२७५	२५	करनेवालोंका जिसमें संचार हो	और अभिचारसे पूर्ण स्थान,
२८३	१५	हृदयकी	हृदकी
२८३	२२	-कर्णोंते-	-कहोंते-
२८५	२३	-स्न्धा-	-स्कन्धा-

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
२८५	१०	रहन	रहना
२८६	१	अग्राभ्याग	अग्राभ्यासे
२८६	१४	पवनके	पवनको
२८७	९	समान	• •
२८८	४	पृथ्वी बीजाक्षर सहित	पृथ्वीका बीजा क्षर उस सहित
२९२	१६	नेष्टघटने समथा	नष्टघटनक्षमथा
२९३	२७	सिद्धपत्र-	सिद्धपत्र-
२९५	१३	शोक	शाका
२९७	१६	पृष्ठा	पृष्ठ
२९८	२५	वायु प्रगम-	वायुप्रगम-
३ २	८	-घतो	-घता
३०२	१५	शरीरम	शरीरमे और पुत्र तथा पन्यत्मय पदार्थमें
३ ७	५	ए नुचिनन्वत	सर्व चिन्वन
३ ७	२३	बन्धु	बन्धु अथ नृ
३११	२४	परमात्मा	परमात्माक
३११	२८	निरर्थक	निरर्थक है
३१	२४	ज्ञानवानूच	ज्ञानवान् जो महान्‌
३२१	१०	तत्पमयप्रहृष्टं	स्वप मम प्राय ।
३२२	१४	मयाय	समाय
३२३	१५	उसका फलवाद	उस कायका फल
३२४	३	स्थान	समूह
३२४	१७	यति	यति
३२५	१६	यथात्मामा-	यथात्मा
३२६	२	को मुनि	मुनि
३२६	२८	रहता	रहता और जिसके आश्रय विजय है वह है वह योग तथा उत्पन्न हुआ जो इन्द्रियजन्य रह जाता है
३४१	११	सावगर्या॒न्	स्वर्गार्थान्
३५०	१७	हुआ है	हुआ है
३५५	१	और	और हुए
३५५	१	है नपुंसी आनन्दे	हुए और जा सकि हुए
३५५	१८	खोटा सब जाता	जलता हुआ खोटा सुवर्ण
३५६	१	-हसन्ते-	-हन्ते-
३५६	११	स्पन्दैन्ते	स्पन्दन है
३६६	१८	हृतमकार	हृतकार वायु स्पन्दैन
३६८	२१	अ सहयुनाय वायी	कहते
३७३	१६	वे हुये हों	व वय हुये हों
३७७	८	पर-	पर

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
३७७	३१	गते	गर्त
३७९	२	यद्दिये	रूप
३८०	२७	पञ्चत्रिंश	पट्त्रिंश
३८०	२८	पट्त्रिंश	सप्तत्रिंश
३८१	६	पिण्डस्थ	पिण्डस्थे
३८१	२२	जिसरी	जिसकी
३८४	१५	मेरुपर्वतको	स्वगको
३८५	१८	आत्माके	आत्माको
३८६	६	गोरे	गोरा
३८७	७	आत्मा	आत्माको
३९७	२४	प्रोच्छिग्रत्स्यात्	प्रोच्छिनत्स्यात्
३९८	२०	देखनेमें	देनेमें
३९९	१८	स्पन्द	स्पन्द
४०२	१७	होत हुआ	होता हुआ
४ ९	२३	ऐसा	ऐसे
४१८	७	ध्यानमें	ध्यानमें सदा
४१४	१४	-स्पन्दा-	-स्पन्दा-
३१४	१६	वेगसे	प्रवाहसे
४१९	२७	प ञात्	पश्चात् रूपमें
४१९	२८	रूपस्थ	रूपातीत
४३३	१६	वितर्क	वितर्क
४४०	१२	यह	•
४४०	२६	जाती ह	हो जाती हैं
४४२	१४	निश्चित्	निश्चिद्
४४५	११	प्रमाण	प्रमाण ह
४४६	११	धीमार्थ्त्रेलोक्य	धीमांस्त्रैलोक्य-
४४७	२	चन्द्र	-चन्द्री

इति ।

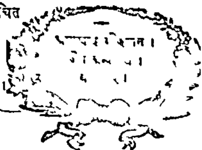


रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला.

श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचित

ज्ञानार्णवः

भाषानुवादसहित



दोहा ।

करमघातिया नाश करि केवललक्ष्मी पाय ।
आदि अघाति हरि मुकति, वन्दौं तिनके पाय ॥ १ ॥
परमागम केवलिकथित गणधरगूथित सार ।
ताको वन्दौं भावजुत पाऊ ज्ञान उदार ॥ २ ॥
गुरु गौतमको आदि दै, भये पचमें काल ।
तिनिके पदकू वदि करि, तजू सकल जजाल ॥ ३ ॥
देवशास्त्रगुरु वदि करि ज्ञानार्णवश्रुत देखि ।
करू वचनिका देशमय, भव्यजीव हित पेखि ॥ ४ ॥

मगलाचरणम्

ज्ञानलक्ष्मीघनाश्लेषप्रभवानन्दनन्दितम् ।
निष्ठितार्थमजं नौमि परमात्मानमव्ययम् ॥ १ ॥

अर्थ—आचार्यवर्य कहते है कि—मैं परमात्माको नमस्कार करता हू, परा=उत्कृष्ट—मा=लक्ष्मी—जिस आत्माको होय सो परमात्मा है, इस विशिष्ट गुणके धारक अरहन्त तथा सिद्ध भगवान् ही हैं। सो परमात्मा कैसा है ? ज्ञानकी जो लक्ष्मी अर्थात् समस्त पदार्थोंका जानना तथा वीतरागतारूप लक्ष्मीके दृढ आलिंगनसे (एकरूपतासे) उत्पन्न हुए आनदसे (परम अतीन्द्रिय अनन्त सुखसे) आनन्द स्वरूप है । इस विशेषणसे अन्यमती परमात्माके स्वरूपको भिन्न प्रकारसे वर्णन करते हैं, अत उनसे विभिन्नता दिखाई है । अर्थात् कई वैष्णव तो "परमात्मा परब्रह्म है, और सब व्यापक

१ भाषाटीकाकार प. जयचन्द्रजीका मगलाचरण । २ श्लोक अनुष्टुप् ।

है। अतएव जितने स्त्रीके स्वरूप हैं, वे तो परमात्माकी शक्तिके रूप हैं और जितने पुरुषके स्वरूप हैं, वे सब परमात्माके रूप हैं। इसप्रकार लक्ष्मी और परमात्माके संयोगरूप दृढ आलिंगनसे परमात्माको सुख होता है।" ऐसी कपोलकल्पना करके उसका व्यवहार करते हैं। और कोई २ तो श्रीराम ऐसी सज्ञा रखकर स्त्री पुरुषका आकार (मूर्त) स्थापनकर पूजते तथा ध्यान करते हैं। कोई २ लक्ष्मीनारायण कहते हैं, कोई राधा कृष्ण कहते हैं, और कोई गोपीनाथ कहते हैं। तथा कई एक शिवमती पार्वतीका स्थापन करते हैं। कोई २ केवल शिवजीके लिंग तथा पार्वतीकी जननेन्द्रियको ही स्थापन कर पूजते हैं। सो इनके माने हुए स्वरूपको तो ज्ञानलक्ष्मी शब्दसे निराकरण किया। नैयायिक कहते हैं कि—"ज्ञान और आत्मा भिन्न २ पदार्थ हैं और इनकी एकता जो समवायनामक एक भिन्न पदार्थ है, सो करता है"। परन्तु भिन्न पदार्थकी की हुई एकता कदापि नहीं हो सकती, क्योंकि एकता तो तादात्म्यरूप होती है, सो ही होती है। इस कारण घनाश्लेषके कहनेसे उन नैयायिकोंकी कल्पनामें भी भिन्नता दिखाई है। सांख्यमती प्रकृति और पुरुषका संयोग होनेसे आत्माको ज्ञानसुख होना कहते हैं, सो इनसे भी ज्ञानलक्ष्मीके दृढ आलिंगन अर्थात् तादात्म्य मानसे ही सुख होता है, इस प्रकार भिन्नता दिखाई है। एवम् अन्यान्य मतवाले जो परमात्माको अन्यप्रकार कहते हैं, उन सबका भी निराकरण इसी विशेषणसे जानना चाहिये, क्योंकि परमात्माके ज्ञानानन्द रूपतासे परमानन्द है अन्य प्रकारसे नहीं है। फिर कैसा है परमात्मा? निष्ठित परिपूर्ण हो गये हैं, अर्थ प्रयोजन जिसके, ऐसा कृतकृत्य है। इस विशेषणसे जो नैयायिक कहते हैं कि, परमात्मा वा ईश्वर है सो समस्त कार्यका कर्ता है अर्थात् सृष्टिको बनाता वा बिगाड़ता रहता है, सो इस मान्यका खंडन किया है। क्योंकि जो कुछ भी कार्य करता रहता है, वह कृतकृत्य कदापि नहीं हो सकता। फिर कैसा है वह परमात्मा? कि—अज है, अजन्मा है, अर्थात् उसका कभी जन्म नहिं होता। इस विशेषणमें जो राम कृष्ण आदि परमात्माके अवतारोंको मानते हैं, उनकी कल्पनाका निषेध किया है। क्योंकि परमात्माका फिर कभी संसारमें जन्म नहिं होता। फिर कैसा है परमात्मा? अव्यय कहिये नाशरहित अर्थात् अविनाशी है। इस विशेषणमें जो कोई परमात्माका नाश मानते हैं, तथा सर्वथा अभाव ही मानते हैं, उनकी कल्पनाको मिथ्या ठहराया है। इस प्रकार इन चार विशेषणों करके समस्तमतोंसे भिन्न जैसा यथार्थ स्वरूप परमात्माका है, उसे प्रगट करके आचार्य महाराजने नमस्काररूप मंगलाचरण किया है। अन्यमती जो कल्पना करके कहते हैं, सो यथार्थ नहीं है। और जो अयथार्थ है सो वस्तु नहीं है, तथा अवस्तुको नमस्कार करना योग्य नहीं है॥

यहां कोई अन्यमती प्रश्न करे कि—"हम भी तो परमात्मा इन ही विशेषणोंके सहित

कहते हैं, सो यथार्थ क्यों नहीं है? हम परमात्माको समस्त जगत्की मायासे पृथक् मानते हैं"—उसका यह उत्तर है कि,—

तुम जो ऐसा कहते हो, सो एकान्तपक्षसे कहते हो। वस्तुका स्वरूप सर्वथा एकान्तरूप प्रमाणसिद्ध नहीं है, क्योंकि वस्तुका स्वरूप जो अनेकान्तात्मक है, वही सत्यार्थ है। इसकी चर्चा बाधा निर्बाधास्वरूप जैनके प्रमाण नयके कथन करनेवाले स्याद्वादरूप जो अनेक शास्त्र हैं, उनसे जाननी चाहिये। यहां इतना ही अभिप्राय जानना कि, सामान्यतासे तो परमात्माको समस्त मतवाले मानते हैं, परन्तु उसके स्वरूपमें विवाद है। और समस्त मतावलम्बी परस्पर विधिनिषेध करते हैं, उनके विरोधको जैनियोंका स्याद्वादन्याय दूरकरके यथार्थ स्वरूपको स्थापन करता है। वही स्वरूप भव्यजीवोंके श्रद्धान तथा नमस्कार करने योग्य है।

यहां कोई प्रश्न करे कि, परमात्माके नमस्कार करनेकी योजना कैसे है? इसका उत्तर यह है,—

यह आत्मनामा पदार्थ निश्चयनयसे स्वयं ही परमात्मा है, किन्तु अनादिकालसे कर्मोंसे आच्छादित होनेके कारण जबतक अपने स्वरूपकी प्राप्ति नहीं होती है तबतक इसको जीवात्मा कहते हैं। जीव अनेक हैं, इस कारण जो भाव कर्म काटकर परमात्मा अवस्था सिद्ध हो गये हैं, यदि उनका स्वरूप जान उन्हींके ऐसा अपना भी स्वरूप जानें तो उनके स्मरण ध्यानसे कर्मोंको काटकर आत्मा स्वयम् उस पदको प्राप्त होता है। अत जबतक कर्म काटकर उनके ऐसा न होय, तबतक उस परमात्माके स्वरूपको नमस्कार करना आवश्यक है, तथा उसका स्मरण ध्यान करना भी उचित है ॥ १ ॥

आगे आचार्य इष्ट देवका नाम प्रकाश करके नमस्कार करते हैं। प्रथम ही इस कल्प युगकी आदिमें आदि तीर्थंकर श्री ऋषभदेवजी हुए हैं, इसलिये उनको नमस्कार करते हैं,—

भुवनाम्भोजमार्त्तण्डं धर्मामृतपयोधरम्।
योगिकल्पतरुं नौमि देवदेवं वृषध्वजम् ॥ २ ॥

अर्थ—मैं (शुभचन्द्राचार्य) वृषध्वज कहिये वृषभ है ध्वज अर्थात् चिह्न जिनके, अथवा वृष कहिये धर्मकी ध्वजास्वरूप श्री ऋषभदेव आदि तीर्थंकरको नमस्कार करता हूं। कैसा है ऋषभदेव? देवदेव कहिये चार प्रकारके देवोंका देव है। इस विशेषणसे समस्त देवोंके द्वारा पूज्यता दिखाई। फिर कैसा है? भुवन कहिये लोकरूपी कमलके प्रफुल्लित करनेकेलिये सूर्यसमान है। इस विशेषणसे [illegible] जन्मकल्याणकमें अनेक अतिशय चमत्कार हुए, उनसे लोकमें प्रचुर आनन्द प्रवर्त्त रहा जनाया है। फिर कैसा है प्रभु? धर्मरूपी अमृत वर्षानेको मेघके समान है। इस विशेषणसे [illegible]

पश्चात् दिव्यध्वनिसे अभ्युदय निःश्रेयसका मार्ग धर्म प्रवर्त्तना प्रगट किया है। फिर कैसा है प्रभु? योगीश्वरोंको मनोवांछित फल देनेकेलिये कल्पवृक्षके समान है। इस विशेषणसे योगीश्वरोंको मोक्षमार्गके साधनेवाले ध्यानकी वांछा होती है, सो उनको यथार्थ ध्यानका मार्ग बतानेवाला है, अर्थात् जो ध्यान हम करते हैं, वही ध्यान तुम करो, इस प्रकार परपराय ध्यानका मार्ग जानकर योगीश्वरगण अपनी वांछाको पूर्ण करते हैं, ऐसा आशय जनाया है ॥ २ ॥

आगे आचार्य अपने नामके निमित्तसे स्मरणमें आये हुए अष्टम तीर्थंकर श्रीचन्द्रप्रभदेवको प्रार्थनारूप वचन कहते हैं,—

भवज्वलनसंभ्रान्तसत्त्वशान्तिसुधार्णव ।
देवश्चन्द्रप्रभ पुष्यात् ज्ञानरत्नाकरश्रियम् ॥ ३ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि, चन्द्रप्रभदेव हैं, सो ज्ञानरूप समुद्रकी लक्ष्मीको पु[illegible] करो। कैसे हैं चन्द्रप्रभदेव? संसाररूप अग्निमें भ्रमते हुए जीवोंको अमृतके समु[illegible] [illegible] हैं। **भावार्थ**—यहां रूपकालंकारकी अपेक्षासे कहा है कि, चन्द्रप्रभदेव [illegible] हैं। जैसे चन्द्रमा समुद्रको बढानेका कारण होता है, भगवान् भी ज्ञानरूपी [illegible] [illegible] कारण हैं। अत (इसीकारण) यह प्रार्थना की है। तथा इस [illegible] 'ज्ञानार्णव' रक्खा है, सो इसकी पुष्टताकेलिये भी प्रार्थना की है। [illegible] [illegible] संसारतापसे तप्तायमान हो रहे हैं, उनकेलिये चन्द्रप्रभभगवान् [illegible] [illegible] हैं। तथा ज्ञानरूपी अमृतकी वर्षाकरके तापको मिटानेवाले हैं ॥ ३ ॥

आगे [illegible] [illegible] शान्ति करनेमें सोलहवें तीर्थंकर श्रीशान्तिनाथ भगवान् कारण हैं, इस कारण उनको नमस्कार करते हैं,—

सत्संयमपयःपूरपवित्रितजगत्त्रयम् ।
शान्तिनाथं नमस्यामि विघ्ननिर्घातशान्तये ॥ ४ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि, मैं [illegible] [illegible] [illegible] शान्तिकेलिये श्रीशान्तिनाथ [illegible] [illegible] नमस्कार करता हूं। कैसे हैं प्रभु? सम्यक्चारित्ररूप [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] हैं। **भावार्थ**—शान्ति कार्यमें शान्तिनाथ [illegible] [illegible] [illegible] हैं, इस कारण [illegible] [illegible] विघ्नविनाशार्थ उनको नम[illegible] [illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] [illegible] प्रथम ग्रहण किया, इस कारण [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ग्रहण किया, इस हेतुसे भी यह [illegible] [illegible] [illegible] है ॥ ४ ॥

आगे अन्तिम तीर्थंकर श्रीवर्द्धमान भट्टारकको प्रार्थनारूप वचन कहते हैं,—

श्रिय सकलकल्याणकुमुदाकरचन्द्रमा ।
देव श्रीवर्द्धमानाख्य क्रियाद्भव्याभिनन्दिताम् ॥ ५ ॥

अर्थ—आचार्यमहाराज कहते हैं कि, श्रीवर्द्धमान नामा अन्तिम तीर्थंकर देव हैं, सो भव्य पुरुषोंकर प्रशंसित और इच्छित लक्ष्मीको करो । कैसे है प्रभु? समस्त प्रकारके कल्याणरूपी चन्द्रवंशी कमलोंके समूहको प्रफुल्लित करनेकेलिये चन्द्रमाके समान है। भावार्थ भगवान् समस्त कल्याणोंसे परिपूर्ण है, समस्त विघ्नोंको विनाश करनेवाले हैं । और इस कालमें जिनके वचन मोक्षमार्गके उपदेशरूप प्रवर्ते हैं, ऐसे भगवान्से वांछित लक्ष्मीकी प्रार्थना करना युक्त है ॥ ५ ॥

आगे ध्यानकी सिद्धिके अर्थ श्रीगौतमगणधरको नमस्कार करते हैं,—

श्रुतस्कन्धनभश्चन्द्र संयमश्रीविशेषकम् ।
इन्द्रभूतिं नमस्यामि योगीन्द्र ध्यानसिद्धये ॥ ६ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि, योगियोंमें इन्द्रके समान इन्द्रभूति कहिये श्रीगौतम नामक गणधर भगवान्को ध्यानकी सिद्धिके अर्थ नमस्कार करता हूं । कैसे हैं इन्द्रभूति? श्रुतस्कन्ध कहिये द्वादशांगरूप शास्त्र, सो ही हुआ आकाश, उसमें प्रकाश करनेके अर्थ चन्द्रमाके समान हैं । फिर कैसे हैं? संयमरूपी लक्ष्मीको विशेष करनेवाले हैं। भावार्थ—श्रीगौतमगणधरने श्रीवर्द्धमानस्वामीकी दिव्यध्वनि सुनकर द्वादशांगरूप शास्त्रकी रचना की, और आप संयम पाल और ध्यान करके मोक्षको पधारे । पश्चात् उनसे ध्यानका मार्ग प्रवर्त्ता । इस कारण उनको इस ध्यानके (योगके) ग्रन्थकी आदिमें नमस्कार करना युक्त समझके नमस्कार किया है ॥ ६ ॥

आगे सर्वज्ञके स्याद्वादरूप शासनको आशीर्वादरूप वचन कहते हैं,—

प्रशान्तमतिगम्भीर विश्वविद्याकुलगृ(?)हम् ।
भव्यैकशरण जीयाच्छ्रीमत्सर्वज्ञशासनम् ॥ ७ ॥

अर्थ—श्रीमत् कहिये निर्बाध लक्ष्मीसहित जो सर्वज्ञका शासन (आज्ञामत) है, सो जयवन्त प्रवर्तो । कैसा है सर्वज्ञका शासन? व्याकरण, न्याय, छन्द, अलंकार, साहित्य यन्त्र, मंत्र, तन्त्र, ज्योतिष, वैद्यक, निमित्त, और मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति आदि विद्याओंके वसनेका कुलगृह है, तथा भव्य जीवोंको एक मात्र अद्वितीय शरण है । प्रशान्त है, तथा समस्त आकुलता और क्षोभका मिटानेवाला है, अतएव अति गंभीर है । मन्दबुद्धि प्राणी इसका थाह नहीं पा सकते । भावार्थ—सर्वज्ञका मत समस्त जीवोंका हित करनेवाला है सो जयवन्त प्रवर्तो, ऐसा आचार्य महाराजने अनुरागसहित आशीर्वाद दिया है ॥ ७ ॥

पश्चात् दिव्यध्वनिसे अभ्युदय निःश्रेयसका मार्ग धर्म प्रवर्त्तना प्रगट किया है। फिर कैसा है प्रभु? योगीश्वरोंको मनोवांछित फल देनेकेलिये कल्पवृक्षके समान है। इस विशेषणसे योगीश्वरोंको मोक्षमार्गके साधनेवाले ध्यानकी वांछा होती है, सो उनको यथार्थ ध्यानका मार्ग बतानेवाला है, अर्थात् जो ध्यान हम करते हैं, वही ध्यान तुम करो, इस प्रकार परपराय ध्यानका मार्ग जानकर योगीश्वरगण अपनी वांछाको पूर्ण करते हैं, ऐसा आशय जनाया है॥ २॥

आगे आचार्य अपने नामके निमित्तसे स्मरणमें आये हुए अष्टम तीर्थकर श्रीचन्द्रप्रभ देवकी प्रार्थनारूप वचन कहते हैं,—

भवज्वलनसम्भ्रान्तसत्त्वशान्तिसुधार्णवः।
देवश्चन्द्रप्रभः पुष्यात् ज्ञानरत्नाकरश्रियम्॥ ३॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि, चन्द्रप्रभदेव हैं, सो ज्ञानरूप समुद्रकी लक्ष्मीको पुष्ट करो। कैसे हैं चन्द्रप्रभदेव? संसाररूप अग्निमें भ्रमते हुए जीवोंको अमृतके समुद्रके समान हैं। **भावार्थ**—यहां रूपकालंकारकी अपेक्षासे कहा है कि, चन्द्रप्रभदेव चन्द्रमास्वरूप हैं। जैसे चन्द्रमा समुद्रको बढानेका कारण होता है, भगवान् भी ज्ञानरूपी समुद्रको बढानेकेलिये एक कारण हैं। अत (इसीकारण) यह प्रार्थना की है। तथा इस ग्रंथका नाम 'ज्ञानार्णव' रक्खा है, सो इसकी पुष्टताकेलिये भी प्रार्थना की है। और जगत्के प्राणी संसारतापसे तपायमान हो रहे हैं, उनकेलिये चन्द्रप्रभभगवान् चन्द्रमाके समान हैं। तथा ज्ञानरूपी अमृतकी वर्षाकरके तापको मिटानेवाले हैं॥ ३॥

आगे विघ्नको नष्टकरके शान्ति करनेमें सोलहवें तीर्थकर श्रीशान्तिनाथ भगवान् कारण हैं, इस कारण उनको नमस्कार करते हैं,—

सत्संयमपयःपूरपवित्रितजगत्त्रयम्।
शान्तिनाथं नमस्यामि विश्वविघ्नौघशान्तये॥ ४॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि, मैं समस्त विघ्नोंके समूहकी शान्तिकेलिये श्रीशान्तिनाथ तीर्थंकर भगवान्को नमस्कार करता हूं। कैसे हैं प्रभु? सम्यक्चारित्ररूप जलके प्रवाहसे पवित्र किया है जगत्का त्रय जिनने–ऐसे हैं। **भावार्थ**—शान्ति कार्योंमें शान्तिनाथ तीर्थंकरको प्रधान मानते हैं, इस कारण शास्त्रकी आदिमें विघ्ननिवारणार्थ उनको नमस्कार करना युक्त है। तथा चक्रवर्तिपदको त्यागकर संयम ग्रहण किया, इस कारण अन्य जनोंके संयमकी रुचि उत्पन्न करके उन्हें पवित्र किया, इस हेतुसे भी यह विशेषण युक्त है॥ ४॥

आगे अन्तिम तीर्थंकर श्रीवर्द्धमान भट्टारकको साधनारूप वचन कहते हैं,—

श्रिय सकलकल्याणकुमुदाकरचन्द्रमा' ।
देव' श्रीवर्द्धमानाख्य क्रियाद्भव्याभिनन्दिताम् ॥ ५ ॥

अर्थ—आचार्यमहाराज कहते हैं कि, श्रीवर्द्धमान नामा अन्तिम तीर्थंकर देव हैं, सो भव्य पुरुषोंकर प्रशंसित और इच्छित लक्ष्मीको करो । कैसे हैं प्रभु ? समस्त प्रकारके कल्याणरूपी चन्द्रवशी कमलोंके समूहको प्रफुल्लित करनेकेलिये चन्द्रमाके समान है। **भावार्थ** भगवान् समस्त कल्याणोंसे परिपूर्ण है, समस्त विघ्नोंको विनाश करनेवाले हैं । और इस कालमें जिनके वचन मोक्षमार्गके उपदेशरूप प्रवर्त्त हैं, ऐसे भगवान्से वाछित लक्ष्मीकी साधना करना युक्त है ॥ ५ ॥

आगे ध्यानकी सिद्धिके अर्थ श्रीगौतमगणधरको नमस्कार करते हैं,—

श्रुतस्कन्धनभश्चन्द्र संयमश्रीविशेषकम् ।
इन्द्रभूतिं नमस्यामि योगीन्द्रं ध्यानसिद्धये ॥ ६ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि, योगियोंमें इन्द्रके समान इन्द्रभूति कहिये श्रीगौतम नामक गणधर भगवान्को ध्यानकी सिद्धिके अर्थ नमस्कार करता हू । कैसे हैं इन्द्रभूति ? श्रुतस्कन्ध कहिये द्वादशांगरूप शास्त्र, सो ही हुआ आकाश, उसमें प्रकाश करनेके अर्थ चन्द्रमाके समान हैं । फिर कैसे हैं ? संयमरूपी लक्ष्मीको विशेष करनेवाले हैं। **भावार्थ**—श्रीगौतमगणधरने श्रीवर्द्धमानस्वामीकी दिव्यध्वनि सुनकर द्वादशांगरूप शास्त्रकी रचना की, और आप संयम पाल और ध्यान करके मोक्षको पधारे । पश्चात् उनसे ध्यानका मार्ग प्रवर्त्ता । इस कारण उनको इस ध्यानके (योगके) ग्रथकी आदिमें नमस्कार करना युक्त समझके नमस्कार किया है ॥ ६ ॥

आगे सर्वज्ञके स्याद्वादरूप शासनको आशीर्वादरूप वचन कहते हैं,—

प्रशान्तमतिगम्भीर विश्वविद्याकुलग्र(?)हम् ।
भव्यैकशरण जीयाच्छ्रीमत्सर्वज्ञशासनम् ॥ ७ ॥

अर्थ—श्रीमत् कहिये विनाश लक्ष्मीसहित जो सर्वज्ञका शासन (आज्ञामत) है, सो जयवन्त प्रवर्त्तो । कैसा है सर्वज्ञका शासन ? व्याकरण, न्याय, छन्द, अलकार, साहित्य यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र, ज्योतिष, वैद्यक, निमित्त, और मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति आदि विद्याओंके बसनेका कुलगृह है, तथा भव्य जीवोंको एक मात्र अद्वितीय शरण है । प्रशान्त है, तथा समस्त आकुलता और क्षोभका मिटानेवाला है, अतएव अति गभीर है । मन्दबुद्धि प्राणी इसका थाह नहीं पा सकते । **भावार्थ**—सर्वज्ञका मत समस्त जीवोंका हित करनेवाला है सो जयवन्त प्रवर्तो, ऐसा आचार्य महाराजने अनुरागसहित आशीर्वाद दिया है ॥ ७ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि, मकरालय कहिये समुद्र जैसा है, सो भी अनेक समर्थ पुरुष उसे भुजाओंसे तैर सकते हैं, परन्तु यह ज्ञानार्णव योगियोंको ध्यायमान करनेवाला अथाह है, सो हम जैसोंसे नहि तैरा जा सकता । **भावार्थ**-यह ज्ञानार्णव अपार है, अतः हम जैसे इसका पार कैसे पावें ? ॥ १२ ॥

आगे इसी अर्थको सूचित करनेको फिर भी कहते हैं,—

महामतिभिर्निःशेषसिद्धान्तपथपारगैः ।
क्रियते यत्र दिग्मोहस्तत्र कोऽन्यः प्रसर्पति ॥ १३ ॥

अर्थ—जहां बड़ी बुद्धिवाले समस्त सिद्धान्त मार्गके पार करनेवाले भी दिशा भूल जाते हैं, वहां अन्य जन किस प्रकार पार पा सकते हैं ? **भावार्थ**-यह ज्ञानार्णव अथाह है इसमें बड़े बड़े बुद्धिमान् भी चक्करा जाते हैं, फिर अन्यका तो कहना ही क्या ? ॥ १३ ॥

आगे पूर्वके महाकवियोंकी महिमा और अपनी लघुता दिखाते हैं,—

वंशस्थम् ।

समन्तभद्रादिकवीन्द्रभास्वतां स्फुरन्ति यत्रामलसूक्तिरश्मयः ।
व्रजन्ति खद्योतवदेव हास्यतां न तत्र किं ज्ञानलवोद्धता जनाः ॥१४॥

अर्थ—जहां समन्तभद्रादिक कवीन्द्ररूपी सूर्योंकी निर्मल उत्तम वचनरूप किरणें फैलती हैं, वहां ज्ञानलवसे उद्धत पटबीजनके (जुगनूके) समान मनुष्य क्या हास्यताको प्राप्त नहिं होंगे ? अवश्य ही होंगे ! **भावार्थ**-सूर्यके सामने खद्योत कीटका प्रकाश क्या प्रकाश कर सकता है ? ॥ १४ ॥

अनुष्टुप् ।

अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाक्चित्तसम्भवम् ।
कलङ्कमङ्गिनां सोऽयं देवनन्दी नमस्यते ॥ १५ ॥

अर्थ—जिनके वचन जीवोंके काय वचन मनसे उत्पन्न होनेवाले मलोंको नष्ट करते हैं, ऐसे देवनन्दीनामक मुनीश्वरको (पूज्यपादस्वामीको) हम नमस्कार करते हैं॥१५॥

जयन्ति जिनसेनस्य वाचस्त्रैविद्यवन्दिताः ।
योगिभिर्यत्समासाद्य स्खलितं नात्मनिश्चये ॥ १६ ॥

अर्थ—जिनसेन आचार्यमहाराजके वचन हैं, सो जयवन्त हैं । क्योंकि योगीश्वर उनके वचनोंको प्राप्त होकर आत्माके निश्चयमें स्खलित नहीं होते, अर्थात् यथार्थ निश्चय करलेते हैं । तथा उनके वचन न्याय व्याकरण और सिद्धान्त इन तीन विद्याओंके ज्ञातापुरुषोंके द्वारा वन्दनीय हैं ॥ १६ ॥

श्रीमद्भट्टाकलङ्कस्य पातु पुण्या सरस्वती ।
अनेकान्तमरुन्मार्गे चन्द्रलेखायितं यया ॥ १७ ॥

अर्थ—श्रीमत् कहिये शोभायमान विद्याप भट्टाकलङ्क नामा आचार्यकी पवित्र वाणी है, सो हमको पवित्र करो और हमारी रक्षा करो। कैसी है वाणी ? अनेकान्त स्याद्वादरूपी आकाशमें चन्द्रमाकी रेखासमान आचरण करती है। भावार्थ—भट्टाकलङ्क नामक आचार्य स्याद्वाद विद्याके अधिकारी हुए, उनकी वाणीरूपी चन्द्रमाकी किरण स्याद्वादरूपी आकाशमें प्रकाश करती है ॥ १७ ॥

आगे आचार्य महाराज अपनी कृतिका प्रयोजन प्रगट करते हैं—

भवप्रभवदुर्वारक्लेशसन्तापपीडितम् ।
योजयाम्यहमात्मानं पथि योगीन्द्रसेविते ॥ १८ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि, इस ग्रंथके रचनेमें संसारमें जन्म ग्रहण करनेसे उत्पन्न हुए दुर्निवार क्लेशोंके सन्तापसे पीडित मैं अपने आत्माको योगीश्वरोंसे सेवित ज्ञान ध्यानरूपी मार्गमें जोडता हूं। भावार्थ—यहां अपना प्रयोजन संसारके दुःख दूर करनेहीका जनाया है ॥ १८ ॥

न कवित्वाभिमानेन न कीर्तिप्रसरेच्छया ।
कृतिः किन्तु मदीयेयं स्वबोधायैव केवलम् ॥ १९ ॥

अर्थ—यह ग्रंथरूपी मेरी कृति (कार्य) है, सो केवल मात्र अपने ज्ञानकी वृद्धिके लिये है। कविताके अभिमानसे तथा जगत्में कीर्ति होनेके अभिप्रायसे नहिं की जाती है। भावार्थ—यहां आचार्य महाराजने ग्रंथ रचनेमें लौकिक प्रयोजन साधनेका निषेध किया है ॥ १९ ॥

आगे सत्पुरुषोंके शास्त्र रचनेका विचार किस प्रकार होता है सो दिखाते हैं—

अयं जागर्ति मोक्षाय वेत्ति विद्यां भ्रमं त्यजेत् ।
आदत्ते समसाम्राज्यं स्वतत्त्वाभिमुखीकृतः ॥ २० ॥
न हि केनाप्युपायेन जन्मजातङ्कसंभवा ।
विषयेषु महातृष्णा पश्य पुंसां प्रशाम्यति ॥ २१ ॥
तस्याः प्रशान्तये पूज्यैः प्रतीकारः प्रदर्शितः ।
जगज्जन्तूपकाराय तस्मिन्नस्यावधीरणा ॥ २२ ॥
अनुद्विग्नैस्तथाप्यस्य स्वरूपं बन्धमोक्षयोः ।
कीर्त्यते येन निर्वेदपदवीमधिरोहति ॥ २३ ॥
निरूप्य सद्य कोऽप्युच्चैरुपदेशोऽस्य दीयते ।
येनादत्ते परां शुद्धिं तथा त्यजति दुर्मतिम् ॥ २४ ॥

अर्थ—सत्पुरुष ऐसा विचारते हैं कि, यह प्राणी अपना निजस्वरूप तत्त्वके सन्मुख

करनेसे मोक्षके अर्थ जागता है। मोह निद्राको छोडकर सम्यग्ज्ञानको जानता है। तथा भ्रम कहिये—अनादि अविद्याको छोडकर उपशमभावरूपी (मन्दकषायरूपी) मार्गको ग्रहण करता है ॥ २० ॥ और देखो कि, पुरुषोंके विषयोंमें महातृष्णा है। वह तृष्णा कैसी है? कि, जन्मसे (ममत्वसे) उत्पन्न हुए आतङ्क (महारोग) से वह उपजी है, सो किसी भी उपायसे नष्ट नहिं होती ॥ २१ ॥ उस तृष्णाकी प्रशान्तिके अर्थ पूज्यपुरुषोंने प्रतीकार (उपाय) दिखाया है, और वह जगतके जीवोंके उपकारार्थ ही दिखाया है। किन्तु यह जीव उस प्रतीकारकी अवज्ञा (अनादर) करता है ॥ २२ ॥ तथापि उद्वेगरहित पूज्यपुरुषोंके द्वारा इस प्राणीके हितार्थ बन्धमोक्षका स्वरूप वर्णन किया जाता है, जिससे यह प्राणी वैराग्यपदवीको प्राप्त हो ॥ २३ ॥ इस कारण कोई अतिशय समीचीन उपदेश विचार करके इस प्राणीको देना चाहिये, जिससे यह प्राणी उत्कृष्ट शुद्धताको ग्रहण करे और दुर्बुद्धिको छोड दे। भावार्थ—सत्पुरुष इस प्रकार विचारकर जीवोंके संसारसम्बन्धी दुःख दूर करनेकेलिये ऐसा उपदेश देते हैं, वा शास्त्रोंकी रचना करते हैं ॥ २४ ॥

आगे ग्रन्थकर्ता आचार्य महाराज कहते हैं कि, हमको भी यही विचार हुआ है,—

> **अहो सति जगत्पूज्ये लोकद्वयविशुद्धिदे ।**
> **ज्ञानशास्त्रे सुधीः कः स्वमसच्छास्त्रैर्विडम्बयेत् ॥ २५ ॥**

अर्थ—अहो! जगत्पूज्य और लोकपरलोकमें विशुद्धिके देनेवाले समीचीन ज्ञानशास्त्रके होते हुए भी ऐसा कौन सुबुद्धि है, जो मिथ्याशास्त्रोंकेद्वारा अपने आत्माको विडम्बित करे ॥ २५ ॥

आगे मिथ्याशास्त्रोंके रचनेवालोंका आक्षेप तथा उनके बनाये शास्त्रोंका निषेध करते हैं,—

> **असच्छास्त्रप्रणेतारः प्रज्ञालवमदोद्धताः ।**
> **सन्ति केचिच्च भूपृष्ठे कवयः स्वान्यवञ्चकाः ॥ २६ ॥**
> **स्वतत्त्वविमुखैर्मूढैः कीर्तिमात्रानुरञ्जितैः ।**
> **कुशास्त्रच्छद्मना लोको वराको व्याकुलीकृतः ॥ २७ ॥**

अर्थ—इस पृथ्वीमें कोई [illegible] मदसे मदोन्मत्त होकर असत् शास्त्रोंके रचने [illegible] ॥ [illegible] कवि, [illegible] और [illegible] हैं ॥ २६ ॥ [illegible] स्वतत्त्वसे विमुख, [illegible] और [illegible] कुशास्त्रोंके [illegible] व्याकुलित किया है ॥ २७ ॥

> **अधीतैर्वा श्रुतैर्ज्ञातैः कुशास्त्रैः किं प्रयोजनम् ।**
> **यैर्मनः क्षिप्यते क्षिप्रं दुरन्ते मोहसागरे ॥ २८ ॥**

अर्थ—इन शास्त्रोंके पढ़ने, सुनने व जाननेसे क्या प्रयोजन (लाभ) है, जिनसे जीवोंका चित्त (मन) दुःख तथा दुर्गतिरूप समुद्रमें पड़ जाता है ॥ २८ ॥

क्षणं कर्णामृतं सूते कार्यशून्यं सतामपि ।
कुशास्त्रं तनुते पश्चादविद्यागरविक्रियाम् ॥ २९ ॥

अर्थ—कुशास्त्र सत्पुरुषोंको भी क्षणमात्र कर्णप्रिय वचनोंसे अमृतसमान आनन्दका प्रसव करता है, परन्तु पश्चात् वह सत्पुरुषोंके चित्तमें अविद्यारूपी विषके विकारको बढ़ाता है, अर्थात् मिथ्यात्वको उत्पन्न करता है ॥ २९ ॥

अज्ञानजनितश्चित्रं न विद्मः कोऽप्ययं ग्रहः ।
उपदेशशतेनापि य पुंसामपसर्पति ॥ ३० ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि, यह बड़ा आश्चर्य है, जो जीवोंका अज्ञानसे उत्पन्न हुआ यह आग्रह (हठ) सैकड़ों उपदेश देनेपर भी दूर नहीं होता। हम नहीं जानते कि, इसमें क्या भेद है। भावार्थ—एक बार मिथ्याशास्त्रकी युक्ति भोले जीवोंके मनमें ऐसी प्रवेश हो जाती है कि, फिर सैकड़ों उत्तमोत्तम युक्तियें सुने, तो भी वे चित्तमें प्रवेश नहीं करतीं हैं। अर्थात् ऐसा ही कोई संस्कारका निमित्त है कि, वह मिथ्या आग्रह कभी दूर नहीं होता ॥ ३० ॥

आगे कहते हैं कि, सत्पुरुषोंको शास्त्रके भले बुरे गुणोंका विचार करना चाहिये,—

सम्यङ्निरूप्य सद्वृत्तैर्विद्वद्भिर्वीतमत्सरैः ।
अत्र मृग्या गुणा दोषाः समाधाय मनः क्षणम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—ऐसे सदाचारी पुरुष जिन्हें मत्सर कहिये द्वेष नहीं है, उन्हें उचित है कि, इस शास्त्र तथा प्रवृत्तिमें मनको समाधान करके गुणदोषको भले प्रकार विचारें ॥ ३१ ॥

स्वसिद्ध्यर्थं प्रवृत्तानां सतामपि च दुर्धियः ।
द्वेषबुद्ध्या प्रवर्त्तन्ते केचिज्जगति जन्तवः ॥ ३२ ॥

अर्थ—इस जगतमें अनेक दुर्बुद्धि ऐसे हैं, जो अपनी सिद्धिके अर्थ प्रवृत्ते हुए सत्पुरुषोंपर द्वेषबुद्धिका व्यवहार करते हैं। भावार्थ—दुष्ट जीव सत्पुरुषोंसे द्वेष रखते हैं॥३२॥

साक्षाद्वस्तुविचारेषु निकषग्रावसन्निभाः ।
विभजन्ति गुणान्दोषान्धन्याः स्वच्छेन चेतसा ॥ ३३ ॥

अर्थ—वे धन्य पुरुष हैं जो अपने निष्पक्ष चित्तसे वस्तुके विचारमें कसौटीके समान हैं और गुणदोषोंको भिन्न भिन्न जानते हैं ॥ ३३ ॥

आगे कहते हैं, कि जीवोंके गुणदोष स्वभावहीसे होते हैं,—

प्रसादयति शीतांशुः पीडयत्यंशुमाञ्जगत् ।
निसर्गजनिता मन्ये गुणदोषाः शरीरिणाम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उत्प्रेक्षा करते हैं कि, देखो चन्द्रमा जगतको प्रसन्न करता है और तापको नष्ट करता है। एवम् सूर्य दीप्ति करता है, अर्थात तापको उत्पन्न करता है। इसी प्रकार जीवोंके गुणदोष स्वभावसे ही हुआ करते हैं। ऐसा मैं मानता हूं ॥ ३४ ॥

फिर भी कहते हैं,—

दूषयन्ति दुराचारा निर्दोषामपि भारतीम्।
विधुबिम्बश्रियं कोका सुधारसमयीमिव ॥ ३५ ॥

अर्थ—जो दुष्ट पुरुष हैं वे निर्दोष वाणीको भी दूषण लगाते हैं। जैसे, सुधारसमयी चन्द्रमाके बिम्बकी शोभाको चकवाक दूषण देते हैं कि, चन्द्रमा ही चकवीसे हमारा विछोह करा देता है ॥ ३५ ॥

आगे आत्माकी शुद्धिका उपाय बतलाते हैं,—

अयमात्मा महामोहकलङ्की येन शुद्ध्यति।
तदेव स्वहितं धाम तच्च ज्योतिः परं मतम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—यह आत्मा महामोहसे (मिथ्यात्व कषायसे) कलंकी और मलीन है, अत जिससे यह शुद्ध हो, वही अपना हित है, वही अपना घर है और वही परम ज्योति वा प्रकाश है। **भावार्थ**—मलिनता नष्ट होनेसे उज्वलता होती है। यह आत्मा निश्चयसे तो अनतज्ञानादि प्रकाशस्वरूप है, परन्तु मिथ्यात्वकषायादिसे मलिन हो रहा है। इस कारणसे जब मिथ्यात्वकषायरूपी मैल नष्ट हो, तब निज स्वरूपका प्रकाश हो सकता है। मिथ्यात्वकषायादिकके नष्ट करनेका उपाय जिनागममें कहा है वही जानना ॥ ३६ ॥

विलोक्य भुवनं भीमयमभोगीन्द्रशङ्कितम्।
अविद्याव्रजमुत्सृज्य धन्या ध्याने लयं गताः ॥ ३७ ॥

अर्थ—इस जगतको भयानक कालरूपी सर्पसे शङ्कित देखकर अविद्यावज अर्थात् मिथ्याज्ञान और मिथ्या आचरणके समूहको छोड निजस्वरूपके ध्यानमे लवलीन हो जाते हैं, वे धन्य कहिये महाभाग्यवान् पुरुष हैं ॥ ३७ ॥

हृषीकराक्षसाक्रान्तं स्मरशार्दूलचर्वितम्।
दुःखार्णवगतं विश्वं विवेच्य विरतं बुधैः ॥ ३८ ॥

अर्थ—जो बुद्धिमान् हैं, उन्होंने इस जगतको इन्द्रियरूपी राक्षसोंसे व्याप्त तथा कामरूपी सिंहसे चर्वित और दुःखरूपी समुद्रमे डूबा हुआ समझकर छोड दिया। **भावार्थ**—जिस जगह राक्षस विचरें, सिंह व्याघ्र भक्षण कर जावें और जहा दुःख ही दुःख दिखाई पडे, उस जगह विवेकी जन कैसे रहे? ॥ ३८ ॥

जन्मजातङ्कदुर्वारमहाव्यसनपीडितम् ।
जन्तुजातमिदं वीक्ष्य योगिनः प्रशमं गताः ॥ ३९ ॥

अर्थ—संसारमें उत्पन्न दुर्निवार आतङ्क (दाहरोग) रूपी महाकष्टसे पीडित इस जीवसमूहको देखकर ही योगीजन शान्तभावको प्राप्त हो गये। **भावार्थ**–संसारमें जीवोंको प्रत्यक्ष दुःखी देखकर ज्ञानी जन क्यों मोहित हों ? ॥ ३९ ॥

भवभ्रमणविभ्रान्ते मोहनिद्रास्तचेतने ।
एक एव जगत्यस्मिन् योगी जागर्त्यहर्निशम् ॥ ४० ॥

अर्थ—संसार भ्रमणसे विभ्रान्त और मोहरूपी निद्रासे जिसकी चेतना नष्ट हो गई है, ऐसे इस जगत्में मुनिगण ही निरंतर जागते हैं। **भावार्थ**–जैसे निरन्तर भ्रमण करनेसे शरीर खेदखिन्न हो जाता है, तो उसके निमित्तसे प्रगाढ निद्रा आती है और तब यह जीव अपनेको भूल जाता है। ऐसा समझकर ज्ञानीजन निरंतर सावधान ही रहते हैं ॥ ४० ॥

रजस्तमोभिरुद्भूत कपायविषमूर्च्छितम् ।
विलोक्य सत्त्वसन्तानं सन्तः शान्तिमुपाश्रिताः ॥ ४१ ॥

अर्थ—जो सत्पुरुष हैं, वे रज कहिये ज्ञानावरण, दर्शनावरण, कर्म और तम कहिये मिथ्याज्ञानसे अथवा रजोगुण तमोगुणसे कम्पायमान् तथा कपायरूपी विषसे मूर्छित इस सत्त्वसन्तान कहिये जगत्को देखकर शान्तभावको ग्रहण करते हैं ॥ ४१ ॥

मुक्तिस्त्रीवक्त्रशीतांशु द्रष्टुमुत्कण्ठिताशयैः ।
मुनिभिर्मथ्यते साक्षाद्विज्ञानमकरालयः ॥ ४२ ॥

अर्थ—मुक्तिरूपी स्त्रीके मुखरूपी चन्द्रमाके देखनेको उत्सुक हुए मुनिजन साक्षात् विज्ञानरूपी समुद्रका मथन करते हैं। **भावार्थ**–लोकमें ऐसी प्रसिद्धि है कि, नारायणने समुद्रको मथकर चन्द्रमाको निकाला है। सो यहां अलंकारिक रीतिसे कहा है कि, मुनिजन मुक्तिरूपी स्त्रीके मुखरूपी चन्द्रमाको देखनेकी अभिलाषासे ज्ञानरूपी समुद्रको मथन करते हैं। क्योंकि ज्ञानके ध्यानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ ४२ ॥

उपर्युपरि संभूतदुःखवह्निक्षतं जगत् ।
वीक्ष्य सन्तः परिप्राप्ता ज्ञानवारिनिधेस्तटम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—वारंवार उत्पन्न हुई दुःखाग्निसे क्षय होते जगत्को देखकर सत्पुरुष ज्ञानरूपी समुद्रके तटपर प्राप्त हुए हैं। **भावार्थ**—संसारकी दुःखरूपी अग्निके बुझानेको ज्ञान ही कारण है ॥ ४३ ॥

अनादिकालसंलग्ना दुस्त्यजा कर्मकालिका ।
सद्यः प्रक्षीयते येन विधेयं तद्धि धीमताम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—अनादिकालसे लगी हुई कमरूपी कालिमा बडे कष्टसे त्यजने योग्य है । कारण यह कालिमा जिससे शीघ्र ही नष्ट हो जाय, वही उपाय बुद्धिमानोंको करना चाहिये अन्य उपाय करना व्यर्थ है ॥ ४४ ॥

निष्कलङ्कं निराबाधं सानन्दं स्वस्वभावजम् ।
वदन्ति योगिनो मोक्षं विपक्षं जन्मसन्ततेः ॥ ४५ ॥

अर्थ—प्राणीका हित मोक्ष (कर्मोंसे छूटना) है । सो कैसा है? समस्त प्रकारकी कालिमासे रहित निःकलङ्क है, बाधा (पीड़ा) रहित है, आनंद सहित है, जिसमें किसी भी प्रकारका दुःख नहीं है । तथा अपने स्वभावसे उत्पन्न है, क्योंकि जो परका उपजाया हो, उसको वह नष्ट भी कर सकता है, परन्तु जो स्वभावसे उत्पन्न हो, उसका कभी नाश नहिं होता । और संसारका विपक्षी कहिये शत्रु है । योगीगण मोक्षका स्वरूप इस प्रकार कहते हैं ॥ ४५ ॥

आगे मोक्षको हित जान उसके साधन करनेकी शिक्षा देते हैं,—

जीवितव्ये सुनिःसारे नृजन्मन्यतिदुर्लभे ।
प्रमादपरिहारेण विज्ञेयं स्वहितं नृणाम् ॥ ४६ ॥

अर्थ—मनुष्यजन्म अति दुर्लभ है । जीवितव्य है सो निःसार है । ऐसी अवस्थामें मनुष्यको आलस्य त्यागके अपने हितको जानना चाहिये । वह हित मोक्ष ही है ॥ ४६ ॥

विचारचतुरैर्धीरैरत्यक्षसुखलालसैः ।
अत्र प्रमादमुत्सृज्य विधेयः परमादरः ॥ ४७ ॥

अर्थ—जो धीर और विचारशील पुरुष है, तथा अतीन्द्रिय सुख (मोक्षसुख) के लालसा रखते हैं, उनको प्रमाद छोड़कर इस मोक्षमें ही परम आदर करना चाहिये ॥ ४७ ॥

न हि कालकलैकापि विवेकविकलाशयैः ।
अहो प्रज्ञाधनैर्नेया नृजन्मन्यतिदुर्लभे ॥ ४८ ॥

अर्थ—अहो भव्य जीवो ! यह मनुष्य जन्म बड़ा दुर्लभ है और इसका वारंवार मिलना कठिन है, इस कारण बुद्धिमानोंको चाहिये कि, विचारशून्य हृदय होकर काल की एक कलाको भी व्यर्थ नहिं जाने दे ॥ ४८ ॥

आगे उपदेशपूर्वक इस अधिकारको पूर्ण करते हैं,—

शिखरिणी ।

भृशं दुःखज्वालानिचयनिचितं जन्म गहनम्
यदक्षाधीनं स्यात्सुखमिह तदन्तेति विरसम् ।

अनित्याः कामार्थाः क्षणरुचिचलं जीवितमिदं
विमृश्यैवं स्वार्थे क इह सुकृती मुह्यति जनः ॥ ४९ ॥

अर्थ—यह संसार बड़ा गहन वन ही है, क्योंकि दुःखरूपी अग्निकी ज्वालासे व्याप्त है। इस संसारमें इन्द्रियाधीन सुख है सो अन्तमें विरस हैं, दुःखका कारण हैं, तथा दुःखसे मिला हुआ है। और जो काम और अर्थ हैं सो अनित्य हैं, सदैव नहीं रहते। तथा जीवित है, सो बिजुलीकी समान चंचल है। इस प्रकार सर्वभावोंका विचार करनेवाले जो अपने स्वार्थमें सुकृती-पुण्यवान्-सत्पुरुष हैं, वे कैसे मोहको प्राप्त हो सकते हैं? कदापि नहीं। **भावार्थ—**इस संसारमें समस्त वस्तु दुःखरूप निःसार जानकर बुद्धिमानोंको अपने हितरूप मोक्षका साधन सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र धारणपूर्वक ध्यानका अभ्यास करना चाहिये। यह श्रीगुरुका उपदेश है ॥ ४९ ॥

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

दोहा।

श्रीयुत वीरजिनन्द्रको, वंदौं मनवचकाय।
भवपद्धतिभ्रम मेटिके, करै मोक्षसुखदाय ॥ १ ॥

आगे-इस प्राणीको ध्यानके सन्मुख करनेके लिये संसारदेहभोगोंसे वैराग्य उत्पन्न कराना है, सो वैराग्योत्पत्तिके लिये एक मात्र कारण बारह भावना हैं इस कारण इनका व्याख्यान इस अध्यायमें किया जायगा। सो प्रथम ही इनके भावनेकी (बारह भावनाओंके चिन्तवन करनेकी) प्रेरणा करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितम्।

वह्निः किं न विपाशमेति वपुरिदं किं छिद्यते मार्गणैः
मृत्युः किं न विजृम्भते प्रतिदिनं द्रुह्यन्ति किं नापदः।
श्वभ्राः किं न भयानकाः स्वपनवद्भोगा न किं वञ्चकाः
येन स्वार्थमपास्य किन्नरपुरप्रख्ये भवे ते स्पृहा ॥ १ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! इस संसारमें [illegible] जो [illegible] हैं, वे क्या तुझे [illegible] नहीं करते हैं? [illegible] हैं [illegible] द्वारा छिन्न [illegible] नहीं किया जाता है? [illegible] लिये [illegible] नहीं बढ़ती है? और आपदायें क्या तुझसे [illegible] हैं? क्या तुझे [illegible] भयानक नहीं दिखते? और [illegible] हैं सो क्या [illegible] (धोखा देनेवाले) नहीं हैं? [illegible] तुझे [illegible]

असार संसारमें इच्छा नहीं हुई है? भावार्थ—संसारदेह भोगोंको उक्त प्रकारके जानकर भी जो जीव अपने प्रयोजनमें सावधान नहिं होते, उनका अज्ञानपना स्पष्ट है ॥ १ ॥

श्लोक ।

नात्मादयसि कल्याणं न त्वं तत्त्वं समीक्षसे ।
न वेत्सि जन्मवैचित्र्यं भ्रातर्भूतैर्विडम्बितः ॥ २ ॥

अर्थ—हे भाई ! तू भूत अर्थात् इन्द्रियोंके विषयोंसे विडम्बनारूप होकर अपने कल्याणमें नहिं लगता है और तत्त्वोंका (वस्तुस्वरूपका) विचार नहिं करता है, तथा संसारकी विचित्रताको नहिं जानता है, सो यह तेरी बड़ी भूल है ॥ २ ॥

असद्विद्याविनोदेन मात्मानं मूढ वञ्चय ।
कुरु कृत्यं न किं वेत्सि विश्ववृत्तं विनश्वरम् ॥ ३ ॥

अर्थ—हे मूढ प्राणी ! अनेक असत् कला चतुराई शृंगार शास्त्रादि असद्विद्याओंके कौतूहलोंमें अपनी आत्माको मत ठगा, और तेरे करने योग्य जो कुछ हितकार्य उसे कर । क्योंकि जगत्के ये समस्त ख्याल विनाशीक हैं । क्या तू ये बात न जानता है? ॥ ३ ॥

समत्वं भज भूतेषु निर्ममत्वं विचिन्तय ।
अपाकृत्य मनःशल्यं भावशुद्धिं समाश्रय ॥ ४ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! तू समस्त जीवोंको एकसा जान । ममत्वको छोडकर निर्ममत्व चिंतवन कर । मनकी शल्यको दूरकर अर्थात् किसी प्रकारकी शल्य (क्लेश) अपने चित्तमें न रखकर अपने भावोंकी शुद्धताको अंगीकार कर ॥ ४ ॥

आगे बारह भावनाओंके अंगीकार करनेका उपदेश करते हैं,—

चिनु चित्ते भृशं भव्य भावना भावशुद्धये ।
या सिद्धान्तमहातन्त्रे देवदेवैः प्रतिष्ठिता ॥ ५ ॥

अर्थ—हे भव्य ! तू अपने भावोंकी शुद्धिके अर्थ अपने चित्तमें बारह भावनाओंका चिन्तवन कर, जिन्हें देवाधिदेव श्री तीर्थंकर भगवान्ने सिद्धान्तरूप महाग्रन्थमें प्रगट करी हैं ॥ ५ ॥

ये भावनाएं कैसी हैं, सो कहते हैं,—

साक्ष संवेगवैराग्यप्रशमसिद्धये ।
आलानिता मनःस्तम्भे मुनिभिर्मोक्षमिच्छुभिः ॥ ६ ॥

अर्थ—ये भावनाऐं मोक्षाभिलाषी मुनियोंने अपने संवेग (धर्मानुराग) वैराग्य (संसार, [illegible]) मन, ([illegible]) और प्रशमकी (कषायों

भावरूप शान्त भावोंकी) सिद्धिकेलिये अपने चित्तरूपी स्तंभमें आलानित कहिये ठहराई या बांधी है । भावार्थ-मुनिगण निरन्तर ही इनका चिन्तवन किया करते हैं ॥ ६ ॥

अनित्याद्याः प्रशस्यन्ते द्वादशैता मुमुक्षुभिः ।
या मुक्तिसौधसोपानराजयोऽत्यन्तबन्धुरा ॥ ७ ॥

अर्थ—वे भावना अनित्य आदि द्वादश हैं । इनको मोक्षाभिलाषी मुनिगणोंने प्रशंसा रूप कही हैं । क्योंकि ये सब भावनायें, मोक्षरूपी महलके चढनेकी मर्यादारूप रची हुई अत्यन्त सुंदर पैड़ियोंकी (सीढ़ियोंकी) पंक्ति समान है ॥ ७ ॥

अथ अनित्यभावना ।

आगे इन भावनाओंका भिन्न २ व्याख्यान करेंगे, जिनमेंसे प्रथम ही अनित्यभावनाका वर्णन करते हैं,—

हृषीकार्थसमुत्पन्ने प्रतिक्षणविनश्वरे ।
सुखे कृत्वा रतिं मूढ विनष्टं भुवनत्रयं ॥ ८ ॥

अर्थ—हे मूढ ! क्षण क्षणमें नाश होनेवाले इन्द्रियजनित सुखमें प्रीतिकरके ये तीनोंभुवन नाशको प्राप्त हो रहे हैं, सो तू क्यों नहीं देखता? ॥ ८ ॥

भवाब्धिप्रभवाः सर्वे सम्बन्धा विपदास्पदम् ।
सम्भवन्ति मनुष्याणां तथान्ते सुष्ठुनीरसाः ॥ ९ ॥

अर्थ—इस संसाररूपी समुद्रमें भ्रमण करनेसे मनुष्योंके जितने सम्बन्ध होते हैं, वे सब ही आपदाओंके घर हैं । क्योंकि अन्तमें प्रायः सब ही सम्बन्ध निरस (दुःखदायक) हो जाते हैं । यह प्राणी उनमें सुख मानता है, सो भ्रम मात्र है ॥ ९ ॥

वपुर्विद्धि रुजाक्रान्तं जराक्रान्तं च यौवनम् ।
ऐश्वर्यं च विनाशान्तं मरणान्तं च जीवितम् ॥ १० ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! शरीरको तू रोगोंसे घिरा हुआ समझ और यौवनको बुढ़ापेसे घिरा हुआ जान तथा ऐश्वर्य सम्पदाओंको विनाशीक और जीवनको मरणांत जान। भावार्थ—ये सब पदार्थ प्रतिपक्ष सहित जानने ॥ १० ॥

ये दृष्टिपथमायाताः पदार्थाः पुण्यमूर्त्तयः ।
पूर्वाह्णे न च मध्याह्ने ते प्रयान्तीह देहिनाम् ॥ ११ ॥

अर्थ—इस संसारमें जिनके यहां पुण्यके मूर्तिरूप उत्तमोत्तम पदार्थ प्रभातके

१-अनित्य १ अशरण २ संसार ३ एकत्व ४ अन्यत्व ५ अशुचि ६ आस्रव ७ संवर ८ निर्जरा ९ लोक १० बोधिदुर्लभ ११ और धर्म १२ ये बारह हैं।

समय दृष्टिगोचर होते थे, वे मध्याह्नकालमें देखनेमे नहिं आते, अर्थात् नष्ट हो जाते हैं आत्मन्! तू विचारपूर्वक देख ॥ ११ ॥

यज्जन्मनि सुखं मूढ! यच्च दुःखं पुरःस्थितम्।
तयोर्दुःखमनन्तं स्यात्तुलाया कल्प्यमानयो. ॥ १२ ॥

अर्थ—हे मूढ प्राणी! इस संसारमें तेरे सन्मुख जो कुछ सुख वा दुःख हैं, उन दोनोंको ज्ञानरूपी तुलामें (तराजूमें) चढाकर तोलैगा, तो सुखसे दुःख ही अनन्तगुणा दीख पड़ेगा। क्योंकि यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर है ॥ १२ ॥

आगे भोगोंका निषेध करते हैं,—

भोगा भुजङ्गभोगाभाः सद्यः प्राणापहारिणः।
सेव्यमाना' प्रजायन्ते संसारे त्रिदशैरपि ॥ १३ ॥

अर्थ—इस संसारमें भोग सर्पके फण समान हैं, क्योंकि इनको सेवन करते हुए देव भी शीघ्र प्राणान्त हो जाते हैं। **भावार्थ**-देव भी भोगोंके भोगनेसे मरकर एकेन्द्रिय हो जाते हैं, अतः मनुष्य तो नरकादिकमें अवश्य ही जावेंगे ॥ १३ ॥

आगे इस जीवकी अजानता दिखाते हैं,—

वस्तुजातमिदं मूढ प्रतिक्षणविनश्वरम्।
जानन्नपि न जानासि ग्रहः' कोऽयमनौषधः ॥ १४ ॥

अर्थ—हे मूढ प्राणी! यह प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि, इस संसारमें जो वस्तुओंका समूह सो पर्यायोंसे क्षण क्षणमें नाश होनेवाला है। इस बातको तू जानकर भी अजान हो रहा है, यह तेरा क्या आग्रह (हठ) है? क्या तुझपर कोई पिशाच चढ गया है जिसकी औषधि ही नहीं है? ॥ १४ ॥

आगे अन्यप्रकारसे कहते हैं,—

क्षणिकत्वं वदन्त्यार्या घटीघातेन भूभृताम्।
क्रियतामात्मनः श्रेयो गतेयं नागमिष्यति ॥ १५ ॥

अर्थ—इस लोकमें राजाओंके यहां जो घड़ीका घंटा बजता है और शब्द करता है सो सबके क्षणिकपनेको प्रगट करता है, अर्थात् जगत्को मानो पुकार पुकारकर कहता है कि, हे जगतके जीवो! जो कुछ अपना कल्याण करना चाहते हो, सो शीघ्र ही करडालो नहिं तो पछताओगे। क्योंकि यह जो घडी बीत गई, वह किसी प्रकार भी पुनर्वार लौटकर नहीं आवेगी। इसी प्रकार अगली घड़ी भी जो व्यर्थ ही खो दोगे। तो वह भी गई हुई नहीं लौटैगी? ॥ १५ ॥

यद्यपूर्वं शरीरं स्याद्यदि वात्यन्तशाश्वतम्।
युज्यते हि सदा कर्तुमस्यार्थे कर्मनिन्दितम् ॥ १६ ॥

अर्थ—हे प्राणी! यदि यह शरीर अपूर्व हो, अर्थात् पूर्वमें कभी तूने नहीं पाया हो, अथवा अत्यन्त अविनश्वर हो, तब तो इसके अर्थ निंद्यकार्य करना योग्य भी है, परन्तु ऐसा नहीं है। क्योंकि यह शरीर तूने अनन्तवार धारण किया है और छोड़ा भी है, तो फिर ऐसे शरीरके अर्थ निंद्यकार्य करना कदापि उचित नहीं है। इस कारण ऐसा कार्य कर जिससे कि, तेरा वास्तवमें कल्याण हो ॥ १६ ॥

आगे फिर भी इसी अर्थको सूचित करते हुए कहते हैं,—

अयाता यान्ति यास्यन्ति पुत्रस्त्रीधनबान्धवा ।
शरीराणि तदैतेषां कृते किं खिद्यते वृथा ॥ १७ ॥

अर्थ—पुत्र स्त्री बांधव धन शरीरादि चले जाते हैं और जो हैं, वे भी अवश्य ही चले जायेंगे। फिर इनके कार्यसाधनके लिये यह जीव वृथा ही क्यों खेद करता है? ॥ १७ ॥

नायाता नैव यास्यन्ति केनापि सह योषितः ।
तथाप्यज्ञाः कृते तासां प्रविशन्ति रसातलम् ॥ १८ ॥

अर्थ—इस संसारमें स्त्रियां न तो किसीके साथ आई और न किसीके साथ जावेंगी, तथापि मूर्खजन इनकेलिये निंद्यकार्य करके नरकादिकमें प्रवेश करते हैं। यह बड़ा अज्ञान है ॥ १८ ॥

आगे बन्धुजन कैसे हैं, सो कहते हैं,—

ये जाता रिपवः पूर्वं जन्मन्यस्मिन्विधेर्वशात् ।
त एव तव वर्तन्ते बान्धवा बद्धसौहृदाः ॥ १९ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! जो पूर्वजन्ममें तेरे शत्रु थे, वे ही इस जन्ममें तेरे कर्मवशसे तेरे बन्धु हो गये हैं—अर्थात् तू इनको हितू या मित्र समझता है अर्थात् ये तेरे हितू मित्र नहीं हैं, किन्तु पूर्वजन्मके शत्रु हैं ॥ १९ ॥

रिपुत्वेन समापन्नाः प्राक्तनास्तेऽत्र जन्मनि ।
बान्धवाः क्रोधरुद्धाक्षा दृश्यन्ते हन्तुमुद्यताः ॥ २० ॥

अर्थ—और जो पूर्व जन्ममें तेरे बांधव थे, वे ही इस जन्ममें शत्रुपनेको प्राप्त हुए हैं तथा क्रोधयुक्त लाल नेत्र करके तुझे मारनेके लिये उद्यत हुए हैं। यह प्रत्यक्ष देखा जाता है ॥ २० ॥

आगे इस प्राणीको अन्धवत् बताते हैं,—

अङ्गनादिमहापाशैरतिगाढं नियन्त्रिताः ।
पतन्त्यन्धमहाकूपे भवाख्ये भविनोऽध्वगाः ॥ २१ ॥

अर्थ—इस संसारमें निरन्तर स्त्रियादिक महापाशरूपी फांसी करके अत्यन्त गाढ़े बंधे

रसोंमें अतिशय फसे हुए संगार नामक महापदमें गिरते हैं। भावार्थ—जैसे अन्ध पुरुष मार्गमें चलते २ अन्धकूपमें गिर पड़ते हैं, उसी प्रकार ये जीव भूमते हुए अन्ध पुरुषकेसमान संसाररूपी कूपमें गिरते हैं ॥ २१ ॥

आगे फिर उपदेश करते हैं,—

पातयन्ति भवावर्ते ये त्वां ते नैव बान्धवाः।
बन्धुतां ते करिष्यन्ति हितमुद्दिश्य योगिनः ॥ २२ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! जो तुझे संसारके चक्रमें डालते हैं, वे तेरे बान्धव (हितैषी) नहीं हैं, किन्तु जो मुनिगण (गुरुमहाराज) तेरे हितकी वाञ्छाकरके बंधुता करते हैं अर्थात् हितका उपदेश करते हैं, स्वर्ग तथा मोक्षका मार्ग बताते हैं, वे ही वास्तवमें तेरे सच्चे और परममित्र हैं ॥ २२ ॥

आगे आश्चर्यपूर्वक कहते हैं,—

शरीरं शीर्यते नाशा गलत्यायुर्न पापधीः।
मोहः स्फुरति नात्मार्थः पश्य वृत्तं शरीरिणाम् ॥ २३ ॥

अर्थ—देखो! इन जीवोंका प्रवर्त्तन कैसा आश्चर्यकारक है कि, शरीर तो प्रतिदिन छीजता जाता है और आशा नहिं छीजती है, किन्तु बढ़ती जाती है। तथा आयुर्बल तो घटता जाता है और पापकार्योंमें बुद्धि बढ़ती जाती है। मोह तो नित्य स्फुरायमान होता है और यह प्राणी अपने हित वा कल्याण मार्गमें नहीं लगता है। सो यह कैसा अज्ञानका माहात्म्य है? ॥ २३ ॥

आगे उपदेश करते हैं,—

यास्यन्ति निर्दया नूनं यद्दत्वा दाहमूर्जितम्।
हृदि पुंसां कथं ते स्युस्तव प्रीत्यै परिग्रहाः ॥ २४ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! ये परिग्रह पुरुषोंके हृदयमें अतिशय दाह अर्थात् सन्ताप देकर अवश्य ही चले जाते हैं। ऐसे ये परिग्रह तेरी प्रीतिकरने योग्य कैसे हो सकते हैं? भावार्थ—तू वृथा ही इन धनधान्यादि परिग्रहोंसे प्रीति मत कर, क्योंकि ये किसी प्रकार भी नहीं रहेंगे ॥ २४ ॥

आगे अज्ञानके कारण नरकादिक दुःख सहेगा ऐसा कहते हैं,—

अविचारागदुर्वारप्रसरान्धीकृतात्मनाम्।
श्वभ्रादौ देहिनां नूनं सोढव्या सुचिरं व्यथा ॥ २५ ॥

अर्थ—मिथ्याज्ञानजनित रागोंके दुर्निवार निस्तारसे अन्धे किये हुए जीवोंको अवश्य ही नरकादिकमें बहुकालपर्यन्त दुःख सहने पड़ेंगे, जिसका जीवोंको चेत ही नहीं है ॥ २५ ॥

आगे जो लोग विषयोंमें सुख ढूंढते हैं, वे क्या करते हैं सो कहते हैं,—

वह्निं विशति शीतार्थं जीवितार्थं पिबेद्विषम् ।
विषयेष्वपि यः सौख्यमन्वेषयति मुग्धधीः ॥ २६ ॥

अर्थ—जो मूढधी पंचेन्द्रियोंके विषय सेवोंमें सुख ढूंढते हैं, वे मानों शीतत्राण लिये अग्निमें प्रवेश करते हैं और दीर्घ जीवनके लिये विष पान करते हैं। उन्हें इस विपरीतबुद्धिसे सुखके स्थान दुःख ही होगा ॥ २६ ॥

कृते येषां त्वया कर्म कृतं श्वभ्रादिसाधकम् ।
त्वामेव यान्ति ते पापा वञ्चयित्वा यथायथम् ॥ २७ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! जिन कुटुम्बादिकके लिये तूने नरकादिकके दुःख देनेवाले पापकर्म किये, वे पापी तुझे अवश्य ही धोखा देकर अपनी २ गतिको चले जाते हैं। उनके लिये जो तूने पापकर्म किये थे, उनके फल तुझे अकेले ही भोगने पड़ते हैं, वा भोगने पड़ेंगे ॥ २७ ॥

आगे इस जीवको करनेयोग्य कार्यका उपदेश देते हैं,—

अनेन नृशरीरेण यल्लोकद्वयशुद्धिदम् ।
विवेच्य तदनुष्ठेयं हेयं कर्म ततोऽन्यथा ॥ २८ ॥

अर्थ—इस प्राणीको चाहिये कि, इस मनुष्य देहसे उभय लोकोंकी स्वच्छताको देनेवाले कार्यका विचारकरके अनुष्ठान करै और उससे भिन्न अन्य सब कार्य छोड़ दे। यह सामान्यतया उपदेश है ॥ २८ ॥

आगे कहते हैं कि, जो जीव उक्त प्रकारसे नहिं करते, वे क्या करते हैं,—

वर्द्धयन्ति स्वघाताय ते नूनं विषपादपम् ।
नरत्वेऽपि न कुर्वन्ति ये विवेच्यात्मनो हितम् ॥ २९ ॥

अर्थ—जिसमें समस्त प्रकारके विचार करनेकी सामर्थ्य है, ऐसा जिसका पाना दुर्लभ है ऐसे मनुष्य जन्मको पाकर भी जो अपना हित नहीं करते, वे अपने घात करनेकेलिये विषवृक्षको बढाते हैं। भावार्थ-पापकार्य विषवृक्ष है, इस कारण इसका फल भी मारनेवाला है ॥ २९ ॥

आगे प्राणी किसी कुलमें आकर कैसे जन्म लेते हैं, सो दृष्टान्तपूर्वक वर्णन करके दिखाते हैं,—

पक्षदेशान्तरादेत्य वसन्ति विहगा नगे ।
तथा जन्मान्तरान्मूढ प्राणिनः कुलपादपे ॥ ३० ॥

अर्थ—जैसे पक्षी नानादेशोंसे आकर सायंकाल समय वृक्षपर बसते हैं, वैसे ही

ये प्राणीजन अन्यान्य जन्मोंसे आ आकर कुलरूपी वृक्षोंपर वसते हैं, अर्थात् जन्म लेते हैं ॥ ३० ॥ और—

> प्रातस्तरुं परित्यज्य यथैते यान्ति पत्रिणः ।
> स्वकर्मवशगाः शश्वत्तथैते क्वापि देहिनः ॥ ३१ ॥

अर्थ—जिस प्रकार ये पक्षी प्रभातके समय उस वृक्षको छोड़कर अपना २ रस्ता लेते हैं, उस ही प्रकार ये प्राणी भी आयु पूर्ण होनेपर अपने २ कर्मानुसार अपनी २ गतिमें चले जाते हैं ॥ ३१ ॥

फिर अन्य प्रकारसे कहते हैं,—

> गीयते यत्र सानन्दं पूर्वाह्ने ललितं गृहे ।
> तस्मिन्नेव हि मध्याह्ने सदुःखमिह रुद्यते ॥ ३२ ॥

अर्थ—जिस घरमें प्रभातके समय आनन्दोत्साहके साथ सुन्दर २ मंगलीक गीत गाये जाते हैं, मध्याह्नके समय उसी ही घरमें दुःखके साथ रोना सुना जाता है। तथा—

> यस्य राज्याभिषेकश्रीः प्रत्यूषेऽत्र विलोक्यते ।
> तस्मिन्नहनि तस्यैव चिताधूमश्च दृश्यते ॥ ३३ ॥

अर्थ—प्रभातके समय जिसके राज्याभिषेककी शोभा देखी जाती है, उसी दिन उस राजाकी चिताका धुआ देखनेमें आता है। यह संसारकी विचित्रता है ॥ ३३ ॥

अब जीवोंके शरीरकी अवस्था कहते हैं,—

> अत्र जन्मनि निर्वृत्तं यैः शरीरं तवाणुभिः ।
> प्राक्तनान्यत्र तैरेव खण्डितानि सहस्रशः ॥ ३४ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! इस संसारमें जिन परमाणुओंसे तेरा यह शरीर रचा गया है, उन्हीं परमाणुओंने इस शरीरसे पहिले तेरे हजारों शरीर खंड खंड किये हैं। **भावार्थ**—पुराने परमाणु तो इस शरीरमेंसे खिरते हैं और नये परमाणु स्थानापन्न होते जाते हैं। इस कारण वे ही परमाणु तो शरीरको रचते हैं और वे ही बिगाड़नेवाले हैं। शरीरकी यह दशा है ॥ ३४ ॥

> शरीरत्वं न ये प्राप्ता आहारत्वं न येऽणवः ।
> भ्रमतस्ते चिरं भ्रातर्येऽत्र ते सन्ति तद्गृहे ॥ ३५ ॥

अर्थ—हे भाई! तेरे इस संसारमें बहुत कालसे भ्रमण करते हुए जो परमाणु शरीररूप तथा आहाररूपको प्राप्त नहीं हुए, ऐसे बचे हुए परमाणु कोई भी नहीं हैं। **भावार्थ**—इस संसारमें [illegible] तो पहिले अनन्त परावर्तनोंमें शरीररूप वा आहाररूपसे ग्रहण करके

सुरोरगनरैश्वर्यं शक्रकार्मुकसन्निभम् ।
सद्यः प्रध्वसमायाति दृश्यमानमपि स्वयम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—इस जगतमें जो सुर (कल्पवासी देव), उरग (भवनवासी देव), और मनुष्योंके इन्द्र अर्थात् चक्रवर्तीपनेके ऐश्वर्य (विभव) हैं, वे सब इन्द्रधनुषके समान हैं, अर्थात् देखनेमें तो अति सुदर दीख पडते हैं, परन्तु देखते २ विलय जाते है ॥ २६ ॥

फिर अन्यप्रकार दृष्टान्तसे कहते है,—

यान्त्येव न निवर्त्तन्ते सरितां यद्वदूर्मयः ।
तथा शरीरिणां पूर्वा गता नायान्ति भूतयः ॥ ३७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार नदीकी जो लहरें जाती हैं, वे फिर लौटकर कभी नहीं आती हैं, इसीप्रकार जीवोंकी जो विभूति पहिले होती है, वह नष्ट होनेके पश्चात् फिर लौटकर नहीं आती । यह प्राणी वृथा ही हर्षविषाद करता है ॥ ३७ ॥

आगे फिर इसी अर्थको सूचित करते हैं,—

क्वचित्सरित्तरङ्गाली गतापि विनिवर्त्तते ।
न रूपबललावण्यं सौन्दर्यं तु गतं नृणाम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—नदीकी लहरें कदाचित् कहीं लौट भी आती हैं, परन्तु मनुष्योंका गया हुआ रूप, बल, लावण्य और सौन्दर्य फिर नहीं आता । यह प्राणी वृथा ही उनकी आशा लगाये रहता है ॥ ३८ ॥

आगे फिर भी आयु और यौवनकी व्यवस्थाका दृष्टान्त देते हैं,—

गलत्येवायुरव्यग्रं हस्तन्यस्ताम्बुवत्क्षणे ।
नलिनीदलसंक्रान्तं प्रालेयमिव यौवनम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—जीवोंका आयुर्बल तो अञ्जलिके जलसमान क्षण क्षणमें निरन्तर झरता है और यौवन कमलिनीके पत्रपर पड़े हुए जलबिंदुके समान तत्काल ढलक जाता है । यह प्राणी वृथा ही स्थिरताकी इच्छा रखता है ॥ ३९ ॥

आगे मनोज्ञविषयोंकी व्यवस्थाका दृष्टान्त कहते हैं,—

मनोज्ञविषयैः सार्द्धं संयोगाः स्वप्नसन्निभाः ।
क्षणादेव क्षयं यान्ति वञ्चनोद्धतबुद्धयः ॥ ४० ॥

अर्थ—जीवोंके मनोज्ञ विषयोंके साथ संयोग स्वप्नके समान है, क्षणमात्रमें नष्ट हो जाते हैं । जिनकी बुद्धि ठगनेमें उद्धत है, ऐसे ठगोंकी भांति ये किंचित्काल चमत्कार दिखाकर फिर सर्वस्व हरनेवाले हैं ॥ ४० ॥

अब अन्य सामग्रीकी व्यवस्था कैसी है, यह दिखाते हैं,—

घनमालानुकारीणि कुलानि च बलानि च।
राज्यालङ्कारवित्तानि कीर्तितानि महर्षिभिः ॥ ४१ ॥

अर्थ—महर्षियोंने जीवोंके कुल-कुटुंब, बल, राज्य अलंकार, धनादिकोंको मेघके समूह समान देखते २ विलय होनेवाले कहे हैं। यह मूढप्राणी वृथा ही नित्यकी बुद्धि करता है ॥ ४१ ॥

अब शरीरको निःसार बताते हैं,—

फेनपुञ्जेऽथवा रम्भास्तम्भे सारः प्रतीयते।
शरीरे न मनुष्याणां दुर्बुद्धे विद्धि वस्तुतः ॥ ४२ ॥

अर्थ—हे दुर्बुद्धि, मूढप्राणी! वास्तवमें देखा जाय, तो झागोंके समूहमें तथा केलेके थंभमें तो कुछ सार प्रतीत होता भी है, परन्तु मनुष्योंके शरीरमें तो कुछ भी सार नहीं है। भावार्थ-यह दुर्बुद्धि प्राणी मनुष्यके शरीरमें कुछ सार समझता है, इससे कहा गया है कि, इसमें कुछ भी सार नहीं है। मरनेके पीछे यह शरीर भस्म कर दिया जाता है तथा अवशेष कुछ भी नहीं रहता। यह प्राणी वृथा ही शरीरको सार जानता है ॥ ४२ ॥

फिर भी कहते हैं,—

यातायातानि कुर्वन्ति ग्रहचन्द्रार्कतारकाः।
ऋतवश्च शरीराणि न हि स्वप्नेऽपि देहिनाम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—इस लोकमें ग्रह चन्द्र सूर्य तारे तथा छहऋतु आदि सब ही जाते और आते हैं, अर्थात् निरन्तर गमनागमन करते रहते हैं। परन्तु जीवोंके गये हुए शरीर स्वप्नमें भी कभी लौटकर नहीं आते यह प्राणी वृथा ही इनसे प्रीति करता है ॥ ४३ ॥

ये जाताः सातरूपेण पुद्गलाः प्राङ्मनःप्रियाः।
पश्य पुंसां समापन्ना दुःखरूपेण तेऽधुना ॥ ४४ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! इस जगतमें जो पुद्गलस्कन्ध पहिले जिन पुरुषोंके मनको प्रिय और सुखके देनेवाले उपजे थे, वे ही अब दुःखके देनेवाले हो गये हैं। उन्हें देख अर्थात् जगतमें ऐसा कोई भी नहीं है जो शाश्वता सुखरूप ही रहता हो ॥ ४४ ॥

अब सामान्यतासे कहते हैं,—

मोहाञ्जनमिवाक्षाणामिन्द्रजालोपमं जगत्।
मुह्यत्यस्मिन्नयं लोको न विद्मः केन हेतुना ॥ ४५ ॥

अर्थ—यह जगत इन्द्रजालवत् है। प्राणियोंके नेत्रोंको मोहनीअञ्जनके समान भुलाता है, और लोग इसमें मोहको प्राप्त होकर अपनेको भूल जाते हैं, अर्थात् लोग

होते जाते हैं । श्री आचार्य महाराज कहते हैं कि हम नहीं जानते ये लोग किस कारणसे मूरते हैं । यह सब मोहका माहात्म्य ही है ॥ ४५ ॥

ये जाता जगतीमध्ये पदार्थाश्चेतनेतराः ।
ते ते मुनिभिरुद्दिष्टाः प्रतिक्षणविनश्वराः ॥ ४६ ॥

अर्थ—इस जगतमें जो जो चेतन और अचेतन पदार्थ हैं, उन्हें सब महर्षियोंने क्षणक्षणमें नष्ट होनेवाले और विनाशीक कहे हैं । यह प्राणी इन्हें नित्यरूप मानता है, यह भ्रम मात्र है ॥ ४६ ॥

अब संक्षेपतासे कहकर अनित्य भावनाके कथनको संकुचित करते हैं,—

मालिनी ।

गगननगरकल्पं सङ्गमं वल्लभानाम्
जलदपटलतुल्यं यौवनं वा धनं वा ।
सुजनसुतशरीरादीनि विद्युच्चलानि
क्षणिकमिति समस्तं विद्धि संसारवृत्तम् ॥ ४७ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि, हे प्राणी ! वल्लभा अर्थात् प्यारी स्त्रियोंका संगम आकाशमें बादलोंसे रचे हुए नगरके समान है । अत तुरन्त विलुप्त हो जाता है और तेरा यौवन वा धन जलदपटलके समान है । सो भी क्षणमें नष्ट हो जानेवाला है तथा सज्जनपरिवारके लोग पुत्र शरीरादिक बिजुलीके समान चचल हैं । इस प्रकार इस जगतकी अवस्था अनित्य जानकर नित्यताकी बुद्धि मत कर ॥ ४७ ॥

इस भावनाका संक्षेप यह है कि, यह लोक षड्द्रव्यमयी है । इसे द्रव्यदृष्टिसे देखा जाय, तो छहों द्रव्य अपने २ स्वरूपमें शाश्वते अर्थात् नित्य विराजते हैं । परन्तु इनकी पर्यायें (अवस्थायें) स्वभाव विभावरूप उत्पन्न होतीं और विनशती रहती हैं अत ये अनित्य हैं । संसारी जीवोंको द्रव्यके वास्तविक स्वरूपका तो ज्ञान होता नहीं, अत वे पर्यायहीको वस्तुस्वरूप मानकर उसमें नित्यताकी बुद्धिसे ममत्व वा रागद्वेषादि करते हैं । इस कारण यह उपदेश है कि "पर्याय बुद्धिका एकान्त छोड़कर द्रव्यदृष्टिसे अपने स्वरूपको कथंचित् नित्य जान और उसका ध्यान करके लयको प्राप्त होकर वीतराग विज्ञानदशाको प्राप्त होइये' ।

दोहा ।

द्रव्यरूपकरि सर्वथिर, परजै थिर है कौन ।
द्रव्यदृष्टि आपा लखो पर्ययनयकरि गौन ॥ १ ॥

इति अनित्यभावना ॥ १ ॥

अथ अशरणभावना लिख्यते ।

आगे अशरणभावनाका व्याख्यान करते हैं-सो प्रथम ही कहते हैं कि, जब जीवका काल (मृत्यु) आता है, तो कोई भी शरण नहीं है,—

न स कोऽप्यस्ति दुर्बुद्धे शरीरी भुवनत्रये ।
यस्य कण्ठे कृतान्तस्य न पाशः प्रसरिष्यति ॥ १ ॥

अर्थ—हे मूढ दुर्बुद्धि प्राणी ! तू जो किसीकी शरण चाहता है, सो इस त्रिभुवनमें ऐसा कोई भी शरीरी (जीव) नहीं है कि, जिसके गलेमें कालकी फांसी नहीं पड़ती हो। **भावार्थ**—समस्त प्राणी कालके वश हैं ॥ १ ॥

समापतति दुर्वारे यमकण्ठीरवक्रमे ।
त्रायते तु नहि प्राणी सोद्योगैस्त्रिदशैरपि ॥ २ ॥

अर्थ—जब यह प्राणी दुर्निवार कालरूपी सिंहके पांवतले आजाता है, तब उद्यमशील देवगण भी इसकी रक्षा नहि कर सकते हैं, अन्य मनुष्यादिकोंकी तो क्या सामर्थ्य है कि, रक्षाकर सकें ॥ २ ॥

सुरासुरनराहीन्द्रनायकैरपि दुर्द्धरा ।
जीवलोकं क्षणार्द्धेन बध्नाति यमवागुरा ॥ ३ ॥

अर्थ—यह कालका जाल अथवा फंदा ऐसा है कि, क्षणमात्रमें जीवोंको फास लेता है और सुरेन्द्र असुरेन्द्र नरेन्द्र तथा नागेन्द्र भी इसका निवारण नहीं कर सकते हैं ॥ ३ ॥

अब कहते हैं कि, यह काल अद्वितीय सुभट है,—

जगत्त्रयजयीवीर एक एवान्तकः क्षणे ।
इच्छामात्रेण यस्यैते पतन्ति त्रिदशेश्वराः ॥ ४ ॥

अर्थ—यह काल तीन जगतको जीतनेवाला अद्वितीय सुभट है, क्योंकि इसकी इच्छामात्रसे देवोंके इन्द्र भी क्षणमात्रमें गिर पड़ते हैं, अर्थात् स्वर्गसे च्युत हो जाते हैं। फिर अन्यकी कथा ही क्या है ? ॥ ४ ॥

आगे कहते हैं कि, जो मृत्यु-प्राप्त-पुरुषका शोक करते हैं वे मूर्ख हैं,—

शोचन्ति स्वजनं मूर्खाः स्वकर्मफलभोगिनम् ।
नात्मानं बुद्धिविध्वस्ता यमदंष्ट्रान्तरस्थितम् ॥ ५ ॥

अर्थ—यदि अपना कोई कुटुंबीजन अपने कर्मवशात् मरणको प्राप्त हो जाता है, तो नष्टबुद्धि मूर्खजन उसका शोच करते हैं, परन्तु आप स्वयम् यमराजकी दाढोंमें आया हुआ है, इसकी चिन्ता कुछ भी नहीं करता है। यह बड़ी मूर्खता है ॥ ५ ॥

फिर कहते हैं कि, पूर्वकालमें बडे २ पुरुष मरणप्राप्त होगये,—

यस्मिन्संसारकान्तारे यमभोगीन्द्रसेविते ।
पुराणपुरुषाः पूर्वमनन्ताः प्रलयं गताः ॥ ६ ॥

अर्थ—कालरूप सर्पसेवित संसाररूपी वनमें पूर्वकालमें अनेक पुराणपुरुष (शलाकापुरुष) प्रलयको प्राप्त हो गये, उनका विचारकर शोक करना वृथा है ॥ ६ ॥

फिर भी कालकी प्रबलता दिखाते हैं,—

प्रतीकारशतेनापि त्रिदशैर्न निवार्यते ।
यत्रायमन्तकः पापी नृकीटैस्तत्र का कथा ॥ ७ ॥

अर्थ—जब यह पापस्वरूप यम देवताओंके सैकडों उपायोंसे भी नहिं निवारण किया जाता है, तब मनुष्यरूपी कीडेकी तो बात ही क्या? भावार्थ—काल दुर्निवार है॥७॥

गर्भादारभ्य नीयन्ते प्रतिक्षणमखण्डितैः ।
प्रयाणैः प्राणिनो मूढ कर्मणा यममन्दिरम् ॥ ८ ॥

अर्थ—हे मूढ प्राणी! आयुनामा कर्म जीवोंको गर्भावस्थाहीसे निरन्तर प्रतिक्षण अपने प्रयाणोंसे (मञ्जिलोंसे) यममन्दिरकी तरफ ले जाता है सो उसे देख! ॥ ८ ॥

यदि दृष्टः श्रुतो वास्ति यमाज्ञावञ्चको पुमान् ।
तमाराध्य भज स्वास्थ्यं नैव चेत्किं वृथाश्रमः ॥ ९ ॥

अर्थ—हे प्राणी! यदि तूने किसीको यमराजकी आज्ञाका लोप करनेवाला बलवान् पुरुष देखा वा सुना हो तो तू उसीकी सेवा कर! अर्थात् उसकी शरण लेकर निश्चिन्त हो रह और यदि ऐसा कोई बलवान् देखा वा सुना नहि है, तो तेरा खेद करना व्यर्थ है॥९॥

परस्यैव न जानाति विपत्तिं स्वस्य मूढधीः ।
वने सत्त्वसमाकीर्णे दह्यमाने तरुस्थवत् ॥ १० ॥

अर्थ—ये मूढजन दूसरोंकी आई हुई के समान अपनी आपदाओंको इस प्रकार नहि जानते, जैसे असंख्य जीवोंसे भरा हुआ वन जलता हो और वृक्ष पर बैठा हुआ मनुष्य कहै कि, देखो ये सब जीव जल रहे हैं। परन्तु यह नहिं जाने कि, जब यह वृक्ष जलेगा, तब मैं भी इनके समान ही जल जाऊंगा। यह बड़ी मूढता है ॥ १० ॥

यथा बालं तथा वृद्धं यथाढ्यं दुर्विधं तथा ।
यथा शूरं तथा भीरुं साम्येन ग्रसतेऽन्तकः ॥ ११ ॥

अर्थ—यह काल जैसे बालकको ग्रसता है, तैसे ही वृद्धको भी ग्रसता है और जैसे धनाढ्यपुरुषको ग्रसता है, उसी प्रकार दरिद्रको भी ग्रसता है। तथा जैसे शूरवीरको ग्रसता है, उसी प्रकार कायरको भी ग्रसता है। इस प्रकार जगतके सब ही जीवोंको समान भा-

वसे ग्रसता है। निसीम भी इसका हीनाधिक निचार नहीं है, इसी कारणसे इसका
नाम समवर्ती भी है ॥ ११ ॥

अब कहते हैं कि, इस कालको कोई भी नहि निवार सकता,—

गजाश्वरथसैन्यानि मन्त्रौषधबलानि च।
व्यर्थी भवन्ति सर्वाणि विपक्षे देहिनां यमे ॥ १२ ॥

अर्थ—जब यह काल जीवोंके विरुद्ध होता है अर्थात् जगतके जीवोंको ग्रसता
तथा नष्ट करता है, तब हाथी घोड़ा रथ सेना मन्त्र तन्त्र औषधादि सब ही व्यर्थ
जाते हैं। **भावार्थ**—जब मृत्यु (काल) आती है, तब इस जीवको कोई भी नहि [illegible]
सकता है ॥ १२ ॥

विक्रमैकरसस्तावज्जनः सर्वोऽपि वल्गति।
न शृणोत्यदय यावत्कृतान्तहरिगर्जितम् ॥ १३ ॥

अर्थ—पराक्रम ही है अद्वितीय रस जिसके, ऐसा यह मनुष्य तबतक ही उ[illegible]
होकर दौड़ता कूदता है, जबतक कि कालरूपी सिंहकी गर्जनाका शब्द नहि सु[illegible]
अर्थात्—तेरी मौत आ गई ऐसा शब्द सुनते ही सब खेल कूद भूल जाता है ॥ १३

अकृत्वाभीष्टकल्याणमसिद्धारब्धवाञ्छितम्।
प्रागेवागत्य निस्त्रिंशो हन्ति लोकं यमः क्षणे ॥ १४ ॥

अर्थ—यह काल ऐसा निर्दयी है कि, जिन्होंने अपना मनोवाञ्छित कल्याणरूप [illegible]
नहि किया और न अपने प्रारंभ किये हुए कार्यको पूर्ण कर पाये, ऐसे लोगोंको
सबसे पहिले आकर तत्काल मार डालता है। लोगोंके कार्य जैसेके तैसे अधूरे ही
रह जाते हैं ॥ १४ ॥

फिर भी आगे [illegible] [illegible] दिखाते हैं —

स्रग्धरा।

भ्रूभङ्गारम्भभीतं स्खलति जगदिदं ब्रह्मलोकावसानम्
सद्यः क्षुभ्यन्ति शैला धरणिगुरुभराक्रान्तभार्या पदेन।
येषां तेऽपि प्रवीराः कतिपयदिवसैः कालराजेन सर्वे
नीता वार्तावशेषं तदपि हतधियां जीवितेऽप्युद्धताशा ॥ १५ ॥

अर्थ—जिनकी [illegible] प्रारंभमात्रसे ब्रह्मलोक पर्यन्तका यह जगत [illegible]
[illegible] जाता है, तथा जिनके चरणोंके [illegible] भारसे पृथिवीके दबजानेसे प[illegible]
[illegible] [illegible] जाते हैं, ऐसे [illegible] भी [illegible] [illegible] मात्र
[illegible] [illegible] [illegible] हैं। फिर यह दीनहीन [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] ॥ १५ ॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

रुद्राशागजदेवदैत्यखचरग्राहग्रहव्यन्तरा
दिक्पाला' प्रतिशत्रवो हरिबला व्यालेन्द्रचक्रेश्वरा ।
ये चान्ये मरुदर्यमादिबलिन' सभूय सर्वे स्वयम्
नारब्धं यमकिङ्करै क्षणमपि त्रातु क्षमा देहिन ॥ १६ ॥

अर्थ—रुद्र, दिग्गज, देव, दैत्य, विद्याधर, जलदेवता, ग्रह, व्यन्तर, दिक्पाल, नारायण, प्रतिनारायण, बलभद्र, धरणीन्द्र, चक्रवर्ति, तथा पवन देव सूर्यादि बलिष्ठ देहधारी, सब एकत्र होकर भी कालके किंकर स्वरूप कालकी कलासे आरंभ किये अर्थात् पकड़े हुए प्राणीको क्षणमात्र भी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं है। कोई ऐसा समझता होगा कि, मृत्युसे बचानेवाला कोई तो इस जगतमें अवश्य होगा, परन्तु ऐसा समझना सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि कालसे मृत्युसे रक्षा करनेवाला न तो कोई हुआ और न कभी कोई होगा ॥ १६ ॥

फिर भी उपदेश करते हैं,—

आरब्धा मृगबालिकेव विपिने संहारदन्तिद्विपा
पुसा जीवकला निरेति पवनव्याजेन भीता सती ।
त्रातु न क्षमसे यदि क्रमपदप्राप्ता वराकीमिमा
न त्व निर्घृण लज्जसेऽत्र जनने भोगेषु रन्तु सदा ॥ १७ ॥

अर्थ—हे मूढप्राणी ! जिस प्रकार वनमें मृगकी बालिकाको सिंह पकडनेका आरम्भ करता है और वह भयभीत होकर भागती है उसी प्रकार जीवोंकी जीवनकी कला कालरूपी सिंहसे भयभीत होकर उच्छ्वासके बहानेसे बाहर निकलती है अर्थात् भागती है। और जिस प्रकार वह मृगकी बालिका सिंहके पावोंमें आ जाती है, उसी प्रकार जीवोंकी जीवनकी कला कालके अनुक्रमसे अन्तको प्राप्त हो जाती है अतएव तू इस जिवकलाकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं है। और हे निर्दय ! तू इस जगतमें रमनेको उद्यमी होकर प्रवृत्ति करता है और लज्जित नहिं होता है यह तेरा निर्दयपन है क्योंकि सत्पुरुषोंकी ऐसी प्रवृत्ति होती है कि, जो कोई किसी असमर्थप्राणीको समर्थ देखै, तो अपने समस्त कार्य छोडकर उसकी रक्षा करनेका विचार करते हैं और तू कालसे हनने हुए प्राणियोंको देखकर भी भोगोंमें रमता है और सुकृत करके बचानेको नहिं बचाता है, यह तेरा बडी निर्दयता है ॥ १७ ॥

स्रग्धरा ।

पाताले ब्रह्मलोके सुरपतिभवने सागरान्ते वनान्ते
दिक्चक्रे शैलशृङ्गे दहनवनहिमध्वान्तवज्रासिदुर्गे ।

**भूगर्भे सन्निविष्टं मदमदकरिघटा सङ्कटे वा बलीयान्
कालोऽयं क्रूरकर्मा कवलयति बलाज्जीवितं देहभाजां ॥ १८ ॥**

अर्थ—यह काल बडा बलवान् और क्रूरकर्मा अर्थात् दुष्ट है। जीवोंको पातालमें, ब्रह्मलोकमें, इन्द्रके भवनमें, समुद्रके तट, वनके पार, दिशाओंके अन्तमें, पर्वतके शिखरपर, अग्निमें, जलमें, हिमालयमें, अधरमें, वज्रमयी स्थानमें, तलवारोंके पहरेमें, गढ कोट भूमि घरमें, तथा मदोन्मत्त हस्तियोंके समूह इत्यादि किसी भी स्थानमें यत्नपूर्वक रिखओ, तो भी यह काल बलात्कारपूर्वक जीवोंके जीवनको भस्मीभूत कर लेता है। इस कालके आगे किसीका भी वश नहिं चलता ॥ १८ ॥

अब अशरणभावनाका वर्णन पूरा करनेकेलिये कथनको सकोचते हैं,—

शार्दूलविक्रीडितम्।

**अस्मिन्नन्तकभोगिवक्त्रविवरे संहारदंष्ट्राङ्किते
संसुप्तं भुवनत्रयं स्मरगरव्यापारमुग्धीकृतम्।
प्रत्येकं गिलितोऽस्य निर्दयधियः केनाप्युपायेन वै
नास्मान्निःसरणं तवार्य कथमप्यत्यक्षबोधं विना ॥ १९ ॥**

अर्थ—हे आर्य सत्पुरुष! अन्तसमयरूपी दाढसे चिह्नित कालरूप सर्पके मुखरूपी विवरमें कामरूपी विषकी गहलतासे मूर्छित भुवनत्रयके प्राणी गाढनिद्रामें सो रहे हैं उनमें प्रत्येकको यह निर्दयबुद्धि काल निगलता जाता है। परन्तु प्रत्यक्षज्ञानकी प्राप्ति विना इस कालके पजेसे निकलनेका और कोई भी उपाय नहीं है अर्थात् अपने ज्ञान स्वरूपका शरण लेनेसे ही इस कालसे रक्षा हो सकती है। इस प्रकार अशरणभावनाका वर्णन किया है ॥ १९ ॥

इस भावनाका सक्षेप यह है कि, निश्चयसे तो समस्तद्रव्य अपनी २ शक्तिके भाग नेवाले हैं तथा कोई किसीका कर्त्ता हर्त्ता नहीं है। किन्तु व्यवहार दृष्टिसे निमित्त नैमित्तिक मात्र देखकर यह जीव किसीके शरणकी कल्पना करता है, यह नोकर्मके उदयका माहात्म्य है। इस कारण यदि निश्चय दृष्टिसे विचारा जाय, तो अपनी आत्माहीका शरण है और व्यवहार दृष्टिसे विचार किया जाय, तो परंपराय सुखके कारण वीतरागताको प्राप्त हुए पञ्चपरमेष्ठिका ही शरण है, क्योंकि ये वीतरागताके एकमात्र कारण हैं, अतः अन्यका शरण छोडकर उक्त दो ही शरणको विचारना चाहिये।

दोहा।

जगमें शरणा दोय, शुद्धातम अरु पञ्चगुरु।
आन कल्पना होय मोह उदय जियकै वृथा ॥ २ ॥

इति अशरणभावना ॥ २ ॥

अथ संसारभावना लिख्यते।

आगे संसार भावनाका व्याख्यान करते हैं,—

चतुर्गतिमहावर्ते दुःखवाडवदीपिते।
भ्रमन्ति भविनोऽजस्रं वराका जन्मसागरे ॥ १ ॥

अर्थ—चार गतिरूप महा आवर्त (भौंरे) वाले तथा दुःखरूप बडवानलसे प्रज्वलित इस संसाररूपी समुद्रमें ये रंक दीन अनाथ प्राणी निरन्तर भ्रमण करते रहते हैं॥१॥

उत्पद्यन्ते विपद्यन्ते स्वकर्मनिगडैर्वृताः।
स्थिरेतरशरीरेषु संचरन्तः शरीरिणः ॥ २ ॥

अर्थ—ये जीव अपने २ कर्मरूपी बेडियोंसे बधे स्थावर और त्रस शरीरोंमें संचार करते हुए मरते और उपजते हैं,—

कदाचिद्देवगत्यायुर्नामकर्मोदयादिह।
प्रभवन्त्यङ्गिनः स्वर्गे पुण्यप्राग्भारसंभृताः ॥ ३ ॥

अर्थ—कभी तो यह जीव देवगति-नामकर्म और देवायुकर्मके उदयसे पुण्यकर्मके समूहोंसे भरे स्वर्गोंमें देव उत्पन्न होता है ॥ ३ ॥

कल्पेषु च विमानेषु निकायेष्वितरेषु च।
निर्विशन्ति सुखं दिव्यमासाद्य त्रिदिवश्रियम् ॥ ४ ॥

अर्थ—और वहां देवगतिमें कल्पवासियोंके विमानोंमें तथा भवनवासी ज्योतिषी तथा व्यन्तर-देवोंमें उनकी लक्ष्मी पाकर देवोपनीत सुखोंको भोगता है ॥ ४ ॥

प्रच्यवन्ते ततः सद्यः प्रविशन्ति रसातलम्।
भ्रमन्त्यनिलवद्विश्वं पतन्ति नरकोदरे ॥ ५ ॥

अर्थ—फिर उस देवगतिसे च्युत होकर पृथिवीतलपर आता है और वहां पवनके समान जगतमें भ्रमण करता है, तथा नरकोंमें गिरता है ॥ ५ ॥

विडम्बयत्यसौ हन्त संसारः समयान्तरे।
अधमोत्तमपर्यायैर्नियोज्य प्राणिनां गणम् ॥ ६ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज आश्चर्य करते हैं कि, देखो यह संसार जीवोंके समूहको समयान्तरमें ऊंची नीची पर्यायोंसे जोड़कर विडम्बनारूप करता है और जीवके स्वरूपको अनेक प्रकारसे बिगाडता है ॥ ६ ॥

स्वर्गी पतति साक्रन्दं श्वा स्वर्गमधिरोहति।
श्रोत्रियः सारमेयः स्यात् कृमिर्वा श्वपचोऽपि वा ॥ ७ ॥

अर्थ—अहो! देखो ? स्वर्गका देव तो रोता पुराग्ना तथा स्वर्गमे नीचे गिरता है और कुत्ता स्वर्गमें जाकर देव होता है! ऐसम् श्रोत्रिय अर्थात् क्रियाकाडका अधिकाग अस्पर्श रहनेवाला ब्राह्मण मरकर कृमि अथवा चन्डालादि हो जाता है। इसप्रकार इस ससारकी विडम्बना है ॥ ७ ॥

रूपाण्येकानि गृह्णाति त्यजत्यन्यानि सन्ततम्।
यथा रङ्गेऽत्र शैलूषस्तथायं यन्त्रवाहकः ॥ ८ ॥

अर्थ—यह यन्त्रवाहक (प्राणी) ससारमे अनेक रूपोंको ग्रहण करता है और अनेक रूपोंको छोडता है। जिस प्रकार नृत्यकर्ता रगमचपर नृत्य करनेवाला भिन्न २ स्वाँगोंको धरता है, उसी प्रकार यह जीव निरन्तर भिन्न २ स्वाग (शरीर) धारण करता रहता है ॥ ८ ॥

सुतीव्रासातासंतप्ता मिथ्यात्वातङ्कतर्किता।
पञ्चधा परिवर्त्तन्ते प्राणिनो जन्मदुर्गमे ॥ ९ ॥

अर्थ—इस ससाररूपी दुर्गम वनमे ससारीजीव मिथ्यात्वरूपी रोगसे शकित अतिशयतीव्र असातावेदनीसे दुखित होते हुए पाच प्रकारके परिवर्तनोंमें भ्रमण करते रहते है ॥ ९ ॥

उन पाच प्रकारके परिवर्तनोंका नाम कहते हैं,—

द्रव्यक्षेत्रे तथा कालभवभावविकल्पतः।
संसारो दुःखसंकीर्णः पञ्चधेति प्रपञ्चितः ॥ १० ॥

अर्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, तथा भावके भेदसे ससार पाच प्रकारके निस्साररूप दुःखोंसे व्याप्त कहा गया है। इन पाच प्रकारके परिवर्तनोंका स्वरूप विस्तारपूर्वक अन्यग्रन्थोंसे जानना ॥ १० ॥

सर्वैः सर्वेऽपि सम्बन्धाः सम्प्राप्ता देहधारिभिः।
अनादिकालसंभ्रान्तैस्त्रसस्थावरयोनिषु ॥ ११ ॥

अर्थ—इस ससारमें अनादिकालसे फिरते हुए जीवोंने समस्तजीवोंके साथ पिता पुत्र भ्राता माता पुत्री स्त्री आदिक सम्बन्ध अनेकवार पाये हैं। ऐसा कोई भी जीव वा सम्बन्ध बाकी नहिं रहा, जो इस जीवने न पाया हो ॥ ११ ॥

देवलोके नृलोके च तिरश्चि नरकेऽपि च॥
न सा योनिर्न तद्रूपं न स देशो न तत्कुलम् ॥ १२ ॥
न तद्दुःखं सुखं किंचिन्न पर्यायः स विद्यते।
यत्रैते प्राणिनः शश्वद्यातायातैर्न खण्डिताः ॥ १३ ॥

अर्थ—इस संसारमें चतुर्गतिमें फिरते हुए जीवने वह योनि वा रूप, देश, कुल,

तथा वह सुख, दुःख, वा पर्याय नहीं है, जो निरन्तर गमनागमन करनेसे प्राप्त न हुई हो। भावार्थ-सर्व ही अवस्थाओंमें अनेकवार भोगनी पडती हैं तथा विनाभोगा कुछ भी नहीं है ॥ १३ ॥

न के बन्धुत्वमायाता न के जातास्तव द्विषः ।
दुरन्तागाधसंसारपङ्कमग्नस्य निर्दयम् ॥ १४ ॥

अर्थ—हे प्राणी! इस दुरन्त अगाध संसाररूपी कर्दम (कीच) में फँसे हुए तेरे ऐसे कौनसे जीव हैं, जो मित्र वा शत्रु नहिं हुए? अर्थात् सब जीव तेरे शत्रु वा बंधु हो गये हैं ॥ १४ ॥

भूपः कृमिर्भवत्यत्र कृमिश्चामरनायकः ।
शरीरी परिवर्त्तेत कर्मणा वञ्चितो बलात् ॥ १५ ॥

अर्थ—इस संसारमें यह प्राणी कर्मोंसे बलात् वंचित हो राजासे तो मरकर कृमि (लट) हो जाता है और कृमिसे मरकर क्रमसे देवोंका इन्द्र हो जाता है। इस प्रकार परस्पर ऊंची गतिसे नीची गति और नीचीसे ऊंची गति पलटती ही रहती है ॥ १५ ॥

माता पुत्री स्वसा भार्या सैव संपद्यतेऽङ्गजा ।
पिता पुत्रः पुनः सोऽपि लभते पौत्रिकं पदम् ॥ १६ ॥

अर्थ—इस संसारमें प्राणीकी माता तो मरकर पुत्री हो जाती है और बहन मरकर स्त्री हो जाती है, और फिर वही स्त्री मरकर आपकी पुत्री भी हो जाती है। इसी प्रकार पिता मरकर पुत्र हो जाता है तथा फिर वही मरकर पुत्रका पुत्र हो जाता है। इस प्रकार परिवर्तन होता ही रहता है ॥ १६ ॥

अब संसारभावनाका वर्णन पूरा करते हैं और उसे सामान्यतासे कहते हैं,—

शार्दूलविक्रीडितम्।

श्वभ्रे शूलकुठारयन्त्रदहनक्षारक्षुरव्याहतैः
स्तिर्यक्षु श्रमदुःखपावकशिखासंभारभस्मीकृतैः ।
मानुष्येऽप्यतुलप्रयासवशगैर्देवेषु रागोद्धतैः
संसारेऽत्र दुरन्तदुर्गतिमये बम्भ्रम्यते प्राणिभिः ॥ १७ ॥

अर्थ—इस दुर्निवार दुर्गतिमय संसारमें जीव निरन्तर भ्रमण करते हैं। नरकोंमें तो ये शूली, कुल्हाडी, घाणी, अग्नि, क्षार, खड, छुरा, कटारी आदिसे पीडाको प्राप्त हुए नाना प्रकारके दुःखोंको भोगते हैं और तिर्यंचगतिमें अग्निकी शिखाके भारसे भस्मरूप खेद और दुःख पाते हैं। तथा मनुष्यगतिमें भी अतुल्य खेदके वशीभूत होकर नाना प्रकारके दुःख भोगते हैं। इसी प्रकार देवगतिमें रागभावसे उद्धत होकर दुःख सहते हैं।

अर्थात् चारों ही गतिमें दुःख पाते हैं, इसे सुख कहीं भी नहीं है। इस प्रकार संसारभावनाका वर्णन किया ॥ १७ ॥

इसका संक्षेप यह है कि, संसारका कारण अज्ञानभाव है। अज्ञानभावसे परद्रव्योंमें इष्ट अनिष्ट तथा रागद्वेषकी प्रवृत्ति होती है। रागद्वेषकी प्रवृत्तिसे कर्मबंध होता है और कर्मबंधका फल चारों गतिमें भ्रमण करना है, सो कार्य है। यहां कार्य और कारण दोनोंको संसार कहते हैं। यहां कार्यका वर्णन विशेषतासे किया गया है, क्योंकि व्यवहारी जीवोंको कार्यरूप संसारका अनुभव विशेषतासे है। परमार्थसे अज्ञानभाव ही संसार है।

दोहा।

परद्रव्यनतें प्रीति जो, है संसार अबोध।
ताको फल गति चारमें, भ्रमण कह्यो श्रुतशोध ॥ ३ ॥

इति संसारभावना ॥ ३ ॥

अथ एकत्वभावना लिख्यते।

अब एकत्वभावनाका व्याख्यान करते हैं, सो प्रथम ही यह कहते हैं, कि यह आत्मा समस्त अवस्थाओंमें एक ही होता है,—

महाव्यसनसंकीर्णे दुःखज्वलनदीपिते।
एकाक्येव भ्रमत्यात्मा दुर्गे भवमरुस्थले ॥ १ ॥

अर्थ—महा आपदाओंसे भरे हुए दुःखरूपी-अग्निसे प्रज्वलित और गहन ऐसे संसाररूपी मरुस्थलमें (जल-वृक्षादि हीन रेतीली भूमिमें) यह जीव अकेला ही भ्रमण करता है। कोई भी इसका साथी नहीं है ॥ १ ॥

स्वयं स्वकर्मनिर्वृत्तं फलं भोक्तुं शुभाशुभम्।
शरीरान्तरमादत्ते एकः सर्वत्र सर्वथा ॥ २ ॥

अर्थ—इस संसारमें यह आत्मा अकेला ही तो अपने पूर्वकर्मोंके सुखदुःखरूप फलको भोगता है और अकेला ही समस्त गतियोंमें एक शरीरसे दूसरे शरीरको धारण करता है ॥ २ ॥

संकल्पानन्तरोत्पन्नं दिव्यं स्वर्गसुखामृतम्।
निर्विशत्ययमेकाकी स्वर्गश्रीरञ्जिताशयः ॥ ३ ॥

अर्थ—तथा यह आत्मा अकेला ही स्वर्गकी शोभासे रञ्जायमान होकर देवोपनीत संकल्प मात्र करते ही उत्पन्न होनेवाले स्वर्गसुखरूपी अमृतका पान करता है अर्थात् स्वर्गके सुख भी अकेला ही भोगता है। कोई भी इसका साथी नहीं है ॥ ३ ॥

संयोगे विप्रयोगे च संभवे मरणेऽथवा।
सुखदुःखविधौ वास्य न सखान्योऽस्ति देहिनः॥ ४॥

अर्थ—इस प्राणीके संयोगवियोगमें अथवा जन्ममरणमें तथा दुःख सुख भोगनेमें कोई भी मित्र साथी नहीं है। अकेला ही भोगता है॥ ४॥

मित्रपुत्रकलत्रादिकृते कर्म करोत्ययम्।
यत्तस्य फलमेकाकी भुङ्क्ते श्वभ्रादिषु स्वयम्॥ ५॥

अर्थ—यह जीव पुत्र मित्र स्त्री आदिकके निमित्त जो कुछ बुरे भले कार्य करता है उनका फल भी नरकादिक गतियोंमें स्वयम् अकेला ही भोगता है। वहां भी कोई पुत्रमित्रादि फल भोगनेको साथी नहिं होते॥ ५॥

सहाया अस्य जायन्ते भोक्तुं वित्तानि केवलम्।
न तु सोढुं स्वकर्मोत्थां निर्दयां व्यसनावलीम्॥ ६॥

अर्थ—यह प्राणी बुरे भले कार्य करके जो धनोपार्जन करता है, उस धनको भोगनेको तो पुत्रमित्रादि अनेक साथी हो जाते हैं, परन्तु अपने कर्मोंसे उपार्जन किये हुए निर्दयरूप दुःखोंके समूहको सहनेके अर्थ कोई भी साथी नहिं होता है। यह जीव अकेला ही सब दुःखोंको भोगता है॥ ६॥

एकत्वं किं न पश्यन्ति जडा जन्मग्रहार्दिताः।
यज्जन्ममृत्युसंपाते प्रत्यक्षमनुभूयते॥ ७॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि, ये मूर्ख प्राणी संसाररूपी पिशाचसे पीड़ित हुए भी अपनी एकताको क्यों नहीं देखते, जिसे जन्ममरणके प्राप्त होनेपर सब ही जीव प्रत्यक्षमें अनुभव करते हैं। भावार्थ—आप अपनी आँखोंसे देखता है कि, यह जन्मा और यह मरा। जो जन्मता है वह मरता है। दूसरा कोई भी उसका साथी नही है। इस प्रकार एकाकीपन देखकर भी अपने एकाकीपनको नहिं देखता है, यह बड़ी भूल है॥ ७॥

अज्ञातस्वस्वरूपोऽयं लुप्तबोधादिलोचनः।
भ्रमत्यविरतं जीव एकाकी विधिवञ्चितः॥ ८॥

यह जीव अपने स्वरूपको नहिं देखता है। इसका कारण यह है कि, ज्ञानादि लोचन लुप्त होनेसे यह अपने स्वरूपको भले प्रकार नहिं जानता है और इसी कारणसे कर्मोंसे ठगाया हुआ यह जीव एकाकी ही इस संसारमें भ्रमण करता रहता है। भावार्थ—इसका अज्ञान ही कारण है॥ ८॥

यदैक्यं मनुते मोहादयमर्थैः स्थिरेतरैः।
तदा स्वं स्वेन बध्नाति तद्विपक्षैः शिवी भवेत्॥ ९॥

अर्थ—यह मूढ प्राणी जिस समय मोहके उदयसे चेतन तथा अचेतन पदार्थोंसे अपनी एकता मानता है, तब यह जीव आपको अपने ही भावोंसे बांधता है अर्थात् कर्मबन्ध करता है। और जब यह अन्यपदार्थोंसे अपनी एकता नहिं मानता है तब कर्मबन्ध नहिं करता है और कर्मोंकी निर्जरापूर्वक परंपरा मोक्षगामी होता है। एकत्व भावनाका यही फल है ॥ ९ ॥

एकाकित्वं प्रपन्नोऽस्मि यदाहं वीतविभ्रमः।
तदैव जन्मसम्बन्धः स्वयमेव विशीर्यते ॥ १० ॥

अर्थ—जिस समय यह जीव भ्रमरहित हो ऐसा चिंतवन करे कि, मैं एकताको प्राप्त होगया हूं, उसी समय इस जीवका संसारका सम्बन्ध स्वयं ही नष्ट हो जाता है। क्योंकि संसारका संबन्ध तो मोहसे है और यदि मोह जाता रहै, तो आप एक है फिर मोक्ष क्यों न पावे? ॥ १० ॥

अब एकत्वभावनाका व्याख्यान पूरा करते हैं सो सामान्यतासे कहते हैं,—

मन्दाक्रान्ता।

एकः स्वर्गी भवति विबुधः स्त्रीमुखाम्भोजभृङ्ग
एकः श्वाभ्रं पिबति कलिलं छिद्यमानः कृपाणैः।
एकः क्रोधाद्यनलकलितः कर्म बध्नाति विद्वान्
एकः सर्वावरणविगमे ज्ञानराज्यं भुनक्ति ॥ ११ ॥

अर्थ—यह आत्मा आप एक ही देवांगनाके मुखरूपी कमलकी सुगन्धि लेनेवाला भ्रमरके समान स्वर्गका देव होता है और अकेला आप ही कृपाण छुरी तरवारोंसे छिन्न भिन्न किया हुआ नरक सम्बन्धी रुधिरको पीता है तथा अकेला आप क्रोधादि कषायरूपी अग्निसहित होकर कर्मोंको बांधता है और अकेलाही आप विद्वान् ज्ञानी पंडित होकर समस्त कर्मरूप आवरणके अभाव होनेपर ज्ञानरूप राज्यको भोगता है। भावार्थ-आत्मा आप अकेला ही स्वर्गमें जाता है, आप ही अकेला नरकमें जाता है, आप ही कर्म बांधता है और आप ही केवलज्ञानपाकर मोक्षको जाता है ॥ ११ ॥

इस भावनाका संक्षेप आशय इतना ही है कि, परमार्थसे (निश्चयसे) तो आत्मा अनन्तज्ञानादिस्वरूप आप एक ही है, परन्तु संसारमें जो अनेक अवस्थायें होती हैं वे कर्मके निमित्तसे होती है। उनमें भी आप अकेला ही है। इसका दूसरा कोई भी साथी नहीं है। इस प्रकार एकत्वभावनाका व्याख्यान किया है ॥

दोहा।

संसारमें आतमा, एक रूप ही आप।
कर्मनिमित्त विकल्प धरै तिनि माने निज होय ॥ ४ ॥

इति एकत्वभावना ॥ ४ ॥

अथ अन्यत्वभावना लिख्यते ।

अब अन्यत्वभावनाका व्याख्यान करते हैं। प्रथम ही परमार्थतः आत्माको शरीरादिकसे भिन्न दिखाते हैं —

> अयमात्मा स्वभावेन शरीरादेर्विलक्षणः ।
> चिदानन्दमयः शुद्धो बन्धं प्रत्येकवानपि ॥ १ ॥

अर्थ—यह आत्मा यदि कर्मबन्धकी दृष्टिसे देखा जाय, तो बंधरूप वा एकरूप है और स्वभावकी दृष्टिसे देखा जाय, तो शरीरादिकसे विलक्षण चिदानंदमय शुद्ध है ॥ १ ॥

> अचिच्चिद्रूपयोरैक्यं बन्धं प्रति न वस्तुतः ।
> अनादिश्चानयोः श्लेषः स्वर्णकालिकयोरिव ॥ २ ॥

अर्थ—चेतन और अचेतनके बंधदृष्टिकी अपेक्षा एकपना है और वस्तुतः देखा जैसे दोनों भिन्न २ वस्तु हैं, एकपन नहीं हैं। इन दोनोंका अनादिकालसे एकक्षेत्रावगाह रूप संश्लेष है मिलाप है। जैसे सुवर्ण और कालिमाके स्वाभिमें एकपना है, उसी प्रकार जीव पुद्गलोंके एकता है परन्तु वास्तवमें भिन्न २ वस्तु है ॥ २ ॥

> इह मूर्तममूर्तेन चलेनात्यन्तनिश्चलम् ।
> शरीरमुह्यते मोहाच्चेतनेनास्तचेतनम् ॥ ३ ॥

अर्थ—इस जगतमें मोहके कारण अमूर्तीक और चलनेवाले जीवको यह मूर्तीक अतिनिश्चल चेतनारहित शरीर अपने साथ २ लगाये रहना पड़ता है। **भावार्थ**-जीव अमूर्तीक चेतन है और मोहके कारण चलनेके स्वभावसहित है। और शरीर मूर्तीक है, अचेतन है, चलनेकी इच्छारहित है और चल नहीं है। यह जीव उसको जैसा पुरुष जैसे मुरदेको लिये फिरै, उसी प्रकार लिये लिये फिरता है ॥ ३ ॥

> अणुप्रचयनिष्पन्नं शरीरमिदमङ्गिनाम् ।
> उपयोगात्मकोऽत्यक्षः शरीरी ज्ञानविग्रहः ॥ ४ ॥

अर्थ—जीवोंका यह शरीर पुद्गल परमाणुओंसे बना है और शरीरी अर्थात् आत्मा उपयोगमयी है और अनादिय है। यह इन्द्रियगोचर नहीं है तथा इसका ज्ञान ही शरीर है। शरीर और आत्मामें इस प्रकार अत्यन्त भेद है ॥ ४ ॥

> अन्यत्वं किं न पश्यन्ति जडा जन्मग्रहार्दिताः ।
> यज्जन्मसृत्युसंपाते सर्वेणापि प्रतीयते ॥ ५ ॥

अर्थ—यद्यपि उक्त प्रकारसे शरीर और आत्माके अन्यपना है, तथापि संसाररूपी

पिशाचसे पीड़ित मूढ प्राणी क्यों नहीं समझता कि, यह अन्यता तो सब स्वरूप सम्पातमें सब लोककी प्रतीतिमें आता है। अर्थात् जन्मा तब शरीरको साथ लाया नहीं, और मरता है तब यह शरीर साथ जाता नहीं है। इस प्रकार शरीरसे जीवकी प्रकट प्रतीत होती है ॥ ५ ॥

मूर्तैर्विचेतनैश्चित्रैः स्वतन्त्रैः परमाणुभिः।
यद्वपुर्विहितं तेन कः सम्बन्धस्तदात्मनः ॥ ६ ॥

अर्थ—मूर्तीक चेतनारहित नाना प्रकारके स्वतन्त्र परमाणुओंसे जो शरीर रचा गया है उससे और आत्मासे क्या संबंध है? विचारो। इसका विचार करनेसे कुछ भी संबंध नहीं है, ऐसा प्रतिभास होगा ॥ ६ ॥

इस प्रकार शरीरसे भिन्नता बताई, अब अन्यान्य पदार्थोंसे भिन्नता दिखाते हैं,—

अन्यत्वमेव देहेन स्याद्भृशं यत्र देहिनः।
तत्रैक्यं बन्धुभिः सार्धं बहिरङ्गैः कुतो भवेत् ॥ ७ ॥

अर्थ—जब उपर्युक्त प्रकारसे देहसे ही प्राणीके अत्यन्त भिन्नता है, तब बहिरंग जो कुटुम्बादिक हैं उनसे एकता कैसे हो सकती है? क्योंकि ये तो प्रत्यक्ष भिन्न दीख पडते हैं ॥ ७ ॥

ये ये सम्बन्धमायाताः पदार्थाश्चेतनेतराः।
ते ते सर्वेऽपि सर्वत्र स्वस्वरूपाद्विलक्षणाः ॥ ८ ॥

अर्थ—इस जगतमें जो जो जड और चेतन पदार्थ इस प्राणीके सम्बन्धरूप हुए हैं वे सब ही सर्वत्र अपने २ स्वरूपसे विलक्षण (भिन्न भिन्न) हैं, आत्मा सबसे अन्य है॥८॥

पुत्रमित्रकलत्राणि वस्तूनि च धनानि च।
सर्वथाऽन्यस्वभावानि भावय त्वं प्रतिक्षणम् ॥ ९ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! इस जगतमें पुत्र मित्र स्त्री आदि अन्य वस्तुओंको तू निरन्तर सर्व प्रकारसे अन्य-स्वभाव भावना कर, इनमें एकपनेकी भावना कदापि न कर, ऐसा उपदेश है ॥ ९ ॥

अन्यः कश्चिद्भवेत्पुत्रः पितान्यः कोऽपि जायते।
अन्येन केनचित्सार्द्धं कलत्रेणानुयुज्यते ॥ १० ॥

अर्थ—इस जगतमें कोई अन्य जीव ही तो पुत्र होता है और अन्य ही पिता होता है और किसी अन्य जीवके ही साथ स्त्रीसम्बन्ध होता है। इस प्रकार सब ही सम्बन्ध भिन्न २ जीवोंमें होते हैं ॥ १० ॥

स्वस्वरूपमतिक्रम्य पृथक्पृथगव्यवस्थिता ।
सर्वेऽपि सर्वथा मूढ भावास्त्रैलोक्यवर्त्तिन ॥ ११ ॥

अर्थ—हे मूढ प्राणी! तीनलोकवर्ती समस्त ही पदार्थ तेरे स्वरूपसे भिन्न सर्वथा पृथक् पृथक् तिष्ठते हैं, तू उनमें अपना एकत्व न मान ॥ ११ ॥

अब अन्यत्वभावनाके कथनको पूरा करते हैं,—

शार्दूलविक्रीडितम्।

मिथ्यात्वप्रतिबद्धदुर्णयपथभ्रान्तेन बाह्यानल
भावान् स्वान् प्रतिपद्य जन्मगहने खिन्न त्वया प्राक् चिर ।
सम्प्रत्यस्तसमस्तविभ्रमभवश्चिद्रूपमेकं परम्
स्वस्थं स्वं प्रविगाह्य सिद्धिवनितावक्त्रं समालोकय ॥ १२ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! तू इस संसाररूपी गहनवनमें मिथ्यात्वके संबंधसे उत्पन्न हुए सर्वथा एकान्तरूप दुर्नयके मार्गमें भ्रमरूप होता हुआ, बाह्यपदार्थोंको अतिशय करके अपने मान करके तथा अंगीकार करके, चिरकालसे सदैव खेदखिन्न हुआ और अब अस्त हुआ है समस्त विभ्रमोंका भार जिसका ऐसा होकर, तू अपने आपहीमें रहनेवाले उत्कृष्ट चैतन्यस्वरूपको अवगाहन करके उसमें मुक्तिरूपी स्त्रीके मुखको अवलोकन कर (देख)।

भावार्थ—यह आत्मा अनादिकालसे पर पदार्थोंको अपने मानकर उनमें रमता है इसी कारणसे संसारमें भ्रमण किया करता है। आचार्य महाराजने ऐसे ही जीवको उपदेश किया है कि, तू पर भावोंसे भिन्न अपने चैतन्यभावमें लीन होकर मुक्तिको प्राप्त हो। इस प्रकार यह अन्यत्वभावनाका उपदेश है।

इसका संक्षिप्त अभिप्राय यह है कि, इस लोकमें समस्त द्रव्य अपनी अपनी सत्ताको लिये भिन्न भिन्न हैं। कोई भी किसीमें मिलता नहीं है और परस्पर निमित्तनैमित्तिक भावसे कुछ कार्य होता है, उसके भ्रमसे यह प्राणी परमें अहंकार ममकार करता है, सो जब यह अपना स्वरूप जाने तब अहंकार ममकार अपने आपहीमें हो और तब परका उपद्रव आपके नहिं आवे यह अन्यत्वभावना है ॥ ५ ॥

दोहा।

अपने अपने सत्त्वकूं सब वस्तु विलसाय ।
ऐसें चितवै जीव तब, परतें ममत न थाय ॥ ५ ॥

इति अन्यत्वभावना ॥ ५ ॥

अथ अशुचित्वभावना लिख्यते ।

अब अशुचि भावनाका व्याख्यान करते हैं । प्रथम शरीरकी अशुद्धता दिखाते हैं,—

निसर्गमलिनं नित्यमनेकाशुचिसम्भृतम् ।
शुक्रादिबीजसम्भूतं घृणास्पदमिदं वपुः ॥ १ ॥

अर्थ—इस संसारमें जीवोंका जो शरीर है, वह प्रथम तो स्वभावसे ही मलक्षर (मैलाझरनेवाला) है, नित्य है, तथा अनेक धातु उपधातुओंसे भरा हुआ है । एवं शुक्र रुधिरके बीजसे उत्पन्न हुआ है, इस कारण ग्लानिका स्थान है ॥ १ ॥

असृग्मांसवसाकीर्णं शीर्णं कीकसपञ्जरम् ।
शिरानद्धं च दुर्गन्धं क शरीरं प्रशस्यते ॥ २ ॥

अर्थ—यह शरीर रुधिर मांस चर्बीसे घिरा हुआ सड़ रहा है, हाडोंका पंजर और शिराओंसे (नसोंसे) बंधा हुआ दुर्गन्धमय है । आचार्य महाराज कहते हैं, कि इस शरीरके कौनसे स्थानकी प्रशंसा करें ? सर्वत्र निंद्य ही दीख पड़ता है ॥ २ ॥

प्रस्रवन्नवभिर्द्वारैः पूतिगन्धान्निरन्तरम् ।
क्षणक्षयं पराधीनं शश्वन्नरकलेवरम् ॥ ३ ॥

अर्थ—यह मनुष्यका शरीर नव द्वारोंसे निरन्तर दुर्गन्धरूप पदार्थोंसे झरता रहता है, तथा क्षणध्वंसी पराधीन है और नित्य अन्नपानीकी सहायता चाहता है ॥ ३ ॥

कृमिजालशताकीर्णे रोगप्रचयपीडिते ।
जराजर्जरिते काये कीदृशी महतां रतिः ॥ ४ ॥

अर्थ—यह शरीर लट कीडोंके समूहोंसे भरा हुआ रोगोंके समूहसे पीड़ित तथा वृद्धावस्थासे जर्जरित है । ऐसे शरीरमें महन्त पुरुषोंकी रति (प्रीति) कैसे हो ? कदापि नहीं हो ॥ ४ ॥

यद्यद्वस्तु शरीरेऽत्र साधुबुद्ध्या विचार्यते ।
तत्तत्सर्वं घृणां धत्ते दुर्गन्धामेध्यमन्दिरे ॥ ५ ॥

अर्थ—इस शरीरमें जो जो पदार्थ हैं, सुबुद्धिसे विचार करनेपर वे सब घृणाके स्थान तथा दुर्गन्धमय विष्टाके घर ही प्रतीत होते हैं । इस शरीरमें कोई भी पदार्थ पवित्र नहीं है ॥ ५ ॥

यदीदं शोध्यते दैवाच्छरीरं सागराम्बुभिः ।
दूषयत्यपि तान्येव शोध्यमानमपि क्षणे ॥ ६ ॥

अर्थ—यदि इस शरीरको दैवात् समुद्रके जलसे भी शुद्ध किया जाय, तो उसी क्षण समुद्रके जलको भी यह अशुद्ध (मैला) कर देता है । अन्य वस्तुको अपवित्र कर दे, तो आश्चर्य ही क्या है ? ॥ ६ ॥

कलेवरमिदं न स्याद्यदि चर्मावगुण्ठितम् ।
मक्षिकाक्रिमिकाकेभ्यः स्यात्त्रातुं कस्तदा प्रभुः ॥ ७ ॥

अर्थ—यदि यह शरीर बाहिरके चमड़ेसे ढका हुआ नहीं होता, तो मक्खी कृमि तथा कौओंसे इसकी रक्षा करनेमें कोई भी समर्थ नहीं होता । ऐसे घृणास्पद शरीरको देखकर सत्पुरुष जब दूरहीसे छोड देते हैं, तब इसकी रक्षा कौन करे ? ॥ ७ ॥

सर्वदैव रुजाक्रान्तं सर्वदैवाशुचेर्गृहम् ।
सर्वदा पतनप्रायं देहिनां देहपञ्जरम् ॥ ८ ॥

अर्थ—इन जीवोंका देहरूपी पींजरा सदा ही रोगोंसे व्याप्त, सर्वदा अशुद्धताओंका घर और सदा ही पतन होनेके स्वभाववाला है । ऐसा कभी मत समझो कि, किसी कालमें यह उत्तम और पवित्र होता होगा ॥ ८ ॥

तैरेव फलमेतस्य गृहीतं पुण्यकर्मभिः ।
विरज्य जन्मनः स्वार्थे यैः शरीरं कदर्थितम् ॥ ९ ॥

अर्थ—इस शरीरके प्राप्त होनेका फल उन्हींने लिया, जिन्होंने संसारसे विरक्त होकर इसे अपने कल्याणमार्गमें पुण्यकर्मोंसे क्षीण किया ॥ ९ ॥

शरीरमेतदादाय त्वया दुःखं विसह्यते ।
जन्मन्यस्मिंस्ततस्तद्धि निःशेषानर्थमन्दिरम् ॥ १० ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! इस संसारमें तूने इस शरीरको ग्रहण करके दुःख पाये वा सहे हैं, इसीसे तू निश्चयकर जान कि, यह शरीर ही समस्त अनर्थोंका घर है, इसके संसर्गसे सुखका लेश भी नहीं मान ॥ १० ॥

भवोद्भवानि दुःखानि यानि यानीह देहिभिः ।
सह्यन्ते तानि तान्युच्चैर्वपुरादाय केवलम् ॥ ११ ॥

अर्थ—इस जगतमें संसारसे (जन्ममरणसे) उत्पन्न जो जो दुःख जीवोंको सहने पड़ते हैं, वे सब इस शरीरके ग्रहणसे ही सहने पड़ते हैं । इस शरीरसे निवृत्त (मुक्त) होने पर फिर कोई भी दुःख नहीं है ॥ ११ ॥

आर्या ।

कर्पूरकुङ्कुमागुरुमृगमदहरिचन्दनादिवस्तूनि ।
भव्यान्यपि संसर्गान्मलिनयति कलेवरं नृणाम् ॥ १२ ॥

अर्थ—कर्पूर, केशर, अगर, कस्तूरी, हरिचंदनादि सुन्दर सुन्दर पदार्थोंको भी यह मनुष्योंका शरीर संसर्गमात्रसे अर्थात् लगाते ही अशुद्ध (मैले) कर देता है। भावार्थ-आप तो मैला है ही और संसर्गसे उत्तमोत्तम पदार्थोंको भी मलीन कर देता है, यह अधिकता है ॥ १२ ॥

अब अशुचिभावनाके कथनको पूरा करते हैं,—

मालिनी।

अजिनपटलगूढं पञ्जरं कीकसानाम्
कुथितकुणपगन्धैः पूरितं मूढ गाढम्।
यमवदननिषण्णं रोगभोगीन्द्रगेहं
कथमिह मनुजानां प्रीतये स्याच्छरीरम् ॥ १३ ॥

अर्थ—हे मूढप्राणी! इस संसारमें मनुष्योंका यह शरीर चमके पटलोंसे (परदोंसे) ढका हुआ हाड़ोंका पिंजरा है, तथा बिगड़ी हुई राधकी (पीनकी) दुर्गंधसे परिपूर्ण है, एवम् कालके मुखमें बैठे हुए रोगरूपी सर्पोंका घर है। ऐसा शरीर प्रीतिकरनेके योग्य कैसे हो? यह बड़ा आश्चर्य है ॥ १३ ॥

इस अशुचिभावनाके व्याख्यानका संक्षिप्त अभिप्राय यह है कि, आत्मा तो निर्मल है, अमूर्तीक है और उसके मल लगना ही नहीं है, परन्तु कर्मोंके निमित्तसे जो इसके शरीरका संबंध है, उसे यह अज्ञानसे (मोहसे) अपना मानकर मला जानता है, और मनुष्योंका यह शरीर सर्वतया अपवित्रताका घर है। इस कारण इसमें जब अशुचि भावना भावे, तब इससे विरक्तता होकर अपने निर्मल आत्मस्वरूपमें रमनेकी रुचि हो। इस प्रकार अशुचिभावनाका आशय है ॥ ६ ॥

दोहा।

निर्मल अपनो आतमा, देह अपावनगेह।
जानि भव्य निजभावको, यासों तजो सनेह ॥ ६ ॥

इति अशुचिभावना ॥ ६ ॥

अथ आस्रवभावना लिख्यते।

आगे आस्रवभावनाका व्याख्यान करते हैं। प्रथम ही आस्रवका स्वरूप कहते हैं—

मनस्तनुवचःकर्म योग इत्यभिधीयते।
स एवास्रव इत्युक्तस्तत्त्वज्ञानविशारदैः ॥ १ ॥

अर्थ—मन-वचन-कायकी क्रियाको योग कहते हैं और इस योगको ही तत्त्वविशार

दोंने (कषियोंने) आस्रव कहा है । यह स्वरूप तत्त्वार्थसूत्रमें कहा है, यथा-
"कायवाङ्मनः कर्मयोगः स आस्रवः" ॥ १ ॥

वार्द्धेरन्तः समादत्ते यानपात्रं यथा जलम् ।
छिद्रैर्जीवस्तथा कर्मयोगरन्ध्रैः शुभाशुभं ॥ २ ॥

अर्थ—जैसे समुद्रमें प्राप्त हुआ जहाज छिद्रोंसे जलको ग्रहण करता है, उस ही प्रकार जीव शुभाशुभयोगरूप छिद्रोंसे (मनवचनकायसे) शुभाशुभकर्मोंको ग्रहण करता है ॥ २ ॥

यमप्रशमनिर्वेदतत्त्वचिन्तावलम्बितम् ।
मैत्र्यादिभावनारूढं मनः सूते शुभास्रवम् ॥ ३ ॥

अर्थ—यम (अणुव्रत महाव्रत), प्रशम (कषायोंकी मंदता), निर्वेद (संसारसे विरागता अथवा धर्मानुराग), तथा तत्त्वोंका चिंतवन इत्यादिका अवलम्बन हो, एवम् मैत्री, प्रमोद कारुण्य और माध्यस्थ्य इन चार भावोंकी जिस मनमें भावना हो, वही मन शुभास्रवको उत्पन्न करता है ॥ ३ ॥ और,—

कषायदहनोद्दीप्तं विषयैर्व्याकुलीकृतम् ।
सञ्चिनोति मनः कर्म जन्मसम्बन्धसूचकम् ॥ ४ ॥

अर्थ—कषायरूप अग्निसे प्रज्वलित और इन्द्रियोंके विषयोंसे व्याकुल मन संसारके संबधके सूचक अशुभकर्मोंका संचय करता है ॥ ४ ॥

विश्वव्यापारनिर्मुक्तं श्रुतज्ञानावलम्बितम् ।
शुभास्रवाय विज्ञेयं वचः सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥ ५ ॥

अर्थ—समस्त विश्वके व्यापारोंसे रहित, तथा, श्रुतज्ञानके अवलम्बनयुक्त और सत्यरूप प्रामाणिक वचन शुभास्रवकेलिये होते हैं ॥ ५ ॥

अपवादास्पदीभूतमसन्मार्गोपदेशकम् ।
पापास्रवाय विज्ञेयमसत्यं परुषं वचः ॥ ६ ॥

अर्थ—अपवाद (निंदा)का स्थान, असन्मार्गका उपदेशक, असत्य, कठोर, कानोंसे सुनते ही जो दूसरेके कषाय उत्पन्न कर दे, और जिससे दूसरेका बुरा हो जाय, ऐसे वचन अशुभास्रवके कारण होते हैं ॥ ६ ॥

सुगुप्तेन सुकायेन कायोत्सर्गेण वानिशम् ।
सञ्चिनोति शुभं कर्म काययोगेन संयमी ॥ ७ ॥

अर्थ—भले प्रकार गुप्तरूप किये हुए अर्थात् अपने वशीभूत किये हुए कायसे तथा निरन्तर कायोत्सर्गसे संयमी मुनि शुभकर्मका संचय (आस्रव) करते हैं ॥ ७ ॥

सततारम्भयोगैश्च व्यापारैर्जन्तुघातकैः ।
शरीरं पापकर्माणि संयोजयति देहिनाम् ॥ ८ ॥

अर्थ—निरन्तर आरंभ करनेवाले और जीवघातके कार्योंसे तथा व्यापारोंसे जीवोंका शरीर (काययोग) पापकर्मोंको संग्रह करता है, अर्थात् काययोगसे अशुभास्रव करता है ॥ ८ ॥

अब आस्रवभावनाका व्याख्यान पूर्ण करते हैं,—

शिखरिणी ।

कषायाः क्रोधाद्याः स्मरसहचराः पञ्चविषयाः
प्रमादा मिथ्यात्वं वचनमनसी काय इति च ।
दुरन्ते दुर्ध्याने विरतिविरहश्चेति नियतम्
स्रवन्त्येते पुंसां दुरितपटलं जन्मभयदम् ॥ ९ ॥

अर्थ—प्रथम तो मिथ्यात्वरूप परिणाम, दूसरे क्रोधादि कषाय, तीसरे कामके [illegible] (मित्र) पंचेन्द्रियोंके विषय, चौथे प्रमाद विकथा, पांचवें मनवचनकायके [illegible] [illegible] परिणाम और सातवें आर्त्त-रौद्र दोनों अशुभध्यान ये [illegible] [illegible] पापकर्म आस्रवोंको करते हैं । इन परिणामोंका विशेष कथन तत्त्वार्थ[illegible] और जानना चाहिये । इस प्रकार आस्रवभावनाका व्याख्यान पूर्ण किया ॥ ९ ॥

[illegible] अभिप्राय यह है कि, यद्यपि यह आत्मा शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे तो [illegible] है, तथापि अनादिकालसे संबंधसे मिथ्यात्वादि [illegible] है, अतएव नवीन कर्मोंका आस्रव करता है । जब उन मिथ्यात्वादि [illegible] ध्यान करे, तब कर्मास्रवोंसे रहित [illegible] [illegible] ॥ ७ ॥

दोहा ।

[illegible] ।
[illegible], [illegible] ॥ ७ ॥

इति आस्रवभावना ॥ ७ ॥

अथ संवरभावना लिख्यते ।

[illegible] । [illegible] है,—

[illegible] ।
[illegible] ॥ १ ॥

[illegible]

आगे दोनों भेदोंका स्वरूप कहते हैं,—

> य. कर्मपुद्गलादानविच्छेद स्यात्तपस्विन. ।
> स द्रव्यसवर' प्रोक्तो ध्याननिर्धूतकल्मषैः ॥ २ ॥

अर्थ—ध्यानसे पापोंको उडानेवाले ऋषियोंने कहा है, कि जो तपस्वी मुनियोंके कर्मरूप पुद्गलोंके ग्रहण करनेका विच्छेद (निरोध) हो, वह द्रव्यसंवर है ॥ २ ॥

> या संसारनिमित्तस्य क्रियाया विरति स्फुटम् ।
> स भावसंवरस्तज्ज्ञैर्विज्ञेय परमागमात् ॥ ३ ॥

अर्थ—संसारके कारणस्वरूप कर्मग्रहणकी क्रियाकी विरति अर्थात् अभावको भावसंवर कहते है, यह निश्चित है। ऐसा उक्त भावसंवरके ज्ञाताओंको परमागमसे जानना चाहिये ॥ ३ ॥

> असंयममयैर्बाणै सवृतात्मा न भिद्यते ।
> यमी यथा सुसन्नद्धो वीर' समरसकटे ॥ ४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार युद्धके संकटमें भले प्रकारसे सजा हुआ वीरपुरुष बाणोंसे नहीं भिदता है, उसी प्रकार संसारकी कारणरूप क्रियाओंसे विरतिरूप संवरवाला संयमी मुनि भी असंयमरूप बाणोंसे नहीं भिदता है ॥ ४ ॥

आगे आस्रवोंके रोकनेका विधान कहते हैं,—

> जायते यस्य य साध्य स तेनैव निरुध्यते ।
> अप्रमत्तै समुद्युक्तै संवरार्थं महर्षिभि ॥ ५ ॥

अर्थ—प्रमादरहित संवरकेलिये उद्यमी महर्षियोंद्वारा जो जिसको साध्य हो, वह उसीसे रोकना चाहिये। भावार्थ–जिस कारणसे आस्रव हो, उसके प्रतिपक्षी भावोंसे उसे रोकना चाहिये ॥ ५ ॥ उन भावोंको आगे कहते हैं,—

> क्षमा क्रोधस्य मानस्य मार्दव त्वार्जव पुन ॥
> मायाया सङ्गसन्यासो लोभस्यैते द्विप' क्रमात् ॥ ६ ॥

अर्थ—क्रोधकषायका तो क्षमा शत्रु है, तथा मानकषायका मृदुभाव (कोमलभाव), मायाकषायका ऋजुभाव (सरलभाव) और लोभकषायका परिग्रह-त्यागभाव, इस प्रकार अनुक्रमसे शत्रु जानने चाहिये ॥ ६ ॥ और—

> रागद्वेषौ समत्वेन निर्ममत्वेन वानिशम् ।
> मिथ्यात्वं दृष्टियोगेन निराकुर्वन्ति योगिनः ॥ ७ ॥

अर्थ—जो योगी ध्यानी मुनि हैं, वे निरंतर समभावोंसे अथवा निर्ममत्वसे रागद्वेषका, निराकरण (पराज) करते रहते हैं, तथा सम्यग्दर्शनरूप योगसे मिथ्यात्वरूप भावोंको नष्ट कर देते हैं ॥ ७ ॥

अविद्याप्रसरोद्भूत तमस्तत्त्वावरोधकम् ।
ज्ञानसूर्यांशुभिर्वोढ स्फोटयन्त्यात्मदर्शिन ॥ ८ ॥

अर्थ—आत्माको अवलोकन करनेवाले मुनिगण अविद्याके विस्तारसे उत्पन्न और तत्त्वज्ञानको रोकनेवाले अज्ञानरूपी अंधकारको ज्ञानरूपी सूर्यकी किरणोंसे अतिशय दूर कर देते हैं ॥ ८ ॥

असयमगरोद्गार सत्संयमसुधाम्बुभिः ।
निराकरोति नि'शङ्क सयमी सवरोद्यत. ॥ ९ ॥

अर्थ—सवर करनेमें तत्पर सयमी और निःशंक मुनि असयमरूपी विषके (जहरके) उद्गारको सयमरूपी अमृतमयी जलोंसे दूर कर देते हैं ॥ ९ ॥

द्वारपालीव यस्योच्चैर्विचारचतुरा मतिः
हृदि स्फुरति तस्याघसूतिः स्वप्नेऽपि दुर्घटा ॥ १० ॥

अर्थ—जिस पुरुषके हृदयमें द्वारपालीके समान अतिशय विचार करनेवाली चतुर मति फलोलें करती है, उसके हृदयमें स्वप्नमें भी पापकी उत्पत्ति होनी कठिन है। **भावार्थ**-जैसे चतुर द्वारपाल मैले तथा असभ्यजनोंको घरमें प्रवेश नहीं करने देता है उसी प्रकार समीचीन बुद्धि पाप बुद्धिको हृदयमें फटकने नहीं देती ॥ १० ॥

अब संक्षेपतासे कहते हैं,—

विहाय कल्पनाजाल स्वरूपे निश्चल मन' ।
यदाधत्ते तदैव स्यान्मुने परमसवर ॥ ११ ॥

अर्थ—जिस समय समस्त कल्पनाओंके जालको छोडकर अपने स्वरूपमें मनको निश्चलतासे थांमते हैं, उस ही काल मुनिके परमसवर होता है ॥ ११ ॥

आगे संवरका कथन पूरण करते हुए संवरकी महिमा कहते हैं,—

मालिनी ।

सकलसमितिमूलः सयमोद्दामकाण्ड'
प्रशमविपुलशाखो धर्मपुष्पावकीर्णः ।
अविकलफलबन्धैर्बन्धुरो भावनाभि-
र्जयति जितविपक्ष' सवरोद्दामवृक्ष ॥ १२ ॥

अर्थ—ईर्यासमिति आदि पांचसमितियां ही हैं । मूल अर्थात् जड़ जिसकी, सामायिक आदि सयम ही हैं स्कंध जिसके और प्रशमरूप (विशुद्धभावरूप) बडी २ शाखा, उत्तमक्षमादि दश धर्म हैं पुष्प जिसके, तथा मजबूत अविनश्वर हैं फल जिसमें, ऐसा भावनाओंसे सुन्दर यह संवररूपी महावृक्ष सर्वोपरि है, इस प्रकार सबका ध्यान आकर्षित किया ॥ १२ ॥

इसका संक्षिप्त आशय यह है कि, आत्मा अनादिकालसे अपने स्वरूपको भूल रहा है, इस कारण आस्रवरूप भावोंसे कर्मोंको बांधता है और जब यह अपने स्वरूपको जानकर उसमें लीन होता है, तब यह संवररूप होकर आगामी कर्मबन्धको रोकता है, और पूर्वकर्मोंकी निर्जरा होनेपर मुक्त हो जाता है। उस संवरके बाह्यकारण समिति, गुप्ति, धर्मानुप्रेक्षा परीषहोंका जीतना तथा चारित्र आदि कहे गये हैं। उनका विशेष कथन तत्त्वार्थसूत्रकी टीकाओंसे जानना चाहिये ॥ ८ ॥

दोहा।

निजस्वरूपमें लीनता, निश्चयसंवर जानि।
समिति-गुप्ति संयम धरम, धरैं पापकी हानि ॥ ८ ॥

इति संवरभावना ॥ ८ ॥

अथ निर्जराभावना लिख्यते।

आगे निर्जराभावनाका व्याख्यान करते हैं। प्रथम ही निर्जराका तथा वह जिनको होती है, उनका स्वरूप कहते हैं—

यया कर्माणि शीर्यन्ते बीजभूतानि जन्मनः।
प्रणीता यमिभिः सेयं निर्जरा जीर्णबन्धनैः ॥ १ ॥

अर्थ—निर्जरासे जीर्ण हो गये हैं कर्मबन्ध जिनके, ऐसे मुनियोंने जिससे बीजरूप कर्म गल जाते हैं या झड़ जाते हैं, उसे मुनिजन निर्जरा कहते हैं ॥ १ ॥

सकामाकामभेदेन द्विधा सा स्याच्छरीरिणाम्।
निर्जरा यमिनां पूर्वा ततोऽन्या सर्वदेहिनाम् ॥ २ ॥

अर्थ—यह निर्जरा जीवोंके सकाम और अकाम दो प्रकारकी होती है। इनमेंसे पहिली सकामनिर्जरा तो मुनियोंको होती है और अकामनिर्जरा समस्त जीवोंको होती है। इससे अर्थात् अकामनिर्जरामें बिना तपश्चरणादिके स्वयमेव निरन्तर ही कर्म उदयमें देकर झरते रहते हैं ॥ २ ॥

पाकः स्वयमुपायाच्च स्यात्फलानां तरोर्यथा।
तथात्र कर्मणां ज्ञेयः स्वयं सोपायलक्षणः ॥ ३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार वृक्षके फलोंका पकना एक तो स्वयं ही होता है, दूसरे पाल देनेसे भी होता है। इसी प्रकार कर्मोंका पकना भी है अर्थात् एक तो कर्मोंकी स्थिति पूरी होनेपर फल देकर खिर जाना है, दूसरे सम्यक्‌तपश्चरणादिसे अपक्व पाचन करनेसे कर्म पाक हो जाते हैं पश्चात् झर जाते हैं ॥ ३ ॥

विशुद्ध्यति हुताशेन सदोषमपि काञ्चनम् ।
यद्वत्तथैव जीवोऽयं तप्यमानस्तपोऽग्निना ॥ ४ ॥

अर्थ—जैसे सदोष भी सुवर्ण (सोना) अग्निमें तपानेसे विशुद्ध होजाता है, उसी प्रकार यह कर्मरूपी दोषोंसहित जीव तपरूपी अग्निमें तपनेसे विशुद्ध और निर्मल (कर्मरहित) हो जाता है ॥ ४ ॥

चमत्कारकरं धीरैर्बाह्यमाध्यात्मिकं तपः ।
तप्यते जन्मसन्तानशङ्कितैरार्यसूरिभिः ॥ ५ ॥

अर्थ—संसारकी परिपाटीसे भयभीत धीर और श्रेष्ठ मुनीश्वरगण उक्त निर्जराका एक मात्र कारण तप ही है, ऐसा जानकर बाह्य और अभ्यन्तर दोनों प्रकारका तप करते हैं ॥ ५ ॥

तत्र बाह्यं तपः प्रोक्तमुपवासादिषड्विधम् ।
प्रायश्चित्तादिभिर्भेदैरन्तरङ्गं च षड्विधम् ॥ ६ ॥

अर्थ—उनमेंसे अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, और कायक्लेश ये छह तो बाह्य (बहिरंग) तप हैं और प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, और ध्यान ये छह अभ्यन्तर तप हैं इनका विशेषस्वरूप जानना हो, तो तत्त्वार्थसूत्रकी टीकाओंको देखना चाहिये ॥ ६ ॥

निर्वेदपदवीं प्राप्य तपस्यति यथा यथा ।
यमी क्षपति कर्माणि दुर्जयानि तथा तथा ॥ ७ ॥

अर्थ—संयमी मुनि वैराग्यपदवीको प्राप्त होकर जैसे जैसे (ज्यों ज्यों) तप करते हैं, तैसे तैसे (त्यों त्यों) दुर्जयकर्मोंको क्षय करते हैं ॥ ७ ॥

ध्यानानलसमालीढमप्यनादिसमुद्भवम् ।
सद्यः प्रक्षीयते कर्म शुद्ध्यत्यङ्गी सुवर्णवत् ॥ ८ ॥

अर्थ—यद्यपि कर्म अनादिकालसे जीवके साथ लगे हुए हैं, तथापि वे ध्यानरूपी अग्निसे स्पर्श होने पर तत्काल ही क्षय हो जाते हैं । उनके क्षय होनेसे जैसे अग्निके तापसे सुवर्ण शुद्ध होता है, उसी प्रकार यह प्राणी भी तपसे कर्मनष्ट होकर शुद्ध (मुक्त) हो जाता है ॥ ८ ॥

अब निर्जराका कथन पूर्ण करते हुए कहते हैं,—

शिखरिणी ।

तपस्तावद्बाह्यं चरति सुकृती पुण्यचरित-
स्ततश्चात्माधीनं नियतविषयं ध्यानपरमम् ।

क्षपयन्नतल्लीन चिरतररचित कर्मपटलम्
ततो ज्ञानाम्भोधिं विशति परमानन्दनिलयम् ॥ ९ ॥

अर्थ—पवित्र आचरणवाला सुकृतीपुरुष प्रथम अनशनादि बाह्यतपोंका आचरण करता है, तत्पश्चात् आत्माधीन आभ्यन्तर तपोंको आचरता है। और उनमें भी नियतविषयवाले ध्याननामा उत्कृष्टतपको आचरता है। इस तपसे चिरकालसे संचित किये हुए कर्मरूपी पटलको (घातियाकर्मोंको) क्षय करता है, और पश्चात् परमानन्द (अतीन्द्रिय सुखके) घर ज्ञानरूपी समुद्रमें प्रवेश करता है। भावार्थ—सम्यग्दृष्टिजीव दोनो प्रकारके तपोंमें, विशेषतया ध्याननामक उत्कृष्टतपसे घातिया कर्मोंको नष्ट करके केवलज्ञानादि अनन्तचतुष्टयको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार निर्जराभावनाका व्याख्यान किया है ॥ ९ ॥

इसका संक्षिप्त आशय यह है कि, आत्मा और कर्मका सम्बन्ध अनादिकालसे है। काललब्धिके निमित्तसे यह आत्मा अपने स्वरूपको जब सम्हारे और तपश्चरण करके ध्यानमें लीन हो, तब संवररूप हो। और जब यह आगामी नये कर्म नहिं बांधे और पुराने कर्मोंकी निर्जरा करे, तब मोक्षको प्राप्त हो ॥ ९ ॥

दोहा।

संवरमय है आतमा पूर्वकर्म झड़ जाय।
निजस्वरूपको पायकर, लोकशिखर जब थाय ॥ ९ ॥

इति निर्जराभावना ॥ ९ ॥

अथ धर्मभावना लिख्यते ।

अब धर्मभावनाका व्याख्यान करते हैं,—

पवित्रीक्रियते येन येनैवोद्ध्रियते जगत्।
नमस्तस्मै दयार्द्राय धर्मकल्पाङ्घ्रिपाय वै ॥ १ ॥

अर्थ—जिस धर्मसे जगत् पवित्र किया जाता है, तथा उद्धार किया जाता है, और जो दयारूपी रससे आर्द्रित (गीला) और हरा है, उस धर्मरूपी कल्पवृक्षके लिये मेरा नमस्कार है। इस प्रकार आचार्यमहाराजने धर्मका माहात्म्य कथनपूर्वक नमस्कार किया है ॥ १ ॥

दशलक्ष्मयुतः सोऽयं जिनैर्धर्मः प्रकीर्तितः।
यस्यांशमपि संसेव्य विन्दन्ति यमिनः शिवम् ॥ २ ॥

अर्थ—वह धर्म जिसके अंशमात्रको भी सेवनकरके संयमीमुनि मुक्तिको प्राप्त होते हैं, उसे जिनेन्द्रभगवान्ने दशलक्षणयुक्त कहा है ॥ २ ॥

न सम्यग्गदितुं शक्य यत्स्वरूप कुदृष्टिभिः ।
हिंसाक्षपोषकैः शास्त्रैरतस्तैस्तन्निगद्यते ॥ ३ ॥

अर्थ—धर्मका स्वरूप मिथ्यादृष्टियों, तथा हिंसा और इन्द्रियविषयपोषण करनेवाले शास्त्रोंकेद्वारा भले प्रकार नहिं कहा जा सकता। इस कारण इस धर्मका वास्तविक स्वरूप हम कहते हैं ॥ ३ ॥

चिन्तामणिर्निधिर्दिव्य' स्वधेनु. कल्पपादपा' ।
धर्मस्यैते श्रिया सार्द्ध मन्ये भृत्याश्चिरन्तनाः ॥ ४ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि "लक्ष्मीसहित चिन्तामणि, दिव्यनवनिधि कामधेनु और कल्पवृक्ष, ये सब धर्मके चिरकालसे किंकर (सेवक) हैं, ऐसा मैं मानता हूं ॥ ४ ॥

धर्मो नरोरगाधीशनाकनायकवाञ्छिताम् ।
अपि लोकत्रयीपूज्या श्रिय दत्ते शरीरिणाम् ॥ ५ ॥

अर्थ—धर्म, जीवोंको चक्रवर्ती धरणीन्द्र तथा देवेन्द्रोंद्वारा वाछित और त्रैलोक्यपूज्य तीर्थंकरकी लक्ष्मीको देता है ॥ ५ ॥

धर्मो व्यसनसपाते पाति विश्व चराचरम् ।
सुखामृतपयःपूरैः प्रीणयत्यखिल जगत् ॥ ६ ॥

अर्थ—धर्म, कष्टके आनेपर समस्त जगतके त्रस स्थावर जीवोंकी रक्षा करता है और सुखरूपी अमृतके प्रवाहोंसे समस्त जगतको तृप्त करता है ॥ ६ ॥

पर्जन्यपवनार्कन्दुधराम्बुधिपुरन्दरा ।
अमी विश्वोपकारेषु वर्त्तन्ते धर्मरक्षिता. ॥ ७ ॥

अर्थ—मेघ, पवन, सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, समुद्र और इन्द्र ये सम्पूर्ण पदार्थ जगतके उपकाररूप प्रवर्त्तते हैं और ये सब ही धर्मद्वारा रक्षा किये हुए प्रवर्त्तते हैं। धर्मके बिना ये कोई भी उपकारी नहीं होते हैं ॥ ७ ॥

मन्येऽसौ लोकपालानां व्याजेनाव्याहतक्रम' ।
जीवलोकोपकारार्थं धर्म एव विजृम्भितः ॥ ८ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज ऐसा मानते हैं कि, इन्द्रादिक लोकपाल अथवा राजादिकोंके व्याजसे (बहानेसे) लोकोंके उपकारार्थ यह धर्म ही अव्याहत फैल रहा है ॥ ८ ॥

न तत्त्रिजगतीमध्ये भुक्तिमुक्त्योर्निबन्धनम् ।
प्राप्यते धर्मसामर्थ्यान्न यदभिमतमङ्गिभिः ॥ ९ ॥

अर्थ—इस तीन जगतमें भोग और मोक्षका ऐसा कोई भी कारण नहीं है जिसको धर्मात्मापुरुष धर्मकी सामर्थ्यसे न पाते हों अर्थात् धर्मसामर्थ्यसे समस्त मनोवांछित पदको प्राप्त होते हैं ॥ ९ ॥

नमन्ति पादराजीवराजिकां नतमौलय ।
धर्मैकशरणीभूतचेतसां त्रिदशेश्वरा ॥ १० ॥

अर्थ—जिनके चित्तमें धर्म ही एक शरणभूत है, उनके चरणकमलोंकी पंक्तिको इन्द्रगण भी नम्रीभूत मस्तकसे नमस्कार करते हैं । भावार्थ-धर्मके माहात्म्यसे जब तीर्थंकरपदवी प्राप्त होती है, तब इन्द्र भी आकर नमस्कार करते हैं ॥ १० ॥

धर्मो गुरुश्च मित्रं च धर्मः स्वामी च बान्धवः ।
अनाथवत्सलः सोऽयं संत्राता कारणं विना ॥ ११ ॥

अर्थ—धर्म गुरु है, मित्र है, स्वामी है, बांधव है, हितू है, और, धर्म ही विना कारण अनाथोंका प्रीतिपूर्वक रक्षाकरनेवाला है । इस प्राणीका धर्मके अतिरिक्त और कोई शरण नहीं है ॥ ११ ॥

धत्ते नरकपाताले निमज्जज्जगतां त्रयम् ।
योजयत्यपि धर्मोऽयं सौख्यमत्यक्षमङ्गिनां ॥ १२ ॥

अर्थ—यह धर्म नरकोंके नीचे जो निगोदस्थान है, उसमें पड़ते हुए जगत्त्रयको धारण करता है—अवलम्बन देकर बचाता है तथा जीवोंको अतीन्द्रियसुख भी प्रदान करता है ॥ १२ ॥

नरकान्धमहाकूपे पततां प्राणिनां स्वयम् ।
धर्म एव स्वसामर्थ्याद्दत्ते हस्तावलम्बनम् ॥ १३ ॥

अर्थ—नरकरूपी महाअंधकूपमें स्वयं गिरते हुए जीवोंको धर्म ही अपने सामर्थ्यसे हस्तावलम्बन (हाथका सहारा) देकर बचाता है ॥ १३ ॥

महातिशयसम्पूर्णं कल्याणोद्दाममन्दिरम् ।
धर्मो ददाति निर्विघ्नं श्रीमत्सर्वज्ञवैभवम् ॥ १४ ॥

अर्थ—धर्म, महा अतिशयसे पूर्ण, कल्याणोंके उत्कटनिवासस्थान और निर्विघ्न ऐसे लक्ष्मीसहित सर्वज्ञभगवान्‌के वैभवको देता है अर्थात् तीर्थंकरपदको प्राप्त करता है ॥ १४ ॥

याति सार्धं तथा पाति करोति नियतं हितम् ।
जन्मपङ्कात्समुद्धृत्य स्थापयत्यमले पथि ॥ १५ ॥

अर्थ—धर्म, परलोकमें प्राणीके साथ जाता है, उसकी रक्षा करता है, निरन्तर उसका हित करता है तथा संसाररूपी पङ्कमेंसे उसे निकालकर निर्मल मार्गमें स्थापन करता है ॥ १५ ॥

न धर्मसदृशः कश्चित्सर्वाभ्युदयसाधकः ।

आनन्दकुजकन्दश्च हितः पूज्यः शिवप्रदः ॥ १६ ॥

अर्थ—इस जगतमें धर्मके समान अन्य कोई समस्तप्रकारके अभ्युदयका साधक नहीं है । यह मनोवाञ्छित सम्पदाका देनेवाला है । आनंदरूपी वृक्षका कन्द है अर्थात् आनंदके अंकुर इससे ही उत्पन्न होते हैं तथा हितरूप पूज्य और मोक्षका देनेवाला भी यही है ॥ १६ ॥

व्यालानलोरगव्याघ्रद्विपशार्दूलराक्षसाः ।

नृपादयोऽपि द्रुह्यन्ति न धर्माधिष्ठितात्मने ॥ १७ ॥

अर्थ—जो धर्मसे अधिष्ठित (सहित) आत्मा है, उसके साथ सर्प, अग्नि, विष, व्याघ्र, हस्ती, सिंह, राक्षस, तथा राजादिक भी द्रोह नहीं करते हैं अर्थात् यह धर्म इन सबसे रक्षा करता है अथवा धर्मात्माओंके ये सब रक्षक होते हैं ॥ १७ ॥

निःशेषं धर्मसामर्थ्यं न सम्यग्वक्तुमीश्वरः ।

स्फुरद्वक्त्रसहस्रेण भुजगेशोऽपि भूतले ॥ १८ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि, धर्मका समस्त सामर्थ्य भले प्रकार कहनेको स्फुरायमान सहस्रमुखवाला नागेन्द्र भी इस भूतलमें समर्थ नहीं है । फिर हम कैसे समर्थ हो सकते हैं ? ॥ १८ ॥

धर्मधर्मेति जल्पन्ति तत्त्वशून्याः कुदृष्टयः ।

वस्तुतत्त्वं न बुध्यन्ते तत्परीक्षाऽक्षमा यतः ॥ १९ ॥

अर्थ—तत्त्वके यथार्थज्ञानसे शून्य मिथ्यादृष्टि 'धर्म धर्म' ऐसा तो कहते हैं, परन्तु वस्तुके यथार्थस्वरूपको नहिं जानते। क्योंकि वे उसकी परीक्षा करनेमें असमर्थ हैं । भावार्थ-नाममात्रको 'धर्म धर्म' ऐसा तो कहते हैं, परन्तु वस्तुके यथार्थस्वरूप जाने विना सत्यपरीक्षा कैसे हो? यह परीक्षा जिनागमसे ही हो सकती है। अतः जिनागममें जो धर्म कहा है, उसे कहते हैं ॥ १९ ॥

तितिक्षा मार्दवं शौचमार्जवं सत्यसंयमौ ।

ब्रह्मचर्यतपस्त्यागाकिंचन्यं धर्म उच्यते ॥ २० ॥

अर्थ—क्षमा १, मार्दव २, शौच ३, आर्जव ४, सत्य ५, संयम ६, ब्रह्मचर्य ७, तप ८, त्याग ९, और आकिंचन्य १०, ये दश प्रकारके धर्म हैं । इनका विशेषवर्णन तत्त्वार्थसूत्रकी टीकाओंमें जानना चाहिये ॥ २० ॥

आर्या ।

यत्स्वस्यानिष्टं तत्तत्परकृते दुःखकर्मभिः कार्यम् ।
स्वप्नेऽपि नो परेषामिति धर्मस्याग्रिमं लिङ्गम् ॥ २१ ॥

अर्थ—धर्मका मुख्य (प्रधान) चिह्न यह है कि, जो जो क्रियायें अपनेको अनिष्ट (बुरी) लगती हों, सो सो अन्यके लिए मनवचनकायसे स्वप्नमें भी नहिं करनी ॥ २१ ॥

अब धर्मभावनाका व्याख्यान पूर्ण करते हुए सामान्यतासे कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितम् ।

धर्मः शर्मभुजङ्गपुङ्गवपुरीसारं विधातुं क्षमो
धर्मः प्रापितमर्त्यलोकविपुलप्रीतिस्तदाशंसिनाम् ।
धर्मः स्वर्नगरीनिरन्तरसुखास्वादोदयस्थास्पदम्
धर्मः किं न करोति मुक्तिललनासंभोगयोग्यं जनम् ॥ २२ ॥

अर्थ—यह धर्म धर्मात्मापुरुषोंको धरणीन्द्रकी पुरीके सारसुखको करनेमें समर्थ है, तथा यह धर्म उस धर्मके चाहनेवाले पुरुषोंको मनुष्यलोकमें विपुल प्रीति (सुख) प्राप्त करता है और यह धर्म स्वर्गपुरीके निरन्तर सुखास्वादके उदयका स्थान है तथा धर्म ही मनुष्योंको मुक्तिस्त्रीसे संभोग करनेके योग्य करता है। धर्म और क्या २ नहिं कर सकता? ॥२२॥

मालिनी ।

यदि नरकनिपातस्त्यक्तुमत्यन्तमिष्टं
त्रिदशपतिमहर्द्धिं प्राप्तुमेकान्ततो वा ।
यदि चरमपुमर्थः प्रार्थनीयस्तदानीं
किमपरमभिधेयं नाम धर्मं विधत्त ॥ २३ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! जो तुझे नरकनिपातका छोडना परम इष्ट है अथवा इन्द्रकी महान विभव पाना एकान्त ही इष्ट है। यदि चारों पुरुषार्थोंमें अन्तका पुरुषार्थ (मोक्ष) साधनीय ही है, तो और विशेष क्या कहा जावे, तू एकमात्र धर्मका सेवन कर। क्योंकि धर्मसे ही समस्त प्रकारके अनिष्ट नष्ट होकर समस्तप्रकारके इष्टकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार धर्मभावनाका व्याख्यान पूर्ण किया ॥ २३ ॥

इसका संक्षिप्त आशय यह है कि, जिनागममें धर्म चार प्रकारका वर्णन किया है अर्थात्—वस्तुस्वभावरूप १, उत्तमक्षमादि दशरूप २, रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) रूप ३, और दयामय ४। निश्चय व्यवहारनयसे साधन किया हुआ यह धर्म एकरूप तथा अनेकरूप सधता है। यहां व्यवहारनयकी प्रधानतासे वर्णन किया गया है अर्थात् धर्मका स्वरूप, महिमा तथा फल अनेकप्रकारसे वर्णन किया जाता है सो उसको विचारके धर्मकी भावना निरन्तर चित्तमें रखनी चाहिये ॥ १० ॥

दोहा ।

दश ज्ञानमय चेतना, आतमधर्म बखानि ।
दया क्षमादिक रतन त्रय, यामें गर्भित जानि ॥ १० ॥

इति धर्मभावना ॥ १० ॥

अथ लोकभावना लिख्यते ।

अब लोकभावनाका व्याख्यान करते हैं । प्रथम लोकका स्वरूप कहते हैं,—

यत्र भावा विलोक्यन्ते ज्ञानिभिश्चेतनेतराः ।
जीवादयः स लोकः स्यात्ततोऽलोको नभः स्मृतः ॥ १ ॥

अर्थ—जितने आकाशमें जीवादिक चेतन अचेतन पदार्थ ज्ञानीपुरुषोंने देखे हैं, सो तो लोक है । उसके बाह्य जो केवल मात्र आकाश है, उसे अलोक वा अलोकाकाश कहते हैं ॥ १ ॥

वेष्टितः पवनैः प्रान्ते महावेगैर्महाबलैः ।
त्रिभिस्त्रिभुवनाकीर्णो लोकस्तालतरुस्थितिः ॥ २ ॥

अर्थ—तीन भुवनसहित यह लोक अन्तमें सब तरफसे अतिशय वेगवाले और अतिशय बलिष्ठ तीन वातवलयोंसे वेष्टित है और ताड़वृक्षके आकार सरीखा है अर्थात् नीचेमें चौड़ा, बीचमें सकड़ा तथा ऊपरमें विस्ताररूप है ॥ २ ॥

निष्पादितः स केनापि नैव नैवोद्धृतस्तथा ।
न भग्नः किन्त्वनाधारो गगने स स्वयं स्थितः ॥ ३ ॥

अर्थ—यह लोक किसीके द्वारा बनाया नहीं गया है अर्थात् अनादि निधन है । कई मतावलम्बी इसे ब्रह्मादिकका बनाया हुआ कहते हैं सो मिथ्या है । तथा किसीसे धारण किया हुआ वा थांभा हुआ हो, सो भी नहीं है । अन्यमती कच्छपकी पीठपर अथवा शेषनागके फणपर ठहरा हुआ कहते हैं, यह उनका भ्रम है । यदि कोई आशंका करे कि, बिना आधारके आकाशमें कैसे ठहरेगा गिर जायगा? तो उत्तर देना चाहिये कि, गिरनेका भय नहिं करना, यथार्थ आकाशमें वातवलयके आधार स्वयमेव स्थित है ॥ ३ ॥

अनादिनिधनः सोऽयं स्वयं सिद्धोऽप्यनश्वरः ।
अनीश्वरोऽपि जीवादिपदार्थैः संभृतो भृशम् ॥ ४ ॥

अर्थ—और यह लोक अनादिनिधन है, स्वयंसिद्ध है, अविनाशी है और इसका

कोई ईश्वर स्वामी वा कर्त्ता नहीं है, तथापि जीवादिक पदार्थोंसे भरा हुआ है। अन्यमती लोकरचनाकी अनेकप्रकारकी कल्पनाये करते हैं, वे सब ही सर्वथा मिथ्या हैं ॥ ४ ॥

अधो वेत्रासनाकारो मध्ये स्याज्झल्लरीनिभः ।
मृदङ्गसदृशश्चाग्रे स्यादित्थं स त्रयात्मकः ॥ ५ ॥

अर्थ—यह लोक नीचे तो वेत्रासन अर्थात् मोढेके आकारका है अर्थात् नीचेसे चौड़ा है, पीछे ऊपर ऊपर घटता आया है और बीचमें झालरके ऐसा है तथा ऊपर मृदंगके समान अर्थात् दोनों तरफ सकरा और बीचमें चौड़ा है। इसप्रकार तीन स्वरूपात्मक यह लोक स्थित है ॥ ५ ॥

यत्रैते जन्तवः सर्वे नानागतिषु संस्थिताः ।
उत्पद्यन्ते विपद्यन्ते कर्मपाशवशंगताः ॥ ६ ॥

अर्थ—इस लोकमें ये सब प्राणी नाना गतियोंमें संस्थित अपने अपने कर्मरूपी फांसीके वशीभूत होकर मरते तथा उपजते रहते हैं ॥ ६ ॥

अब लोकभावनाका व्याख्यान पूर्ण करते हुए सामान्यतासे कहते हैं,—

मालिनी ।

पवनवलयमध्ये संभृतोऽत्यन्तगाढं
स्थितिजननविनाशालिङ्गितैर्वस्तुजातैः ।
स्वयमिह परिपूर्णोऽनादिसिद्धः पुराणः
कृतिविलयविहीनः स्मर्यतामेष लोकः ॥ ७ ॥

अर्थ—इस लोकको ऐसा चिंतवन करना चाहिये कि, तीन वातवलयके मध्यमें स्थित है। पवनोंसे अतिशय गाढरूप घिरा हुआ है। इधर उधर चलायमान नहीं होता और उत्पाद व्यय ध्रौव्यसहित वस्तुसमूहोंसे अनादिकालसे स्वयमेव भरा हुआ है अर्थात् अनादिसिद्ध है। किसीका रचा हुआ नहीं है, इसी कारण पुराण है तथा उत्पत्ति और प्रलयसे रहित है। इस प्रकार लोकको स्मरण करते रहो यह लोकभावनाका उपदेश है। इसका विशेषस्वरूप त्रैलोक्यसारादि ग्रन्थोंसे जानना चाहिए। किसीको इस बात अनादिनिधन होनेमें (अकर्तापनेमें) संदेह हो, तो उसे परीक्षामुखकी प्रमेयरत्नमाला, प्रमेयकमलमार्तण्डटीका तथा अष्टसहस्री, श्लोकवार्तिकादि ग्रन्थोंको देखना चाहिए। इनमें कर्तृवादका विद्वानोंके देखनेयोग्य विशेष प्रकारसे (युक्ति प्रमाणोंसे) निराकरण किया गया है ॥ ७ ॥

इस भावनाका संक्षिप्त अभिप्राय यह है कि, यह लोक षड्द्रव्योंकी रचना है।

जो (समस्तद्रव्य) अपने अपने स्वभावको लिये हुए भिन्न भिन्न तिष्ठते हैं। उनमें मेरा
आत्मद्रव्य है। उसका स्वरूप यथार्थ जानकर, अन्य पदार्थोंमें ममता छोड़कर, आत्म
करना ही परमार्थ है। व्यवहारसे समस्तद्रव्योंका यथार्थस्वरूप जानना चाहिये, जि
मिथ्याश्रद्धान दूर हो जाता है। इस प्रकार लोकभावनाका चिन्तवन करना चाहिए॥११॥

दोहा।

लोकस्वरूप विचारिकैं, आतमरूप निहारि।
परमारथ व्यवहार गुणि, मिथ्याभाव निवारि॥ ११॥

इति लोकभावना॥ ११॥

अथ बोधिदुर्लभभावना लिख्यते।

आगे बोधिदुर्लभभावनाका व्याख्यान करते हैं, जिसमें निगोदसे लेकर सम्यग्दर्शन
प्राप्तिपर्यन्तकी उत्तरोत्तर दुर्लभता दिखाते हैं,—

दुरन्तदुरितारातिपीडितस्य प्रतिक्षणम्।
कृच्छ्रान्नरकपातालतलाज्जीवस्य निर्गमः॥ १॥

अर्थ—बुरा है अन्त जिसका ऐसे पापरूपी वैरीसे निरन्तर पीडित इस जीव
प्रथम तो नरकोंके नीचे निगोदस्थान है, सो वहांकी नित्यनिगोदसे निकलना अत
कठिन है॥ १॥ तथा—

तस्माद्यदि विनिष्क्रान्तः स्थावरेषु प्रजायते।
त्रसत्वमथवाप्नोति प्राणी केनापि कर्मणा॥ २॥

अर्थ—उस नित्यनिगोदसे निकला तो फिर पृथिवीकायादि स्थावरजीवोंमें उपज
है। और किसी पुण्यकर्मके उदयसे स्थावरकायसे त्रसगति पाता है॥ २॥ और—

पर्याप्तस्तथा संज्ञी पञ्चाक्षोऽवयवान्वितः।
तिर्यक्ष्वपि भवत्यङ्गी तन्न स्वल्पाशुभक्षयात्[1]॥ ३॥

अर्थ—कदाचित् त्रसगति भी पावे, तो तिर्यञ्चयोनिमें पर्याप्तता (पूर्णावयवसमयुक्त
पाना कुछ न्यूनपापके क्षयसे नहिं होता है अर्थात् बहुत पापके क्षय होने पर प
है। उसमें भी मनसहित पंचेंद्रियपशुका शरीर पाना बहुत ही दुर्लभ है, तिसपर
सम्पूर्ण अवयव पाना अतिशयदुर्लभ है॥ ३॥

1 (झाक्षा) समस्तकर।

नरत्वं यद्गुणोपेतं देशजात्यादिलक्षितम् ।
प्राणिनः प्राप्नुवन्त्यत्र तन्मन्ये कर्मलाघवात् ॥ ४ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि, ये प्राणीगण संसारमें मनुष्यपन और उसमें गुणसहितपना तथा उत्तम देश, जाति, कुलादि साहित्य उत्तरोत्तर कर्मोंके क्षयसे पाते हैं । यह बहुत दुर्लभ है, ऐसा मैं मानता हूं ॥ ४ ॥

आयुः सर्वाक्षसामग्री बुद्धिः साध्वी प्रशान्तता ।
यत्स्यात्तत्काकतालीयं मनुष्यत्वेऽपि देहिनाम् ॥ ५ ॥

अर्थ—जीवोंके देश जाति, कुलादि सहित मनुष्यपन होते भी दीर्घायु, पांचों इन्द्रियोंकी पूर्णसामग्री विशिष्ट तथा उत्तमबुद्धि, शीतल मंदकषायरूप परिणामोंका होना काकतालीयन्यायके समान दुर्लभ जानना चाहिये । जैसे किसी समय तालका फल पककर गिरे और उस ही समय काकका आना हो एवम् वह उस फलको आकाशमें ही पाकर खाने लगे । ऐसा योग मिलना अत्यन्त कठिन है ॥ ५ ॥

ततो निर्विषयं चेतो यमप्रशमवासितम् ।
यदि स्यात्पुण्ययोगेन न पुनस्तत्त्वनिश्चयः ॥ ६ ॥

अर्थ—कदाचित् पुण्यके योगसे उक्त सामग्री प्राप्त हो जावे तो विषयोंसे विरक्त वा मन्दरूप परिणाम, तथा यम प्रशमरूप शुद्धभावोंसहित चित्तका होना बडा कठिन है । कदाचित् पुण्यके योगसे इसकी भी प्राप्ति हो जाय, तो तत्त्वनिर्णय होना अत्यन्त दुर्लभ है ॥ ६ ॥

अत्यन्तदुर्लभेष्वेषु दैवाल्लब्धेष्वपि क्वचित् ।
प्रमादात्प्रच्यवन्तेऽत्र केचित्कामार्थलालसाः ॥ ७ ॥

अर्थ—यद्यपि पूर्वोक्त सामग्री अत्यन्त दुर्लभ है, तथापि यदि दैवयोगसे प्राप्त हो जाय, तो अनेक संसारी जीव प्रमादके वशीभूत हो, काम और अर्थमें लुब्ध होकर सम्यग्मार्गसे च्युत हो जाते हैं ॥ ७ ॥

मार्गमासाद्य केचिच्च सम्यग्रत्नत्रयात्मकम् ।
त्यजन्ति गुरुमिथ्यात्वविषव्यामूढचेतसः ॥ ८ ॥

अर्थ—कोई २ सम्यक् रत्नत्रयमार्गको पाकर भी तीव्र मिथ्यात्वरूप विषसे व्यामूढ चित्त होते हुए सम्यग्मार्ग को छोड देते हैं । गृहीतमिथ्यात्व बडा बलवान् है, जो उत्तम मार्ग मिले, तो उसको भी छुडा देता है ॥ ८ ॥

स्वयं नष्टो जनः कश्चित्कश्चिन्नष्टैश्च नाशितः ।
कश्चित्प्रच्यवते मार्गाच्चण्डपाषण्डशासनैः ॥ ९ ॥

अर्थ—कोई २ तो सम्यग्मार्गसे आप ही नष्ट हो जाते हैं, कोई अन्यमार्गसे

[illegible] कोई २ [illegible] हो [illegible] ॥ ९ ॥

[illegible] विवेकमागिरा सर्वाभिमगिद्दिम् ।
[illegible] प्रार्त्तमे ॥ १० ॥

[illegible] सिद्धिक [illegible] होकर [illegible] रमणीक [illegible] है । [illegible] ॥

[illegible] ॥
[illegible] ॥ ११ ॥

[illegible] है, [illegible] भी [illegible] हैं । [illegible]

[illegible] ।
[illegible] ॥ १२ ॥

[illegible] है, [illegible] है, [illegible] ॥ १२ ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥ १३ ॥

[illegible] है, [illegible]

आत्माका स्वरूप है । स्वाधीन वस्तु है । जब अपने स्वरूपको जाने तब अपने ही निकट है इसलिये दुर्लभ क्या है । परन्तु आत्मा जब तक अपने स्वरूपको नहिं जाने तब तक समस्त दुर्लभ है । इस जगत्मे आत्मा के निजभाव पाना दुर्लभ है और [illegible] सब ही सुगम भासते हैं । सो आचार्य महाराजने व्यवहारनयकी प्रधानतासे बोधिकी दुर्लभता वर्णन की है अर्थात् उत्तरोत्तर पर्याय दुर्लभतासे पाते पाते बोधिके योग्य उत्तमपदार्थ पाना दुर्लभ है । उसमें भी बोधिका पाना दुर्लभ है । इस बोधिको प्राप्त होकर प्रमादादिक वशीभूत होकर नहीं खोदेना चाहिये, ऐसा उपदेश है ॥ १२ ॥

दोहा ।

बोधि आत्माका भाव है, निश्चय दुर्लभ नाहिं ।
भवमें प्रापति कठिन है, यह व्यवहार कहाहिं ॥ १२ ॥

इति बोधिदुर्लभभावना ॥ १२ ॥

अथोपसंहार ।

अब बारह भावनाओंका प्रकरण पूरा करते हैं और भावनाओंका फल तथा महिमा कहते हैं —

दीप्यमाभिरयं ज्ञानी भावनाभिर्निरन्तरम् ।
इहैवाप्नोत्यनातङ्कं सुखमत्यक्षमक्षयम् ॥ १ ॥

अर्थ—इन बारह भावनाओंसे निरन्तर रमते हुए ज्ञानीजन इसी लोकमें रोगादिककी बाधा रहित अनातंक अविनाशी सुखको पाते हैं अर्थात् केवलज्ञानानन्दको पाते हैं ॥ १ ॥

आर्या ।

विध्याति कषायाग्निर्विगलितरागो विलीयते ध्वान्तम् ।
उन्मिषति बोधदीपो हृदि पुंसां भावनाभ्यासात् ॥ २ ॥

अर्थ—इन द्वादश भावनाओंके निरन्तर अभ्यास करनेसे पुरुषोंके हृदयमें कषायरूप अग्नि बुझ जाती है तथा परद्रव्योंके प्रति राग भाव गल जाता है और अज्ञानरूप अंधकारका विलय होकर ज्ञानरूप दीपकका प्रकाश होता है ॥ २ ॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

एता द्वादशभावनाः खलु सखे सख्योऽपवर्गश्रिय-
स्तस्याः सङ्गमलालसैर्घटयितुं मैत्रीं प्रयुक्ता बुधैः ।

एतासु प्रगुणीकृतासु नियतं मुक्त्यङ्गना जायते
सानन्दा प्रणयप्रसन्नहृदया योगीश्वराणां मुदे ॥ ३ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि, मित्र! ये बारह भावनायें निश्चयसे मुक्तिरूप लक्ष्मीकी सखी हैं। इन्हें मुक्तिरूपी लक्ष्मीके समागमकी लालसा करनेवाले पण्डितोंने मित्रता करनेके अर्थ प्रयोगरूप कही हैं। इन भावनाओंके अभ्यास करनेसे मुक्तिरूप स्त्री आनन्दसहित स्नेहरूप प्रसन्नहृदय होकर योगीश्वरोंको आनन्ददायिनी होती है। **भावार्थ**—पण्डितोंने भावनाओंको मोक्षकी सखीके तुल्य कही है। योगीश्वर इनको भाते हैं, तो ये उन्हें मुक्तिरूपी स्त्रीसे मिला देती हैं। इस प्रकार भावनाओंका वर्णन किया ॥३॥

इसका अभिप्राय यह है कि, इस ग्रन्थमें ध्यानका अधिकार है और ध्यान मोक्षका कारण है। जब तक जीवोंकी संसारसे प्रीति रहती है, तब तक उसका ध्यानके सन्मुख होना कठिन है। और बारह भावनायें संसारदेहभोगोंसे वैराग्य उपजानेके लिये निमित्त हैं, इस कारण इनका वर्णन पहिले ही किया गया है। **प्रथम**—तो यह प्राणी अनादि कालसे पर्यायबुद्धि है, इसे द्रव्यबुद्धि कभी भी नहिं हुई। इस कारण द्रव्यबुद्धि करनेके लिये पर्यायको अनित्य दिखलाई है क्योंकि इससे वैराग्य होकर ध्यानकी रुचि होती है। **दूसरे**—यह प्राणी जबतक अज्ञानसे परका शरण चाहता रहता है, तब तक इसके ध्यान नहीं होता, इस कारण परका शरण छुड़ाकर अपना ही शरण बताया है। **तीसरे**—संसारमें दुःख ही दिखाये हैं। **चौथे**—अपना अकेलापना दिखाया है। जगतमें कोई भी साथी नहीं है। **पाचवें**—अन्यके संगसे मोह उत्पन्न होता है, अतः अपनेको सबसे भिन्न बताया है। छठे—आस्रवसे कर्मबन्ध होना बताया है। **सातवें**—संवरसे कर्मोंका रुकना और ध्यानकी सिद्धि बताई है। **आठवें**—निर्जराका कारण ध्यान तथा निर्जरासे ध्यानकी वृद्धि होना बताया है। **नववें**—लोकका स्वरूप जाननेसे मिथ्याश्रद्धान नष्ट होता है, इस कारण लोकका स्वरूप बताया है। **दशवें**—धर्म, ध्यानका स्वरूप है अतः धर्मका स्वरूप बताया है। **बारहवें**—बोधिदुर्लभता बताई है और इसके संयोग मिलनेसे प्रमादी नहीं होना चाहिये ऐसा उपदेश किया है। इस प्रकार बारह भावनाओंका स्वरूप जानकर इनकी निरन्तर भावना भावनेसे ध्यानकी रुचि होती है तथा ध्यानमें स्थिर होनेसे केवलज्ञान उत्पन्न होकर मोक्ष प्राप्त होता है।

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते द्वादशभावनाप्रकरणम् ॥१२॥

अथ सक्षेपत ध्यानस्वरूप ।



आगे संक्षेपत ध्यानका प्रकरण प्रारंभ किया जाता है, जिसमें प्रथम ध्यानके उद्यम करनेकी प्रेरणा करते हैं,—

अस्मिन्नादिससारे दुरन्ते सारवर्जिते ।
नरत्वमेव दु प्राप्य गुणोपेत शरीरिभि ॥ १ ॥

अर्थ—दुरन्त तथा सारवर्जित इस अनादिससारमे गुणसहित मनुष्यपन ही जीवोंको दुष्प्राप्य है अर्थात् दुर्लभ है ॥ १ ॥

काकतालीयकन्यायेनोपलब्ध यदि त्वया ।
तत्तर्हि सफल कार्य कृत्वात्मन्यात्मनिश्चयम् ॥ २ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! जो तूने यह मनुष्यपना काकतालीय न्यायसे पाया है, तो तुझे अपनेहीमें अपनेको निश्चय करके अपना कर्तव्य सफल करना चाहिये। इस मनुष्य जन्मके सिवाय अन्य किसी जन्ममें अपने स्वरूपका निश्चय नहीं होता, इस कारण यह उपदेश है ॥ २ ॥

नृजन्मन फल कैश्चित्पुरुषार्थ. प्रकीर्तित. ॥
धर्मादिकप्रभेदेन स पुन स्याच्चतुर्विध ॥ ३ ॥

अर्थ—अनेक विद्वानोंने इस मनुष्यजन्मका फल पुरुषार्थ करना ही कहा है। और यह पुरुषार्थ धर्मादिक भेदसे चार प्रकारका है ॥ ३ ॥

धर्मश्चार्थश्च कामश्च मोक्षश्चेति महर्षिभि ।
पुरुषार्थोऽयमुद्दिष्टश्चतुर्भेद पुरातनै ॥ ४ ॥

अर्थ—प्राचीन महर्षियोंने धर्म १, अर्थ २, काम ३ और मोक्ष ४ यह चार प्रकारका पुरुषार्थ कहा है ॥ ४ ॥

अब इनमें विशेषता कहते हैं,—

त्रिवर्ग तत्र सापाय जन्मजातङ्कदूषितम् ।
ज्ञात्वा तत्त्वविद साक्षाद्यतन्ते मोक्षसाधने ॥ ५ ॥

अर्थ—इन चारों पुरुषार्थोंमेंसे पहिलेके तीन पुरुषार्थ नाशसहित और संसारके रोगोंसे दूषित है, ऐसा जानकर तत्त्वोंके जाननेवाले ज्ञानी पुरुष अन्तके परमपुरुषार्थ अर्थात् मोक्षके साधन करनेमें ही यत्न करते है, क्योंकि मोक्ष नाशरहित अविनाशी है ॥ ५ ॥

अब मोक्षका स्वरूप कहते हैं,—

निःशेषकर्मसम्बन्धपरिविध्वंसलक्षणः ।
जन्मनः प्रतिपक्षो यः स मोक्षः परिकीर्तितः ॥ ६ ॥

अर्थ—प्रकृति, प्रदेश, स्थिति तथा अनुभागरूप समस्त कर्मोंके सम्बन्धका सर्वथा नाशरूप लक्षणवाला तथा जो संसारका प्रतिपक्षी है, वही मोक्ष है। यह व्यतिरेकप्रधानतासे मोक्षका स्वरूप है ॥ ६ ॥

दृग्वीर्यादिगुणोपेतं जन्मक्लेशैः परिच्युतम् ।
चिदानन्दमयं साक्षान्मोक्षमात्यन्तिकं विदुः ॥ ७ ॥

अर्थ—दर्शन और वीर्यादि गुणसहित और संसारके क्लेशोंसे रहित, चिदानन्दमयी आत्यन्तिकी अवस्थाको साक्षात् मोक्ष कहते हैं। यह अन्वयप्रधानतासे मोक्षका स्वरूप कहा है ॥ ७ ॥

अब सुखकी प्रधानतासे मोक्षका स्वरूप कहते हैं,—

अत्यक्षं विषयातीतं निरौपम्यं स्वभावजम् ।
अविच्छिन्नं सुखं यत्र स मोक्षः परिपठ्यते ॥ ८ ॥

अर्थ—जिसमें अतीन्द्रिय (इन्द्रियोंसे अतिक्रान्त), विषयोंसे अतीत, उपमारहित, और स्वाभाविक (अपने स्वभावसे ही उत्पन्न हो ऐसा) विच्छेदरहित पारमार्थिक सुख हो, वही मोक्ष कहा जाता है ॥ ८ ॥

निर्मलो निष्कलः शान्तो निष्पन्नोऽत्यन्तनिर्वृतः ।
कृतार्थः साधुबोधात्मा यत्रात्मा तत्पदं शिवम् ॥ ९ ॥

अर्थ—जिसमें यह आत्मा निर्मल (द्रव्यकर्म नो कर्मरहित), शरीररहित, क्षोभरहित, शान्तस्वरूप, निष्पन्न (सिद्धरूप), अत्यन्त अविनाशी, सुखरूप, कृतकृत्य (जिसको कुछ करना बाकी न हो ऐसा) तथा समीचीन सम्यग्ज्ञान स्वरूप हो जाता है। उस पदको (अवस्थाको) मोक्ष कहते हैं ॥ ९ ॥

तस्यानन्तप्रभावस्य कृते त्यक्तान्यसंभ्रमाः ।
तपश्चरन्त्यमी धीराः बन्धविध्वंसकारणम् ॥ १० ॥

अर्थ—धीरवीर पुरुष इस अनन्त प्रभाववाले मोक्षकी प्राप्तिके निमित्त समस्त दूसरे कार्योंको छोड़कर कर्मबन्धके नाश करनेके कारणरूप तपको अंगीकार करते हैं। भावार्थ—सांसारिक समस्त कार्य छोड़कर मुनिपद धारण करते हैं ॥ १० ॥

सम्यग्ज्ञानादिकं प्राहुर्जिना मुक्तेर्निबन्धनम् ।
तेनैव साध्यते सिद्धिर्यस्मात्तदर्थिभिः स्फुटम् ॥ ११ ॥

अर्थ—जिनेन्द्रभगवान् सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्रको मुक्तिका कारण कहते हैं, अतएव जो मुक्तिकी इच्छा करते हैं, वे इन सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रसे ही मोक्षका साधन करते हैं। भावार्थ-जिस कार्यका जो कारण होता है, उसको अंगीकार करनेसे ही वह कार्य सिद्ध होता है ॥ ११ ॥

अब कहते हैं कि, मोक्षके साधन जो सम्यग्दर्शनादिक हैं, उनहीमें ध्यान गर्भित है इस कारण प्राटकरके ध्यानका उपदेश देते हैं,—

भवक्लेशविनाशाय पिब ज्ञानसुधारसम् ।
कुरु जन्माब्धिमत्येतु ध्यानपोतावलम्बनम् ॥ १२ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! तू संसारके दुःखविनाशार्थ ज्ञानरूपी सुधारसको पी और संसाररूप समुद्रके पार होनेकेलिये ध्यानरूपी जहाजका अवलम्बन करो। भावार्थ-एकाग्र होना ध्यान है अतः जब प्रथम ही ज्ञानको अंगीकार करेगा तब उसमें एकाग्रता होनेपर कर्मोंको काटकर संसारको परित्यागकरके मोक्षको पावेगा ॥ १२ ॥

मोक्षः कर्मक्षयादेव स सम्यग्ज्ञानतः स्मृतः ।
ध्यानसाध्यं मतं तद्धि तस्मात्तद्धितमात्मनः ॥ १३ ॥

अर्थ—मोक्ष कर्मोंके क्षयसे ही होता है। कर्मोंका क्षय सम्यग्ज्ञानसे होता है और वह सम्यग्ज्ञान ध्यानसे सिद्ध होता है अर्थात् ध्यानसे ज्ञानकी एकाग्रता होती है, इस कारण ध्यान ही आत्माका हेतु है ॥ १३ ॥

अपास्य कल्पनाजालं मुनिभिर्मोक्तुमिच्छुभिः ।
प्रशमैकपरैर्नित्यं ध्यानमेवावलम्बितम् ॥ १४ ॥

अर्थ—आत्माका हित ध्यान ही है। इस कारण जो कर्मोंसे मुक्त होनेके इच्छुक मुनि हैं, उन्होंने प्रशम-कषायोंकी मंदताकेलिये तत्पर होकर कल्पनासमूहोंका नाशकरके, नित्य ध्यानहीका अवलंबन किया है। भावार्थ-जब तक मुनिके चित्तकी स्थिरता रहे, तब तक ध्यान करना ही प्रधान है। जब चित्तकी स्थिरता नहीं रहती, तब वे शास्त्रविचारादि अन्यक्रियाओंमें लगते हैं ॥ १४ ॥

आगे ध्यानप्रधानका योग्यताका उपदेश करते हैं,—

मोहं त्यज भज स्वास्थ्यं मुञ्च सङ्गान् स्थिरीभव ।
यतस्ते ध्यानसामग्री सविकल्पा निगद्यते ॥ १५ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि, हे आत्मन्! तू संसारके मोहको छोड़,

---

१ सम्यग्ज्ञानतः इत्यपि पाठः ।

स्वास्थ्यको मन और परिग्रहोंको छोडकर स्थिरीभूत हो । जिससे कि हम तेरे लिये ध्यानकी सामग्री भेदोंसहित कहे ॥ १५ ॥

फिर भी कहते हैं,—

उत्तितीर्षुर्महापङ्काज्जन्मसंज्ञाद्दुरुत्तरात् ।
यदि किं न तदा धत्से धैर्यं ध्याने निरन्तरम् ॥ १६ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! यदि तू कष्टसे पारपानेयोग्य संसार नामक महापंक (कीचड़)मे निकलनेकी इच्छा रखता है, तो ध्यानमें निरन्तर धैर्य क्यों नहीं धारण करता! **भावार्थ**-ध्यानमें धैर्यावलम्बन कर, क्योंकि संसाररूपी कर्दममे पार होनेका कारण एकमात्र यही है। इसके अतिरिक्त अन्य कोइ उपाय नहीं है ॥ १६ ॥

चित्ते तव विवेकश्रीर्यद्यशङ्का स्थिरीभवेत् ।
कीर्त्यते ते तदा ध्यानलक्षणं स्वान्तशुद्धिदम् ॥ १७ ॥

अर्थ—हे भव्य! जो तेरे चित्तमें निःशङ्क (सन्देहरहित) विवेकरूप लक्ष्मी स्थिर होवे, तो तेरे मनको शुद्धता देनेवाले ध्यानका लक्षण हम कहते हैं। **भावार्थ**-जब चित्तको संदेहरहित स्थिर करके सुने, तब कहे हुए वचनका ग्रहण होता है अथवा उसकी प्रतीति होती है, इस कारण ऐसा कहा गया है ॥ १७ ॥

इयं मोहमहानिद्रा जगत्त्रयविसर्पिणी ।
यदि क्षीणा तदा क्षिप्रं पिब ध्यानसुधारसम् ॥ १८ ॥

अर्थ—हे भव्य! तीन जगतमें फैलनेवाली यह अज्ञानरूपी महानिद्रा जो तेरी क्षीण हो गई हो-नष्ट हो गई हो, तो तू ध्यानरूपी अमृतरसका पान कर। क्योंकि सुप्त अवस्थामें पीना नहीं हो सकता ॥ १८ ॥

बाह्यान्तर्भूतनिःशेषसङ्गमूर्छा क्षयं गता ।
यदि तत्त्वोपदेशेन ध्याने चेतस्तदार्पय ॥ १९ ॥

अर्थ—हे भव्य! यदि तेरे तत्त्वोंके उपदेशसे बाह्य और अभ्यन्तरकी समस्त मूर्छा (ममत्व परिणाम) नष्ट हो गई हो, तो तू अपने चित्तको ध्यानमें ही लगा। **भावार्थ** परिग्रहका ममत्व रहनेसे ध्यानमें चित्त नहीं लग सकता, इस कारण ऐसा उपदेश किया गया है ॥ १९ ॥

प्रमादविषयग्राहदन्तयन्त्राद्यदि च्युतः ।
त्वं तदा क्लेशसङ्घातघातकं ध्यानमाश्रय ॥ २० ॥

अर्थ—हे भव्य! यदि तू प्रमाद और इन्द्रियोंके विषयरूपी पिशाच अथवा जलजंतुके दन्तरूपी यन्त्रसे दूर गया है, तो क्लेशोंके समूहको घात तथा नष्ट करनेवाले ध्यान

आश्रय कर। भावार्थ-जबतक प्रमाद और इन्द्रियोंके विषयोंमें चित्तकी प्रवृत्ति रहती है, तबतक कोई ध्यानमें नहीं लग सकता, इस कारण ऐसा उपदेश है ॥ २० ॥

इमेऽनन्तभ्रमासारप्रसरैकपरायणाः ।
यदि रागादयः क्षीणास्तदा ध्यातुं विचेष्टयताम् ॥ २१ ॥

अर्थ—हे भव्य! अनन्त भ्रमरूपवृष्टिके विस्तार करनेमें तत्पर ऐसे ये रागद्वेष मोहादिक भाव तेरे क्षीण हो गये हों, तो तुझे ध्यानकी चेष्टा करनी चाहिये, क्योंकि रागादिकका विस्तार रहते ध्यानमें प्रवर्त्तना नहीं हो सकती ॥ २१ ॥

यदि संवेगनिर्वेदविवेकैर्वासितं मनः ।
तदा धीर स्थिरीभूय स्वस्मिन् स्वान्तं निरूपय ॥ २२ ॥

अर्थ—हे धीर पुरुष! जो संवेग अर्थात् मोक्ष वा मोक्षमार्गमें अनुराग, तथा निर्वेद अर्थात् संसारदेहभोगोंसे वैराग्य और विवेक अर्थात् स्वपरका भेदविज्ञान इनसे तेरा मन वासित है, तो तू स्थिर होकर आपहीमें अपने मनको देख, कि–कैसा है? भावार्थ–संवेग, निर्वेद और भेदविज्ञानके विना चित्तकी वृत्ति परमें ही रहती है, अपनी स्वरूपकी ओर नहीं आती है ॥ २२ ॥

विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम् ।
निर्ममत्वं यदि प्राप्तस्तदा ध्यातासि नान्यथा ॥ २३ ॥

अर्थ—हे भव्य! यदि तू कामभोगोंमें विरक्त होकर तथा शरीरमें स्पृहाको छोड़कर निर्ममताको प्राप्त हुआ है, तो ध्यान करनेवाला ध्याता हो सकता है, अन्यथा नहीं हो सकता। क्योंकि भोगोंकी इच्छा वा भोग विलास करनेमें जब चित्त रहता है, तब ध्यानमें चित्त कैसे लगे? तथा शरीरमें अनुराग होता है, तो उसको सँवरने तथा पुष्ट करनेमें ही मन लगा रहता है, अथवा रोगादिक होने वा नाश होनेका भय निरन्तर बना रहता है, तब ध्यानकरनेमें चित्त कैसे लगे? इस कारण ध्यानको ध्यान करनेका एक कारणमें ध्यान हो सकता है ॥ २३ ॥

निर्विण्णोऽसि यदा भ्रातर्दुरन्ताज्जन्मसंभ्रमात् ।
तदा धीर धुरां ध्यानधुरां धैर्येण धारय ॥ २४ ॥

अर्थ—हे धीर पुरुष! जो तू दुरन्त संसारके भ्रमणसे विरक्त है, तो उत्कृष्ट ध्यानकी धुराको धारण कर। क्योंकि संसारसे विरक्त हुए विना ध्यानमें चित्त नहीं लगता ॥ २४ ॥

पुनात्याकर्णितं चेतो दत्ते शिवमनुष्ठितम् ।
ध्यानतन्त्रमिदं धीर धन्ययोगीन्द्रगोचरम् ॥ २५ ॥

---

१ भव्यात्मेत्यन्यस्मिन् पुस्तके ।
२

अर्थ—हे धीर पुरुष! यह ध्यानका तत्र (शास्त्र) सुननेसे चित्तको पवित्र करता है। तीव्ररागादिकका अभाव करके चित्तको विशुद्ध करता है। तथा आचरण किया हुआ मोक्ष देता है। योगीश्वरोंका जानाहुआ है, इस कारण इसको तू आस्वाद, धार वा सुन और ध्यानका आचरण कर ॥ २५ ॥

विस्तरेणैव तुष्यन्ति केऽप्यहो विस्तरप्रियाः ।
संक्षेपरुचयश्चान्ये विचित्राश्चित्तवृत्तयः ॥ २६ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि, अनेक पुरुष तो विस्तारसे ही प्रसन्न होते हैं और अनेक संक्षेपसे रुचि रखनेवाले होते हैं। आश्चर्य है कि, चित्तकी वृत्तिया भी विचित्र होती हैं। **भावार्थ**—जैसे वक्ता और श्रोता होते हैं, वैसा ही कहना और सुनना होता है, अतएव प्रथम ही इस प्रकरणमें संक्षिप्तरुचिवाले श्रोताओंके लिये ध्यानका संक्षिप्त वर्णन कहते हैं ॥ २६ ॥

संक्षेपरुचिभिः सूत्रात्तन्निरूप्यात्मनिश्चयात् ।
त्रिधैवाभिमतं कैश्चिद्यतो जीवाशयस्त्रिधा ॥ २७ ॥

अर्थ—आत्माका है निश्चय जिसमें, ऐसे सूत्रसे निरूपण करके कितने ही संक्षेपरुचिवालोंने तीन प्रकारका ही ध्यान माना है। क्योंकि जीवका आशय तीन प्रकारका ही है अर्थात्—अध्यात्मशास्त्रकी अपेक्षा आत्माके उपयोगकी प्रवृत्ति संक्षेपसे तीन प्रकारकी ही मानी गई है ॥ २७ ॥

उन तीन प्रकारके आशयोंका व्याख्यान करते हैं,—

तत्र पुण्याशयः पूर्वस्तद्विपक्षोऽशुभाशयः ।
शुद्धोपयोगसंज्ञो यः स तृतीयः प्रकीर्तितः ॥ २८ ॥

अर्थ—उन तीनोंमें प्रथम पुण्यरूप शुभ आशय है और उसका विपक्षी दूसरा पापरूप अशुभ आशय है और तीसरा शुद्धोपयोगनामा आशय है ॥ २८ ॥

पुण्याशयवशाज्जातं शुद्धलेश्यावलम्बनात् ।
चिन्तनाद्वस्तुतत्त्वस्य प्रशस्तं ध्यानमुच्यते ॥ २९ ॥

अर्थ—पुण्यरूप आशयके वशसे तथा शुद्धलेश्याके अवलम्बनसे और वस्तुके यथार्थ स्वरूप चिन्तवनसे उत्पन्न हुआ ध्यान प्रशस्त कहाता है ॥ २९ ॥ और—

पापाशयवशान्मोहान्मिथ्यात्वाद्वस्तुविभ्रमात् ।
कषायाज्जायतेऽजस्रमसद्ध्यानं शरीरिणाम् ॥ ३० ॥

अर्थ—जीवोंके पापरूप आशयके वशसे तथा मोह मिथ्यात्व-कषाय और तत्त्वोंके अयथार्थरूप विभ्रमसे अप्रशस्त निरंतर असमीचीन ध्यान होता है ॥ ३० ॥

क्षीणे रागादिसन्ताने प्रसन्ने चान्तरात्मनि ।
यः स्वरूपोपलम्भः स्यात्स शुद्धाख्यः प्रकीर्तितः ॥ ३१ ॥

अर्थ—रागादिकरी सन्तानके क्षीण होनेपर अन्तरंग आत्माके प्रसन्न होनेसे जो अपने स्वरूपका उपलम्भ (आलम्बन) होता है, वह शुद्ध ध्यान है ॥ ३१ ॥

शुभध्यानफलोद्भूतां श्रियं त्रिदशसम्भवाम् ।
निर्विशन्ति नरा नाके क्रमाद्यान्ति परं पदम् ॥ ३२ ॥

अर्थ—मनुष्य शुभध्यानके फलसे उत्पन्न हुई स्वर्गकी लक्ष्मीको स्वर्गमें भोगते हैं और क्रमसे मोक्षको प्राप्त होते हैं ॥ ३२ ॥

दुर्ध्यानाद्दुर्गतेर्बीजं जायते कर्म देहिनाम् ।
क्षीयते यन्न कष्टेन महतापि कथंचन ॥ ३३ ॥

अर्थ—दुर्ध्यानसे जीवोंके दुर्गतिका कारणभूत अशुभकर्म होता है, जो कि बड़े कष्टसे भी कभी क्षय नहीं होता ॥ ३३ ॥

निःशेषक्लेशनिर्मुक्तं स्वभावजमनश्वरम् ।
फलं शुद्धोपयोगस्य ज्ञानराज्यं शरीरिणाम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—जीवोंके शुद्धोपयोगका फल समस्त दुःखोंसे रहित, स्वभावसे उत्पन्न, और अविनाशी ज्ञानरूपी राज्यका पाना है । भावार्थ-शुद्धोपयोगसे जीवोंको केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है ॥ ३४ ॥

इति संक्षेपतो ध्यानलक्षणं समुदाहृतम् ।
बन्धमोक्षफलोपेतं संक्षेपरुचिरञ्जकम् ॥ ३५ ॥

अर्थ—इस प्रकार संक्षेपसे संक्षेपरुचिपुरुषोंको रंजन करनेवाला बन्धमोक्षके फलसहित ध्यानका लक्षण कहा गया । भावार्थ-शुभध्यानसे पुण्यबन्ध तथा अशुभध्यानसे पापबन्ध होता है और शुद्धध्यानसे पापपुण्यरूप बन्धोंका नाश होकर मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ ३५ ॥

अब इस अधिकारको पूर्ण करते हुए कहते हैं,—

शिखरिणी ।

अविद्याविभ्रान्तैश्चपलचरितैर्दुर्नयशतै-
र्जगद्व्याप्तालोकं कृतमतिघनध्वान्तनिचितम् ।
त्वयोच्चैर्याशेषं परमततमोभ्रातमतुलं
प्रणीतं भव्यानां शिवपदमथानन्दनिलयम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—अविद्याके कारण विकाररूप होकर अतिशयरूप तथा भ्रमात्मक आचरणवाले

[illegible]दृष्टियोंने सर्वथा एकान्तरूप सैकड़ों दुर्नीतियोंसे जगतको अतिमथन [illegible] [illegible]लोक (प्रकाशरहित) कर दिया है अर्थात् हिताहितके मार्गमें विभ्रमरूप कर दिया है। इस कारण आचार्य महाराज कहते हैं कि, हे ज्ञानी आत्मन्! तू परमतरूप [illegible] [illegible] समूहोंको दूर करके भव्यजीवोंको आनन्ददेनेवाले मोक्षरूपी घरको [illegible]। भावार्थ—[illegible] एकान्ती विद्वानोंने सर्वथा एकान्तरूप कुनयको [illegible] [illegible] जीवोंको मिथ्यामार्गमें लगा दिया है। अत ज्ञानी पुरुषोंको चाहिये कि, [illegible] [illegible] करके सम्यग्मार्गकी प्रवृत्ति करे, क्योंकि वस्तुका स्वरूप सर्वथा एकान्त[illegible] [illegible] है अर्थात् सर्वथा नित्यमें, सर्वथा अनित्यमें, सर्वथा एकमें, अनेकमें [illegible] [illegible] अथवा [illegible] इत्यादि सर्वथा एकान्तनयसे आत्मा ध्याता ध्यान और [illegible] [illegible] सिद्ध नहीं होते। इसलिये जो स्याद्वादी [illegible] [illegible] है, वह [illegible] है और स्याद्वादसे अनेक धर्मरूप वस्तुएं सब ही सिद्ध होती हैं। इस कारण [illegible] शरण लेकर ध्यानका साधन करना उचित है। [illegible] [illegible] है॥ ३६॥

दोहा।

[illegible] आदिक तजो, दया क्षमा शुभ धारि।
शुभमारगमें [illegible], कर्मोपाद [illegible]॥ १॥

इस [illegible] शुभाशुभशुद्धोपयोग [illegible] [illegible] दिया।

[illegible] श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते [illegible] ध्यानप्रकरण[illegible]॥ ४॥

अथ गुणदोषविचार।

[illegible] प्रथम ही ध्याता [illegible] [illegible]—

[illegible] मुनीश्वरैः।
[illegible] ॥ १॥

[illegible] ॥ १॥

[illegible]।
[illegible] ॥ २॥

अर्थ—द्वादशांगसूत्रमें जो ध्यानका लक्षण विस्तारसहित कहा गया है, उसका शतांश (सौवा भाग) भी आज कोई कहनेको समर्थ नहीं है, तथापि उसकी प्रसिद्धिके लिये इस ग्रन्थमें दिग्दर्शनमात्र वर्णन किया जाता है ॥ २ ॥

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां गुणदोषैः प्रपञ्चितम् ।
हेयोपादेयभावेन सविकल्पं निगद्यते ॥ ३ ॥

अर्थ—यह ध्यानका लक्षण गुण दोष और अन्वयव्यतिरेकसे जिस प्रकार विस्ताररूप है, उसी प्रकार हेयोपादेय भावोंसे भेदोंसहित कहा जाता है। अन्वयगुणोंमें अर्थात् ऐसे गुण हों तो वहां ध्यान होता है और व्यतिरेकदोषोंमें अर्थात् ऐसे ये दोष हों वहां ध्यान नहीं होता। तथा अप्रशस्तध्यान तो हेय है और प्रशस्तध्यान उपादेय है। और आर्त्त, रौद्र धर्म और शुक्ल ऐसे चार भेद कहे गये हैं, सो इनका विशेषताकाम विस्तारूप ध्यानका स्वरूप कहा जावेगा ॥ ३ ॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

ध्याता ध्यानमितस्तदङ्गमखिलं दृग्बोधवृत्तान्वितं
ध्येयं तद्गुणदोषलक्षणयुतं नामानि कालः फलम् ।
एतत्सूत्रमहार्णवात्समुदितं यत्प्राक्प्रणीतं बुधैः
तत्सम्यक्परिभावयन्तु निपुणा अत्रोच्यमानं क्रमात् ॥ ४ ॥

अर्थ—पूर्वकालके ज्ञानी पुरुषोंने (पूर्वाचार्योंने) ध्यानकरनेवाला ध्याता पुरुष, ध्यानके दर्शन ज्ञान चारित्र सहित समस्त अंग, ध्येय, तथा ध्येयके गुणदोषलक्षण सहित ध्यानके नाम, ध्यानका समय, और ध्यानका फल ये सब ही जो सूत्ररूप महासमुद्रसे प्रगट होके बुद्धिमानोंके द्वारा पूर्वमें प्रणीत किये गये हैं, वे ही सब इस ग्रंथमें क्रमसे कहे जाते हैं। निपुण पुरुषोंको भले प्रकार इनका विवेचन करना चाहिये ॥ ४ ॥

ध्याता ध्यानं तथा ध्येयं फलं चेति चतुष्टयम् ।
इति सूत्रसमासेन सविकल्पं निगद्यते ॥ ५ ॥

अर्थ—ध्याता, ध्यान ध्येय और फल यह चतुष्टय सूत्ररूप संक्षेपसे भेदसहित कहा जाता है ॥ ५ ॥

मुमुक्षुर्जन्मनिर्विण्णः शान्तचित्तो वशी स्थिरः ।
जिताक्षः संवृतो धीरो ध्याता शास्त्रे प्रशस्यते ॥ ६ ॥

अर्थ—शास्त्रोंमें ऐसे ध्याताकी प्रशंसा की गई है कि, जो मुमुक्षु हो अर्थात् मोक्षकी इच्छा रखनेवाला हो। क्योंकि यदि ऐसा नहीं हो, तो ...

दूसरे संसारसे विरक्त हो। क्योंकि संसारसे विरक्त हुए बिना ध्यानमें चित्त किसलिये लगावे? तीसरे क्षोभरहित शान्तचित्त हो। क्योंकि व्याकुलचित्तके ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती। चौथे वशी कहिये जिसका मन अपने वशमें हो। क्योंकि मनके वश हुए बिना वह ध्यानमें कैसे लगै? पांचवें स्थिर हो, शरीरके सांगोपांग आसनमें दृढ हो। क्योंकि काय चलायमान रहनेसे ध्यानकी सिद्धि नहीं होती। छट्ठे जिताक्ष (जितेन्द्रिय) हो। क्योंकि इन्द्रियोंके जीते बिना वे विषयोंमें प्रवृत्त करती हैं, और ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती। सातवें संवृत कहिये संवरयुक्त हो। क्योंकि खानपानादिमें विकल हो रहे तो, ध्यानमें चित्त कैसे स्थिर हो? आठवें धीर हो। उपसर्ग आनेपर ध्यानसे च्युत न होवे तब ध्यानकी सिद्धि होती है। ऐसे आठगुणसहित ध्याताके ध्यानकी सिद्धि हो सकती है, अन्यके नहीं होती ॥ ६ ॥

अब इस ही कथनका विस्तार करते हैं और प्रथम गृहस्थावस्थामें उत्तम ध्यानका निषेध करते हैं,—

उपजातिवृत्तम्।

उदीर्णकर्मेन्धनसंभवेन दुःखानलेनातिकदर्थ्यमानम्।
दन्दह्यते विश्वमिदं समन्तात्प्रमादमूढं च्युतसिद्धिमार्गम् ॥७॥

अर्थ—छोड़ दिया है मोक्षमार्ग जिसने ऐसे प्रमादसे मूढ होकर यह जगत् उदयमें आये हुए कर्मरूपी ईंधनसे उत्पन्न दुःखरूपी अग्निसे पीड़ित होता हुआ, चारों ओरसे जलता है ॥ ७ ॥

अब ऐसे जगतसे निकले हुए मुनिको उद्देश करके कहते हैं—

दह्यमाने जगत्यस्मिन्महता मोहवह्निना।
प्रमादमदमुत्सृज्य निष्क्रान्ता योगिनः परम् ॥ ८ ॥

अर्थ—महामोहरूपी अग्निसे जलते हुए इस जगतमेंसे केवल मुनिगण ही प्रमादको छोड़कर निकलते हैं, अन्य कोई नहीं ॥ ८ ॥

न प्रमादजयं कर्तुं धीधनैरपि पार्यते।
महाव्यसनसंकीर्णे गृहवासेऽतिनिन्दिते ॥ ९ ॥

अर्थ—अनेक कष्टोंसे भरे हुए अतिनिंदित गृहवासमें बड़े २ बुद्धिमान् भी प्रमादको दमित करनेमें समर्थ नहीं हैं। इस कारण गृहस्थावस्थामें ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती ॥ ९ ॥

शक्यते न वशीकर्तुं गृहिभिश्चपलं मनः।
अतश्चित्तप्रशान्त्यर्थं सद्भिस्त्यक्ता गृहे स्थितिः ॥ १० ॥

अर्थ—गृहस्थजन घरमें रहते हुए अपने चपलमनको वश करनेमें असमर्थ होते हैं, अतएव चित्तकी शान्तिके अर्थ सत्पुरुषोंने घरमें रहना छोड़ दिया है और वे एकान्त स्थानमें रहकर ध्यानस्थ होनेको उद्यमी हुए हैं ॥ १० ॥

वंशस्थम् ।

प्रतिक्षणं द्वन्द्वशतार्त्तचेतसां
नृणां दुराशाग्रहपीडितात्मनाम् ।
नितम्बिनीलोचनचौरसङ्कटे
गृहाश्रमे स्वात्महितं न सिद्ध्यति ॥ ११ ॥

अर्थ—सैकड़ों प्रकारके द्वन्द्वोंसे दुःखितचित्त, और धनादिककी दुराशारूपी पिशाचसे पीड़ित मनुष्योंके प्रतिक्षण स्त्रियोंके नेत्ररूपी चौरोंका है उपद्रव जिसमें, ऐसे इस गृहस्थाश्रममें अपने हितकी सिद्धि नहीं होती है ॥ ११ ॥

फिर भी कहते हैं,—

निरन्तरार्त्तानलदाहदुर्गमे
कुवासनाध्वान्तविलुप्तलोचने ।
अनेकचिन्ताज्वरजिह्मितात्मनां
नृणां गृहे नात्महितं प्रसिद्ध्यति ॥ १२ ॥

अर्थ—निरन्तर पीड़ारूप आर्त्तध्यानकी अग्निके दाहसे दुर्गम, बसनेके अयोग्य, तथा कामक्रोधादिकी कुवासनारूपी अन्धकारसे विलुप्त हो गई है नेत्रोंकी दृष्टि जिसमें, ऐसे घरोंमें अनेक चिन्तारूपी ज्वरसे विकाररूप मनुष्योंके अपने आत्माका हित कदापि सिद्ध नहीं होता । ऐसे गृहस्थावासमें उत्तम ध्यान कैसे हो¹ ॥ १२ ॥

आगे फिर भी कहते हैं —

विपन्महापङ्कनिमग्नबुद्धयः
प्रबद्धरागज्वरयन्त्रपीडिताः ।
परिग्रहव्यालविषाग्निमूर्च्छिताः
विवेकवीथ्यां गृहिणः स्खलन्त्यमी ॥ १३ ॥

अर्थ—गृहस्थावस्थाकी आपदारूपी महान् कीचड़में जिनकी बुद्धि फँसी हुई है, तथा जो मनुष्यतामें बद्ध हुए रागरूपी ज्वरके यन्त्रसे पीड़ित हैं, और जो परिग्रहरूपी सर्पके विषकी ज्वालासे मूर्च्छित हुए हैं, वे गृहस्थगण विवेकरूपी वीथीमें (गलीमें) चलते हुए स्खलित हो जाते हैं अर्थात् च्युत हो जाते हैं। अथवा समीचीन मार्गसे (मोक्षमार्गसे) भ्रष्ट हो जाते हैं ॥ १३ ॥

---

१ नश्यति स्वात्मना हितं इत्यपि पाठः ।

दूसरे संगमसे विरक्त हो। क्योंकि संसार
लगाने? तीसरे क्षोभरहित शान्तचित्त हो
हो सकती। चौथे वशी कहिये जिसका म-
बिना वह ध्यानमें कैसे लगै? मनके स्थिर
प्राय चलायमान रहनेसे ध्यानकी सि
क्योंकि इन्द्रियोंको जीते बिना वे विष
सकती। पांचवें संवृत कहिये संवरयु
तो, ध्यानमें चित्त कैसे स्थिर हो? ं
न होवे तब ध्यानकी सिद्धि होती
हो सकती है, अन्यथा नहीं होती ॥

अब इस ही कथनको विस्तार
नका निषेध करते हैं,—

उदीर्णकर्मन्धनसम्भवेन
दन्दह्यते विश्वमिदं सम

अर्थ—छोड़ दिया है मोक्षमार्ग जिस
यम आये हुए कर्मरूपी इंधनसे उत्पन्न
ओरसे जलता है ॥ ७ ॥

अब ऐसे जगतसे निकले हुए मुनिको उप

दह्यमाने जगत्यस्मिन्महता
प्रमादमदमुत्सृज्य निष्क्रान्त।

अर्थ—महामोहरूपी अग्निसे जलते हुए इस
छोड़कर निकलते हैं, अन्य कोई नहीं ॥ ८ ॥

न प्रमादजयं कर्तुं धीधनैरपि पा
महाव्यसनसंकीर्णे गृहवासेऽतिनि

अर्थ—अनेक कष्टोंसे भरे हुए अतिनिंदित गृ
दको पराजित करनेमें समर्थ नहीं हैं। इस कारण
हो सकती ॥ ९ ॥

शक्यते न वशीकर्तुं गृहिभिश्चपलं म
अतश्चित्तप्रशान्त्यर्थं सद्भिस्त्यक्ता गृहे

अर्थ—दृष्टिकी विकलतासे वस्तुसमूहको अपनी इच्छानुसार ग्रहण करनेवाले मिथ्यादृष्टियोंके ध्यानकी सिद्धि स्वप्न भी नहीं होती है ॥ १८ ॥

ध्यानसिद्धिर्मतिस्त्वेऽपि न स्यात्पापण्डिना क्वचित् ।
पूर्वापरविरुद्धार्थमतसत्तावलम्बिनाम् ॥ १९ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टिके (अन्यथाश्रद्धानकरनेवाले अन्यमतीको) गृहस्थावस्था छोड़के मुनि होनेपर भी ध्यानकी सिद्धि नहीं होती । क्योंकि वे पूर्वापरविरुद्ध पदार्थोंके स्वरूपमें समीचीनता (सत्यता) माननेवाले हैं, अर्थात् अन्यमतमें सत्य यथार्थता नहीं है, ॥ १९ ॥ सो ही कहते हैं—

किं च पापण्डिनः सर्वे सर्वथैकान्तदूषिताः ।
अनेकान्तात्मकं वस्तु प्रभवन्ति न वेदितुम् ॥ २० ॥

अर्थ—सब ही अन्यमती पाखंडी सर्वथा एकान्ततासे दूषित हैं, और वस्तुका स्वरूप अनेकान्तात्मक है अतः वे उसके यथार्थस्वरूपको जाननेमें असमर्थ हैं । स्याद्वादके जाने विना विरोध आदि दूषणोंका परिहार उनसे नहीं किया जा सकता है ॥ २० ॥

नित्यता केचिदाचख्यु केचिच्चानित्यता खलाः ।
मिथ्यात्वान्नैव पश्यन्ति नित्यानित्यात्मकं जगत् ॥ २१ ॥

अर्थ—कोई २ तो वस्तुके नित्यता ही कहते हैं और कोइ २ अनित्यता ही सिद्ध करते हैं । परन्तु यह जगत् नित्य अनित्य दोनों स्वरूप है ऐसा मिथ्यात्वके उदयसे नहीं देखते । भावार्थ—सांख्य, नैयायिक, वेदान्त और मीमांसकमतवाले तो आत्माको सर्वथा नित्य तथा जगतको अविद्यादिकके विलाससे विभ्रमरूप अनित्य मानते हैं और कहते हैं कि, "आत्माको अनित्य माननेसे आत्माका नाश होकर नास्तिकताका मत आता है और नित्यानित्य दोनों स्वरूप माननेसे विरोधादिक दूषण आते हैं" । इसप्रकार अपनी कपोलकल्पना करके आत्माको सर्वथा नित्य ही मानते हैं और बौद्धमती वस्तुको क्षणिक तथा अनित्यस्वरूप मानते हैं । नित्य माननेको अविद्या कहते हैं और नित्यानित्य माननेमें विरोधादि दूषण कहते है । किन्तु सबको जानना चाहिये कि, वास्तवमें वस्तुका स्वरूप जो नित्यानित्यरूप है, वह स्याद्वादसे ही सिद्ध होता है । उसमें विरोध आदि कोई भी दूषण नहीं आते । शोक है कि, ऐसा स्वरूप अन्यमती समझते नहीं है और अपनी बुद्धिसे कल्पना करके जिसतिस प्रकार सिद्धि करके सन्तुष्ट हो जाते हैं । परन्तु वास्तवमें विचार किया जावे, तो उनके ध्याता ध्यान ध्येयादिकी सिद्धि नहीं होती । इसकारण उनका कहना सब प्रलापमात्र जानना चाहिये ॥ २१ ॥

१

हिताहितविमूढात्मा स्व शश्वद्वेष्टयेद्गृही ।
अनेकारम्भजैः पापैः कोशकारः कृमिर्यथा ॥ १४ ॥

अर्थ—जैसे रेशमका कीड़ा अपने ही मुखसे तारोंको निकालकर अपनेको ही उ आच्छादित कर लेता है, उसी प्रकार हिताहितम विचारशून्य होकर यह गृहस्थजन अनेक प्रकारके आरंभोंमे पापोपार्जन करके अपनेको शीघ्र ही पापजालमें फँ [illegible] है ॥ १४ ॥

जेतु जन्मशतेनापि रागाद्यरिपताकिनी ।
विना संयमशस्त्रेण न सद्भिरपि शक्यते ॥ १५ ॥

अर्थ—रागादिशत्रुओंकी सेना संयमरूपी शस्त्रके विना बड़े २ सत्पुरुषोंसे (सज्जनोंसे) सैकड़ों जन्म लेकर भी जब जीती नहिं जा सकती है, तो अन्यकी क्या [illegible] ॥ १५ ॥

प्रचण्डपवनैः प्रायश्चाल्यन्ते यत्र भूभृतः ।
तत्राङ्गनादिभि स्वान्तं निसर्गतरलं न किम् ॥ १६ ॥

अर्थ—स्त्रियां प्रचण्ड पवनके समान हैं। प्रचण्ड पवन बड़े २ भूभृतों (पर्वतों)को [illegible] देती हैं और स्त्रियां बड़े २ भूभृतों (राजाओंको) चला देती हैं। उन्हीं स्त्रियोंसे [illegible] मन क्या चलायमान नहिं होगा? भावार्थ-स्त्रियां [illegible] ॥ १६ ॥

खपुष्पमथवा शृङ्गं खरस्यापि प्रतीयते ।
न पुनर्देशकालेऽपि ध्यानसिद्धिर्गृहाश्रमे ॥ १७ ॥

अर्थ—[illegible] और गधेके सींग नहीं होते हैं। कदाचित् किसी देश वा कालमें [illegible] हो सकती है, परन्तु गृहस्थाश्रममें ध्यानकी सिद्धि होनी तो किसी [illegible] नहीं है ॥ १७ ॥

[illegible] किया। शंका-यदि यहां कोई यह [illegible] तथा [illegible] धर्मध्यानका होना सुना है [illegible] किया?"-इसका समाधान—

[illegible] इसलिये [illegible]

[illegible] गृहस्थोंके धर्मध्यान [illegible]

[illegible] निषेध किया नहीं गया।

[illegible] है,—

[illegible] जायते ।
[illegible] ॥ १८ ॥

अर्थ—इसलिये विकल्पनासे वस्तुस्वरूपको अपनी इच्छानुसार ग्रहण करनेवाले मिथ्यादृष्टियोंके ध्यानकी सिद्धि स्वप्नमें भी नहीं होती है ॥ १८ ॥

ध्यानसिद्धिर्यतित्वेऽपि न स्यात्पाषण्डिनां क्वचित् ।
पूर्वापरविरुद्धार्थमतग्रस्तावलम्बिनाम् ॥ १९ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टियोंको (पाषण्डमतावलम्बीवाले अन्यमतीयोंको) गृहस्थावस्था छोड़के मुनि होनेपर भी ध्यानकी सिद्धि नहीं होती । क्योंकि वे पूर्वापरविरुद्ध पदार्थोंके स्वरूपमें ही लीनता (रचना) माननेवाले हैं, अर्थात् अन्यमतमें सत्य यथार्थता नहीं है, ॥ १९ ॥

सो ही कहते हैं—

किं च पाषण्डिनः सर्वे सर्वथैकान्तदूषिताः ।
अनेकान्तात्मकं वस्तु प्रभवन्ति न वेदितुम् ॥ २० ॥

अर्थ—सब ही अन्यमती पाखण्डी सर्वथा एकान्तनासे दूषित हैं, और वस्तुका स्वरूप अनेकान्तात्मक है अत वे उसके यथार्थस्वरूपको जाननेमें असमर्थ हैं । स्याद्वादके जाने विना विरोध आदि दूषणोंका परिहार उनसे नहीं किया जा सकता है ॥ २० ॥

नित्यतां केचिदाचख्युः केचिच्चानित्यतां गताः ।
मिथ्यात्वादेव पश्यन्ति नित्यानित्यात्मकं जगत् ॥ २१ ॥

अर्थ—कोई २ तो वस्तुके नित्यता ही कहते हैं और कोई २ अनित्यता ही सिद्ध करते हैं । परन्तु यह जगत् नित्य अनित्य दोनों स्वरूप है ऐसा मिथ्यात्वके उदयसे नहीं देखते । भावार्थ–सांख्य, नैयायिक, वेदान्त और मीमांसकमतवाले तो आत्माको सर्वथा नित्य तथा जगतको अविद्यादिकके विलाससे विभ्रमरूप अनित्य मानते हैं और कहते हैं कि, "आत्माको अनित्य माननेमें आत्माका नाश होकर नास्तिकताका मत आता है और नित्यानित्य दोनों स्वरूप माननेसे विरोधादिक दूषण आते हैं" । इसप्रकार अपनी कपोलकल्पना करके आत्माको सर्वथा नित्य ही मानते हैं और बौद्धमती वस्तुको क्षणिक तथा अनित्यस्वरूप मानते हैं । नित्य माननेको अविद्या कहते हैं और नित्यानित्य माननेमें विरोधादि दूषण कहते हैं । किन्तु ऐसा जानना चाहिये कि, वास्तवमें वस्तुका स्वरूप जो नित्यानित्यरूप है, वह स्याद्वादसे ही सिद्ध होता है । उसमें विरोध आदि कोई भी दूषण नहीं आते । शोक है कि, ऐसा स्वरूप अन्यमती समझते नहीं हैं और अपनी बुद्धिसे कल्पना करके जिसतिस प्रकार सिद्धि करके सन्तुष्ट हो जाते हैं । परन्तु वास्तवमें विचार किया जावे, तो उनके ध्याता ध्यान ध्येयादिकी सिद्धि नहीं होती । इसकारण उनका कहना सब प्रलापमात्र जानना चाहिये ॥ २१ ॥

वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात्किं ध्येयं क च भावना।
ध्यानाभ्यासस्ततस्तेषां प्रयासायैव केवलम् ॥ २२ ॥

अर्थ—उक्त मिथ्यादृष्टि अन्यमतावलम्बियोंके यथार्थस्वरूपके ज्ञानके अभावसे ध्येय कहा और भावना कहा ? इसकारण उनको ध्यानका करना केवल प्रयासमात्र ही है अर्थात् निष्फल खेद करना है ॥ २२ ॥

उक्तं च ग्रन्थान्तरे।

"शतमाशीत प्रथित क्रियाविदा वादिना प्रचण्डानाम्।
चतुरधिकाशीतिरपि प्रसिद्धमहसा विपक्षाणाम् ॥ १ ॥
षष्टिर्विज्ञानविदा ससप्तमेता प्रसिद्धयोधानाम्।
द्वात्रिंशद्वैनयिका भवन्ति सर्वे प्रवादविदः ॥ २ ॥" (युग्मम्)

अर्थ—"प्रचंड क्रियावादियोंके तो विस्ताररूप एकसो अस्सी भेद हैं और उनके विपक्षी प्रसिद्ध अक्रियावादियोंके चौरासीभेद हैं ॥ १ ॥ तथा प्रसिद्ध है ज्ञानवाद जिनका ऐसे ज्ञानवादियोंके सड़सठ भेद हैं और विनयवादियोंके बत्तीस भेद हैं। इस प्रकार तीनसौ त्रेसठ प्रकारके मत आदिनाथस्वामीके समयम ही थे और अब तो इनके भेद प्रभेद अनगिनती हो गये और होते जाते हैं। इन मतोंका विशेष वर्णन गोमठसार प्रथम जानना" ॥ २ ॥

ज्ञानादेवेष्टसिद्धिः स्यात्ततोऽन्यः शास्त्रविस्तरः।
मुक्तेरुक्तमतो बीजं विज्ञानं ज्ञानवादिभिः ॥ २३ ॥

अर्थ—ज्ञानवादियोंका मत तो ऐसा है कि एकमात्र ज्ञानसेही इष्टसिद्धि होती है। इससे अन्य जो कुछ है सो सब शास्त्रका विस्तारमात्र है। इस कारण मुक्तिका बीजभूत विज्ञान ही है ॥ २३ ॥

कैश्चिच्च कीर्तिता मुक्तिर्दर्शनादेव केवलम्।
वादिना खलु सर्वेषामपाकृत्य नयान्तरम् ॥ २४ ॥

अर्थ—और कई वादियोंने अन्यसमस्तवादियोंके अन्य नयपक्षोंका निराकरण करके केवल दर्शन (श्रद्धा) से ही मुक्ती होनी कही है ॥ २४ ॥

अथान्यैर्वृत्तमेवैकं मुक्त्यङ्गं परिकीर्तितम्।
अपास्य दर्शनज्ञाने तत्कार्यविफलश्रमे ॥ २५ ॥

अर्थ—अथवा अन्य कई वादियोंने चारित्रको (क्रियाको) ही मुक्तिका अंग माना है और ज्ञानदर्शनको मुक्तिमार्गके कार्यमें व्यर्थ मानकर उनका खंडन किया है ॥ २५ ॥

विज्ञानादित्रियम्ऽस्मिन्द्वे द्वे इष्टे तथा परैः।
स्वसिद्धान्तावलम्बेन जन्मसन्ततिशातने ॥ २६ ॥

अर्थ—और कितनेही वादी अपने सिद्धान्तके गर्वसे संसारकी सन्ततिके नाशकी परिपाटीमें विज्ञान, दर्शन (श्रद्धान) और चारित्र इन तीनोंमेंसे दो दो को इष्ट करते हैं, अर्थात् कोई तो दर्शन और ज्ञानकोही मानते हैं, किसीने दर्शन और चारित्रकोही माना है और कोई २ ज्ञान और चारित्रकोही मानते हैं। इस प्रकारसे तीन प्रकारके वादी हैं ॥ २६ ॥

एकैकं च त्रिभिर्नष्टं द्वे द्वे नष्टे तथाऽपरैः ।
त्रयं न रुच्यतेऽन्यस्य सप्तैते दुर्दृशः स्मृताः ॥ २७ ॥

अर्थ—इन वादियोंमें तीन वादियोंने तो एक एकको नष्ट किया और तीन वादियोंने दोदो को नष्ट किया। इनके अतिरिक्त एकको ये तीनोंही नहीं रुचते, इस प्रकार मिथ्यामतियोंके सात भेद हुए। भावार्थ-जिसने दर्शन और ज्ञान दोहीको मोक्षका मार्ग माना उसने तो एक चारित्रको नष्ट किया, जिसने ज्ञान और चारित्र माना, उसने एक दर्शनको नष्ट किया, और जिसने दर्शन और चारित्र ये दो माने उसने एक ज्ञानको नष्ट किया। इसी प्रकार जिसने एक दर्शनहीको माना उसने ज्ञान चारित्रको नष्ट किया और जिसने एक ज्ञानहीको माना उसने दर्शन और चारित्रको नष्ट किया और जिसने एक चारित्रकोही माना उसने दर्शन और ज्ञानपर पानी फेर दिया। इस प्रकार छह पक्ष तो ये हुए और एक नास्तिकका पक्ष है, जो इन तीनोंमें किसीको नहीं मानता है। इस प्रकार सात पक्ष मिथ्यादृष्टियोंके हैं ॥ २७ ॥

उक्तं च ग्रन्थान्तरे—

"ज्ञानहीने क्रिया पुंसि परं नारभते फलम् ।
तरोश्छायेव किं लभ्या फलश्रीर्नष्टदृष्टिभिः ॥ १ ॥
ज्ञानं पङ्गौ क्रिया चान्धे निःश्रद्धे नार्थकृद्द्वयम् ।
ततो ज्ञानं क्रिया श्रद्धा त्रयं तत्पदकारणम् ॥ २ ॥
हतं ज्ञानं क्रियाशून्यं हता चाज्ञानिनः क्रिया ।
धावन्नप्यन्धको नष्टः पश्यन्नपि च पङ्गुकः" ॥ ३ ॥

अर्थ—"ज्ञानहीन पुरुषकी क्रिया फलदायक नहीं होती। जिसकी दृष्टि नष्ट हो गई है वह अंधा पुरुष चलते २ जिस प्रकार वृक्षकी छायाको प्राप्त होता है, उसी प्रकार क्या उसके फलकोभी पासकता है? कदापि नहीं। ॥ १ ॥ पंगुमें तो वृक्षके फलका देख लेना प्रयोजनको नहीं साधता और अंधेमें फल जानकर तोड़लेने रूप क्रिया प्रयोजनको नहीं साधती। श्रद्धारहितके ज्ञान और क्रिया दोनोंही (दर्शनके मननरूप) प्रयोजनसाधक नहीं हैं, इस कारण ज्ञान क्रिया और श्रद्धा तीनों एकत्र होकर ही वांछित अर्थकी साधक होती है ॥ २ ॥ क्रियारहित तो ज्ञान नष्ट है और अज्ञा-

नीकी क्रिया नष्ट हुई देखो। दौडता २ तो अन्धा नष्ट हो गया और देखता ८ (पगला) नष्ट हुआ। **भावार्थ**—वनमें आग लगी अन्धेने इधर उधर दौडनेकी क्रिया की किन्तु दृष्टिके विना आगमें गिरकर जल गया और पंगु (लंगडा) किधरको जाना है और किधरको रस्ता है, यह देखता तो है, परन्तु दौडा नहीं गया इस कारण वह अग्निमें जलकर मर गया। इस कारण ज्ञान श्रद्धा और क्रिया इनसे ही प्रयोजनकी सिद्धि होती है"। ॥ ३ ॥

कारकादिक्रमो लोके व्यवहारश्च जायते।
न पक्षेऽन्विष्यमाणोऽपि सर्वथैकान्तवादिनाम् ॥ २८ ॥

अर्थ—सर्वथा एकान्तवादियोंके पक्षका विचार करनेसे उनके यहां कर्ता कर्म करण आदि कारकोंका क्रम (परिपाटी और व्यवहार) दृष्टिगोचर नहिं होता है ॥ २८ ॥

उक्तं च ग्रन्थान्तरे—

पृथिवी।

"इदं फलमियं क्रिया करणमेतदेष क्रमो
व्ययोऽयमनुषङ्गजं फलमिदं दशेयं मम।
अयं सुहृदयं द्विषन्प्रियतदेशकालाविमा-
विति प्रतिवितर्कयन्प्रयतते बुधो नेतरः ॥ १ ॥"

अर्थ—'जो विद्वान् हैं, वे ऐसा विचार करते हुए यत्न करते हैं, कि, यह तो क्रिया है, यह करण है और यह इसका फल है, यह इसका क्रम है, यह इसमें व्यय है, यह अनुरागसे लगा हुआ फल है और यह मेरी दशा है। यह मित्र है, यह इसका शत्रु है और यह कार्यसंबंधी देश तथा काल है। इस प्रकारका विचार वस्तुका अनेकान्त स्वरूप बनाता है, परन्तु मूर्खजन इनका विचार नहीं करते हैं' ॥ १ ॥

यस्य प्रज्ञा स्फुरत्युच्चैरनेकान्ते च्युतभ्रमा।
ध्यानसिद्धिर्विनिश्चेया तस्य साध्वी महात्मनः ॥ २९ ॥

अर्थ—जिस पुरुषकी बुद्धि अनेकान्तमें भ्रमरहित अतिशय स्फुरायमान है, उसी महात्माके उत्तम ध्यानकी सिद्धि निश्चयसे हो सकती है। सर्वथा एकान्तवादियोंके [illegible] सिद्ध न हो, तब ध्यानकी सिद्धि कैसे हो? ॥ २९ ॥

इस प्रकार [illegible] ध्यानकी [illegible] किया। अब [illegible] कि [illegible] हैं और जिनागमके [illegible] हैं, उनहीको ध्यानकी सिद्धि होती है—

ध्यानतन्त्रे निषेध्यन्ते नैते मिथ्यादृशः परं ।
मुनयोऽपि जिनेशाज्ञाप्रत्यनीकाश्चलाशया ॥ ३० ॥

अर्थ—सिद्धान्तमें ध्यान मात्र केवल मिथ्यादृष्टियोंकेही नहीं निषेधते हैं, किन्तु जो जिनेन्द्र भगवान्की आज्ञामें प्रतिकूल हैं तथा जिनका चित्त चलित है और जैन साधु कहाते हैं, उनकेभी ध्यानका निषेध किया जाता है। क्योंकि उनके ध्यानकी सिद्धि नहिं होती ॥ ३० ॥

ॐ योग्यता न यतित्वेऽपि येषां ध्यातुमिह क्षणम् ।
अन्विष्यलिङ्गमेतेषां सूत्रसिद्धं निगद्यते ॥ ३१ ॥

अर्थ—इस लोकमें जिनके मुनिअवस्थामें भी ध्यान करनेकी एक क्षणमात्रकी योग्यता नहीं है, उनकी पहिचान सूत्रसिद्ध (शास्त्रोक्त) कही जाती है ॥ ३१ ॥

?? यत्कर्मणि न तद्वाचि वाचि यत्तन्न चेतसि ।
यतेर्यस्य स किं ध्यानपदवीमधिरोहति ॥ ३२ ॥

अर्थ—जिस यतिके जो कर्म (क्रिया) में है, सो वचनमें नहीं है, वचनमें और ही कुछ है। तथा जो कुछ वचनमें है सो चित्तमें नहीं है। ऐसे मायाचारी यति क्या ध्यानपदवीको पासकते हैं? ॥ ३२ ॥

॥ सङ्गेनापि महत्त्वं ये मन्यन्ते स्वस्य लाघवम् ।
परेषां सगवैकल्यात्ते स्वबुद्ध्यैव वञ्चिता ॥ ३३ ॥

अर्थ—जो मुनि होकर भी परिग्रह रखते हैं और उस परिग्रहसे अपना महत्त्व मानते हैं तथा अन्य कि जिनके परिग्रह नहीं हैं उनकी लघुता समझते हैं, वे अपनी ही बुद्धिसे ठगे गये हैं, क्योंकि मुनिका महत्त्व तो निर्ग्रन्थतासेही है ॥ ३३ ॥

॥ सत्संयमधुरा धृत्वा तुच्छशीलैर्मदोद्धतैः ।
त्यक्ता यैः सा च्युतस्थैर्यैर्ध्यातुमीशः क तन्मनः ॥ ३४ ॥

अर्थ—जिन निःसारस्वभावी मदोद्धत मुनियोंने समीचीन संयमकी धुरा धारण करके छोड़ दी और जिनका धैर्य छूट गया, उनका मन क्या ध्यान करनेमें समर्थ हो सक्ता है? कदापि नहीं। क्योंकि हीनप्रकृति मदोद्धत धैर्यरहितके ध्यानकी योग्यता नहीं है ॥ ३४ ॥

॥ कीर्तिपूजाभिमानार्तैर्लोकयात्रानुरञ्जितैः ।
बोधचक्षुर्विलुप्तं यैस्तेषां ध्याने न योग्यता ॥ ३५ ॥

अर्थ—जो मुनि कीर्ति प्रतिष्ठा और अभिमानके अर्थमें आसक्त हैं, दुःखित हैं तथा लोकयात्रामें प्रसन्न होते हैं अर्थात् हमारे पास बहुतसे लोग आवें जावें और हमको मानें

जो ऐसी वांछा करते हैं, उन्होंने अपने शास्त्रकी चतुराईको नष्ट किया है क्योंकि उनके ध्यानकी योग्यता नहीं हो सकती है ॥ ३५ ॥

अन्तःकरणशुद्ध्यर्थं मिथ्यात्वविषमुल्बणम् ।
निष्ठ्यूतं यैर्न निःशेषं न तैस्तत्त्वं प्रमीयते ॥ ३६ ॥

अर्थ—जिन मुनियोंने अपने अन्तःकरणकी शुद्धताके लिये उत्कट मिथ्यात्वरूपी समस्त विष नहीं वमन किया (नहीं उगला) वे तत्त्वोंको प्रमाणरूप नहीं जान सकते हैं। क्योंकि मिथ्यात्वरूपी विष ऐसा प्रबल है कि, इसका लेशमात्रभी हृदयमें रहे, तो तत्त्वार्थका ज्ञान श्रद्धान प्रमाणरूप नहीं होता तब ऐसी अवस्थामें ध्यानकी योग्यता कहां? ॥ ३६ ॥

1, दुःषमत्वादयं कालः कार्यसिद्धेर्न साधकम् ।
इत्युक्त्वा स्वस्य चान्येषां कैश्चिद्ध्यानं निषिध्यते ॥ ३७ ॥

अर्थ—कोई २ साधु ऐसा कहकर अपने तथा परके ध्यानका निषेध करते हैं कि, "यह काल दुःषमा (पंचम) है। इस कालमें ध्यानकी योग्यता किसीकेभी नहीं है" इस प्रकार कहनेवालोंके ध्यान कैसे हो? ॥ ३७ ॥

संदिह्यते मतिस्तत्त्वे यस्य कामार्थलालसा ।
विमलध्यानयसिद्धान्तैः स कथं ध्यातुमर्हति ॥ ३८ ॥

अर्थ—जिसकी बुद्धि अन्यमतके शास्त्रोंमें ठगी गई है तथा जो काम और अर्थमें लुब्ध होकर वस्तुके यथार्थ स्वरूपमें सन्दिग्धरूप (संदेहसहित) है वह ध्यान करनेका पात्र कैसे हो? क्योंकि जबतक तत्त्वोंमें (वस्तुस्वरूपमें) संदेह होता है, तबतक मन निश्चल नहीं हो सकता और जब मनही निश्चल नहीं, तब ध्यान कैसे हो? ॥ ३८ ॥

निसर्गचपलं चेतो नास्तिकैर्विप्रतारितम् ।
यस्यास्य स कथं ध्यानपरीक्षायां क्षमो भवेत् ॥ ३९ ॥

अर्थ—एक तो मन स्वभावहीसे चंचल है, तिसपरभी जिसका मन नास्तिक वादियों द्वारा वंचित किया गया हो वह मुनि ध्यानकी परीक्षामें कैसे समर्थ हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता, क्योंकि नास्तिकमती खोटी २ युक्तियोंसे आत्माका नाशही सिद्ध करते हैं। उसकी कुयुक्तियोंमें जिसका मन फँस जाता है, उसके ध्यानकी योग्यता कहांसे हो सकती है? ॥ ३९ ॥

कान्दर्पीप्रमुखाः पञ्च भावना रागरञ्जिताः ।
येषां हृदि पदं चक्रुः क तेषां वस्तुनिश्चयः ॥ ४० ॥

अर्थ—जिनके मनमें रागसे रंजित कांदर्पी आदि पांच भावनाओंने निवास किया है, उनके वस्तुनिश्चय (तत्त्वार्थज्ञान) कैसे हो? ॥ ४० ॥

आगे इन भावनाओंके नाम कहते हैं

> कान्दर्पी कैल्बिषी चैव भावना चाभियोगिकी ।
> दानवी चापि सम्मोही त्याज्या पञ्चतयी च सा ॥ ४१ ॥

अर्थ—कान्दर्पी (कामभाव) कैल्बिषी (क्लेशकारिणी) आभियोगिकी (युद्धरूप), आसुरी (मदरूपी) और सम्मोहिनी (कुदुर्मोहनी) इस प्रकार ये पांच भावनाएं खोटी हैं सो ध्यानीको त्यागने योग्य हैं ॥ ४१ ॥

> मार्जाररसितप्रायं येषां वृत्तं प्रपाकरम् ।
> तेषां स्वप्नेऽपि सद्ध्यानसिद्धिर्नैवोपजायते ॥ ४२ ॥

अर्थ—जिन मुनियोंका चारित्र बिलावके कहे हुए उपाख्यानके (कहानीके) समान प्रपाकरस्य है उनके कभी भी ध्यानकी सिद्धि स्वप्नमें भी नहीं हो सकती। बिलावका उपाख्यान लोकप्रसिद्ध है कि एक बिलाव मूषकोंसे कहा करताथा कि, मैंने तीर्थमें जाकर स्नान करके चूहोंका त्याग कर दिया है, तुम हमारे पास आते हुए कदापि शंका न करो। जब मूषक निःशंक होकर बिलावके पास आने लगे तब बिलावने एक २ करके सब मूषकोंको खा डाला। इसी प्रकार जो पुरुष पहिले तो मुनिदीक्षा लेकर प्रतिज्ञा ग्रहण करें और फिर भ्रष्ट हो जावें उनके ध्यानकी सिद्धिका निषेध है ॥ ४२ ॥

> अनिरुद्धाक्षसन्ताना अजितोग्रपरीषहाः ।
> अत्यक्तचित्तचापल्याः प्रस्खलन्त्यात्मनिश्चये ॥ ४३ ॥

अर्थ—जिन्होंने इन्द्रियोंके विषयभोगोंकी प्रवृत्तिको नहीं रोका, उग्र परीषहें नहीं जीतीं, और मनकी चपलता नहीं छोड़ी वे मुनि आत्माके निश्चयसे च्युत हो जाते हैं। भावार्थ—जिनके इन्द्रिय वशमें नहीं हैं और परीषह आनेपर जो डिग जाते हैं वा जिनका मन चंचल है, उनको आत्माका निश्चय वा ध्यानकी स्थिरता नहीं रहती ॥ ४३ ॥

> अनासादितनिर्वेदा अविद्याव्याधवञ्चिताः ।
> असम्पर्द्धितसंवेगा न विदन्ति परं पदम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—जो विरागताको प्राप्त नहीं हुए हैं तथा मिथ्यात्वरूपी व्याधसे (शिकारीसे) वंचित किए गए हैं और जिनका मोक्ष और मोक्षमार्गमें अनुराग नहीं है, वे परमपद अर्थात् आत्माके स्वरूपकी प्राप्तिरूप मोक्षको नहीं जानते ॥ ४४ ॥

> न चेतः करुणाक्रान्तं न च विज्ञानवासितम् ।
> विरक्तं च न भोगेभ्यो यस्य ध्यातुं न स क्षमः ॥ ४५ ॥

अर्थ—जिसका मन करुणामें व्याप्त नहीं हुआ, तथा भेदविज्ञानसे [illegible] नहीं हुआ, विषयभोगोंसे विरक्त नहीं हुआ वह ध्यान करनेमें समर्थ नहीं है ॥ ४५ ॥

लोकानुरञ्जकैः पापैः कर्मभिर्गौरवं श्रिता।
अरञ्जितनिजस्वान्ता अक्षार्थगहने रता ॥ ४६ ॥
अनुद्धृतमनःशल्या अकृताध्यात्मनिश्चया।
अभिन्नभावदुर्लेश्या निषिद्धा ध्यानसाधने ॥ ४७ ॥

अर्थ—जो लोगोंको रंजित करनेवाले पापरूप कार्योंसे गुरुताको प्राप्त हैं। [illegible] रंजित हुआ है [illegible] जिनका ऐसे हैं। तथा इन्द्रियोंके विषयोंकी [illegible] [illegible] हैं। मनके शल्यको दूर नहीं किया है तथा अध्यात्मका निश्चय नहीं किया और भावसे [illegible] दुर्लेश्याको दूर नहीं किये हैं। ऐसे पुरुष ध्यानसाधनमें [illegible] हैं। क्योंकि इनमें ध्यानकी योग्यता नहीं है ॥ ४६–४७ ॥

नर्मकौत्कुच्यपापग्रन्थोपदेशका ।
अज्ञानज्वरशीर्णाङ्गा मोहनिद्रामलीमसा ॥ ४८ ॥
प्रभुगुणाम्भा वक्तुं विषयग्रामलालसा ।
सशङ्का शङ्किता भीता मन्येऽमी दैवयन्त्रिता ॥ ४९ ॥
एवं भूताश्च ये प्राणी मुक्तिश्रीसङ्गतिस्पृहा ।
प्रभवन्ति न सद्ध्यानमन्वेषितुमपि क्षणं ॥ ५० ॥

अर्थ—[illegible] ॥ ४८–५० ॥

[illegible] ॥ ५१ ॥

अर्थ—जो सातावेदनीयजनित सुख और अणिमा महिमादि तथा धनादिक ऋद्धि तथा रसीले भोजनादिकोंमें लम्पट हैं। मोहसे पापाभिचार कर्म करते हैं। उनके लिये आचार्य महाराज खेदसहित कहते हैं कि, हाय! हाय! इन्होंने अपने जीवनका नाश किया और अपनेको संसारसमुद्रमें डुबा दिया ॥ ५१ ॥

वे पापाभिचार कर्म कौन २ हैं, सो कहते हैं,—

११ वश्याकर्षणविद्वेषं मारणोच्चाटनं तथा ।
जलानलविषस्तम्भो रसकर्म रसायनम् ॥ ५२ ॥
११ पुरक्षोभेन्द्रजालं च बलस्तम्भो जयाजयौ ।
विद्याच्छेदस्तथा वेधं ज्योतिर्ज्ञानं चिकित्सितम् ॥ ५३ ॥
११ यक्षिणीमन्त्रपातालसिद्धयः कालवञ्चना ।
पादुकाञ्जननिस्त्रिंशभूतभोगीन्द्रसाधनं ॥ ५४ ॥
७ इत्यादिविक्रियाकर्मरञ्जितैर्दुष्टचेष्टितैः ।
आत्मानमपि न ज्ञातं नष्टं लोकद्वयच्युतैः ॥ ५५ ॥

अर्थ—वशीकरण, आकर्षण, विद्वेषण, मारण, उच्चाटन, तथा जल अग्नि विषका स्तम्भन, रसकर्म, रसायन ॥ ५२ ॥ नगरमें क्षोभ उत्पन्न करना, इन्द्रजालसाधन, सेनाका स्तम्भन करना, जीतहारका विधान बनाना, विद्याके छेदनेका विधान साधना, वेधना, ज्योतिषका ज्ञान, वैद्यकविद्यासाधन ॥ ५३ ॥ यक्षिणीमंत्र, पातालसिद्धिके विधानका अभ्यास करना, कालवञ्चना (मृत्यु जीतनेका मंत्र साधना), पादुकासाधन (खड़ाऊ पहनकर आकाश या जलमें विहार करनेकी विद्याका साधन) करना, अदृश्य होने तथा गड़े हुए धन देखनेके अंजनका साधना, शस्त्रादिकका साधना, भूतसाधन, सर्पसाधन ॥ ५४ ॥ इत्यादि विक्रियारूप कार्योंमें अनुरक्त होकर दुष्ट चेष्टा करनेवाले जो हैं उन्होंने आत्मज्ञानसे भी हाथ धोया और अपने दोनों लोकका कार्यभी नष्ट किया। ऐसे पुरुषोंके ध्यानकी सिद्धि होनी कठिन है ॥ ५५ ॥

११ यतित्वं जीवनोपायं कुर्वन्तः किं न लज्जिताः ।
मातुः पण्यमिवालम्ब्य यथा केचिद्गतघृणाः ॥ ५६ ॥
७ निस्त्रपाः कर्म कुर्वन्ति यतित्वेऽप्यतिनिन्दितम् ।
ततो विराध्य सन्मार्गं विशन्ति नरकोदरे ॥ ५७ ॥

अर्थ—कई निर्दय, निर्लज्ज साधुपनमें भी अतिशय निंदा करनेयोग्य कार्य करते हैं। वे समीचीन हितरूप मार्गका विरोध कर नरकमें प्रवेश करते हैं। जैसे कोई अपनी माताको वेश्या बनाकर उससे धनोपार्जन करते हैं, तैसेही जो मुनि होकर उस मुनि-

[illegible] हैं और उनके द्वारा मनोरञ्जन करते हैं, वे [illegible] ॥ ५६-५७ ॥

अ[illegible] गुरु[illegible] म्[illegible]रम् ।
मुन्यन्द्र [illegible] न श्लाघ्य लोकदम्भनं ॥ ५८ ॥

[illegible] हैं उनको तो ऐसी अविद्या[illegible] करना [illegible] है परन्तु मुनिके [illegible] मुनि[illegible] भेषको धारण [illegible] नहीं है । भावार्थ—साधुका भेष धारण करके [illegible] भली है । क्योंकि ऐसी [illegible] नहीं करते । मुनिका भेष धारण करके [illegible] ॥ ५८ ॥

[illegible] जगद्गुरुम् ।
[illegible] गुणे ॥ ५९ ॥

[illegible] मुनि[illegible] धारण करके [illegible] ॥ ५९ ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥ ६० ॥

[illegible] ॥ ६० ॥

[illegible] —

[illegible] ।

[illegible]
[illegible] ।
[illegible]
[illegible] ॥ १ ॥

[illegible]

तथा—

इत्थं न किंचिदपि साधनसाध्यमस्ति
स्वप्नेन्द्रजालसदृशं परमार्थशून्यम् ।
तस्मादनन्तमजरं परमं विकाशि
तद्ब्रह्म वाञ्छत जना यदि चेतनास्ति" ॥ २ ॥

अर्थ—उक्त प्रकारसे जगतमें कुछभी साधने योग्य साध्य (कार्य) नहीं है। क्योंकि जगतका कार्य स्वप्नके समान अथवा इन्द्रजालके समान क्षणविनश्वर और परमार्थ शून्य है। इस कारण आचार्य महाराज कहते हैं कि, हे ज्ञानी जन हो! यदि तुममें चेतना (बुद्धि) है तो ऐसे परम उत्कृष्ट प्रकाशरूप ज्ञानानंद स्वरूप ब्रह्मकी वाञ्छा करो, जो अनन्त और जरारहित है और अन्य समस्त प्रकारकी अभिलाषाओंका त्याग कर दो" ॥ २ ॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

" किं ते सन्ति न कोटिशोऽपि सुधियः स्फारैर्वचोभिः परम्
ये याता प्रथयन्त्यमेयमहसो राशेः परब्रह्मणः ।
तद्यानन्दसुधासरस्वति पुनर्निर्मज्य मुञ्चन्ति ये
सन्तापं भवसम्भवं त्रिचतुरास्ते सन्ति वा नात्र वा ॥ ६१ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि, इस जगतमें मधुर वचनोंसे (व्याख्यानोंसे) अमर्याद प्रतापकी राशिरूप परमात्माकी वार्ताको विस्तार करनेवाले करोड़ों विद्वान् क्या नहीं होते? अवश्य होतेही हैं। परन्तु उस परमब्रह्मस्वरूप आनन्दके समुद्रमें मग्न होकर संसारसे उत्पन्न हुए सन्तापको नष्ट करनेवाले जगतमें तीन वा चारही होते हैं, अथवा नहीं भी होते। भावार्थ—परमात्माकी कथाओंको विस्ताररूपसे कहनेवाले तो अनेक विद्वान् होते हैं, परन्तु परमात्मस्वरूपमें लीन होनेवाले विरलेही होते हैं। यहां तीन चार कहनेसे विरलवचन जानना चाहिये, संख्याका नियम समझना उचित नहीं है क्योंकि थोड़े कहने हों, तो ऐसे किसीभी एसेही वचन कहा करते हैं ॥ ६१ ॥

अब इस अधिकारको पूरा करते हुए सामान्यरूपसे कहते हैं,—

शार्दूलविक्रीडितम् ।

एते पण्डितमानिनः शमदमस्वाध्यायचिन्ताच्युता
रागादिग्रहवञ्चिता यतिगुणप्रध्वंसतृष्णानना: ।
व्याकृष्टा विषयैर्मदैः प्रमुदिताः शङ्काभिरङ्गीकृता
न ध्यानं न विवेचनं न च तपः कर्तुं वराकाः क्षमाः ॥ ६२ ॥

अर्थ—जो पंडित तो नहीं हैं, किन्तु अपनेको पंडित मानते हैं, और शम, दम,

न्यायमार्गसे रहित, तथा गर्वादिक मोहादि विकारोंसे सहित हैं, तथा जो दुर्जन गुण नष्ट करनेमें चतुर मूढ काला करनेवाले, विषयोंमें आसक्त, मन्दज्ञानी, तथा संदेह सम्यक्त्वादिकसे पकड़े गये हैं, ऐसे ये पुरुष न ध्यान करनेको समर्थ हैं न ध्यान करनेमें समर्थ है और न करा सकते हैं ॥ ६२ ॥

इस प्रकार ध्याताके गुण दोष वर्णन किये। जिनमें गृहस्थ, विषयासक्त, अन्यमती भी, पाखंडियोंके तथा जो जैनके यति (साधु) कहलाकर भ्रष्टाचारी भए हैं, या अपनेको केवल आजीविकाके निमित्त भेषधारी हैं, उनके ध्यान करनेका निषेध किया है।

सोरठा।

जो गृहत्यागी होय, सम्यगरत्नत्रयविना।
ध्यानयोग्य नहिं सोय, गृहत्यागीकी का कथा ॥ १ ॥

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे शुभचन्द्राचार्यविरचिते चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमः सर्गः।

आगे ध्याता योगीश्वरोंकी प्रशंसा करते हैं,—

अथ निर्णीततत्त्वार्था धन्या संविग्नमानसा।
कीर्त्यन्ते यमिनो जन्मसम्भूतसुखनिःस्पृहा ॥ १ ॥

अर्थ—अथानन्तर जो संयमी मुनि तत्त्वार्थका (वस्तुका) यथार्थ स्वरूप जानते हैं, मनमें संवेगरूप हैं, मोक्ष तथा उसके मार्गमें अनुरागी है, और संसारजनित सुखोंमें निःस्पृह (वाञ्छारहित) हैं वे मुनि धन्य हैं। उनका कीर्त्तन वा प्रशंसा की जाती है ॥ १ ॥

भवभ्रमणनिर्विण्णा भावशुद्धिं समाश्रिताः।
सन्ति केचिच्च भूपृष्ठे योगिनः पुण्यचेष्टिताः ॥ २ ॥

अर्थ—इस पृथिवीतलपर अनेक योगीश्वर संसारके चक्रसे विरक्त हैं, भावोंकी शुद्धतासहित हैं, तथा पवित्र चेष्टावाले हैं। यहां कोई यह पूछे कि, "इस कालमें तो ऐसे कोई साधु दीख नहीं पड़ते?" तो इसका यह उत्तर है कि, यह ग्रंथ जिस समय रचा गया था, उस समय ऐसे अनेक योगीश्वर थे और अब भी किसी दूर क्षेत्रमें हों तो क्या आश्चर्य है? ॥ २ ॥

?? विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम्।
यस्य चित्तं स्थिरीभूतं स हि ध्याता प्रशस्यते ॥ ३ ॥

अर्थ—जिस मुनिका चित्त कामभोगोंमे विरक्त होकर और शरीरमे स्पृहाको छोड़के स्थिरीभूत हुआ है, निश्चय करके उसीको ध्याता कहा है । वही प्रशसनीय ध्याता है ॥ ३ ॥

सत्संयमधुरा धीरैर्नहि प्राणात्ययेऽपि यै ।
त्यक्ता महत्त्वमालम्ब्य ते हि ध्यानधनेश्वरा ॥ ४ ॥

अर्थ—जिन मुनियोंने महान् मुनिपनको अगीकार करके प्राणोंका नाश होते भी समीचीन संयमकी धुरीको नहीं छोड़ा है, वेही ध्यानरूपी धनके ईश्वर (स्वामी) होते हैं । क्योंकि संयमसे च्युत होनेपर ध्यान नहीं होता ॥ ४ ॥

परीषहमहाव्यालैर्ग्राम्यैर्वा कण्टकैर्दृढै ।
मनागपि मनो येषा न स्वरूपात्परिच्युतम् ॥ ५ ॥

अर्थ—जिन मुनियोंका चित्त परीषहरूप दुष्ट हस्तियों अथवा सर्पोंसे तथा ग्रामीण मनुष्योंके दुर्वचनरूपी काटोंसे किंचिन्मात्रभी अपने स्वरूपसे च्युत नहीं हुआ, तथा—॥५॥

क्रोधादिभीमभोगीन्द्रै रागादिरजनीचरै ।
अजय्यैरपि विध्वस्त न येषा यमजीवितम् ॥ ६ ॥

अर्थ—जिन मुनिजनोंका संयमरूपी जीवन क्रोधादि कषायरूप सर्पोंसे तथा अजय रागादि निशाचरोंसे नष्ट नहीं हुआ, तथा—॥ ६ ॥

मन प्रीणयितु येषा क्षमास्ता दिव्ययोषित ।
मैत्र्यादय सता सेव्या ब्रह्मचर्येऽप्यनिन्दिते ॥ ७ ॥

अर्थ—जिन मुनियोंके अनिन्दित (प्रशसनीय) ब्रह्मचर्यके होतेहुए मनको तृप्त करने वाली प्रसिद्ध मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ्य, ये ४ भावनारूपी सुदर स्त्री समर्थ किया हैं । अर्थात् इन भावनाओंके भावनेसे जिनके चित्तमें कामादि विकारभाव नहीं उपजते, तथा—॥ ७ ॥

तपस्तरलतीव्रार्चि प्रचये पातित स्मर ।
यै रागरिपुभि सार्द्ध पतङ्गप्रतिमीकृत ॥ ८ ॥

अर्थ—जिन मुनियोंने तपरूपी तीव्रअग्निकी ज्वालाके समूहमें रागादि शत्रुओंके साथ कामको डाल दिया और पतगके समान भस्म कर दिया, तथा—॥ ८ ॥

नि सङ्गत्व समासाद्य ज्ञानराज्य समीप्सितम् ।
जगत्त्रयचमत्कारि चित्रभूत विचेष्टितम् ॥ ९ ॥

अर्थ—जिन्होंने निष्परिग्रहपनको अगीकार करके तीन जगतमें चमत्कार करनेवाला तथा आश्चर्यरूप चेष्टावाले ज्ञानरूपी राज्यकी वाछा की, तथा—॥ ९ ॥

अत्युग्रतपसाऽऽत्मान पीडयन्तोऽपि निर्दयम्
जगद्विध्यापयन्त्युच्चैर्ये मोहदहनक्षतम् ॥ १० ॥

अर्थ—जो मुनि अपने आत्माको अति तीव्र तपसे निर्दयीके समान पीडा करते हैं तो भी मोहरूपी अग्निसे जलते हुए जगतको अतिशयताके साथ बुझाते हैं अर्थात् शान्त करते हैं, तथा—॥ १० ॥

स्वभावजनिरातङ्कनिर्भरानन्दनन्दिता' ।
तृष्णार्चिःशान्तये धन्या येऽकालजलदोद्गमाः ॥ ११ ॥

अर्थ—जो धन्य मुनि तृष्णारूपी अग्निकी ज्वालाको शान्त करनेके लिये अकालमें (ग्रीष्मकालमें) स्वभावसे उत्पन्न, दाहरहित, पूर्ण आनन्दसे आनन्दरूप मेघके उदयके समान हैं, तथा—॥ ११ ॥

अशेषसगसन्यासवशाज्जितमनोद्विजा ।
विषयोद्दाममातङ्गघटासघट्टघातका ॥ १२ ॥

अर्थ—जो मुनि समस्त परिग्रहके त्यागके कारण मनरूप चचल पक्षीको जीतनेवाले हैं, तथा विषयरूपी मदोन्मत्त हस्तियोंके सघट्टके (समूहके) घातक हैं, तथा—॥ १२ ॥

वाक्पथातीतमाहात्म्या विश्वविद्याविशारदाः ।
शरीराहारससारकामभोगेषु निःस्पृहा ॥ १३ ॥

अर्थ—जिनका वचनपथसे अगोचर माहात्म्य है, जो समस्त विद्याओंमे विशारद हैं और शरीर आहार संसार काम भोगोंमे निःस्पृह (वाछारहित) हैं, तथा—॥ १३ ॥

विशुद्धबोधपीयूषपानपुण्यीकृताशया ।
स्थिरेतरजगज्जन्तुकरुणावारिवार्द्धय ॥ १४ ॥

अर्थ—जिनका चित्त निर्मल ज्ञानरूप अमृतके पानसे पवित्र है और जो स्थावर त्रस भेदयुक्त जगतके जीवोंको करुणारूपी जलके समुद्र हैं, तथा—॥ १४ ॥

स्वर्णाचल इवाकम्पा ज्योतिःपथ इवामला ।
समीर इव निःसङ्गा निर्ममत्वं समाश्रिता ॥ १५ ॥

अर्थ—मेरुपर्वतके समान [illegible] निर्मल हैं, पवनके समान नि[illegible] मङ्ग हैं और निर्ममताको [illegible] —॥ १५ ॥

[illegible] । [illegible] ॥ १६ ॥

अर्थ—वे मुनि [illegible] या मयूरोंके [illegible] तृप्त करनेवाले हैं, [illegible] हैं ॥ १६ ॥

इत्यादिपरमोदारपुण्याचरणलक्षिता ।
ध्यानसिद्धेः समाख्याताः पात्रं मुनिमहेश्वराः ॥ १७ ॥

अर्थ—इत्यादि परम-उदार पवित्र आचरणोंसे चिह्नित, मुनियोंमें प्रधान, मुनीश्वर ध्यानकी सिद्धिके पात्र कहे गये हैं ॥ १७ ॥

तथारोढुं प्रवृत्तस्य मुक्तेर्भवनमुत्तमम् ।
सोपानराजिकाऽमीषां पादच्छाया भविष्यति ॥ १८ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि, हे आत्मन्! मुक्तिरूपी मंदिरपर चढ़नेकी प्रवृत्ति करते हुए तुझे पूर्वोक्त प्रकारके मुनियोंके चरणोंकी छायाही सोपानकी पंक्तिसमान होवेगी। भावार्थ-जिनको ध्यानकी सिद्धि करनी हो, उन्हें ऐसे मुनियोंकी सेवा करनी चाहिये ॥ १८ ॥

ध्यानसिद्धिर्मता सूत्रे मुनीनामेव केवलम् ।
इत्याद्यमलविख्यातगुणलीलावलम्बिनाम् ॥ १९ ॥

अर्थ—सूत्रमें (*सिद्धान्तमें*) उपर्युक्त *गुणोंको* आदि लेकर *निर्मल प्रसिद्ध गुणोंमें* प्रवर्तनरूप क्रीडाके अवलम्बन करनेवाले केवल मुनियोंकेही ध्यानकी सिद्धि मानी है। अर्थात् मुक्तिके धारणस्वरूप ध्यानकी सिद्धि अन्यके नहीं हो सकी ॥ १९ ॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

११ निष्पन्दीकृतचित्तचण्डविहगाः पञ्चाक्षकक्षान्तकाः
ध्यानध्वस्तसमस्तकल्मषविषा विद्याम्बुधेः पारगाः ।
लीलोन्मूलितकर्मकन्दनिचयाः कारुण्यपुण्याशया
योगीन्द्रा भवभीमदैत्यदलना कुर्वन्तु ते निर्वृतिं ॥ २० ॥

अर्थ—पूर्वोक्त गुणोंके धारक योगीन्द्र गण हमारे तथा भव्य पुरुषोंके निर्वृति (सुख) रूप मोक्षको करो। कैसे हैं वे योगीन्द्र? निश्चलरूप किया है चित्तरूपी प्रचंड पक्षी जिन्होंने, पंचेंद्रियरूप वनके दग्ध करनेवाले हैं, ध्यानसे समस्त पापोंके नाश करनेवाले हैं, विद्यारूप समुद्रके पारगामी हैं, क्रीडामात्रसे कर्मोंके मूलको उखाड़नेवाले हैं, करुणाभावरूप पुण्यसे पवित्र चित्तवाले हैं और संसाररूप भयानक दैत्यको चूर्ण करनेवाले हैं ॥ २० ॥

११ विन्ध्याद्रिर्नगरं गुहा वसतिकाः शय्या शिला पार्वती
दीपाश्चन्द्रकरा मृगाः सहचरा मैत्री कुलीनाङ्गना ।
विज्ञानं सलिलं तपः सदशनं येषां प्रशान्तात्मना
धन्यास्ते भवपङ्कनिर्गमपथप्रोद्देशकाः सन्तु नः ॥ २१ ॥

अत्युग्रतपसाऽऽत्मानं पीडयन्तोऽपि निर्दयम्
जगद्विध्यापयन्त्युच्चैर्ये मोहदहनक्षतम् ॥ १० ॥

अर्थ—जो मुनि अपने आत्माको अति तीव्र तपसे निर्दयीके समान पीडा देते हैं तो भी मोहरूपी अग्निसे जलते हुए जगतको अतिशयताके साथ बुझाते हैं और शान्त करते हैं, तथा—॥ १० ॥

स्वभावजनिरातङ्कनिर्भरानन्दनन्दिताः ।
तृष्णार्चिःशान्तये धन्या येऽकालजलदोद्गमाः ॥ ११ ॥

अर्थ—जो धन्य मुनि तृष्णारूपी अग्निकी ज्वालाको शान्त करनेके लिये अकालमें (बिना कालमें) स्वभावसे उत्पन्न, दाहरहित, पूर्ण आनन्दसे आनन्दरूप मेघके उदय समान हैं, तथा—॥ ११ ॥

अशेषसंगसंन्यासवशाज्जितमनोद्विजाः ।
विषयोद्दाममातङ्गघटासंघट्टघातकाः ॥ १२ ॥

अर्थ—जो मुनि समस्त परिग्रहके त्यागके कारण मनरूप चञ्चल पक्षीको जीतते हैं, तथा विषयरूपी मदोन्मत्त हस्तियोंके संघट्टके (समूहके) घातक हैं, तथा—॥ १२ ॥

वाक्पथातीतमाहात्म्या विश्वविद्याविशारदाः ।
शरीरसंसारकामभोगेषु निःस्पृहाः ॥ १३ ॥

अर्थ—जिनका वचनपथसे अगोचर माहात्म्य है, जो समस्त विद्याओंमें निपुण हैं [illegible] शरीर संसार काम भोगोंमें निःस्पृह (वांछारहित) हैं, तथा—॥ १३ ॥

[illegible]पीयूषपानपुण्यीकृताशयाः ।
[illegible]नुकम्पायाः [illegible] ॥ १४ ॥

अर्थ—जिनका चित्त [illegible] पानरूप अमृतके पानसे पवित्र है और जो [illegible] करुणारूपी जलके समुद्र हैं, तथा—॥ १४ ॥

[illegible] इवाकम्पा ज्योतिःपथ इवामलाः ।
समीर इव निःसङ्गा निर्ममत्वं समाश्रिताः ॥ १५ ॥

अर्थ—[illegible] समान अकम्प हैं, आकाशके समान निर्मल हैं, पवनके समान निःसंग हैं और [illegible] निर्ममत्व आश्रित किया है, तथा—॥ १५ ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥ १६ ॥

अर्थ—[illegible]

इत्यादिपरमोदारपुण्याचरणलक्षिताः ।
ध्यानसिद्धेः समाख्याताः पात्र मुनिमहेश्वराः ॥ १७ ॥

अर्थ—इत्यादिक परम-उदार पवित्र आचरणोंसे चिह्नित, मुनियोंमें प्रधान, मुनीश्वर ध्यानकी सिद्धिके पात्र कहे गये हैं ॥ १७ ॥

तवारोढुं प्रवृत्तस्य मुक्तेर्भवनमुन्नतम् ।
सोपानराजिकाऽमीषां पादच्छाया भविष्यति ॥ १८ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि, हे आत्मन्! मुक्तिरूपी मंदिरपर चढ़नेकी प्रवृत्ति करते हुए तुझे पूर्वोक्त प्रकारके मुनियोंके चरणोंकी छाया ही सोपानकी पंक्तिसमान होवेगी। भावार्थ-जिनको ध्यानकी सिद्धि करनी हो, उन्हें ऐसे मुनियोंकी सेवा करनी चाहिये ॥ १८ ॥

ध्यानसिद्धिर्मता सूत्रे मुनीनामेव केवलम् ।
इत्याद्यमलविख्यातगुणलीलावलम्बिनाम् ॥ १९ ॥

अर्थ—सूत्रमें (सिद्धान्तमें) उपर्युक्त गुणोंको आदि लेकर निर्मल प्रसिद्ध गुणोंमें प्रवर्तनरूप क्रीड़ाके अवलम्बन करनेवाले केवल मुनियोंकी ही ध्यानकी सिद्धि कही है। अर्थात् मुक्तिके कारणस्वरूप ध्यानकी सिद्धि अन्यके नहीं हो सकती ॥ १९ ॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

निष्पन्दीकृतचित्तचण्डविहगाः पञ्चाक्षकक्षान्तकाः
ध्यानध्वस्तसमस्तकल्मषविषा विद्याम्बुधेः पारगाः ।
लीलोन्मूलितकर्मकन्दनिचयाः कारुण्यपुण्याशयाः
योगीन्द्रा भवभीमदैत्यदलना कुर्वन्तु ते निर्वृतिम् ॥ २० ॥

अर्थ—पूर्वोक्त गुणोंके धारक योगीन्द्र गण हमारे तथा भव्य पुरुषोंके निर्वृति (सुख) रूप मोक्षको करो। कैसे हैं वे योगीन्द्र? निश्चलरूप किया है चित्तरूपी प्रचंड पक्षी जिन्होंने, पंचेन्द्रियरूप वनके दग्ध करनेवाले हैं, ध्यानसे समस्त पापोंको नष्ट करनेवाले हैं, विद्यारूप समुद्रके पारगामी हैं, लीलामात्रसे कर्मोंके मूलको उखाड़नेवाले हैं, करुणामयरूप पुण्यसे पवित्र चित्तवाले हैं और संसाररूप भयानक दैत्यको चूर्ण करनेवाले हैं ॥ २० ॥

विन्ध्याद्रिर्नगरं गुहा वसतिकाः शय्या शिला पार्वती
दीपाश्चन्द्रकरा मृगाः सहचरा मैत्री कुलीनाङ्गना ।
विज्ञानं सलिलं तपः सदशनं येषां प्रशान्तात्मनां
धन्यास्ते भवपङ्कनिर्गमपथप्रोद्देशकाः सन्तु नः ॥ २१ ॥

अर्थ—जिन प्रशान्तात्मा मुनि महाराजाओंके विन्ध्याचल पर्वत नगर है, पर्वत गुफायें वसतिका (गृह) है, पर्वतकी शिला शय्यासमान हैं, चन्द्रमाकी किरण दीपकवत् हैं, मृग सहचारी है, सर्वभूतमैत्री (दया) कुलीन स्त्री है, पीनेका जल विज्ञान और तप उत्तम भोजन है, वेही धन्य हैं। ऐसे मुनिराज हमको संसाररूप कर्दमसे निकलनेके मार्गका उपदेश देनेवाले हों ॥ २१ ॥

स्रग्धरा।

रुद्धे प्राणप्रचारे वपुषि नियमिते संवृतेऽक्षप्रपञ्चे
नेत्रस्पन्दे निरस्ते प्रलयमुपगतेऽन्तर्विकल्पेन्द्रजाले।
भिन्ने मोहान्धकारे प्रसरति महसि क्वापि विश्वप्रदीपे
धन्यो ध्यानावलम्बी कलयति परमानन्दसिन्धुप्रवेशं ॥ २२ ॥

अर्थ—श्वासोच्छ्वासके रुकते हुए, शरीरके निश्चल होतेहुए, इन्द्रियोंके प्रचारके संवरण होतेहुए, नेत्रोंकी चलनक्रियाके रहित होते हुए, समस्त विकल्परूप इन्द्रजालका प्रलय होते हुए, मोहांधकारके दूर होते हुए, और समस्त वस्तुओंको प्रकाश करनेवाले तेज पुंजको अपने हृदयमें विस्तरते हुए जो धन्य मुनि ध्यानावलम्बी हैं वही परमानन्दरूपी समुद्रमें प्रवेश करनेका अभ्यास करते हैं ॥ २२ ॥

शिखरिणी।

अहेयोपादेयं त्रिभुवनमपीदं व्यवसितं
शुभं वा पापं वा द्वयमपि दहन्कर्म महसा।
निजानन्दास्वादव्यवधिविधुरीभूतविषयं
प्रतीत्योघैः कश्चिद्विगलितविकल्पं विहरति ॥ २३ ॥

अर्थ—अपने स्वाभाविक आनंदके स्वादसे दूर हैं इन्द्रियविषय जिसके ऐसा कोई मुनि अपने तेजसे शुभाशुभ कर्मोंका दहन करता हुआ, भले प्रकार प्रतीतिगोचर करके इस अहेयोपादेयरूप त्रिभुवनमें विकल्परहित भ्रमण करता है। **भावार्थ**—ध्यानस्थ तब तो निश्चल अवस्था हैही, परन्तु विहार करते हुएभी निश्चलके समान है, अर्थात् जगतमें जिसके त्याग करने या ग्रहण करने योग्य कुछभी नहीं है, और विषयोंकी चाह नहीं है वही निर्विकल्परूप होकर कर्मोंकी निर्जरा करता हुआ विचरता है ॥ २३ ॥

शार्दूलविक्रीडितम्।

दृप्यन्तः परवस्तुसङ्गनिचया विज्ञानशून्याशयाः
विद्यन्ते प्रतिमन्दिरं निजनिजस्वार्थोद्यमा देहिनः।
आनन्दामृतसिन्धुशीकरचयैर्निर्वाप्य जन्मज्वरं
ये मुक्तेर्वदनेन्दुवीक्षणपरास्ते सन्ति द्वित्रा यदि ॥ २४ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त इन गुणगणको लोपनेवाले (नाशक), तत्त्वाधगमनसे शून्य विषयान्ध तथा जन। विषयादिकके प्रयोजनमें उद्यमी ऐसे प्राणी तो घरघरमें विद्यमान हैं, परन्तु आत्मस्वरूप आनंद समुद्रके तरंगसमूहसे संसाररूप ज्वरके दाहको (अग्निको) दुर्धर युक्तिरूपी और कुमतरूपी चन्द्रमाके विनाशन करनेमें जो तत्पर हैं, वे यदि हैं तो दो तीन ही होंगे ॥ २४ ॥

ये शुभ्रं हिमशैलशृङ्गसुभगप्रासादगर्भान्तरे
पल्यङ्के परमोपधानरचिते दिव्याङ्गनाभिः सह ।
तैरेवाद्य निरस्तविश्वविषयैरन्तः स्फुरज्ज्योतिषि
क्षोणीरन्ध्रशिलाद्रिकोटरगतैर्धन्यैर्निशा नीयते ॥ २५ ॥

अर्थ—जिन्होंने पूर्वावस्थामें हिमालयके शिखरसमान सुंदर महलोंमें उत्कृष्ट उपधान (तकियों) सहित रची हुई शय्यामें सुंदर स्त्रियोंके साथ शयन किया था, वेही समस्त संसारके विषयोंको निरस्त करके पुण्यशाली पुरुष अन्तरंगमें ज्ञानज्योतिके स्फुरण होनेसे पृथ्वीमें तथा पर्वतोंमें, गुफाओंमें तथा शिलाओंपर अथवा वृक्षके कोटरोंमें प्राप्त होकर रात्रि बिताते हैं उन्हें धन्य है ॥ २५ ॥

चित्ते निश्चलतां गते प्रशमिते रागाद्यविद्यामये
विद्राणेऽक्षकदम्बके विघटिते ध्वान्ते भ्रमारम्भके ।
आनन्दे प्रविजृम्भिते पुरपतेर्ज्ञाने समुन्मीलिते
त्वां द्रक्ष्यन्ति कदा वनस्थमभितः पुस्तेच्छया श्वापदाः ॥ २६ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! तेरे मनके निश्चलता होते हुए, रागादि अविद्यारूप रोगोंमें उपशमता होते हुए, इन्द्रियोंके समूहको विषयोंमें नहीं प्रवर्तते हुए, भ्रमोत्पादन करनेवाले अज्ञानांधकारके नष्ट होते हुए, और आनंदको विस्तारते हुए आत्मज्ञानके प्रगट होनेपर ऐसा कौनसा दिन होगा जब तुझे वनमें चारों ओरसे मृगादि पशु चित्रलिखित मूर्ति अथवा सूखे हुए वृक्षके ठूंठके समान देखेंगे। जिस समय तू ऐसी निश्चलमूर्तिमें ध्यानस्थ होगा, उसी समय धन्य होगा ॥ २६ ॥

स्रग्धरा।

[1] आत्मन्यात्मप्रचारे कृतसकलबहिःसङ्गसंन्यासवीर्यो
यन्तज्योतिः प्रकाशाद्विलयगतमहामोहनिद्रातिरेकः ।
निर्णीते स्वस्वरूपे स्फुरति जगदिदं यस्य शून्यं जडं वा
तस्य श्रीबोधवार्धेर्दिशतु तव शिवं पादपङ्केरुहश्रीः ॥ २७ ॥

---

१ यहां इस शब्दका अर्थ विशेषण जानना संस्कृतका कुछ नियम नहीं है।

अर्थ—जिसकी आत्मामें अपना प्रवर्तन है, परद्रव्यमें नहीं है और बाह्यपरिग्रहके त्यागसे तथा अंतरंगविज्ञानज्योतिके प्रकाश होनेसे जिसका महामोहरूप निद्राका उत्कर्ष नष्ट होगया है और जिसको स्वरूपका निश्चय होनेसे यह जगत् शून्यवत् वा जड़वत् प्रतिभासता है, ऐसे श्रीज्ञानसमुद्र मुनिके चरणकमलकी लक्ष्मी (शोभा) तुमको मोक्षपद प्रदान करै ऐसा आशीर्वादात्मक उपदेश है ॥ २७ ॥

मन्दाक्रान्ता।

आत्मायत्तं विषयविरसं तत्त्वचिन्तावलीनं
निर्व्यापारं स्वहितनिरतं निर्वृतानन्दपूर्णं।
ज्ञानारूढं शमयमतपोध्यानलब्धावकाशं
कृत्वाऽऽत्मानं कलय सुमते दिव्यबोधाधिपत्यम् ॥ २८ ॥

अर्थ—हे सुबुद्धि! अपनेको प्रथम तो आत्मायत्त कहिये पराधीनतासे छुड़ाकर स्वाधीन कर। **दूसरे**—इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त कर। **तीसरे**—तत्त्वचिन्तामें मग्न (लीन) कर। **चौथे**—सांसारिक व्यापारसे रहित निश्चल कर। **पांचवें**—अपने हितमें लगा। **छट्ठे**—निर्वृत अर्थात् क्षोभरहित आनंदसे परिपूर्ण कर। **सातवें**—ज्ञानारूढ कर। **आठवें**—शम यम दम तपमें अवकाश मिलै ऐसा करके फिर दिव्यबोध कहिये केवल ज्ञानके अधिपतिपनेको प्राप्त कर। **भावार्थ—**उपर्युक्त आठ कार्योंसे केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है ॥ २८ ॥

अब इस अधिकारको पूर्ण करते हुए कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितम्।

दृश्यन्ते भुवि किं न ते कृतधियः संख्याव्यतीताश्चिरम्
ये लीलां परमेष्ठिनः प्रतिदिनं तन्वन्ति वाग्भिः परम्।
तं साक्षादनुभूय नित्यपरमानन्दाम्बुराशिं पुन-
र्ये जन्मभ्रममुत्सृजन्ति पुरुषा धन्यास्तु ते दुर्लभाः ॥ २९ ॥

अर्थ—इस पृथिवीपर परमेष्ठीकी नित्यप्रति केवल वचनोंसे बहुत कालपर्यन्त लीला भवनको विस्तृत करनेवाले कृतबुद्धि क्या गणनासे अतीत नहीं हैं? अपि तु असंख्यात देखनेमें आते हैं। परन्तु नित्यपरमानन्दामृतकी राशिरूप उस परमेष्ठीको साक्षात् अनुभवगोचर कर संसारके भ्रमको दूर करते हैं, ऐसे पुरुष दुर्लभ हैं और ऐसे ही पुरुष धन्य हैं ॥ २९ ॥

इस प्रकार ध्यान करनेवाले योगीश्वरोंकी प्रशंसा की गई। यद्यपि इस पंचम कालमें ऐसे योगीश्वर देखनेमें नहीं आते, तो भी उनके गुणानुवाद गाकर स्मरण करनेसे भव्यजीवोंका मन पवित्र होता है और अपने कल्याणकी श्रद्धारूप सिद्धिका मार्ग होता है।

दोहा ।

रत्नत्रयको धार जे, शम दम यम चित देय ।
ध्यान करैं मन रोकिके, धन ते मुनि शिव लेय ॥ १ ॥

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे शुभचन्द्राचार्यविरचिते पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

अथ षष्ठः सर्गः ।

आगे ध्याता ध्यानके अंगस्वरूप सम्यग्दर्शनादिकका व्याख्यान करते हैं—

सुप्रयुक्तैः स्वयं साक्षात्सम्यग्दृग्बोधसंयमैः ।
त्रिभिरेवापवर्गश्रीर्घनाश्लेषं प्रयच्छति ॥ १ ॥

अर्थ—भलेप्रकार प्रयुक्त किये हुए सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंसे अर्थात् तीनोंकी एकता होनेसे मोक्षरूपी लक्ष्मी उस रत्नत्रययुक्त आत्माको स्वयं दृढालिंगन देती है। भावार्थ–तीनोंकी एकता ही मोक्षमार्ग है ॥ १ ॥ क्योंकि—

तैरेव हि विशीर्यन्ते विचित्राणि बलीन्यपि ।
दृग्बोधसंयमैः कर्मनिगडानि शरीरिणाम् ॥ २ ॥

अर्थ—इन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रसे ही जीवोंकी नानाप्रकारकी बलवान् कर्मरूपी बेडिया झरती हैं (टूटती हैं) ॥ २ ॥

त्रिशुद्धिपूर्वकं ध्यानमामनन्ति मनीषिणः ।
व्यर्थं स्यात्तामनासाद्य तदेवात्र शरीरिणाम् ॥ ३ ॥

अर्थ—विद्वानोंने दर्शन ज्ञान चारित्रकी शुद्धतापूर्वकही ध्यान कहा है। ऐसा आम्नाय है। इस कारण इन तीनोंकी शुद्धता पायेबिना जीवोंका ध्यान करना व्यर्थ है। *क्योंकि वह ध्यान मोक्षरूपके अर्थ नहीं है ॥ ३ ॥*

रत्नत्रयमनासाद्य यः साक्षाद्ध्यातुमिच्छति ।
खपुष्पैः कुरुते मूढः स वन्ध्यासुतशेखरम् ॥ ४ ॥

अर्थ—जो पुरुष साक्षात् रत्नत्रयको (सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रको) प्राप्त न होकर ध्यान करना चाहता है, वह मूर्ख आकाशके फूलोंसे वन्ध्याके पुत्रके लिये सेहरा (मौर) बनाना चाहता है। भावार्थ–रत्नत्रय पाये विना ध्यान होना असाध्य है ॥ ४ ॥

आर्या ।

तत्त्वरुचिः सम्यक्त्वं तत्त्वप्रख्यापकं भवेज्ज्ञानम् ।
पापक्रियानिवृत्तिश्चारित्रमुक्तं जिनेन्द्रेण ॥ ५ ॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवानने तत्त्वोंकी रुचि अर्थात् श्रद्धाप्रतीतिको सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) तत्त्वोंको प्रकर्षरूप कहने अर्थात् जाननेको सम्यग्ज्ञान, और पापक्रियाओंसे निवृत्त होनेको सम्यक्चारित्र कहा है ॥ ५ ॥

इन सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रमेंसे प्रथम सम्यग्दर्शनका वर्णन करते हैं,—

यज्जीवादिपदार्थानां श्रद्धानं तद्धि दर्शनम् ।
निसर्गेणाधिगत्या वा तद्भव्यस्यैव जायते ॥ ६ ॥

अर्थ—जो जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान करना है वही नियमसे दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन निसर्ग (स्वभावसे) अथवा अधिगमसे (परोपदेशसे) भव्य जीवोंकेही उत्पन्न होता है। अभव्यके नहिं होता ॥ ६ ॥

क्षीणप्रशान्तमिश्रासु मोहप्रकृतिषु क्रमात् ।
तत् स्याद्द्रव्यादिसामग्र्या पुंसां सद्दर्शनं त्रिधा ॥ ७ ॥

अर्थ—यह सम्यग्दर्शन पुरुषोंके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप सामग्रीसे दर्शन मोहकर्मकी तीन प्रकृतियोंके क्षय, उपशम तथा क्षयोपशमरूप होनेसे क्रमसे तीन प्रकारका है–१ क्षायिकसम्यक्त्व २ उपशमसम्यक्त्व और ३ क्षयोपशमसम्यक्त्व ॥ ७ ॥

उक्तं च ग्रन्थान्तरे—

"भव्यः पर्याप्तकः संज्ञी जीवः पञ्चेन्द्रियान्वितः ।
काललब्ध्यादिना युक्तः सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते ॥ १ ॥
सम्यक्त्वमथ तत्त्वार्थश्रद्धानं परिकीर्तितं ।
तस्यौपशमिको भेदः क्षायिको मिश्र इत्यपि ॥ २ ॥

अर्थ—"जो भव्य हो, पर्याप्तक हो मनसहित सनी पचेन्द्री हो और काललब्धि आदि सामग्रीसहित हो वही जीव सम्यक्त्वको प्राप्त होता है ॥ १ ॥ सात तत्त्वोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहा गया है। उसके उपशम, क्षायक और मिश्र अर्थात् क्षायोपशमिक ये तीन भेद हैं ॥ २ ॥

सप्तानां प्रशमात्सम्यक् क्षयादुभयतोऽपि च ।
प्रकृतीनामिति प्राहुस्तत्त्रैविध्यं सुमेधसः ॥ ३ ॥

अर्थ—मोहकर्मकी मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्व तथा अनन्तानुबंधी क्रोध मान माया लोभ इन सात प्रकृतियोंके उपशम, क्षायक और क्षायोपशम तीन प्रकार सम्यक्त्व होना सम्यग्ज्ञानी पंडितोंने कहा है । **भावार्थ**–उपशमसे उपशम सम्यक्त्व और क्षयसे क्षायिक सम्यक्त्व और कुछ क्षय तथा कुछ उपशम होनेसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है ॥ ३ ॥

" एकं प्रशमसंवेगदयास्तिक्यादिलक्षणम् ।
आत्मनः शुद्धिमात्रं स्यादितरच समन्ततः ॥ ७ ॥"

अर्थ—एक सम्यक्त्व तो प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य चिह्नसे चिह्नित है, जिसे सरागसम्यक्त्व कहते हैं। और दूसरा समस्त प्रकारसे आत्माकी शुद्धिमात्र है, जिसे वीतरागसम्यक्त्व कहते हैं ॥ ७ ॥"

" द्रव्यादिकमथासाद्य तज्जीवैः प्राप्यते क्वचित् ।
पञ्चविंशतिमुत्सृज्य दोषांस्तच्छक्तिघातकम् ॥ ८ ॥

अर्थ—अथवा यह सम्यग्दर्शन द्रव्य, क्षेत्र, काल भावरूप सामग्रीको प्राप्त होकर तथा सम्यग्दर्शनकी शक्तिको घात करनेवाले पचीस दोषोंको छोड़नेसे क्वचित् प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

उक्तं च ग्रन्थान्तरे—

" "मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथाऽनायतनानि षट् ।
अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः ॥ १ ॥"

अर्थ—"तीन मूढता, आठ मद (गर्व), छः अनायतन और शंकादि आठ दोष इस प्रकार पचीस दोष सम्यग्दर्शनके कहे गये हैं, इनका नाम स्वरूप आदि शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है यहां ग्रन्थविस्तारभयसे नहीं लिखा गया है ॥ १ ॥"

अब सम्यक्त्वके विषयभूत सात तत्त्वोंका वर्णन करते हैं,—

जीवाजीवास्रवा बन्धः संवरो निर्जरा तथा ।
मोक्षश्चैतानि सप्तैव तत्त्वान्यूचुर्मनीषिणः ॥ ९ ॥

अर्थ—पंडितोंने जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सातही तत्त्व कहे हैं ॥ ९ ॥

अब इन सात तत्त्वोंका विशेष वर्णन करते हैं,—

अनन्तः सर्वदा सर्वो जीवराशिर्द्विधा स्थितः ।
सिद्धेतरविकल्पेन त्रैलोक्यभुवनोदरे ॥ १० ॥

अर्थ—इस तीन लोकरूपी भुवनमें जीवराशि सदाकाल सर्व (अनन्त) है, और वह दो भेदरूप है-१ सिद्ध तथा २ संसारी ॥ १० ॥

सिद्धस्त्वेकस्वभावः स्याद्दृग्बोधानन्दशक्तिमान् ।
मृत्यूत्पादादिजन्मोत्थक्लेशप्रचयविच्युतः ॥ ११ ॥

अर्थ—उन दो भेदोंमेंसे जो सिद्ध है, सो तो दर्शन-ज्ञान-सुख-वीर्य-सहित एक स्वभाव है, और मरण-जन्म-आदि सांसारिक क्लेशोंसे रहित है ॥ ११ ॥

चरस्थिरभवोद्भूतविकल्पैः कल्पिताः पृथक् ।
भवन्त्यनेकभेदास्ते जीवाः संसारवर्तिनः ॥ १२ ॥

अर्थ—और संसारी जीव त्रस और स्थावररूप संसारमें उत्पन्न हुए भेदोंसे भिन्न अनेक प्रकारके हैं ॥ १२ ॥

पृथिव्यादिविभेदेन स्थावराः पञ्चधा मताः ।
त्रसास्त्वनेकभेदास्ते नानायोनिसमाश्रिताः ॥ १३ ॥

अर्थ—संसारी जीवोंमें स्थावर जीव पृथिवी, अप, तेज, वायु और वनस्पति ये पांच प्रकारके हैं और त्रस द्वीन्द्रियादिक भेदोंसे अनेक भेदरूप हैं तथा अनेक प्रकार योनिके आश्रित हैं ॥ १३ ॥

चतुर्धा गतिभेदेन भिद्यन्ते प्राणिनः परम् ।
मनुष्यामरतिर्यञ्चो नारकाश्च यथायथम् ॥ १४ ॥

अर्थ—और संसारी जीव गतिके भेदसे मनुष्य, देव, तिर्यंच और नारक चार प्रकार हैं ॥ १४ ॥

भ्रमन्ति नियतं जन्मकान्तारे कल्मषाशयाः ।
दुरन्तकर्मसम्पातप्रपञ्चवशवर्तिनः ॥ १५ ॥

अर्थ—ये पापाशयरूपी संसारी जीव दुरन्त कर्मके संपातके प्रपंचके वशवर्ती होकर संसाररूपी वनमें निरन्तर भ्रमण करते हैं ॥ १५ ॥

किन्तु तिर्यग्गतावेव स्थावरा विकलेन्द्रियाः ।
असंज्ञिनश्च नान्यत्र प्रभवन्त्यङ्गिनः क्वचित् ॥ १६ ॥

अर्थ—किन्तु स्थावर, विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) और असैनी (मनरहित पंचेन्द्रिय) ये तिर्यग्गतिमेंही होते हैं, अन्यत्र नहीं होते ॥ १६ ॥

उपसंहारविस्तारधर्मा दृग्बोधलाञ्छनः ।
कर्ता भोक्ता स्वयं जीवस्तनुमात्रोऽप्यमूर्तिमान् ॥ १७ ॥

अर्थ—जीव संकोच विस्तार धर्मको लियेहुए दर्शन ज्ञानसहित है और स्वयं कर्ता, भोक्ता तथा शरीरप्रमाण होकर अमूर्तिमान् है ॥ १७ ॥

उक्तं च ग्रन्थान्तरे—जीवस्वरूपनिरूपणम् ।

"तत्र जीवत्यजीवच्च जीविष्यति सचेतनः ।
यस्तस्मात्स्मृतः प्राणैः जीवस्तत्त्वविदां वरैः ॥ १ ॥"

अर्थ—"तत्त्व जाननेवालोंने जिसको चेतनासहित 'जीता है', 'जीता था' और 'जीवेगा' इस रीतिसे प्राणोंसे जानते हैं, वह श्रेष्ठ बुद्धिमान् है उसीको 'जीव कहा है' ॥ १ ॥"

एको द्विधा त्रिधा जीवः चतुः सङ्क्रान्तिपञ्चम ।
षट्कर्म सप्तभङ्गोऽष्टाश्रयो नवदशास्थिति ॥ १८ ॥

अर्थ—जीव सामान्य चैतन्यरूपसे एक प्रकारके है। त्रस स्थावर भेदसे दो प्रकारके हैं। एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, सकलेन्द्रिय भेदसे तीन प्रकारके हैं। एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, संज्ञी, असंज्ञी, भेदसे चार प्रकारके है। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय भेदसे पांच प्रकारके हैं। पांच स्थावर और एक त्रस इस प्रकार भेद करनेसे छह प्रकारके हैं। पांच स्थावर, विकलेन्द्रिय, सकलेन्द्रिय, ऐसे भेद करनेसे सात प्रकारके हैं। पांच स्थावर, विकलेन्द्रिय, संज्ञी, असंज्ञी, ऐसे आठ प्रकारके हैं। पांच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, एक सकलेन्द्रिय ऐसे नव प्रकार हैं और पांच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय और संज्ञी तथा असंज्ञी ऐसे भेद करनेसे दश प्रकार भी हैं। इस प्रकार सामान्य विशेषके भेदसे जीव संख्यात असंख्यात तथा अनन्तभेदरूप हैं ॥ १८ ॥

भव्याभव्यविकल्पोऽयं जीवराशिर्निसर्गजः ।
मतः पूर्वोऽपवर्गाय जन्मपङ्काय चेतरः ॥ १९ ॥

अर्थ—यह जीवादि स्वभावसे भव्य और अभव्य भेद स्वरूप है। पहिला अपवर्ग अर्थात् मोक्षके लिये और इतर अर्थात् दूसरा अभव्य संसारके लिये माना गया है अर्थात् भव्य मोक्षगामी होता है और अभव्यको कभी मोक्ष नहीं होता है ॥ १९ ॥

सम्यग्ज्ञानादिरूपेण ये भविष्यन्ति जन्तवः ।
प्राप्य द्रव्यादिसामग्रीं ते भव्या मुनिभिर्मताः ॥ २० ॥

अर्थ—जो जीव द्रव्यक्षेत्रकालभावरूप सामग्रीको पाकर सम्यग्ज्ञानादिरूप परिणमेंगे, उन्हींको आचार्योंने 'भव्य' कहा है ॥ २० ॥

अन्धपाषाणकल्पं स्यादभव्यत्वं शरीरिणाम् ।
यस्माज्जन्मशतेनापि नात्मतत्त्वं पृथग्भवेत् ॥ २१ ॥

अर्थ—जीवोंका अभव्यपन अंधपाषाणके समान है, जिससे सैकड़ों जन्मोंमेंभी आत्मतत्त्व पृथक् नहीं होता ॥ २१ ॥

अभव्यानां स्वभावेन सर्वदा जन्मसंक्रमः ।
भव्यानां भाविनी मुक्तिर्निःशेषदुरितक्षयात् ॥ २२ ॥

अर्थ—अभव्यजीवोंका स्वभावसे संसारमें सदाही जन्म, संक्रम अर्थात् भ्रमण होता है और भव्य जीवोंको समस्त कर्मोंके क्षयसे मुक्ति होतीही है ॥ २२ ॥

यथा धातोर्मलैः सार्द्धं सम्बन्धोऽनादिसंभवः ।
तथा कर्ममलैर्ज्ञेयः संश्लेषोऽनादिदेहिनाम् ॥ २३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार सुवर्णादि धातुओंका मलके साथ अनादि संबंध है, उसी तरह जीवोंका कर्ममलसे अनादिकालका संबंध है ऐसे जानना चाहिये ॥ २३ ॥

द्वयोरनादिसंसारः सान्तः पर्यन्तवर्जितः ।
वस्तुस्वभावतो ज्ञेयो भव्याभव्याङ्गिनोः क्रमात् ॥ २४ ॥

अर्थ—भव्य अभव्य दोनोंहीको संसार आदिरहित है, परन्तु भव्यका संसार अन्तसहित है (क्योंकि इसको मुक्ति होती है।) और अभव्यका अनन्त है (क्योंकि इसको मुक्ति नहीं होती)। ऐसा वस्तुस्वभावसेही जानना चाहिये। इसमें और अन्य हेतु नहीं है ॥ २४ ॥

चतुर्दशसमासेषु मार्गणासु गुणेषु च ।
ज्ञात्वा संसारिणो जीवाः श्रद्धेयाः शुद्धदृष्टिभिः ॥ २५ ॥

अर्थ—संसारी जीवोंको चौदह जीवसमास, चौदह मार्गणा और चौदह गुणस्थानोंके [illegible] सम्यग्दृष्टियोंको श्रद्धान करना चाहिये। भावार्थ-संसारी जीवोंके भेद [illegible] हैं, [illegible] आर्य, इस कारण यहां संक्षेपसेही कह दिया गया है कि [illegible], [illegible], गुणस्थानोंमें जीवोंका विशेष स्वरूप जानकर श्रद्धान करना चाहिये। [illegible] विशेष स्वरूप गोमट्टसारादि अन्य ग्रन्थोंसे जानना चाहिये ॥ २५ ॥

[illegible] अजीव तत्त्वका वर्णन करते हैं,—

धर्माधर्मनभःकालाः पुद्गलैः सह योगिभिः ।
द्रव्याणि षट् प्रणीतानि जीवपूर्वाण्यनुक्रमात् ॥ २६ ॥

अर्थ—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल योगीश्वरोंने ये छह द्रव्य [illegible] हैं ॥ २६ ॥

अत्र जीवादयः पञ्च प्रदेशप्रचयात्मकाः ।
कायाः कालं विना ज्ञेया [illegible] ॥ २७ ॥

अर्थ—[illegible] अनेक प्रदेश [illegible] है। [illegible] है, [illegible] ॥ २७ ॥

[illegible] विना [illegible] पुद्गलं विना ।
[illegible] ॥ २८ ॥

अर्थ—[illegible]

त्मक कहा गया है, इस कारण जो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप होता है, वही पर्यायरूप भी होता है ॥ २८ ॥

अणुस्कन्धविभेदेन भिन्नाः स्युः पुद्गला द्विधा ।
मूर्ता वर्णरसस्पर्शगुणोपेताश्च रूपिणः ॥ २९ ॥

अर्थ—अणुस्कन्ध भेदसे यह पुद्गल दो प्रकारका है और वर्ण, रस, स्पर्श, गुण सहित होनेसे रूपी (मूर्त) हैं ॥ २९ ॥

किन्त्वेकं पुद्गलद्रव्यं षड्विकल्पं बुधैर्मतम् ।
स्थूलस्थूलादिभेदेन सूक्ष्मसूक्ष्मेण च क्रमात् ॥ ३० ॥

अर्थ—किन्तु एक एव पुद्गल द्रव्यको विद्वानोंने स्थूल और सूक्ष्मसूक्ष्मादि भेदोंके क्रमसे छह प्रकारका कहा है। यथा —स्थूलस्थूल,—जो पृथिवी पर्वतादिक हैं। स्थूल—जल दुग्धादिक तरल पदार्थ हैं। स्थूलसूक्ष्म—छाया आतपादि नेत्रइन्द्रियगोचर हैं। सूक्ष्मस्थूल—नेत्रके विना अन्य चार इन्द्रियोंसे ग्रहणमें आनेवाले शब्द गन्धादिक हैं। सूक्ष्म—कर्मवर्गणा है और सूक्ष्मसूक्ष्म—परमाणु हैं। इस प्रकार पुद्गलके छह भेद हैं ॥ ३० ॥

प्रत्येकमेकद्रव्याणि धर्मादीनि यथायथम् ।
आकाशान्तान्यमूर्तानि निष्क्रियाणि स्थिराणि च ॥ ३१ ॥

अर्थ—धर्म, अधर्म, आकाश, ये तीन द्रव्य भिन्न २ एक एक द्रव्य है और तीनोंही अमूर्तिक, निष्क्रिय और स्थिर है ॥ ३१ ॥

सलोकगगनव्यापी धर्मः स्याद्गतिलक्षणः ।
तावन्मात्रोऽप्यधर्मोऽयं स्थितिलक्ष्म प्रकीर्तितः ॥ ३२ ॥

अर्थ—धर्मद्रव्य लोकाकाशमें व्यापक है और गतिमें सहकारी होना उसका लक्षण या स्वभाव है। और अधर्म द्रव्यभी लोकाकाशव्यापी है, तथा स्थितिसहकारी उसका स्वभाव है ॥ ३२ ॥

स्वयं गन्तुं प्रवृत्तेषु जीवाजीवेषु सर्वदा ।
धर्मोऽयं सहकारी स्याज्जलं यादोऽङ्गिनामिव ॥ ३३ ॥

अर्थ—यह धर्मद्रव्य जीवपुद्गलका प्रेरक सहकारी नहीं है, किन्तु जीवपुद्गल स्वयम् गमन करनेमें प्रवर्ते तो यह सर्वकाल सहकारी (सहायक) है। जैसे जलमें रहनेवाले मत्स्यादिकको जल सहकारी है। जल प्रेरणा करके मत्स्यादिक जलचरोंको नहीं चलाता किन्तु वे चलते हैं तो उनका सहायक होता है ॥ ३३ ॥

दत्ते स्थितिं प्रपन्नाना जीवादीनामयं स्थितिं ।
अधर्मः सहकारित्वाद्यथा छायाऽध्ववर्तिनाम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—अधर्म द्रव्य स्थितिको प्राप्त हुए जीवपुद्गलोंकी स्थिति करानेमें सहकारी है। जैसे मार्गमें चलते हुए पथिकोंको बैठनेके लिये छाया सहकारी है, उसी प्रकार अध्म द्रव्य भी जीवोंके ठहरानेमें सहकारी है। प्रेरक नहीं है ॥ ३४ ॥

अवकाशप्रदं व्योम सर्वगं स्वप्रतिष्ठितम् ।
लोकालोकविकल्पेन तस्य लक्ष्म प्रकीर्तितम् ॥ ३५ ॥

अर्थ—आकाशद्रव्य अन्य पाचद्रव्योंको अवकाश देनेवाला और सर्वव्यापी है। स्वप्रतिष्ठित है। अर्थात् अपने आपहीके आधार है, अन्य कोई आधार (आश्रय) नहीं है। यह लोक अलोकके भेदसे दो प्रकारका है ॥ ३५ ॥

लोकाकाशप्रदेशेषु ये भिन्ना अणवः स्थिताः ।
परिवर्ताय भावाना मुख्यकालः स वर्णितः ॥ ३६ ॥

अर्थ—लोकाकाशके प्रदेशोंमें जो कालके भिन्न २ अणु द्रव्योंका परिवर्तन करनेके लिये स्थित हैं उन्हें मुख्य काल अर्थात् निश्चयकाल कहते हैं ॥ ३६ ॥

समयादिकृतं यस्य मानं ज्योतिर्गणाश्रितम् ।
व्यवहाराभिधः कालः स कालज्ञैः प्रपञ्चितः ॥ ३७ ॥

अर्थ—जिस कालका परिमाण ज्योतिषी देवोंके समूहके गमनागमनके आश्रय समय आदि भेदरूप किया गया है, उसे कालके जाननेवाले विद्वानोंने व्यवहार कहा है ॥ ३७ ॥

यदमी परिवर्तन्ते पदार्था विश्ववर्तिनः ।
नवजीर्णादिरूपेण तत्कालस्यैव चेष्टितम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—लोकमें रहनेवाले ए समस्त पदार्थ जो नयेसे पुरानी अवस्थाको धारण करते हैं सो सब कालकी चेष्टासे ही करते हैं। अर्थात् समस्त द्रव्योंके परिणमोंको कालही का ही निमित्त है ॥ ३८ ॥

भाविनो वर्तमानत्वं वर्तमानास्त्वतीतताम् ।
पदार्थाः प्रतिपद्यन्ते कालकेलिकदर्थिताः ॥ ३९ ॥

अर्थ—पदार्थ कालरूपी राजाके (वर्तना) से एक अवस्थासे अन्य अवस्थाको प्राप्त होते हैं। अर्थात् जो आगामी अवस्था होनेवाली है वह तो वर्तमानताको प्राप्त होती और वर्तमान है वह अतीतताको प्राप्त होती है। इस प्रकार समय समय अवस्था बदलती है ॥ ३९ ॥

धर्माधर्मनभ:काला अर्थपर्यायगोचरा: ।
व्यञ्जनाख्यस्य सम्बन्धौ द्वावन्यौ जीवपुद्गलौ ॥ ४० ॥

अर्थ—धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार पदार्थ तो अर्थपर्यायगोचर हैं, और अन्य दो अर्थात् जीव तथा पुद्गल व्यञ्जनपर्यायके सम्बन्धरूप हैं। भावार्थ–धर्मादिक चार द्रव्योंके आकार पलटते नहीं, इस कारण हानिवृद्धिके परिणमनरूप अर्थपर्यायही इनके मुख्य कहे हैं। और जीव तथा पुद्गलोंके आकार पलटते रहते हैं इसकारण इनके व्यञ्जनपर्याय मुख्य कहे गए हैं ॥ ४० ॥

भावा: पञ्चैव जीवस्य द्वावन्त्यौ पुद्गलस्य च ।
धर्मादीनां तु शेषाणां स्याद्भाव: पारिणामिक: ॥ ४१ ॥

अर्थ—जीवके औदयिकादि पांचों ही भाव हैं और पुद्गलके अन्तिम दो अर्थात् सूत्र पाठकी अपेक्षा अन्तिम औदयिक और पारिणामिक हैं, तथा शेष धर्मादिक चार द्रव्योंके एक पारिणामिक भावही है ॥ ४१ ॥

अन्योऽन्यसम्मोत्पन्नो भाव: स्यात्सान्निपातिक: ।
षड्विंशत्षद्भिदभिदात्मा स षष्ठो मुनिभिर्मत: ॥ ४२ ॥

अर्थ—जीवके इन पांच भावोंके परस्पर संयोगसे उत्पन्न हुआ सान्निपातिक नामका एक छठा भाव भी आचार्योंने माना है। वह छब्बीस भेदोंसे भेदरूप है, तथा छत्तीस भेदरूप और इकतालीस भेदरूपभी कहा है। 'तत्त्वार्थवार्तिक' नाम तत्त्वार्थसूत्रकी टीकामें भावोंका अच्छा विस्तार किया है

यहां यदि कोई प्रश्न करे कि, जीवके पांच वा छह आदि भाव क्यों किये? क्योंकि जीवका यथार्थ भाव एक पारिणामिकही है। औदयिक आदिक भाव तो कर्मजन्य हैं, टीकामें उन्हें जीवके भाव कैसे कहते हो?

उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ये भाव यद्यपि कर्मजनित हैं तथापि जीवही इन भावोंके रूपमें परिणमता है। अनादि कर्मबन्धके निमित्तसे जीवकी ऐसी ही सामर्थ्य है कि, जब जैसे कर्मका उदयादिक निमित्त हो वैसा ही यह भावरूप परिणमता है। यदि ऐसा नहीं माना जायगा, तो जीव सांख्यमती तथा वेदान्तमतावलम्बियोंके समान नित्य कूटस्थ ठहरैगा और उसके संसारका होना भी नहीं ठहरैगा। और जब संसारअवस्था ही नहीं होगी तब फिर मोक्षका अभाव मानना पड़ेगा। तथा मोक्षका अभाव माननेसे बड़ाही दोष आवेगा। इस कारण जैनमतमें जीवके कर्मका बन्ध होना तथा कर्मके नाश होनेपर मोक्षहोना कहा गया है। और मोक्ष होनेका उपाय सम्यग्दर्शन,

---

१ औदयिक औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक (मिश्र) और पारिणामिक ये पांच भाव हैं।

ज्ञान, चारित्रसहित ध्यान करना कहा है । स्याद्वादन्यायमें मत समतिन होता है। सुखरूप अनन्तधर्मी है, ऐसा प्रमाणसिद्ध है । इस कारण जैनियोंका कहना सर्वथा निराबाध है । और एकान्तीका कहना सर्वथा बाधासहित है। ऐसा निःसन्देह जानकर श्रद्धान करना उचित है ॥ ४२ ॥

धर्माधर्मैकजीवानां प्रदेशा गणनातिगाः ।
कियन्तोऽपि न कालस्य व्योम्नः पर्यन्तवर्जिताः ॥ ४३ ॥

अर्थ—धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और एक जीवद्रव्यके प्रदेश गणनासे अतीत अर्थात् असंख्यात हैं और कालद्रव्यके एकही अणु मात्र प्रदेश है । इस कारण कालके कितने प्रदेश हैं, ऐसी कथनीही नहीं है । और आकाशके अन्तवर्जित अनन्तप्रदेश हैं ॥ ४३ ॥

एकादयः प्रदेशाः स्युः पुद्गलानां यथायथम् ।
सङ्ख्यातीताश्च सङ्ख्येया अनन्ता योगिकल्पिताः ॥ ४४ ॥

अर्थ—योगीश्वरोंने पुद्गलद्रव्यके एक प्रदेशको आदि ले जैसे हैं तैसे सङ्ख्यात असङ्ख्यात और अनन्त कहे हैं । **भावार्थ**—पुद्गलद्रव्य एक परमाणु है वह मिलकर दो परमाणुसे लेकर सङ्ख्यात परमाणुतकका स्कन्ध होता है तथा असङ्ख्यात परमाणु मिलकर असङ्ख्यात परमाणुका स्कन्ध होता है और अनन्त परमाणुओंका स्कन्ध भी होता है। इस कारण पुद्गलस्कन्धके सङ्ख्यात असङ्ख्यात वा अनन्त प्रदेश कहे हैं ॥ ४४ ॥

मूर्त्तो व्यञ्जनपर्यायो वाग्गम्योऽनश्वरः स्थिरः ।
सूक्ष्मः प्रतिक्षणध्वंसी पर्यायश्चार्थसंज्ञिकः ॥ ४५ ॥

अर्थ—व्यञ्जनपर्याय मूर्तिक है, वचनके गोचर है, अनश्वर है स्थिर है । और अर्थपर्याय सूक्ष्म है तथा क्षणविध्वंसी है ॥ ४५ ॥

इस प्रकार अजीवतत्त्वका वर्णन किया अब बन्ध तत्त्वका वर्णन करते हैं—

प्रकृत्यादिविकल्पेन ज्ञेयो बन्धश्चतुर्विधः ।
ज्ञानावृत्यादिभेदेन सोऽष्टधा प्रथमः स्मृतः ॥ ४६ ॥

अर्थ—प्रकृत्यादि भेदसे बन्ध चार प्रकारका है । उनमेंसे प्रथम प्रकृति बन्ध है, जो कि ज्ञानावरण दर्शनावरणादि भेदसे आठ प्रकारका है ॥ ४६ ॥

मिथ्यात्वाविरती योगः कषायाश्च यथाक्रमात् ।
प्रमादैः सह पञ्चैते विज्ञेया बन्धहेतवः ॥ ४७ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व, अविरति, योग कषाय और प्रमाद यथाक्रमसे ये पांच बन्धके हेतु अर्थात् कारण जानने चाहिये । अतत्त्वश्रद्धानको मिथ्यात्व, अत्यागरूप परिणामोंको अविरति, निश्चय व्यवहार चारित्रमें असावधानरूप परिणामोंको प्रमाद, क्रोध मान माया

भोग रूप परिणामोंको कषाय और मायवचनकायके निमित्तसे आत्माके बचनरूप होनेको योग कहते हैं इस प्रकार बन्धके हेतु कहे हैं ॥ ४७ ॥

उत्कर्षणापकर्षण स्थितिर्या कर्मणां मता ।
स्थितिबन्धः स विज्ञेय इतरस्तत्फलोदयः ॥ ४८ ॥

अर्थ—जो उत्कृष्ट, जघन्य तथा मध्यम भेदोंरूप बढ़ती घटती कर्मोंकी स्थिति (काल की मर्यादा) कही गई है, उसे स्थितिबन्ध और कर्मके फलके उदय होनेको इतर अर्थात् अनुभागबन्ध जानना चाहिये ॥ ४८ ॥

परस्परप्रदेशानुप्रवेशो जीवकर्मणोः ।
यः संश्लेषः स निर्दिष्टो बन्धो विध्वस्तबन्धनैः ॥ ४९ ॥

अर्थ—जो जीव और कर्म इन दोनोंके प्रदेशोंका परस्पर अनुप्रवेश कहिये एकक्षेत्रावगाह होनेसे संबन्ध होता है, उसे बन्धरहित सर्वज्ञदेवने प्रदेशबन्ध कहा है । इस प्रकार बन्धतत्त्वका वर्णन किया है ॥ ४९ ॥

प्रागेव भावनातन्त्रे निर्जरास्रवसंवराः ।
कथिता कीर्तयिष्यामि मोक्षमार्गं सहेतुकम् ॥ ५० ॥

अर्थ—निर्जरा, आस्रव और संवरका कथन पहिले द्वादश भावनाके प्रकरणमें कर आये हैं इस कारण यहां नहीं किया । आगे मोक्षतत्त्वका वर्णन हेतुसहित करते हैं ॥ ५० ॥

एवं द्रव्याणि तत्त्वानि पदार्थान् कायसंयुतान् ।
यः श्रद्धत्ते स्वसिद्धान्तात्स स्यान्मुक्तेः स्वयं वरः ॥ ५१ ॥

अर्थ—इस प्रकार छह द्रव्य, सप्त तत्त्व, नव पदार्थ, व पंचास्तिकायको अपने सिद्धान्तसे जो आत्मा श्रद्धान करता है वह मुक्तिका स्वयंवर होता है । अर्थात् मुक्तिरूपी कन्या उसे स्वयं वरण करती है । तात्पर्य यह कि उसे मुक्ति प्राप्त होती है ॥ ५१ ॥

इति जीवादयो भावा दिङ्मात्रेणात्र वर्णिताः ।
विशेषरुचिभिः सम्यग्विज्ञेया परमागमात् ॥ ५२ ॥

अर्थ—इस प्रकार जीवादि पदार्थोंका दिग्दर्शनमात्र इस ग्रन्थमें किया गया । विशेष जाननेकी रुचि रखनेवाले पुरुषोंको परमागमसे अर्थात् तत्त्वार्थसूत्रकी टीका तथा गोमठसारादि अन्य शास्त्रोंसे जानना चाहिये ॥ ५२ ॥

सद्दर्शनमहारत्नं विश्वलोकैकभूषणम् ।
मुक्तिपर्यन्तकल्याणदानदक्षं प्रकीर्तितम् ॥ ५३ ॥

अर्थ—यह सम्यग्दर्शन महारत्न समस्त लोकका आभूषण है और मोक्ष होनेपर्यन्त आत्माको कल्याण देनेवालोंमें चतुर है ॥ ५३ ॥

चरणज्ञानयोर्बीजं यमप्रशमजीवितम् ।
तपःश्रुताद्यधिष्ठानं सद्भिः सद्दर्शनं मतम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—इस सम्यग्दर्शनको सत्पुरुषोंने चारित्र और ज्ञानका बीज अर्थात् उत्पन्न करनेका कारण माना है । क्योंकि इसके विना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होताही नहीं, तथा यम (महाव्रतादि) और प्रशम (विशुद्धभाव) का यह जीवनस्वरूप है । इस सम्यग्दर्शनके विना यम व प्रशम निर्जीवके समान है । इसी प्रकार तप और स्वाध्यायका आश्रय है । इसके विना ये निराश्रय हैं । इस प्रकार जितने शमदमबोधव्रतादि कहे हैं उनको यह सफल करता है । इनके विना वे मोक्षफलके दाता नहीं हो सकते हैं ॥ ५४ ॥

अप्येकं दर्शनं श्लाघ्यं चरणज्ञानविच्युतम् ।
न पुनः संयमज्ञाने मिथ्यात्वविषदूषिते ॥ ५५ ॥

अर्थ—यह सम्यग्दर्शन चारित्रज्ञानके होनेपर भी प्रशंसनीय कहलाता है और इसके विना संयम (चारित्र) और ज्ञान मिथ्यात्वरूपी विषसे दूषित होते हैं अर्थात् सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके विना ज्ञान मिथ्याज्ञान और चारित्र कुचारित्र कहाता है ॥ ५५ ॥

अल्पमपि सूत्रज्ञैर्दृष्टिपूर्वं यमादिकम् ।
प्रणीतं भवसम्भूतक्लेशप्राग्भारभेषजम् ॥ ५६ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनसहित यम नियम तपादिक थोड़े भी हों, तो उन्हें सूत्रके ज्ञाता आचार्योंने संसारमें उत्पन्न हुए क्लेशदुःखोंके बड़े भारको भी औषधिके समान कहा है । भावार्थ-सम्यग्दर्शनके होते हुए यमादिक अल्प होनें, तो भी वे संसारजनित दुःखरूपी रोगोंको नष्ट करनेके लिये औषधके समान हैं ॥ ५६ ॥

मन्ये मुक्तः स पुण्यात्मा विशुद्धं यस्य दर्शनम् ।
यतस्तदेव मुक्त्यङ्गमग्रिमं परिकीर्तितम् ॥ ५७ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि,-जिसको निरतिचार अतीचाररहित सम्यग्दर्शन है वही पुण्यात्मा वा महाभाग्य मुक्त है ऐसा मैं मानता हूं । क्योंकि सम्यग्दर्शनही मोक्षका मुख्य अंग कहा गया है । मोक्षमार्गके प्रकरणमें सम्यग्दर्शनही मुख्य कहा गया है ॥ ५७ ॥

प्राप्नुवन्ति शिवं शश्वच्चरणज्ञानविश्रुताः ।
अपि जीवा जगत्यस्मिन्न पुनर्दर्शनं विना ॥ ५८ ॥

अर्थ—इस जगतमें जो जीव चारित्र और ज्ञानके कारण सदा जगतमें प्रसिद्ध हैं, वे भी सम्यग्दर्शनके विना मोक्षको नहीं पाते ॥ ५८ ॥

अब इस सम्यग्दर्शनके प्रकरणको पूर्ण करते हुए कहते हैं—

मालिनी ।

अतुलसुखनिधानं सर्वकल्याणबीजं
जननजलधिपोतं भव्यसत्त्वैकपात्रम् ।
दुरिततरुकुठारं पुण्यतीर्थप्रधानं
पिबत जितविपक्षं दर्शनाख्यं सुधाम्बुम् ॥ ५९ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि हे भव्य जीवो! तुम सम्यग्दर्शन नामक अमृतका पान करो। क्योंकि यह सम्यग्दर्शन अतुल्यसुखका निधान (खजाना) है। समस्त कल्याणोंका बीज अर्थात् कारण है। संसाररूपी समुद्रसे तारनेके लिये जहाज है। तथा इसको धारण करनेवाले एक मात्र पात्र भव्य जीवही है। अभव्य जीव इसके पात्र कदापि नहीं हो सकते। और यह सम्यग्दर्शन पापरूपी वृक्षको काटनेके लिये कुठार (कुल्हाड़े) के समान है, तथा पवित्र तीर्थोंमें यही प्रधान है, अर्थात् मुख्य है। और जीत लिया है अपने विपक्ष अर्थात् मिथ्यात्वरूपी शत्रुको जिनसे ऐसा यह सम्यग्दर्शन है अतः भव्यजीवोंको सबसे पहिले इसेही अंगीकार करना चाहिये ॥ ५९ ॥

छप्पय ।

सप्त तत्त्व षट् द्रव्य, पदारथ नव मुनि भाखे ।
अस्तिकायसम्यक्त्व, विषय नीके मन राखे ॥
तिनको साँचे जान, आप परभेद पिछानहु ।
उपादेय है आप आन सब हेय वखानहु ॥
यह सरधा साची धारकै, मिथ्याभाव निवारिये ।
तब सम्यग्दर्शन पायकै थिर है मोक्ष पधारिये ॥ १ ॥

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे शुभचन्द्राचार्यविरचिते
सम्यग्दर्शनप्रकरणम् ॥ ६ ॥

अथ सप्तम प्रकरणम् ।

अब सम्यग्ज्ञानका वर्णन करते हैं—

त्रिकालगोचरानन्तगुणपर्यायसंयुता ।
यत्र भावाः स्फुरन्त्युच्चैस्तज्ज्ञानं ज्ञानिनां मतम् ॥ १ ॥

अर्थ—जिसमें तीनकालके गोचर अनन्तगुणपर्यायसंयुक्त पदार्थ अतिशयताके साथ प्रतिभासित होते हैं उसको ज्ञानी पुरुषोंने ज्ञान कहा है। यह सामान्यतासे पूर्ण ज्ञानका

सरूप है । आकाशद्रव्य अनन्तानन्तप्रदेशी है । उसके मध्यमें असख्यातप्रदेशी लोका-काश है । उसमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल ये अनन्तद्रव्य हैं । उनके तीन काल सबधी अनन्त २ भिन्न २ पर्याय हैं । उन सबको युगपत् (एक समयमें) जानने वाला पूर्णज्ञान आत्माका निश्चय स्वभाव है । कर्मके निमित्तसे उसके भेद हो गये हैं ॥१॥

ध्रौव्यादिकलितैर्भावैर्निर्भरं कलितं जगत् ।
चिन्तितं युगपद्यत्र तज्ज्ञानं योगिलोचनम् ॥ २ ॥

अर्थ—उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-स्वभावी पदार्थोंसे अतिशय भरा हुआ यह जगत् जिस ज्ञानमें युगपत् प्रतिबिम्बित हो वही ज्ञान योगीश्वरोंके नेत्रके समान है भावार्थ अन्यमतावलम्बियोंमें योगिप्रत्यक्ष ज्ञान मानते हैं, वह यथार्थ नहीं है । उक्त ज्ञान सत्यार्थ है ॥ २ ॥

अब कर्मके निमित्तसे जो ज्ञानके भेद हो गये हैं, उनका वर्णन करते हैं,

मतिश्रुतावधिज्ञानं मनःपर्ययकेवलम् ।
तदित्थं सान्वयैर्भेदैः पञ्चधेति प्रकल्पितम् ॥ ३ ॥

अर्थ—यह ज्ञान मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल इन भेदोंसे पांच प्रकार कल्पना किया गया है । भावार्थ—कर्मके निमित्तसे यह पांच प्रकारकी कल्पना की गई है । परमार्थसे ज्ञानमात्रमें कोई भेद नहीं है । केवल प्रत्यक्ष और परोक्षताका भेद मात्र है ॥ ३ ॥

अवग्रहादिभिर्भेदैर्बह्वाद्यन्तर्भवैः परैः ।
षट्त्रिंशत्त्रिशतं प्राहुर्मतिज्ञानं प्रपञ्चतः ॥ ४ ॥

अर्थ—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा तथा बहु, बहुविधि, आदि बारह भेदोंसे विस्तार करनेसे मतिज्ञानके तीनसौ छत्तीस भेद होते हैं । सो तत्त्वार्थसूत्रकी टीकासे जानना चाहिये ॥ ४ ॥

सश्रुतं बहुधाऽनेकैरङ्गपूर्वैः प्रकीर्णकैः ।
स्याच्छब्दलाञ्छितं तद्धि श्रुतज्ञानमनेकधा ॥ ५ ॥

अर्थ—ग्यारह अंग, चौदह पूर्व और चौदह प्रकीर्णक द्वारा बहुत प्रकारसे विस्ताररूप शब्दसे चिह्नित श्रुतज्ञान अनेक प्रकारका है । भावार्थ—ज्ञान पूर्वक विशेष उत्पन्न हुआ ज्ञान मुख्यतासे श्रुतज्ञान कहा गया है वह शास्त्र अंगपूर्वादिकमें अनेक प्रकार है इस कारण ज्ञानकी अनेक प्रकार है । और 'स्यात्' शब्द 'किसी प्रकारसे' कहते हैं सो इस शब्दसे वह श्रुतज्ञान चिह्नित है । जिससे इसमें किसी प्रकारकी बात नहीं कहीं, इस कारण जो विस्तार है वही श्रुतज्ञान है ॥ ५ ॥

देवनारकयोर्ज्ञेयस्त्ववधिर्भवसम्भवः ।
षड्विकल्पश्च शेषाणां क्षयोपशमलक्षणः ॥ ६ ॥

अर्थ—देव और नारकी जीवोंके तो अवधिज्ञान भवहीसे उत्पन्न होता है। उसका कारण नरकगति वा देवगतिही है, इस कारण उसे भवप्रत्यय अवधि कहते हैं और मनुष्य तथा तिर्यंचोंके जो क्षयोपशमसे होता सो छह प्रकारका होता है—जैसे—अनुगामि १ अननुगामि २ हीयमान ३ वर्द्धमान ४ अवस्थित ५ अनवस्थित ६ इस प्रकार छह भेद है ॥ ६ ॥

ऋजुर्विपुल इत्येवं स्यान्मनःपर्ययो द्विधा ।
विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषोऽवगम्यताम् ॥ ७ ॥

अर्थ—मनःपर्ययज्ञान—ऋजुमति तथा विपुलमति भेदसे दो प्रकारका है। इन दोनोंमें विशुद्धता और अप्रतिपातकी विशेषता है ॥ ७ ॥

अशेषद्रव्यपर्यायविषयं विश्वलोचनम् ।
अनन्तमेकमत्यक्षं केवलं कीर्तितं बुधैः ॥ ८ ॥

अर्थ—जो समस्त द्रव्योंके पर्यायोंको जाननेवाला है, सब जगतके देखने जाननेका नेत्र है तथा अनन्त है, एक है, और अतींद्रिय है अर्थात् मति श्रुत ज्ञानके समान इन्द्रियजनित नहीं है, केवल आत्मासेही जानता है, उसको विद्वानोंने केवल ज्ञान कहा है ॥ ८ ॥

कल्पनातीतमभ्रान्तं स्वपरार्थावभासकम् ।
जगज्ज्योतिरसंदिग्धमनन्तं सर्वदोदितम् ॥ ९ ॥

अर्थ—तथा केवल ज्ञान कल्पनातीत है विषयको जाननेमें किसी प्रकारकी कल्पना नहीं है, स्पष्ट जानता है, तथा आपको और परको दोनोंको जानता है। जगतका प्रकाश करनेवाला, संदेहरहित, अनन्त और सदाकाल उदयरूप है तथा इसका किसी समयमें किसी प्रकारसेभी अभाव नहीं होता है ॥ ९ ॥

अनन्तानन्तभागेऽपि यस्य लोकश्चराचरः ।
अलोकश्च स्फुरत्युच्चैस्तज्ज्योतिर्योगिनां मतम् ॥ १० ॥

अर्थ—जिस केवल ज्ञानके अनन्तानन्त भाग करनेपरभी यह चराचर लोक प्रतिभासित होता है तथा अलोकाकाश अनन्तानन्त प्रदेशी है, यहभी प्रकट प्रतिभासता है इस प्रकार योगीश्वरोंने ज्योतिप्रकाशरूप कहा है। भावार्थ—केवल ज्ञानमें समस्त लोकालोक प्रकाशमान है। और यह ज्ञान योगीश्वरोंको ही होता है ॥ १० ॥

इस प्रकार सामान्य ज्ञानकी अपेक्षा तो ये पांचोंही ज्ञान एक हैं, तथापि कर्मके निमि

ससे पाच प्रकारके भेद कहे गये । क्योंकि मति श्रुत अवधि और मनःपर्यय ये चा ज्ञान कर्मोंके क्षयोपशममे होते हैं और केवल ज्ञान आत्माका निजस्वभाव है, जो घातिय कर्मोंके सर्वथा क्षय होनेसे प्रगट होता है । यह ज्ञान अविनाशी और अनन्त है, स जैसाका तैसा रहता है और इसको फिर कभी कर्ममल नहीं लगता है ॥

अगम्य यन्मृगाङ्कस्य दुर्भेद्य यद्रवेरपि ।
तद्दुर्बोधोद्धत ध्वान्त ज्ञानभेद्य प्रकीर्तितम् ॥ ११ ॥

अर्थ—जिस मिथ्याज्ञानरूप उत्कट अधकारको चन्द्रमा तथा सूर्यभी नष्ट नहीं कर सक्ता ऐसा दुर्भेद्य है । वह मिथ्यात्वाधकार ज्ञानसेही नष्ट किया जाता है । अर्थात् ज्ञानही उसको भेद सक्ता है ॥ ११ ॥

दु खज्वलनतप्ताना ससारोग्रमरुस्थले ।
विज्ञानमेव जन्तूना सुधाम्बुप्रीणनक्षमः ॥ १२ ॥

अर्थ—इस ससाररूपी उग्रमरुस्थलमें दु खरूप अग्निसे तपायमान जीवोंको यह सत्यार्थ ज्ञानही अमृतरूप जलसे तृप्त करनेको समर्थ है । भावार्थ-संसारके दुःख मिटानेको सम्यग्ज्ञानही समर्थ है ॥ १२ ॥

निरालोक जगत्सर्वमज्ञानतिमिराहतम् ।
तावदास्ते उदेत्युच्चैर्न यावज्ज्ञानभास्करः ॥ १३ ॥

अर्थ—जबतक ज्ञानरूपी सूर्यका उदय नहीं होता तभीतक यह समस्त जगत् अज्ञानरूपी अधकारसे आच्छादित है । अर्थात् ज्ञानरूपी सूर्यका उदय होतेही अज्ञानरूपी अधकार नष्ट हो जाता है ॥ १३ ॥

बोध एव दृढः पाशो हृषीकमृगबन्धने ।
गारुडश्च महामन्त्र चित्तभोगिविनिग्रहे ॥ १४ ॥

अर्थ—इन्द्रियरूपी मृगोंको बाधनेके लिये ज्ञानही एक दृढफासी है, अर्थात् ज्ञानके विना इन्द्रिया वश नहीं होतीं, तथा चित्तरूपी सर्पका निग्रह करनेके लिये ज्ञानही एक गारुड महामन्त्र है । अर्थात् मन भी ज्ञानहीसे वशीभूत होता है ॥ १४ ॥

निशात विद्धि निस्त्रिंश भवारातिनिपातने ।
तृतीयमथवा नेत्र विश्वतत्त्वप्रकाशने ॥ १५ ॥

अर्थ—ज्ञानही तो संसाररूप शत्रुको निपात (नष्ट) करनेके लिये तीक्ष्ण खड्ग है और ज्ञानही समस्त तत्त्वोंको प्रकाशित करनेके लिये तीसरा नेत्र है ॥ १५ ॥

क्षीणतन्द्रा जितक्लेशा वीतसङ्गा. स्थिराशयाः ।
तस्यार्थेऽमी तपस्यन्ति योगिन. कृतनिश्चयाः ॥ १६ ॥

अर्थ—प्रमादको क्षीण करनेवाले, क्लेशोंको जीतनेवाले, परिग्रहरहित, स्थिर आशय वाले ये योगिगण उस ज्ञानकी प्राप्तिके लिये यत्नपूर्वक तपस्या करते है । **भावार्थ**-ऐसे ज्ञानी मुनिही इस ज्ञानको पाते है ॥ १६ ॥

वेष्टयत्याऽऽत्मनात्मानमज्ञानी कर्मबन्धनै ।
विज्ञानी मोचयत्येव प्रबुद्ध' समयान्तरे ॥ १७ ॥

अर्थ—अज्ञानी पुरुष आपको अपनेहीसे कर्मरूपी बन्धनोंसे वेष्टित करलेता है । और जो भेदविज्ञानी है वह किसी कालमें सावधान होकर अपनेको कर्मबंधोंसे छुड़ालेता है॥१७॥

यज्जन्मकोटिभि पाप जयत्यज्ञस्तपोबलात् ।
तद्विज्ञानी क्षणार्द्धेन दहत्यतुलविक्रम ॥ १८ ॥

अर्थ—जो अज्ञानी है वह तो करोड़ो जन्म लेकर तपके प्रभावसे पापको जीतता है । और उसी पापको अतुल्य पराक्रमवाला भेदविज्ञानी आधे क्षणहीमें भस्म कर देता है॥१८॥

अज्ञानपूर्विका चेष्टा यतेर्यस्यात्र भूतले ।
स बध्नात्यात्मनात्मान कुर्वन्नपि तपश्चिर ॥ १९ ॥

अर्थ—जिस यतिकी इस पृथिवीपर अज्ञानपूर्वक चेष्टा (क्रिया) है वह चिरकालसे तपस्या करता हुआ भी अपने आत्माको अपनेही कृत्यसे बाध लेता है । क्योंकि अज्ञानपूर्वक तप बन्धहीका कारण है ॥ १९ ॥

ज्ञानपूर्वमनुष्ठान नि शेष यस्य योगिन' ।
न तस्य बन्धमायाति कर्म कस्मिन्नपि क्षणे ॥ २० ॥

अर्थ—जिस मुनिके समस्त आचरण ज्ञानपूर्वक होते है इसको किसी कालमें भी कर्मबंध नहीं होता है । **भावार्थ**-अज्ञानीको तो बहुत काल तिष्ठनेवाला कर्मबंध होता है, किन्तु ज्ञानीको कभी नहीं होता है ॥ २० ॥

यत्र बालश्चरत्यस्मिन्पथि तत्रैव पण्डित
बाल स्वमपि बध्नाति मुच्यते तत्त्वविद्ध्रुवम् ॥ २१ ॥

अर्थ—जिस मार्गमें अज्ञानी चलते है उसी मार्गमें विद्वज्जन चलते हैं, परन्तु अज्ञानी तो अपने आत्माको बाध लेता है और तत्त्वज्ञानी बन्धरहित हो जाता है । यह ज्ञानका माहात्म्य है ॥ २१ ॥

मालिनी ।

दुरिततिमिरहंस मोक्षलक्ष्मीसरोज
मदनभुजगमन्त्र चित्तमातङ्गसिंह ।

व्यसनवनसमीरं विश्वतत्त्वैकदीपं
विषयशफरजालं ज्ञानमाराधय त्वं ॥ २२ ॥

अर्थ—हे भव्यजीव! तू ज्ञानका आराधन कर। क्योंकि ज्ञान पापरूपी तिमिर (अंधकारको) नष्ट करनेके लिये सूर्यके समान है, और मोक्षरूपी लक्ष्मीके निवास करनेके लिये कमलके समान है, तथा कामरूपी सर्पके कीलनेको मंत्रके समान और मनरूपी हस्तीको सिंहके समान है, तथा—व्यसन आपदा कष्टरूपी मेघोंको उड़ानेके लिये पवनके समान और समस्त तत्त्वोंको प्रकाश करनेके लिये दीपकके समान है तथा विषयरूपी मत्स्योंको पकड़नेके लिये जालके समान है ॥ २२ ॥

अब ज्ञानके प्रकरणको पूर्ण करते हुए कहते हैं,—

स्रग्धरा।

अस्मिन्संसारकक्षे यमभुजगविषाक्रान्तनिःशेषसत्त्वे
क्रोधाद्युत्तुङ्गशैले कुटिलगतिसरित्पातसन्तापभीमे।
मोहान्धाः संचरन्ति स्खलनविधुरिताः प्राणिनस्तावदेते
यावद्विज्ञानभानुर्भवभयदमिदं नोच्छिनत्त्यन्धकारम् ॥ २३ ॥

अर्थ—जबतक इस संसाररूपी वनमें यह सम्यग्ज्ञानरूपी सूर्य संसाररूप भयके देनेवाले अज्ञान अंधकारका उच्छेद नहीं करता तबतक ही मोहसे अंधे हुए प्राणी अपने स्वरूप उत्तम मार्गसे छूटनेसे गिरते पड़ते पीडित हुए चलते हैं। कैसा है संसाररूपी वन? जिसमें कि—पापरूपी सर्पके विषसे समस्त प्राणी व्याप्त हैं अर्थात् दबे हैं तथा—क्रोधादिक पापरूपी बड़े २ ऊंचे पर्वत हैं। और वक्र गमनवाली दुर्गतिरूपी नदियोंमें गिरनेसे उत्पन्न हुए सन्तापसे अतिशय भयानक है। ज्ञानरूपी सूर्यके प्रकाश होनेपर किसी प्रकारका दुःख वा भय नहीं रहता। इस प्रकार सम्यग्ज्ञानका वर्णन किया ॥२३॥

दोहा।

सम्यक्दर्शन पाइकै, ज्ञानविशेष बढाय।
चारितकी विधि जानिकै, लागो ध्यान उपाय ॥ १ ॥

इति श्रीज्ञानार्णवे श्रीशुभचंद्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे सम्यग्ज्ञानप्रकरणं नाम सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

अथ अष्टम सर्ग ।

आगे सम्यक्चारित्रका वर्णन करते हैं,—

पविशुद्धं परं धाम यमोगिजनजीवितम् ।
तद्वृत्तं सर्वसावद्यपर्युदासैकलक्षणम् ॥ १ ॥

अर्थ—जो विशुद्धताका उत्कृष्ट धाम है तथा योगीश्वरोंका जीवन है और समस्त प्रकारकी पापरूप प्रवृत्तियोंसे दूर रहनेका लक्षण है, उसको सम्यक्चारित्र कहते हैं। भावार्थ-जो चारित्र समस्तपापोंसे निवृत्तिरूप है वही दर्शनको शुद्ध करता है और मुनिजनोंका यही एक जीवनसर्वस्व है इसके विना मुनिपदवी हो ही नहीं सकती है ॥१॥

सामायिकादिभेदेन पञ्चधा परिकीर्तितम् ।
ऋषभादिजिनैः पूर्वं चारित्रं सप्रपञ्चकम् ॥ २ ॥

अर्थ—यह चारित्र पूर्वकालमें श्रीऋषभदेवतीर्थंकर महाराजसे लेकर समस्त तीर्थंकरोंने सामायिक १, छेदोपस्थापना २, परिहारविशुद्धि ३, सूक्ष्मसांपराय ४ और यथाख्यात चारित्र ५ ऐसे पांच प्रकारका कहा है ॥ २ ॥

पञ्चमहाव्रतमूलं समितिप्रसरं नितान्तमनवद्यम् ।
गुप्तिफलभारनम्रं सन्मतिना कीर्तितं वृत्तम् ॥ ३ ॥

अर्थ—तथा यही चारित्र श्रीवर्द्धमानस्वामी तीर्थंकर भगवान्ने तेरह प्रकारका कहा है। पांच महाव्रत हैं मूल जिसका तथा पांच समिति हैं प्रसर (फैलाव) जिसका और अत्यन्त निर्दोष तीन गुप्तिरूप फलके भारसे नम्रीभूत ऐसा चारित्ररूपी वृक्ष है। भावार्थ-चरित्र तेरह प्रकारका है। वह वृक्षकी उपमाको धारण करता है। उसकी जड पांच महाव्रत हैं, उसकी विस्तृतशाखायें पांच समिति हैं और उसके फल तीन गुप्तियां हैं॥३॥

पञ्च पञ्च त्रिभिर्भेदैर्यदुक्तं मुक्तसंशयैः ।
भवभ्रमणभीतानां चरणं शरणं परम् ॥ ४ ॥

अर्थ—संशयरहित गणधरादिकोंने पांच पांच और तीन भेदसे जो चारित्र कहा है वह संसारके भ्रमणसे भयभीत पुरुषोंके हेतु एक उत्तम शरण है। अर्थात् जो मुनि संसारके भयसे भयभीत हैं वे इस चारित्रका पालन करनेसे भयरहित (अभय) हो जाते हैं ॥ ४ ॥

पञ्चव्रतं समित्पञ्च गुप्तित्रयपवित्रितम् ।
श्रीवीरवदनोद्गीर्णं चरणं चन्द्रनिर्मलम् ॥ ५ ॥

अर्थ—पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्तिरूप तेरह प्रकारका चारित्र श्रीवीर (वर्द्धमान) तीर्थंकर भगवान्‌के मुखसे प्रगट हुआ है सो सदाकाल निर्मल है ॥ ५ ॥

हिंसायामनृते स्तेये मैथुने च परिग्रहे ।
विरतिर्व्रतमित्युक्तं सर्वसत्त्वानुकम्पकैः ॥ ६ ॥

अर्थ—हिंसा, अनृत, चोरी, मैथुन और परिग्रह इन पापोंमें विरति कहिये त्यागभाव होना ही व्रत है । समस्त जीवोंपर दयालु मुनियोंने ऐसाही कहा है ॥ ६ ॥

इस प्रकार संक्षेपमें कहकर अब प्रथमही अहिंसा महाव्रतका वर्णन करते हैं,—

सत्याद्युत्तरनिःशेषयमजातनिबन्धनम् ।
शीलैश्वर्याद्यधिष्ठानमहिंसाख्यं महाव्रतम् ॥ ७ ॥

अर्थ—अहिंसा नामा महाव्रत सत्यादिक अगले ४ महाव्रतोंका तो कारण है, क्योंकि सत्य चौर्यादि विना अहिंसाके नहीं हो सकते । और शीलादिसहित उत्तरगुणोंकी चर्याका स्थान भी यह अहिंसाही है । अर्थात् समस्त उत्तर गुणभी इस अहिंसा महाव्रतके आश्रय हैं ॥ ७ ॥

वाक्चित्ततनुभिर्यत्र न स्वप्नेऽपि प्रवर्त्तते ।
चरस्थिराङ्गिनां घातस्तदाद्यं व्रतमीरितम् ॥ ८ ॥

अर्थ—जिसमें मनवचनकायसे त्रस और स्थावर जीवोंका घात स्वप्नमें भी न हो उसे आद्यव्रत (प्रथम महाव्रत–अहिंसा) कहते हैं ॥ ८ ॥

मृते वा जीविते वा स्याज्जन्तुजाते प्रमादिनाम् ।
बन्ध एव न बन्धः स्याद्धिंसायाः संवृतात्मनाम् ॥ ९ ॥

अर्थ—जीवोंके मरते वा जीते प्रमादी पुरुषोंको तो निरन्तरही हिंसाका पापबंध होताही रहता है । और जो संवरसहित अप्रमादी हैं उनको जीवोंकी हिंसा होते हुए भी हिंसारूप पापका बंध नहीं होता । भावार्थ—कर्मबन्ध होनेमें प्रधान कारण आत्माके परिणाम हैं, इस कारण जो प्रमादसहित विना यत्नके प्रवर्त्तते हैं उनको तो जीव मरो अथवा न मरे किन्तु कर्मबन्ध होताही है, और जो प्रमादरहित यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करते हैं उनके दैवयोगसे जीव मरै तौभी कर्मबन्ध नहीं होता है ॥ ९ ॥

संरम्भादित्रिकं योगैः कषायैर्व्याहतं क्रमात् ।
शतमष्टाधिकं ज्ञेयं हिंसाभेदैस्तु पिण्डितम् ॥ १० ॥

अर्थ—संरंभ, समारंभ और आरंभ इस त्रिकको मनवचनकायकी तीन २ प्रवृत्तियोंसे तथा क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों और कृत, कारित, अनुमोदना (अनुमति वा सम्मति) से क्रमसे गुणन करनेपर हिंसाके भेद (१०८) होते हैं, तथा अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलिनी कषायोंके उत्तरभेदोंसे गुणन करनेसे ४३२ भेद भी हिंसाके होते हैं ॥ १० ॥

अत प्रमादमुत्सृज्य भावशुद्ध्याङ्गिसन्ततिम् ।
यमप्रशमसिद्ध्यर्थं बन्धुबुद्ध्या विलोकय ॥ ११ ॥

अर्थ—उपर्युक्त संरंभादिक हिंसापरिणामके १०८ अथवा ४३२ भेद हैं अत हे आत्मन्! तू प्रमादको छोड़कर भावोंकी शुद्धिके लिये जीवोंकी सन्ततिको (समूहको) बन्धु (भाई, हित, मित्र)की दृष्टिसे अवलोकन किया कर। अर्थात् प्राणीमात्रसे शत्रुभाव न रखकर सबसे मित्रभाव रख और सबकी रक्षामें मनवचनकायादिकसे प्रवृत्ति कर ॥ ११ ॥

यज्जन्तुवधसंजातकर्मपाशाच्छरीरिभि ।
श्वभ्रादौ सह्यते दु ख तद्वक्तु केन पार्यते ॥ १२ ॥

अर्थ—जीवोंके घात (हिंसा) करनेसे पापकर्म उपार्जन होता है उसका जो फल अर्थात् दु ख नरकादिक गतिमें जीव भोगते हैं वह वचनके अगोचर है। अर्थात् वचनसे कहनेमें नहीं आसकता ॥ १२ ॥

हिंसैव नरकागारप्रतोली प्रांशुविग्रहा ।
कुठारीव द्विधा कर्तुं भेत्तुं शूलोऽतिनिर्दया ॥ १३ ॥

---

१ हिंसामें उद्यमरूप परिणामोंका होना सो संरंभ है हिंसाके साधनमें अभ्यास करना (सामग्री मिलाना) समारंभ है और हिंसामें प्रवर्तन करना आरंभ है। इन तीनोंको मनवचनकायसे गुणन करनेसे नव होते हैं और कृत कारित अनुमोदनासे गुणन करनेसे २७ फिर इनको क्रोध मान माया और लोभ इन चार कषायोंसे गुणनेसे १०८ हिंसाके भेद होते हैं। कृत—आप स्वाधीन होकर करे, कारित—अन्यसे करावे और अन्य कोई हिंसा करता हो उसको भला जान उसे अनुमोदना वा अनुमत कहते हैं। क्रोधकृतकायसंरंभ १ मानकृतकायसंरंभ २ मायाकृतकायसंरंभ ३ लोभकृतकायसंरंभ ४ क्रोधकारितकायसंरंभ ५ मानकारित कायसंरंभ ६ मायाकारित कायसंरंभ ७ लोभकारित कायसंरंभ ८ क्रोधानुमत कायसंरंभ ९ मानानुमत कायसंरंभ १० मायानुमत कायसंरंभ ११ लोभानुमत कायसंरंभ १२ इस प्रकार कायसंरंभके १२ भेद इसी प्रकार वचनसंरंभके १२ भेद और मनसंरंभके १२ भेद मिलकर ३६ भेद संरंभके हुए और इसी प्रकार ३६ समारंभके और ३६ आरंभके सब मिलकर १०८ भेद हिंसाके होते हैं। और क्रोध मान माया तथा लोभ इन चार कषायोंके अनन्तानुबंधी अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान और संज्वलन इन चार भेदोंसे गुणन करनेसे ४३२ भेद भी हिंसाके होते हैं जप करनेकी मालामें ३ दाने ऊपर और १०८ दाने मालामें होते हैं सो इसी संरंभ समारंभ आरंभके तीन दाने ऊपर रखकर उनके भेदरूप (गुणकार) १०८ दाने रक्खे जाते हैं। अब यह समझिये (जैसे [illegible]) [illegible] जपते समय १०८ आरंभोंका (हिंसाके पापकर्मोंका) [illegible] पूर्वक [illegible] करना [illegible] परमात्मा [illegible] चाहिये।

अर्थ—यह हिंसाही नरकरूपी घरमें प्रवेश करनेके लिये प्रतोली (मुख्य दरवाजा) है तथा जीवोंको काटनेके लिये कुठार (कुल्हाड़ा) और विदारनेके लिये निर्दयकी शूली है ॥ १३ ॥

क्षमादिपरमोदारैर्यमैर्यो वर्द्धितश्चिरम् ।
हन्यते स क्षणादेव हिंसया धर्मपादपः ॥ १४ ॥

अर्थ—जो धर्मरूप वृक्ष उत्तम क्षमादिक परम उदार संयमोंसे बहुत कालसे बढ़ा है वह इस हिंसारूप कुठारसे क्षणमात्रमें नष्ट हो जाता है। **भावार्थ**—जहां हिंसा होती है वहा धर्मका लेशभी नहीं है ॥ १४ ॥

तपोयमसमाधीना ध्यानाध्ययनकर्मणा ।
तनोत्यविरत पीडा हृदि हिंसा क्षणस्थिता ॥ १५ ॥

अर्थ—हृदयमें क्षणभरभी स्थान पाई हुई यह हिंसा तप, यम, समाधि और ध्याना- ध्ययनादि कार्योंको निरतर पीड़ा देती है । **भावार्थ**—क्रोधादि कषायरूप परिणाम (हिंसारूप परिणाम) किसी कारणसे एकवार उत्पन्न हो जाता है तो उनका संस्कार (स्मरण) लगा रहता है। वह तप, यम, समाधि और ध्यानाध्ययनकार्यमें चित्तको नहीं ठहरने देता, इस कारण यह हिसा महा अनर्थकारिणी है ॥ १५ ॥

अहो व्यसनविध्वस्तैर्लोकः पाखण्डिभिर्बलात् ।
नीयते नरक घोर हिंसाशास्त्रोपदेशकैः ॥ १६ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज आश्चर्यके साथ कहते हैं कि देखो! धर्म तो दयामय जगतमें प्रसिद्ध है परन्तु विषयकषायसे पीडित पाखण्डी हिंसाका उपदेश देनेवाले (यज्ञादिकमें पशुहोमने तथा देवी आदिके बलिदान करने आदि हिसाविधान करनेवाले) शास्त्रोंको रचकर जगतके जीवोंको बलात्कार नरकादिकमें ले जाते हैं। यह बड़ा अनर्थ है ॥ १६ ॥

रौरवादिषु घोरेषु विशन्ति पिशिताशनाः ।
तेष्वेव हि कदर्थ्यन्ते जन्तुघातकृतोद्यमाः ॥ १७ ॥

अर्थ—जो मांसके खानेवाले हैं वे मांसके कारण रौरवादि बिलोंमें प्रवेश करते हैं और वहींपर जीवोंको घात करनेवाले शिकारी आदिक भी पीडित होते हैं। भावार्थ— जो ईश्वरपरक मानकर भी पापी हैं, वे नरकमें ही जाते हैं। और जो जीवघातको ही कल्याणक उपदेश करते हैं वे अपने और परके दोनोंके घातक हैं, अत वे भी महान् कष्ट पाते हैं ॥ १७ ॥

शान्त्यर्थं देवपूजार्थं यज्ञार्थमथवा नृभिः।
कृतः प्राणभृतां घातः पातयत्यविलम्बितम्॥ १८॥

अर्थ—अपनी शांतिके अर्थ अथवा देवपूजाके तथा यज्ञके अर्थ जो मनुष्य जीवघात (जीवहिंसा) करते हैं वह घात भी जीवोंको शीघ्रही नरकमें डालता है॥ १८॥

हिंसैव दुर्गतेर्द्वारं हिंसैव दुरितार्णवः।
हिंसैव नरकं घोरं हिंसैव गहनं तमः॥ १९॥

अर्थ—हिंसा ही दुर्गतिका द्वार है, पापका समुद्र है तथा हिंसाही घोर नरक और महा अंधकार है। भावार्थ-समस्त पापोंमें मुख्य हिंसाही है। जितनी खोटी उपमायें हैं, सब हिंसाको लगती हैं॥ १९॥

निःस्पृहत्वं महत्त्वं च नैराश्यं दुष्करं तपः।
कायक्लेशश्च दानं च हिंसकानामपार्थकम्॥ २०॥

अर्थ—जो हिंसक पुरुष हैं उनकी निस्पृहता, महत्ता, आशारहितता, दुष्कर तप करना, कायक्लेश और दान करना आदि समस्त धर्मकार्य व्यर्थ है अर्थात् निष्फल हैं॥ २०॥

कुलक्रमागता हिंसा कुलनाशाय कीर्तिता।
कृता च विघ्नशान्त्यर्थं विघ्नौघायैव जायते॥ २१॥

अर्थ—कुलक्रमसे जो हिंसा चलीआई है वह उस कुलको नाश करनेके लियेही कही गई है तथा विघ्नकी शान्तिके अर्थ जो हिंसा की जाती है वह विघ्नसमूहको बुलानेके लियेही है। भावार्थ-कोई कहै कि हमारे कुलमें देवी आदिका पूजन चला आता है अतएव हम बकरे भैंसेका घात करके देवीको चढ़ाते हैं और इसीसे कुलदेवीको सन्तुष्ट हुई मानते हैं तथा ऐसा करनेसे कुलदेवी कुलकी वृद्धि करती है, इस प्रकार श्रद्धान करके जो बकरे आदिकी हिंसा की जाती है वह कुलनाशके लियेही होती है, कुलवृद्धिके लिये कदापि नहीं। तथा कोई २ अज्ञानी विघ्नशान्त्यर्थ हिंसा करते हैं और यज्ञ कराते हैं उनको उल्टा विघ्नही होता है और उनका कभी कल्याण नहिं हो सकता है॥ २१॥

सौख्यार्थे दुःखसन्तानं मङ्गलार्थेऽप्यमङ्गलम्।
जीवितार्थे ध्रुवं मृत्युं कृता हिंसा प्रयच्छति॥ २२॥

अर्थ—सुखके अर्थ की हुई हिंसा दुःखकी परिपाटी करती है, मंगलार्थ की हुई हिंसा अमङ्गल करती है, तथा जीवनार्थ की हुई हिंसा मृत्युको प्राप्त करती है। इस बातको निश्चय जानना॥ २२॥

तितीर्षति ध्रुवं मूढः स शिलाभिर्नदीपतिं।
धर्मबुद्ध्याऽधमो यस्तु घातयत्यङ्गिसंचयम्॥ २३॥

स्तानि दयाधर्मको छोड़कर दुःखकी शान्तिके लिये हिंसासे भी धर्म कहकर उपदेश करते हैं। भावार्थ-हिंसामें धर्म करनेवाले विघातके गर्वमें मदोन्मत्त हो रहे हैं और वे विषयलम्पट और कपायी हैं ॥ २८ ॥

धर्मबुद्ध्याऽधमैः पापं जन्तुघातादिलक्षणम् ।
क्रियते जीवितस्यार्थं पीयते विषमं विषं ॥ २९ ॥

अर्थ—जो पापी धर्मकी बुद्धिसे जीवघातरूपी पापको करते हैं वे अपने जीवनकी इच्छासे हालाहल विषको पीते हैं ॥ २९ ॥

एतत्समयसर्वस्वमेतत्सिद्धान्तजीवितम् ।
यज्जन्तुजातरक्षार्थं भावशुद्ध्या दृढं व्रतम् ॥ ३० ॥

अर्थ—यही तो मतका सर्वस्व है और यही सिद्धान्तका रहस्य है जो जीवोंके समूहकी रक्षाके लिये है। एवम् यही भावशुद्धिपूर्वक दृढ व्रत है ॥ ३० ॥

श्रूयते सर्वशास्त्रेषु सर्वेषु समयेषु च ।
"अहिंसालक्षणो धर्मः" तद्विपक्षश्च पातकम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—समस्त मतोंके समस्त शास्त्रोंमें यही सुना जाता है कि अहिंसालक्षण तो धर्म है और इसका प्रतिपक्षी हिंसा करनाही पाप है इस सिद्धान्तसे जो विपरीत वचन हो वह सब विषयाभिलाषा जिह्वालम्पट जीवोंके दूरहीसे तजने योग्य जानना चाहिये॥३१॥

अहिंसैव जगन्माताऽहिंसैवानन्दपद्धतिः ।
अहिंसैव गतिः साध्वी श्रीरहिंसैव शाश्वती ॥ ३२ ॥

अर्थ—अहिंसाही तो जगतकी माता है। क्योंकि समस्त जीवोंकी प्रतिपालना करनेवाली है। अहिंसाही आनन्दकी सन्तति अर्थात् परिपाटी है। अहिंसाही उत्तम गति और शाश्वती लक्ष्मी है। जगतमें जितने उत्तमोत्तम गुण हैं वे सब इस अहिंसाहीमें हैं ॥३२॥

अहिंसैव शिवं सूते दत्ते च त्रिदिवश्रियं ।
अहिंसैव हितं कुर्याद्व्यसनानि निरस्यति ॥ ३३ ॥

अर्थ—यह अहिंसाही मुक्तिको करती है तथा स्वर्गकी लक्ष्मीको देती है और अहिंसाही आत्माका हित करती है तथा समस्त कष्टरूप आपदाओंको नष्ट करती है ॥ ३३ ॥

सप्तद्वीपवतीं धात्रीं कुलाचलसमन्विताम् ।
नैकप्राणिवधोत्पन्नं दत्त्वा दोषं व्यपोहति ॥ ३४ ॥

अर्थ—यदि कुलाचल पर्वतोंके सहित सातद्वीपकी पृथ्वी भी दान करदी जाय तो भी एक प्राणीको मारनेका पाप दूर नहीं हो सकता है। भावार्थ-समस्त दानोंमें अभय,

अर्थ—जो मूढ अधम धर्मकी बुद्धिसे जीवोंको मारता है सो पाषाणकी शिलापर बैठकर समुद्रको तैरनेकी इच्छा करता है। क्योंकि वह नियमसे डूबेगा॥ २३॥

प्रमाणीकृत्य शास्त्राणि यैर्वधः क्रियतेऽधमैः।
सह्यते परलोके तैः श्वभ्रे शूलाधिरोहणम्॥ २४॥

अर्थ—जो अधम शास्त्रोंका प्रमाण देकर जीवोंका वध करना धर्म बताते हैं वे मृत्यु होनेपर नरकमें शूलीपर चढाये जाते हैं। **भावार्थ**-अनेक अज्ञानी कहते हैं कि वेदशास्त्रमें यज्ञके समय जीववध करना कहा है, उसीको ईश्वरकृत प्रमाणभूत मानकर हम पशुवध करते हैं। परंतु ऐसा कहनेवाले अधर्मी हैं। क्योंकि जिस शास्त्रमें जीववध धर्म कहा हो वह शास्त्र कदापि प्रमाणभूत नहीं कहा जा सकता। उसको जो अज्ञानी प्रमाण मानकर हिंसा करते हैं वे अवश्यही नरकमें पड़ते हैं॥ २४॥

निर्दयेन हि किं तेन श्रुतेनाचरणेन च।
यस्य स्वीकारमात्रेण जन्तवो यान्ति दुर्गतिम्॥ २५॥

अर्थ—जिसमें दया नहीं है ऐसे शास्त्र तथा आचरणसे क्या लाभ? क्योंकि ऐसे शास्त्रके वा आचरणके अंगीकार मात्रहीसे जीव दुर्गतिको चले जाते हैं॥ २५॥

वरमेकाक्षरं ग्राह्यं सर्वसत्त्वानुकम्पनम्।
न त्वक्षपोषकं पापं कुशास्त्रं धूर्तचर्चितम्॥ २६॥

अर्थ—सर्व प्राणियोंपर दया करनेवाला तो एक अक्षर श्रेष्ठ है और ग्रहण करने योग्य है, परन्तु धूर्त तथा विषयकषायी पुरुषोंका रचा हुआ इन्द्रियोंको पोषनेवाला जो पापरूप कुशास्त्र है वह श्रेष्ठ नहीं है॥ २६॥

चरुमन्त्रौषधानां वा हेतोरन्यस्य वा क्वचित्।
कृता सती नरैर्हिंसा पातयत्यविलम्बितम्॥ २७॥

अर्थ—देवताकी पूजाके लिये रसुवेए नैवेद्य तथा मन्त्र और औषधके लिये अथवा अन्य किसीभी कार्यके लिये की हुई हिंसा जीवोंको नरकमें लेजाती है॥ २७॥

वसन्ततिलका।

विहाय धर्मं शमशीललाञ्छितं
दयावहं भूतहितं गुणाकरम्।
मदोद्धता अक्षकषायवञ्चिता
दिशन्ति हिंसामपि दुःखदानलम्॥ २८॥

अर्थ—जो पुरुष मदमें उद्धत हैं और इन्द्रियोंके विषय तथा कषायोंमें ठगे गये हैं वेही मन्दकषाय तथा उपशमरूप शीलसे चिह्नित दयामयी जीवोंके हितकारी और गुणोंके

मानि दयाधर्मको छोड़कर दुःखकी खानिके जैसे हिंसाको भी धर्म कहकर उपदेश करते हैं। भावार्थ–हिंसाको धर्म करनेवाले विद्याके गर्वमें मदोन्मत्त हो रहे हैं और वे विषयलम्पट और कषायी हैं ॥ २८ ॥

धर्मबुद्ध्याऽधमैः पापं जन्तुघातादिलक्षणम् ।
क्रियते जीवितस्यार्थे पीयते विषमं विषं ॥ २९ ॥

अर्थ—जो पापी धर्मकी बुद्धिसे जीवघातरूपी पापको करते हैं वे अपने जीवनकी इच्छासे हालाहल विषको पीते हैं ॥ २९ ॥

एतत्समयसर्वस्वमेतत्सिद्धान्तजीवितम् ।
यज्जन्तुजातरक्षार्थं भावशुद्ध्या दृढं व्रतम् ॥ ३० ॥

अर्थ—यही तो मतका सर्वस्व है और यही सिद्धान्तका रहस्य है जो जीवोंके समूहकी रक्षाके लिये है। एवम् यही भावशुद्धिपूर्वक दृढ व्रत है ॥ ३० ॥

श्रूयते सर्वशास्त्रेषु सर्वेषु समयेषु च ।
"अहिंसालक्षणो धर्मः" तद्विपक्षश्च पातकम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—समस्त मतोंके समस्त शास्त्रोंमें यही सुना जाता है कि अहिंसालक्षण तो धर्म है और इसका प्रतिपक्षी हिंसा करनाही पाप है इस सिद्धान्तसे जो विपरीत वचन हों वह सब विषयाभिलाषी जिह्वालंपट जीवोंके दूरहीसे तजने योग्य जानना चाहिये॥३१॥

अहिंसैव जगन्माताऽहिंसैवानन्दपद्धतिः ।
अहिंसैव गतिः साध्वी श्रीरहिंसैव शाश्वती ॥ ३२ ॥

अर्थ—अहिंसाही तो जगतकी माता है। क्योंकि समस्त जीवोंकी प्रतिपालना करनेवाली है। अहिंसाही आनन्दकी सन्तति अर्थात् परिपाटी है। अहिंसाही उत्तम गति और शाश्वती लक्ष्मी है। जगतमें जितने उत्तमोत्तम गुण हैं वे सब इस अहिंसाहीमें हैं ॥३२॥

अहिंसैव शिवं सूते दत्ते च त्रिदिवश्रियम् ।
अहिंसैव हितं कुर्याद्व्यसनानि निरस्यति ॥ ३३ ॥

अर्थ—यह अहिंसाही मुक्तिको करती है तथा स्वर्गकी लक्ष्मीको देती है और अहिंसाही आत्माका हित करती है तथा समस्त कष्टरूप आपदाओंको नष्ट करती है ॥ ३३ ॥

सप्तद्वीपवतीं धात्रीं कुलाचलसमन्विताम् ।
नैकप्राणिवधोत्पन्नं दत्वा दोषं व्यपोहति ॥ ३४ ॥

अर्थ—यदि कुलाचल पर्वतोंके सहित सातद्वीपकी पृथ्वी भी दान करदी जाय तौ भी एक प्राणीको मारनेका पाप दूर नहीं हो सकता है। भावार्थ–समस्त दानोंमें अभय,

दान प्रधान है। क्योंकि एक प्राणीके घातसे उत्पन्न हुआ पाप सात द्वीप और कुलपर्वत सहित पृथिवी दान करनेसे भी दूर नहीं होता ॥ ३४ ॥

सकलजलधिवेलावारिसीमा धरित्रीं
नगरनगसमग्रां स्वर्णरत्नादिपूर्णाम्।
यदि मरणनिमित्ते कोऽपि दद्यात्कथंचित्
तदपि न मनुजानां जीविते त्यागबुद्धिः ॥ ३५ ॥

अर्थ—जो कोई किसी मनुष्यको मरजानेके बदलेमें नगर, पर्वत तथा सुवर्ण धन धान्यादिसे भरी हुई समुद्रपर्यन्तकी पृथिवीका दान करै तो भी अपने जीवनके त्याग करनेकी उसकी इच्छा नहीं होगी। भावार्थ—मनुष्योंको जीवन इतना प्यारा है कि मरनेके लिये जो कोई समस्त पृथिवीका राज्य दे तो भी मरना नहीं चाहता। इस कारण एक जीवको बचानेमें जो पुण्य होता है वह समस्त पृथिवीके दानमें भी [illegible] होता है ॥ ३५ ॥

आत्मनोऽपि क्षिप्य तेनाशु प्रक्षिप्तः श्वभ्रसागरे।
गौरवमभयेनापि येन हिंसा समर्थिता ॥ ३६ ॥

अर्थ—जिस पुरुषने किसीकी प्रीतिके भ्रमसे अथवा किसीके भयसे हिंसाका समर्थन किया कि हिंसा करना बुरा नहीं है तो ऐसा समझो कि उसने अपनी आत्माको नरक रूपी समुद्रमें डाल दिया ॥ ३६ ॥

[illegible] ।
[illegible]प्येन प्रकल्पिता ॥ ३७ ॥

अर्थ—जो पापी [illegible] चक्र, तलवार और धनुष इत्यादि शस्त्रोंसे जीवोंके [illegible] करनेमें [illegible] हैं [illegible], [illegible], भी [illegible] पुण्य [illegible] उत्पन्न करते हैं। भावार्थ—जो [illegible] ॥ ३७ ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥ ३८ ॥

अर्थ—[illegible] है। अर्थात्—[illegible] है ॥ ३८ ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥ ३९ ॥

अर्थ—जिनके सब अंग भयसे कंपित हैं, जिनका कोई रक्षक नहीं, जो अनाथ हैं, जिनको जीवनही एक मात्र प्रियवस्तु है, ऐसे प्राणियोंको जो मारते हैं उन्होंने क्या अपनेको अजरामर जान लिया ? । भावार्थ—अपनेको भी कोई मारेगा यह उन्होंने नहीं जाना ॥ ३९ ॥

स्वपुत्रपौत्रसन्तानं वर्द्धयन्त्यादरैर्जना ।
व्यापादयन्ति चान्येषामत्र हेतुर्न बुद्ध्यते ॥ ४० ॥

अर्थ—यह बड़ा आश्चर्य है कि अपने पुत्रपौत्रादिसन्तानको तो बड़े यत्नसे पालते और बढ़ाते हैं परन्तु दूसरोंकी सन्तानका घात करते हैं । न मालूम कि इसमें क्या हेतु है ? । भावार्थ—यह महामोहका (अज्ञानका) ही माहात्म्य है ॥ ४० ॥

परमाणोः परं नाल्पं न महद्गगनात्परं ।
यथा किंचित्तथा धर्मो नाहिंसालक्षणात्परः ॥ ४१ ॥

अर्थ—इस लोकमें जैसे परमाणुसे तो कोई छोटा वा अल्प नहीं है और आकाशसे कोई बड़ा नहीं है । इसी प्रकार अहिंसारूप धर्मसे बड़ा कोई धर्म नहीं है । यह जगत्प्रसिद्ध लोकोक्ति है । यथा-"अहिंसा परमो धर्मः हिंसा सर्वत्र गर्हिता" ॥ ४१ ॥

तपःश्रुतयमज्ञानध्यानदानादिकर्मणां ।
सत्यशीलव्रतादीनामहिंसा जननी मता ॥ ४२ ॥

अर्थ—तप, श्रुत (शास्त्रका ज्ञान), यम (महाव्रत), ज्ञान (बहुत जानना), ध्यान और दान करना तथा सत्यशील व्रतादिक जितने उत्तम कार्य हैं उन सबकी माता एक अहिंसाही है । अहिंसाव्रतके पालन विना उपर्युक्त गुणोंमेंसे एक भी नहीं होता इस कारण अहिंसाही समस्त धर्मकार्योंकी उत्पन्न करनेवाली माता है ॥ ४२ ॥

करुणार्द्रं च विज्ञानवासितं यस्य मानसम् ।
इन्द्रियार्थेषु निःसङ्गं तस्य सिद्धं समीहितम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—जिस पुरुषका मन करुणासे आर्द्र (गीला) हो तथा विशिष्ट ज्ञानसहित हो और इंद्रियोंके विषयोंसे दूर हो उसीको मनोवांछित कार्यकी सिद्धि होती है ॥ ४३ ॥

निस्त्रिंश एव निस्त्रिंशो यस्य चेतोऽस्ति जन्तुषु ।
तपःश्रुताद्यनुष्ठानं तस्य क्लेशाय केवलम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—जिस पुरुषका चित्त जीवोंके लिये खड्गके समान निर्दय है उसका तप करना और शास्त्रका पढ़ना आदि कार्य केवल कष्टके लियेही होता है किंतु कुछ भलाईके लिये नहीं होता ॥ ४४ ॥

?? द्वयोरपि समं पापं निर्णीतं परमागमे।
वधानुमोदयोः कर्त्रोरसत्संकल्पसंश्रयात्॥ ४५ ॥

अर्थ—घातकरनेवाला और घातकरनेवालेकी प्रशंसा करनेवाला इन दोनोंका परमागममें समानही निर्णय किया गया है। क्योंकि जैसे घात करनेवालेको जो पाप सोभी अशुभ परिणामोंसे हुआ है, उसी प्रकार भले जाननेवालेके भी अशुभ संकल्प विना उसकी अनुमोदना नहीं हो सकती है, इसकारण हिंसा करने और उसको जाननेवालेको पाप बराबर लगता है॥ ४५ ॥

?? संकल्पाच्छालिमत्स्योऽपि स्वयंभूरमणार्णवे।
महामत्स्याशुभेन स्वं नियोज्य नरकं गतः॥ ४६ ॥

अर्थ—देखो स्वयंभूरमणसमुद्रमें शालिमत्स्य महामत्स्यके परिणामोंसे अपने परिणाम मिलाकर नरकको गया। यह अन्य कोई हिंसा करे उसका जो आप अनुमोदन करे उसके संकल्पमात्रसे उसीके समान पाप होनेका उदाहरण है॥ ४६ ॥

अहिंसैकाऽपि यत्सौख्यं कल्याणमथवा शिवम्।
दत्ते तद्देहिनां नायं तपःश्रुतयमोत्करः॥ ४७ ॥

अर्थ—यह अहिंसा अकेलीही जीवोंको जो सुख, कल्याण वा अभ्युदय देती है तप, स्वाध्याय और यमनियमादि नहीं दे सकते हैं। क्योंकि धर्मके समस्त अंगोंमें अहिंसा एक मात्र प्रधान है॥ ४७ ॥

दूयते यस्तृणेनापि स्वशरीरे कदर्थिते।
स निर्दयः परस्याङ्गे कथं शस्त्रं निपातयेत्॥ ४८ ॥

अर्थ—जो मनुष्य अपने शरीरमें तिनका चुभनेपर भी अपनेको दुःखी हुआ मानता है वह निर्दय होकर परके शरीरपर शस्त्र कैसे चलाता है? यह बड़ा अनर्थ है॥ ४८

?? जन्मोग्रभयभीतानामहिंसैवौषधिः परा।
तथाऽमरपुरीं गन्तुं पाथेयं पथि पुष्कलम्॥ ४९ ॥

अर्थ—इस संसाररूप तीव्र भयमें भयभीत होनेवाले जीवोंको यह अहिंसाही परम औषधि है [illegible] सबका भय दूर करती है तथा स्वर्ग जानेके लिये [illegible] [illegible] अनन्तगुणा पाथेयस्वरूप (भोजनादिकी सामग्री) है॥ ४९ ॥

[illegible] है [illegible] इसका अनन्त गुणा [illegible] पाथेय हितकारिणी।
[illegible] ॥ ५० ॥

[illegible] प्राणिनः [illegible] जीवोंको [illegible] करनेवाली

और मीपे समान विचरो आ ा द देनवाली है तथा सदुपदेश दनेके लिये सरस्वतीके समान है ॥ ५० ॥

? स्वान्ययोरप्यनालोच्य सुखं दुःखं हिताहितम् ।
जन्तून् य पातकी हन्यात्स नरत्वेऽपि राक्षस ॥ ५१ ॥

अर्थ—जो पापी नर अपने और अन्यके सुख दुःख या हित अनहितको न विचार कर जीवोंको मारता है वह मनुष्यजन्ममें भी राक्षस है। क्योंकि मनुष्य होता तो अपना या परका हिताहित विचारता ॥ ५१ ॥

।' अभय यच्छ भूतेषु कुरु मैत्रीमनिन्दिताम् ।
पश्यात्मसदृश विश्व जीवलोक चराचरम् ॥ ५२ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि– हे भव्य ! तू जीवोंके लिये अभयदान दे तथा उनसे प्रशंसनीय मित्रता कर और समस्त त्रस तथा स्थावर जीवोंको अपने समान देख ॥ ५२ ॥

जायन्ते भूतय पुसा या कृपाक्रान्तचेतसाम् ।
चिरेणापि न ता वक्तु शक्ता देव्यपि भारती ॥ ५३ ॥

अर्थ—जिनका चित्त दयालु है उन पुरुषोंको जो सम्पदा होती हैं, उनका वर्णन सरस्वती देवी भी बहुत कालपर्यन्त करे तो भी उससे नहीं हो सकता फिर अन्यसे तो किया ही कैसे जा सकता है ? ॥ ५३ ॥

किं न तप्तं तपस्तेन किं न दत्त महात्मना ।
विर्तीर्णमभय येन प्रीतिमालम्ब्य देहिनाम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—जिस महापुरुषने जीवोंको प्रीतिका आश्रय देकर अभयदान दिया उस महात्माने कौनसा तप नहीं किया और कौनसा दान नहीं दिया ? । अर्थात् उस महा पुरुषने समस्त तप, दान किया। क्योंकि अभयदानमें सब तप, दान आजाते हैं ॥ ५४ ॥

यथा यथा हृदि स्थैर्य करोति करुणा नृणाम् ।
तथा तथा विवेकश्री परा प्रीतिं प्रकाशते ॥ ५५ ॥

अर्थ—पुरुषोंके हृदयमें जैसे जैसे करुणाभाव स्थिरताको प्राप्त करता है तैसे तैसे विवेकरूपी लक्ष्मी उससे परमप्रीति प्रगट करती रहती है । भावार्थ–करुणा (दया) विवेकको बढ़ाती है ॥ ५५ ॥

अन्ययोगव्यवच्छेदादहिंसा श्रीजिनागमे ।
परैश्च योगमात्रेण कीर्तिता सा यदृच्छया ॥ ५६ ॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान्के मार्गमें तो अहिंसा अन्ययोगव्यवच्छेदसे कही है । अर्थात् ऐसी अहिंसाका योगही नहीं है । इस जिनमतमें तो हिंसाका सर्वथा निषेधही

?? द्वयोरपि मम पाप निर्णीतं परमागमे ।
घातानुमोदयो' कत्रास्मत्समंकल्पमश्रयात् ॥ ४५ ॥

अर्थ—घातकरनेवाला और घातकरनेवालेकी प्रशंसा करनेवाला इन दोनोंका परमागममें समानही निर्णय किया गया है। क्योंकि जैसे घात करनेवालेको जो पाप हुआ सोभी अशुभ परिणामोंसे हुआ है, उसी प्रकार भले जाननेवालेके भी अशुभ भाव हुए बिना उसकी अनुमोदना नहीं हो सकती है, इसकारण हिंसा करने और उसको भला जाननेवालेको पाप बराबर लगता है ॥ ४५ ॥

?? सकृत्पाच्छालिमत्स्योऽपि स्वयम्भूरमणार्णवे ।
महामत्स्याशुभेन स नियोज्य नरकं गतः ॥ ४६ ॥

अर्थ—देखो स्वयम्भूरमणसमुद्रमें शालिमत्स्य महामत्स्यके परिणामोंसे अपने परिणाम मिलाकर नरकको गया। यह अन्य कोई हिंसा करै उसका जो आप अनुमोदन करै उसके सङ्कल्पमात्रसे उसीके समान पाप होनेका उदाहरण है ॥ ४६ ॥

अहिंसैकाऽपि यत्सौख्यं कल्याणमथवा शिवम् ।
दत्ते तद्देहिनां नाय तपःश्रुतयमोत्करः ॥ ४७ ॥

अर्थ—यह अहिंसा अकेलीही जीवोंको जो सुख, कल्याण वा अभ्युदय देती है वह तप, स्वाध्याय और यमनियमादि नहीं दे सकते हैं। क्योंकि धर्मके समस्त अंगोंमें अहिंसा एक मात्र प्रधान है ॥ ४७ ॥

दूयते यस्तृणेनापि स्वशरीरे कदर्थिते ।
स निर्दयः परस्याङ्गे कथं शस्त्रं निपातयेत् ॥ ४८ ॥

अर्थ—जो मनुष्य अपने शरीरमें तिनका चुभनेपर भी अपनेको दुःखी हुआ मानता है वह निर्दय होकर परके शरीरपर शस्त्र कैसे चलाता है? यह बड़ा अनर्थ है ॥ ४८ ॥

?? जन्मोग्रभयभीतानामहिंसैवौषधिः परा ।
तथाऽमरपुरीं गन्तुं पाथेयं पथि पुष्कलम् ॥ ४९ ॥

अर्थ—इस संसाररूप तीव्र भयसे भयभीत होनेवाले जीवोंको यह अहिंसाही एक परम औषधि है। क्योंकि यह सबका भय दूर करती है तथा स्वर्ग जानेके लिये अहिंसाही मार्गमें अतिशय वा पुष्टिकारक पाथेयस्वरूप (भोजनादिकी सामग्री) है ॥ ४९ ॥

किन्त्वहिंसैव भूतानां मातेव हितकारिणी ।
तथा रमयितुं कान्ता विनेतुं च सरस्वती ॥ ५० ॥

अर्थ—यह अहिंसा इतनीही नहीं है, किन्तु जीवोंको माताके समान रक्षा करनेवाली

और स्त्रीके समान चित्तको आनन्द देनेवाली है तथा सदुपदेश देनेके लिये सरस्वतीके समान है ॥ ५० ॥

॥ सान्यपोरप्यनालोक्य सुख दुःख हिताहितम् ।
जन्तून् य पातकी हन्यात्स नरत्वेऽपि राक्षसः ॥ ५१ ॥

अर्थ—जो पापी नर अपने और अन्यके सुख दुःख वा हित अनहितको न विचार कर जीवोंको मारता है वह मनुष्यजन्ममें भी राक्षस है। क्योंकि मनुष्य होता तो अपना वा परका हिताहित विचारता ॥ ५१ ॥

॥ अभय यच्छ भूतेपु कुरु मैत्रीमनिन्दिताम् ।
पश्यात्मसदृश विश्व जीवलोक चराचरम् ॥ ५२ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि– हे भव्य ! तू जीवोंके लिये अभयदान दे तथा उनसे प्रशसनीय मित्रता कर और समस्त त्रस तथा स्थावर जीवोंको अपने समान देख ॥ ५२ ॥

जायन्ते भूतय पुसा या कृपाक्रान्तचेतसाम् ।
चिरेणापि न ता वक्तु शक्ता देव्यपि भारती ॥ ५३ ॥

अर्थ—जिनका चित्त दयालु है उन पुरुषोंको जो सम्पदा होती हैं, उनका वर्णन सरस्वती देवी भी बहुत कालपर्यन्त करे तो भी उससे नहीं हो सकता फिर अन्यसे तो किया ही कैसे जा सकता है ? ॥ ५३ ॥

किं न तप्त तपस्तेन किं न दत्त महात्मना ।
वितीर्णमभय येन प्रीतिमालम्ब्य देहिनाम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—जिस महापुरुषने जीवोंको प्रीतिका आश्रय देकर अभयदान दिया उस महात्माने कौनसा तप नहीं किया और कौनसा दान नहीं दिया ? । अर्थात् उस महापुरुषने समस्त तप, दान किया। क्योंकि अभयदानमें सब तप, दान आजाते हैं ॥ ५४ ॥

यथा यथा हृदि स्थैर्य करोति करुणा नृणाम् ।
तथा तथा विवेकश्री परा प्रीतिं प्रकाशते ॥ ५५ ॥

अर्थ—पुरुषोंके हृदयमें जैसे जैसे करुणाभाव स्थिरताको प्राप्त करता है तैसे तैसे विवेकरूपी लक्ष्मी उससे परमप्रीति प्रगट करती रहती है । भावार्थ-करुणा (दया) विवेकको बढ़ाती है ॥ ५५ ॥

अन्ययोगव्यवच्छेदादहिंसा श्रीजिनागमे ।
परैश्च योगमात्रेण कीर्तिता सा यदृच्छया ॥ ५६ ॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान्‌के मार्गमें तो अहिंसा अन्ययोगव्यवच्छेदरूप कहा है। अर्थात् अन्यमतोंमें ऐसी अहिंसा कहीं नहीं है । इस जिनमतमें ही हिंसाका सर्वथा निषेध

है और अन्यमतियोंने जो अहिंसा कही है सो योगमात्रसेही कही है। अर्थात् कहीं अहिंसा कही है और कहीं हिंसाका पोषण किया है, सो स्वेच्छापूर्वक उन्मत्तकी तरह कहा है। **भावार्थ**-जिनागममें हिंसाका सर्वथा निषेध है किन्तु अन्यमतियोंने शास्त्रोंमें कहीं तो हिंसाका निषेध किया है और कहीं उसका पोषण किया है ॥ ५६ ॥

आर्या।

तन्नास्ति जीवलोके जिनेन्द्रदेवेन्द्रचक्रकल्याणम्।
यत्प्राप्नुवन्ति मनुजा न जीवरक्षानुरागेण ॥ ५७ ॥

अर्थ—इस जीवलोकमें (जगतमें) जीवरक्षाके अनुरागसे मनुष्य समस्त कल्याणरूप पदको प्राप्त होते हैं। ऐसा कोई भी तीर्थंकर देवेन्द्र चक्रवर्तित्वरूप कल्याणपद ऐसा नहीं है जो दयावान् नहीं पावें। अर्थात् अहिंसा (दया) सर्वोत्तमपदकी देनेवाली है ॥ ५७ ॥

यत्किंचित्संसारे शरीरिणां दुःखशोकभयबीजम्।
दौर्भाग्यादि समस्तं तद्धिंसासम्भवं ज्ञेयम् ॥ ५८ ॥

अर्थ—संसारमें जीवोंके जो कुछ दुःख शोक भयका बीज कर्म है तथा दुर्भाग्यादिक हैं वे समस्त एकमात्र हिंसासे उत्पन्न हुए जानो। **भावार्थ**-समस्त पापकर्मोंका मूल हिंसाही है ॥ ५८ ॥

अब अहिंसाका प्रकरण पूर्ण करते हुए कहते हैं,—

स्रग्धरा।

ज्योतिश्चक्रस्य चन्द्रो हरिरमृतभुजां चण्डरोचिर्ग्रहाणाम्।
कल्पाङ्घ्रिः पादपानां सलिलनिधिरपां स्वर्णशैलो गिरीणाम्।
देवश्रीवीतरागस्त्रिदशमुनिगणस्यात्र नाथो यथाऽयम्
तद्वच्छीलव्रतानां शमयमतपसां विद्ध्यहिंसां प्रधानाम् ॥ ५९ ॥

अर्थ—हे भव्य जीव! जिस प्रकार ज्योतिश्चक्रोंमें प्रधान स्वामी चन्द्रमा है तथा देवोंमें इन्द्र, ग्रहोंमें सूर्य, वृक्षोंमें कल्पवृक्ष, जलाशयोंमें समुद्र, पर्वतोंमें मेरु, और देवोंमें मुनियोंमें (स्वामी) श्री जिनेन्द्र देव प्रधान हैं उसी प्रकार शील और व्रतोंमें तथा शमयम तप (महाव्रत) और इनोंमें अहिंसाको प्रधान जानो। ऐसे अहिंसा [illegible] किया गया ॥ ५९ ॥

दोहा।

[illegible]
[illegible] ॥ १ ॥

इति [illegible] अहिंसाप्रकरणम् ॥ ८ ॥

अथ सत्यमहाव्रतस्वरूपम् ।

आगे सत्य महाव्रतका वर्णन करते हैं,—

यः संयमधुरा धत्ते धैर्यमालम्ब्य संयमी ।
स पालयति यत्नेन वाग्वने सत्यपादपम् ॥ १ ॥

अर्थ—जो संयमी मुनि धैर्यावलंबन करके संयमकी धुराको (मुनिदीक्षाको) धारण करता है वह मुनि वचनरूपी वनमें सत्यरूपी वृक्षको यत्नके साथ पालन करता है ॥ १ ॥

अहिंसाव्रतरक्षार्थं यमजातं जिनैर्मतम् ।
नारोहति परां कोटिं तदेवासत्यदूषितम् ॥ २ ॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान्ने जो यमनियमादिव्रतोंका समूह कहा है वह एकमात्र अहिंसाव्रतकी रक्षाके लियेही कहा है । क्योंकि अहिंसाव्रत यदि असत्यवचनसे दूषित हो तो वह उत्कृष्टपदको प्राप्त नहीं होता । अर्थात् असत्य वचनके होनेसे अहिंसाव्रत पूर्ण नहीं होता ॥ २ ॥

असत्यमपि तत्सत्यं यत्सत्त्वाशंसकं वचः ।
सावद्यं यच्च पुष्णाति तत्सत्यमपि निन्दितम् ॥ ३ ॥

अर्थ—जो वचन जीवोंका इष्ट हित करनेवाला हो वह असत्य हो तौ भी सत्य है और जो वचन पापसहित हिंसारूप कार्यको पुष्ट करता हो वह सत्यभी हो तो असत्य और निन्दनीय है ॥ ३ ॥

अनेकजन्मजक्लेशशुद्ध्यर्थं यस्तपस्यति ।
सर्वं सत्त्वहितं शश्वत्स ब्रूते सूनृतं वचः ॥ ४ ॥

अर्थ—जो मुनि अनेक जन्ममें उत्पन्न क्लेशों (दुःखों) की शांतिके लिये तपश्चरण करता है वह जीवोंके हितरूप निरन्तर सत्यवचनही बोलता है । क्योंकि असत्यवचन बोलनेसे मुनिपन नहीं संभवता है ॥ ४ ॥

सूनृतं करुणाक्रान्तमविरुद्धमनाकुलम् ।
अग्राम्यं गौरवाश्लिष्टं वचः शास्त्रे प्रशस्यते ॥ ५ ॥

अर्थ—जो वचन सत्य हो, करुणामें व्याप्त हो, विरुद्ध न हो, आकुलतारहित हो, छोटे ग्रामोंकासा गँवारीवचन न हो और गौरवसहित हो अर्थात् जिसमें हलकापन नहीं हो वही वचन शास्त्रमें प्रशंसा किया गया है ॥ ५ ॥

मौनमेव हितं पुंसां शश्वत्सर्वार्थसिद्धये ।
वचो वाचि प्रियं तथ्यं सर्वसत्त्वोपकारि यत् ॥ ६ ॥

अर्थ—पुरुषोंको प्रथम तो समस्त प्रयोजनोंका सिद्ध करनेवाला निरंतर मौनही अ[illegible] वलंबन करना हितकारी है। और यदि वचन कहनाही पड़े तो ऐसा कहना चाहिये जो सबको प्यारा हो, सत्य हो और समस्त जीवोंका हित करनेवाला हो ॥ ६ ॥

यो जिनैर्जगतां मार्गः प्रणीतोऽत्यन्तशाश्वतः ।
असत्यबलतः सोऽपि निर्दयैः कथ्यतेऽन्यथा ॥ ७ ॥

अर्थ—जिनेन्द्र सर्वज्ञ देवाधिदेवने जगत्के जीवोंको जो अत्यन्त शाश्वत (सनातन, ध्रुव) मार्ग कहा है, उस मार्गको भी निर्दय पुरुषोंने असत्यके बलसे अन्यथा वर्णन किया है। **भावार्थ**—विषयी तथा कषायी पुरुष अपने विषयकषाय पुष्ट करनेके लिये उत्तम मार्गका भी उत्थापन करके कुमार्गको चलाते हैं। यह मिथ्यात्वका माहात्म्य है। संसारमें मिथ्यात्व बड़ा बलवान् है ॥ ७ ॥

विपर्यासत्यसंदोहैः खलैर्लोकः खलीकृतः ।
कुशास्त्रैः स्वसुखोद्दीर्णैरुत्पाद्य गहनं तमः ॥ ८ ॥

अर्थ—दुष्ट विकार पुरुषोंने असत्यके समूहका विशेष प्रकारसे आन्दोलन करके अपने कपोलकल्पित मिथ्याशास्त्रोंद्वारा गहन अज्ञानान्धकारको उत्पन्न करके इस जगतको दुष्ट वा विकार बना दिया है। सो ठीक है, जो स्वार्थी होते हैं वे ऐसी ही दुष्टता करते हैं, किन्तु परके हिताहितका कुछ भी विचार न करके जिस किसी प्रकारसे अपना स्वार्थ साधन करते हैं ॥ ८ ॥

जयन्ति ते जगद्वन्द्या यैः सत्यकरुणामये ।
अवञ्चकेऽपि लोकोऽयं पथि शश्वत्प्रतिष्ठितः ॥ ९ ॥

अर्थ—जिन पुरुषोंने इस लोकको सत्यरूप, करुणामय तथा वचनारहित मार्गमें निरन्तर स्थापन किया है वेही जयवान् हैं और वेही जगतमें वन्दनीय व पूजनीय हैं ॥ ९ ॥

असद्वदनवल्मीके विशाला विषसर्पिणी ।
उद्वेजयति वागेव जगदन्तर्विषोल्बणा ॥ १० ॥

अर्थ—दुष्ट पुरुषके मुखरूपी बांबीमें अन्तरंगमें विषसे उत्कट ऐसी विस्तीर्ण [illegible] वाणीरूपी सर्पिणी रहती है, वही जगत भरको दुःख देती है ॥ १० ॥

इन्द्रवज्रा।

न सन्ति [illegible] न यत्र वाग्भिः [illegible] ।
[illegible] करोति विश्वस्य [illegible] ॥ ११ ॥

अर्थ—इस जगतमें व्यवहार। प्रवर्तानेवाली वाणी ऐसी नहीं है कि जिसमें समस्त व्यवहारोंकी सिद्धि करनेवाली स्याद्वादरूप सत्यार्थ वाणी स्फुरायमान न हो, किन्तु ऐसी स्याद्वादरूप सत्यार्थ वाणीको भी मिथ्यादृष्टी नष्टचित्तपुरुष असत्य कहते हुए समस्त व्यवहारोंका लोप करते हैं। भावार्थ-मिथ्यादृष्टी (सर्वथा एकान्ती) स्याद्वादका निषेध करते हैं अतएव वह नष्टबुद्धि हैं। क्योंकि सर्वथा एकान्त असत्य है। उस असत्य वचनसे न तो लोकव्यवहारकी सिद्धि होती और न धर्मव्यवहारहीकी सिद्धि होती है। ऐसे असत्य वचनको कहते हुए मिथ्यादृष्टी समस्त व्यवहारोंका लोप करते हैं॥ ११॥

पृष्टैरपि न वक्तव्यं न श्रोतव्यं कथंचन।
वचः शङ्काकुलं पापं दोषाढ्यं चाभिसूयकम्॥ १२॥

अर्थ—जो वचन शङ्कारूप हो तथा पापरूप हो और दोषोंसे संयुक्त हो एवम् दूसरोंको उत्तम करानेवाला हो वह अच्छे पूछनेपरभी नहीं कहना चाहिये। तथा किसी प्रकार सुनना भी नहीं चाहिये। भावार्थ-निषिद्धवचनका प्रसंगभी नहीं करना चाहिये॥ १२॥

मर्मच्छेदि मनःशल्यं च्युतस्थैर्यं विरोधकम्।
निर्दयं च वचस्त्याज्यं प्राणैः कण्ठगतैरपि॥ १३॥

अर्थ—तथा मर्मका छेदनेवाला, मनमें शल्य उपजानेवाला, स्थिरतारहित (चंचलरूप), विरोध उपजानेवाला तथा दयारहित वचन कण्ठगतप्राण होनेपर भी नहीं बोलना चाहिये॥ १३॥

धन्यास्ते हृदये येषामुदीर्णः करुणाम्बुधिः।
वाग्वीचिसंचयोल्लासैर्निर्वापयति देहिनः॥ १४॥

अर्थ—इस जगतमें वे पुरुष धन्य हैं जिनके हृदयमें करुणारूप समुद्र उदय होकर वचनरूप लहरोंके समूहोंके उल्लासोंसे जीवोंको शान्तिप्रदान करता है। भावार्थ-करुणारूप वचनोंको सुनकर दुःखी जीवभी सुखी हो जाते हैं॥ १४॥

धर्मनाशे क्रियाध्वंसे सुसिद्धान्तार्थविप्लवे।
अपृष्टैरपि वक्तव्यं तत्स्वरूपप्रकाशने॥ १५॥

अर्थ—जहां धर्मका नाश हो, क्रिया बिगड़ती हो तथा समीचीन सिद्धान्तका लोप होता हो उस जगह समीचीन धर्मक्रिया और सिद्धान्तके प्रकाशनार्थ विना पूछे भी विद्वानोंको बोलना चाहिये। क्योंकि यह सत्पुरुषोंका कार्य है॥ १५॥

या मुहुर्मोहयत्येव विश्रान्ता कर्णयोर्जनम्।
विषमं विषमुत्सृज्य साऽवश्यं पतगी न गीः॥ १६॥

अर्थ—जो वाणी लोकके कानोंमें वारवार पड़ी हुई तथा [illegible] लोगोंको मोहित करती है और समीचीनमार्गको भुलाती है वह वाणी [illegible] [illegible] है। भावार्थ-जिन वचनोंको सुनतेही संसारी प्राणी उत्तम मार्गसे [illegible] [illegible] पड़ [illegible] वह वचन सर्पके समान है ॥ १६ ॥

असन्नयैर्न विकृष्य चार्वाकद्विजकौलिकैः ।
सर्वांशपोषक पूर्णे पद्य पक्षं प्रतिष्ठितम् ॥ १७ ॥

अर्थ—[illegible] वचनके प्रभावसेही चार्वाक (नास्तिकमती) और [illegible] [illegible] [illegible] मार्गमें [illegible] होकर समस्त [illegible] [illegible] [illegible] (मत) स्थापन किया है ॥ १७ ॥

[illegible] गुरु[illegible]सम्मतिम [illegible]गुणोदरम् ।
[illegible] प्रवर्तन्ते [illegible]. कार्यनिष्फला: ॥ १८ ॥

अर्थ—[illegible] है कि वे ऐसा मानता है कि चार्वाक [illegible] [illegible] गुराता [illegible] है [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] नगर पीना [illegible] जब [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] गुरुसे जो वचन [illegible] है वैसी [illegible] [illegible] है ॥ १८ ॥

[illegible] [illegible]दिषु [illegible] ।
[illegible] विनोदेषु [illegible] देहिन. ॥ १९ ॥

[illegible] ॥ १९ ॥

[illegible] ॥ २० ॥

[illegible] ॥ २० ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥ २१ ॥

[illegible]

सर्वलोकप्रिये तथ्ये प्रसन्ने ललिताक्षरे ।
वाक्ये सत्यपि किं ब्रूते निकृष्टः परुषं वचः ॥ २२ ॥

अर्थ—जो वचन सर्वलोकको प्रिय, सत्य तथा प्रसन्न करनेवाले व ललिताक्षरवाले हैं उनके होते हुए भी नीचपुरुष कठोर वचन किसलिये कहते हैं सो मालूम नहीं होता है ॥ २२ ॥

सतां विज्ञाततत्त्वानां सत्यशीलावलम्बिनाम् ।
चरणस्पर्शमात्रेण विशुद्ध्यति धरातलम् ॥ २३ ॥

अर्थ—जो महापुरुष सत्यवचन बोलनेवाले हैं, तत्त्वोंके यथार्थ स्वरूपको जानने हैं, और सत्यशीलादिके अवलंबी हैं उनके चरणोंके स्पर्शमात्रसे यह धरातल पवित्र होता है। ऐसेही लोग उत्तम पुरुष हैं। और जो असत्य बोलते हैं वही नीच हैं ॥ २३ ॥

यमप्रशमगुणोपेतं सत्यश्रुतसमन्वितम् ।
यैर्जन्म सफलं नीतं ते धन्या धीमतां मताः ॥ २४ ॥

अर्थ—जिन पुरुषोंने अपना जन्म यमप्रशमादि गुणोंसे युक्त सत्यशास्त्रोंके अध्ययन पूर्वक सफल किया है वेही धन्य और विद्वानोंके द्वारा पूजनीय हैं ॥ २४ ॥

सुजन्मन्यपि यः सत्यप्रतिज्ञाप्रच्युतोऽधमः ।
स केन कर्मणा पश्चाज्जन्मपङ्कात्तरिष्यति ॥ २५ ॥

अर्थ—जो अधम पापी नीचपुरुष मनुष्यजन्म पाकरभी सत्यप्रतिज्ञासे रहित है, वह पापी फिर संसाररूप कर्दमसे किस कार्यसे पार होगा?। भावार्थ—सबसे उत्तम तो मनुष्यजन्मही है। इसमें ही धर्माचरण तथा प्रतिज्ञादि बन सकते हैं। इसके खोनेसे पर फिर तरनेका अवसर प्राप्त होना कठिन है, अतएव मनुष्यजन्मको सत्यादिकसे सफल करना चाहिये ॥ २५ ॥

अदयैः संप्रयुक्तानि वाक्शस्त्राणीह भूतले ।
सद्यो मर्माणि कृन्तन्ति शितास्त्राणीव देहिनाम् ॥ २६ ॥

अर्थ—निर्दय पुरुषोंके द्वारा चलाये हुए वचनरूप शस्त्र इस पृथ्वीतलपर जीवोंके मर्मको तीक्ष्णशस्त्रोंके समान तत्काल छेदन करते हैं। क्योंकि असत्य वचनके समान दूसरा कोईभी शस्त्र नहीं है ॥ २६ ॥

प्रशमश्रुतयमस्थानं विद्याविनयभूषणम् ।
चरणज्ञानयोर्बीजं सत्यसंज्ञं व्रतं मतम् ॥ २७ ॥

अर्थ—यह सत्यनामा व्रत, प्रशम, यम, श्रुत और इनोंका ही स्थान है, तथा विद्या

और विनयका भूषण है । क्योंकि विद्या और विनय सत्यवचनोंमें भावोंको प्राप्त होते हैं । और सम्यक्चारित्र तथा सम्यग्ज्ञानका बीज उत्पन्न करनेका कारण सत्य वचनही है ॥ २७ ॥

न हि सत्यप्रतिज्ञस्य पुण्यकर्मानलम्बिनः ।
प्रत्यूहकरणे शक्ता अपि दैत्योरगादयः ॥ २८ ॥

अर्थ—सत्यप्रतिज्ञावाले पुण्यकर्मानलम्बी पुरुषका दुष्ट दैत्य तथा सर्पादिक कुछ भी बुरा करनेको समर्थ नहीं हो सकते हैं ॥ २८ ॥

॥ चन्द्रमूर्त्तिरिवानन्दं वर्द्धयन्ती जगत्त्रये ।
स्वर्गिभिर्ध्रियते मूर्ध्नि कीर्तिः सत्योत्थिता नृणाम् ॥ २९ ॥

अर्थ—तीन लोकमें चन्द्रमाके समान आनंदको बढ़ानेवाली सत्यवचनसे उत्पन्न हुई मनुष्योंकी कीर्तिको देवता भी मस्तकपर धारण करते हैं ॥ २९ ॥

खण्डितानां विरूपाणां दुर्विधानां च रोगिणाम् ।
कुलजात्यादिहीनानां सत्यमेकं विभूषणम् ॥ ३० ॥

अर्थ—जिनके हाथ नाक आदि अवयव कटे हों तथा जो विरूप हों, और जो दरिद्री तथा रोगी हों वा कुलजात्यादिसे हीन हों उनका भूषण सत्यवचन बोलनाही है। अर्थात् यही उनकी शोभा करनेवाला है । क्योंकि जो उक्त समस्त बातोंसे हीन और सत्यवचन बोलता हो, उसकी सब कोई प्रशंसा करते हैं ॥ ३० ॥

॥ यस्तपस्वी जटी मुण्डो नग्नो वा चीवरावृतः ।
सोऽप्यसत्यं यदि ब्रूते निन्द्यः स्यादन्त्यजादपि ॥ ३१ ॥

अर्थ—जो तपस्वी हो, जटाधारी हो, मस्तक मुँडाये हो अथवा नग्न (दिगम्बर) हो, या वस्त्रधारी हो और असत्य बोलता हो तो वह चंडालसेभी बुरा और अतिशय निंदनीय है ॥ ३१ ॥

कुटुम्बं जीवितं वित्तं यद्यसत्येन वर्द्धते ।
तथापि युज्यते वक्तुं नासत्यं शीलशालिभिः ॥ ३२ ॥

अर्थ—यदि असत्य वचनसे अपने कुटुंब, जीवन और धनकी वृद्धि हो तो भी, शीलसे शोभित पुरुषोंको असत्यवचन कहना उचित नहीं है ॥ ३२ ॥

एकतः सकलं पापमसत्योत्थं ततोऽन्यतः ।
साम्यमेव वदन्त्यार्यास्तुलायां धृतयोस्तयोः ॥ ३३ ॥

अर्थ—आर्य पुरुषोंने तराजूमें एक तरफ तो समस्त पापोंको रक्खा और एक तरफ

असत्यसे उत्पन्न हुए पापको रखकर तौला तो दोनों समान हुए । भावार्थ-असत्य अकेला ही समस्त पापोंके बराबर है ॥ ३३ ॥

मूकता मतिवैकल्यं मूर्खता बोधविच्युतिः ।
बाधिर्यं मुखरोगित्वमसत्यादेव देहिनाम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—गूंगापन, बुद्धिकी विकलता, मूर्खता, अज्ञानता, बधिरता तथा मुखमें रोग होना इत्यादि जो सबही जीवोंके होते हैं वे असत्यवचन बोलनेके पापहीसे होते हैं ॥३४॥

श्वपाकोलूकमार्जारवृकगोमायुमण्डलाः ।
स्वीक्रियन्ते क्वचिल्लोकैर्न सत्यच्युतचेतसः ॥ ३५ ॥

अर्थ—चण्डाल, उल्लू (घूघू), बिलाव, भेड़िया और कुत्ता आदि यद्यपि निंदित है तथापि इन्हें अनेक लोग अंगीकार करते है, परन्तु असत्यवादियोंको कोई अंगीकार नहीं करता अतएव असत्यवादी इन सबसे भी अधिक निंदनीय है ॥ ३५ ॥

प्रसन्नोन्नतवृत्तानां गुणानां चन्द्ररोचिषाम् ।
सङ्घातं घातयत्येव सकृदप्युदिता मृषा ॥ ३६ ॥

अर्थ—एकबार भी बोला हुआ असत्यवचन चन्द्रमाकी किरणोंके समान प्रसन्न (निर्मल) तथा उन्नत गुणोंके समूहको नष्ट करता है । भावार्थ-असत्य वचन ऐसा मलिन है कि चन्द्रवत् निर्मल गुणोंको भी मलिन कर देता है ॥ ३६ ॥

न हि स्वप्नेऽपि संसर्गमसत्यमलिनैः सह ।
कश्चित्करोति पुण्यात्मा दुरितोरुकशङ्कया ॥ ३७ ॥

अर्थ—जो असत्यसे मलिन पुरुष है उनके साथ पापरूप कालिमाके भयसे कोई पुण्यात्मा पुरुष स्वप्नमें भी साक्षात् (मुलाकात) नहीं करते । भावार्थ-झूठेकी संगतसे सच्चेको भी कालिमा लगती है ॥ ३७ ॥

जगद्वन्द्ये सतां सेव्ये भव्यव्यसनशुद्धिदे ।
शुभे कर्मणि योग्यः स्यान्नासत्यमलिनो जनः ॥ ३८ ॥

अर्थ—जगतके वंदनीय, सत्पुरुषोंके पूजनीय, संसारके कष्ट आपदाओंसे शुद्धिके देनेवाले शुभ कार्योंमें असत्यसे मैले पुरुष योग्य नहीं गिने जाते । भावार्थ-शुभकार्योंमें झूठेका अधिकार नहीं है ॥ ३८ ॥

महामतिभिर्निष्ठ्यूतं देवदेवैर्निषेधितम् ।
असत्यं पोषितं पापैर्दुःशीलाधमनास्तिकैः ॥ ३९ ॥

अर्थ—बड़े २ बुद्धिमानोंने तो असत्य वचनको त्याग दिया है और देवाधिदेव सर्वज्ञ वीतरागने इसका निषेध किया है किंतु खोटे स्वभाववाले नीच नास्तिक पापियोंने इसका

[illegible] किया है। ठीकही है, पापियोंको पापही इष्ट होता है। [illegible] करते हैं, [illegible] उनकी प्रशंसा किया ही करते हैं ॥ ३९ ॥

सुतस्वजनदारादिवित्तबन्धुकृतेऽथवा ।
आत्मार्थं न वचोऽसत्यं वाच्यं प्राणात्ययेऽथवा ॥ ४० ॥

अर्थ—पुत्र, सज्जन, स्त्री, धन, और मित्रोंके लिये अथवा अपने लिये [illegible] असत्य वचन नहीं बोलना चाहिये, यही उपदेश है ॥ ४० ॥

वंशस्थम् ।

परोपरोधादतिनिन्दितं वचो
ब्रुवन्नरो गच्छति नारकीं पुरीं ।
अनिन्द्यवृत्तोऽपि गुणी नरेश्वरो
वसुर्यथागादिति लोकविश्रुति ॥ ४१ ॥

अर्थ—[illegible] (पापमार्गमें) [illegible] लिये अति निन्दित [illegible] जाता है। जैसे—वसु राजा अति [illegible] और गुणी [illegible] नरकको गया। [illegible] (जैसा पुराणोंमें प्रसिद्ध है) इस कारण [illegible] ॥ ४१ ॥

[illegible] पूरा करते हुए कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितम् ।

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] ॥ ४[illegible] ॥

[illegible]

दोहा ।

सत्यवचन संसारमें, करै सकल कल्यान ।
मुनि पालैं पूरण इसे, पावैं मोक्षनिधान ॥ १ ॥

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे शुभचन्द्राचार्यविरचिते सत्यमहाव्रत नाम नवम प्रकरण ॥ ९ ॥

अथ अस्तेयमहाव्रतप्रकरणम् ।

आगे अस्तेय महाव्रतका वर्णन करते हैं,—

अनासाद्य व्रतं नाम तृतीयं गुणभूषणम् ।
नापवर्गपथि प्रायः कश्चिद्दत्ते मुनिः स्थितिम् ॥ १ ॥

अर्थ—मुनि गुणोंका भूषणस्वरूप तीसरे अस्तेयनामा महाव्रतको अंगीकार नहिं करे तो मोक्षमार्गमें प्राय कहींभी स्थिरताको प्राप्त नहिं होता ॥ १ ॥

यः समीहति जन्माब्धेः पारमाक्रमितुं सुधीः ।
स त्रिशुद्ध्यातिनिःशङ्को नादत्ते कुसुमं मणिं ॥ २ ॥

अर्थ—जो पुरुष संसारसमुद्रसे पार होनेकी इच्छा करता है वह बुद्धिमान निःशंक (निःशल्य) होकर मनवचनकायसे अदत्त (विना दीहुई) वस्तुके ग्रहण करनेकी इच्छा नहिं करता ॥ २ ॥

वित्तमेव मतं सूत्रे प्राणा बाह्याः शरीरिणाम् ।
तस्यापहारमात्रेण स्युस्ते प्रागेव घातिताः ॥ ३ ॥

अर्थ—धन शास्त्रोंमें जीवोंको बाह्यप्राण कहा गया है इसकारण, उस धनका हरण करनेसे जीवोंके प्राण घातित हो जाते हैं । भावार्थ—यदि किसीने किसीका धन हरण किया तो उसने उसके प्राणही हरे ऐसा समझना चाहिये । इस बातका बाह्यप्राण कहा है ॥ ३ ॥

गुणाः गौणत्वमायान्ति याति विद्या विडम्बनाम् ।
चौर्येणाकीर्तयः पुंसां शिरस्याधते पदं ॥ ४ ॥

अर्थ—चोरी करनेवालेके गुण तो गौणताको प्राप्त हो जाते हैं तथा विद्या विडम्बनाको प्राप्त होती है और अपकीर्ति (निंदा) मस्तकपर पग धरती है । भावार्थ—चोरी करनेवाले पुरुषके गुणको कोई भी नहिं मानता है तथा उसकी विद्या आदि निंद्य होकर विडम्बित हो जाती है और अकीर्तिका टीका मस्तकपर लगता रहता है ॥ ४ ॥

पुण्यानुष्ठानजातानि प्रणश्यन्तीह देहिनाम् ।
परवित्तामिषग्राससलालसमना धरातले ॥ ५ ॥

अर्थ—इस पृथिवीमें परधनरूपी मांसके ग्रासमें आसक्त जनोंके पुण्यरूप आचरणोंके समूह इसी लोकमें नष्ट हो जाते हैं । भावार्थ–चोरी करनेवालेके आचरण उत्तम नहीं रहते ॥ ५ ॥

परद्रव्यग्रहार्त्तस्य तस्करस्येह निर्दया ।
गुरुबन्धुसुतान्हन्तु प्रायः प्रज्ञा प्रवर्तते ॥ ६ ॥

अर्थ—परद्रव्यका ग्रह कहिये ग्रहण करना अथवा परद्रव्यरूपी पिशाचसे पीड़ित चोरके गुरु, भाई और पुत्रको मार डालनेकी निर्दयरूप इच्छा प्राय हो जाया करती है। भावार्थ–चोरको किसीको मारनेमें दया नहिं होती ॥ ६ ॥

हृदि यस्य पदं धत्ते परवित्तामिषस्पृहा ।
करोति किं न किं तस्य कण्ठलग्नेव सर्पिणी ॥ ७ ॥

अर्थ—जिस पुरुषके हृदयमें परधनरूप मांसभक्षणकी इच्छा स्थान पालेती है उसके कंठमें लगीहुई सर्पिणीके समान है, और वह क्या क्या इच्छा नहिं करती अर्थात् सबही अनिष्ट करती है ॥ ७ ॥

चुराशील विनिश्चित्य परित्यजति शङ्किता ।
वित्तापहारदोषेण जनन्यपि सुतं निजम् ॥ ८ ॥

अर्थ—जिसका स्वभाव चोरी करनेका हो जाता है ऐसे अपने पुत्रको माता यह जानकर अपने धन हरेजानेके भयसे भयभीत होकर छोड़ देती है । अन्यकी कथाही क्या ? ॥ ८ ॥

भ्रातरः पितरः पुत्राः स्वकुल्या मित्रबान्धवाः ।
संसर्गमपि नेच्छन्ति क्षणार्द्धमिह तस्करैः ॥ ९ ॥

अर्थ—भाई, पिता, पुत्र, निजस्त्री, मित्र तथा हितू आदि कोईभी चोरका संग क्षणभरके लिये नहिं चाहते, अर्थात् चोरका कोईभी सगा (सघाती) नहि होता ॥ ९ ॥

न जने न वने चेतः स्वस्थं चौरस्य जायते ।
मृगस्येवोद्धतव्याधाद्वाशङ्क्य वधमात्मनः ॥ १० ॥

अर्थ—चोरका चित्त न तो मनुष्योंमें बैठनेपर स्थिर रहता है और न वनहीमें थिर रहता है जैसे किसी मृगके पीछे शिकारी लग जाय तो अपना घात होनेके भयसे उसका चित्त ठिकाने नहिं रहता, उसी प्रकार चोरकोभी अपने पकड़े जानेका डर निरंतर रहा करता है ॥ १० ॥

संत्रासोक्रान्तचेतस्कश्चौरो जागर्त्यहर्निशम् ।
घध्येयात्र भिगेयात्र मार्यथाग्रेति शङ्कित ॥ ११ ॥

अर्थ—मैं यहां पकड़ा जाऊगा या मारा जाऊगा तथा यहांपर पीटा जाऊगा इत्यादि आकुलतासे पागलसा होकर चोर रातदिन जागता रहता है, अर्थात् सचेत रहता है अत कभी असावधान नहिं रहता ॥ ११ ॥

नात्मरक्षा न दाक्षिण्य नोपकार न धर्मता ।
न सता शंसित कर्म चौर स्वप्नेपि बुद्ध्यति ॥ १२ ॥

अर्थ—चोर अपनी रक्षाको नहिं जानता और सब चतुराई भूल जाता है, वह परोपकार तथा धर्मकोभी नहिं जानता और न सत्पुरुषोंक करने योग्य कार्योंकोही स्वप्नमें याद करता है । भावार्थ-चोरका चित्त निरन्तर चोरी करनेमें और भयम मग्न रहता है, उसे उत्तमकार्य करनेका अवसर कैसे मिलै ? ॥ १२ ॥

गुरवो लाघव नीता गुणिनोऽप्यत्र खण्डिता ।
चौरसश्रयदोषेण यतयो निधन गताः ॥ १३ ॥

अर्थ—इस लोकमें चोरकी संगतिसे बड़े २ महापुरुष तो लघुताको प्राप्त हुए तथा गुणी पुरुष खडित किये गये और मुनिगणभी मारे गये । भावार्थ-चोरका संसर्ग मात्र भी महादु खदायक है ॥ १३ ॥

तृणाङ्कुरमिवादाय घातयन्त्यविलम्बितम् ।
चौर विज्ञाय नि शङ्क धीमन्तोऽपि धरातले ॥ १४ ॥

अर्थ—इस पृथिवीतलमें चोर जाननेपर बुद्धिमान् पुरुष भी तत्काल उसे तृणाङ्कुरके समान पकड़कर नि शक हो मारने पीटने लग जाते हैं । भावार्थ-चोरपर कोईभी दया नहिं करता ॥ १४ ॥

विशन्ति नरक घोर दु खज्वालाकरालित ।
अमुत्र नियत मूढा' प्राणिनश्चौर्यचर्विता ॥ १५ ॥

अर्थ—चोरी करनेवाले मूढ पुरुष परलोकमें दु खरूपी ज्वालासे भयानक घोर नरकमें नियमपूर्वक प्रवेश करते हैं ॥ १५ ॥

सरित्पुरगिरिग्रामवनवेश्मजलादिषु ।
स्थापित पतित नष्ट परस्व त्यज सर्वथा ॥ १६ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि हे आत्मन् ! नदी, नगर, पर्वत, ग्राम, वन, घर तथा जल इत्यादिमें रक्खेहुए, गिरेहुए तथा नष्ट हुए धनको मन-वचन-कायसे ग्रहण करना छोड़ ॥ १६ ॥

चिदचिद्रूपतापन्नं यत्परस्वमनेकधा ।
तत्त्याज्य सयमोद्दामसीमासरक्षणोद्यमैः ॥ १७ ॥

अर्थ—परधनके दो भेद हैं, एक चेतन, दूसरा अचेतन चेतन तो दासी, दास, पुत्र, पौत्र, स्त्री, गौ, महिष तथा घोडे आदि है, और अचेतन धन धान्य, सुवर्णादि है। ये अनेक प्रकारके हैं। अत यदि संयमकी उत्तम मर्यादा (प्रतिज्ञा) की रक्षा करनी हो तो उनको अवश्य छोड़ना योग्य है अर्थात् परद्रव्य कुछभी नहिं लेना चाहिये॥१७॥

आस्ता परधनादित्सा कर्तुं स्वप्नेऽपि धीमताम् ।
तृणमात्रमपि ग्राह्य नादत्त दन्तशुद्धये ॥ १८ ॥

अर्थ—बुद्धिमानोंको परधन ग्रहण करनेकी इच्छा करनी तो स्वप्नमें भी दूर है किन्तु दन्त धोनेको तृण (दातोन) भी विना दिया हुआ परका ग्रहण करना [illegible] नहीं है ॥ १८ ॥

आर्या ।

अतुलसुखसिद्धिहेतो,–धर्मयशश्चरणरक्षणार्थं च ।
इह परलोकहितार्थं, कलयत चित्तेऽपि मा चौर्यम् ॥ १९ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि—हे भव्य जीवो! तुम इस चोरीको उपर्युक्त प्रकारसे निंद्य जानकर अतुल्य सुखकी सिद्धिके लिये, एवम् धर्म, यश और चारित्रकी रक्षाके लिये तथा उभय लोकमें हितके लिये चित्तमेंभी इसे मत विचारो। अर्थात् चोरी करना तो दूर रहा, इसको चित्तमेंभी न लाओ ॥ १९ ॥

अब इस अधिकारको पूर्ण करते हुए कहते हैं,—

मालिनी ।

विषयविरतिमूलं संयमोद्दामशाखम्
यमदलशमपुष्पं ज्ञानलीलाफलाढ्यम् ।
विबुधजनशकुन्तैः सेवितं धर्मवृक्षं
दहति मुनिरपीह स्तेयतीव्रानलेन ॥ २० ॥

अर्थ—जिस धर्मरूपी वृक्षकी जड़ विषयोंसे विरक्त होना है जिसकी संयमरूपी बड़ी शाखायें हैं, यम नियमादि पत्र हैं, उपशम भाव पुष्प हैं ज्ञानानन्दरूपी फल है और जो पंडित तथा विद्वानरूपी पक्षियोंसे सेवित है। ऐसे धर्मरूपी वृक्षको [illegible] तीव्र अग्निसे [illegible] है तो अन्य साधारणकी तो कथा ही [illegible] इस कारण धर्मका सबसे बड़ा घातक चोरी है। इस प्रकार अचौर्यव्रतका [illegible] ॥ २० ॥

सोरठा ।

जो अदत्त वस्तु लेत ताको सगो न कोइ है ।
गुणनि जलांजलि देत, नरकवास परभव लहै ॥ १ ॥

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे अस्तेय-महाव्रतप्रकरणम् ॥ १० ॥

अथ ब्रह्मचर्यमहाव्रतप्रकरण ।

आगे ब्रह्मचर्यमहाव्रतका निरूपण करते हैं—

विन्दन्ति परमं ब्रह्म यत्समालम्ब्य योगिनः ।
तद्व्रतं ब्रह्मचर्यं स्याद्धीरधौरेयगोचरम् ॥ १ ॥

अर्थ—जिस व्रतको आलंबन करके योगीगण परब्रह्म परमात्माको जानते हैं अर्थात् उसे अनुभवते हैं और जिसको धीरवीर पुरुषही धारण कर सकते हैं। किंतु सामान्य मनुष्य धारण नहिं कर सकते, यह ब्रह्मचर्य नामका महाव्रत है ॥ १ ॥

सप्रपञ्चं प्रवक्ष्यामि ज्ञात्वेदं गहनं व्रतम् ।
स्वल्पोऽपि न सतां क्लेशः कार्योऽस्यालोक्य विस्तरम् ॥ २ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि मैं इस व्रतको गहन जानकर विस्तारके साथ कहूंगा, परन्तु सत्पुरुषोंको इसके विस्तारको देखकर स्वल्पभी क्लेश न करना चाहिये ॥ २ ॥

एकमेव व्रतं श्लाघ्यं ब्रह्मचर्यं जगत्त्रये ।
यद्विशुद्धिं समापन्ना पूज्यन्ते पूजितैरपि ॥ ३ ॥

अर्थ—इन तीन जगतोंमें ब्रह्मचर्यनामका व्रत ही प्रशंसा करने योग्य है क्योंकि जिन पुरुषोंने इस व्रतकी निर्मलता निरतिचारतापूर्वक प्राप्त की है व पूज्य पुरुषोंके द्वारा भी पूजे जाते हैं। भावार्थ—अर्हंत भगवान् ब्रह्मचर्यकी पूर्णताको प्राप्त हुए हैं, अतः उनकी पूजा मुनि और गणधरादिक सबही पूज्य पुरुष करते हैं ॥ ३ ॥

ब्रह्मव्रतमिदं जीयाच्चरणस्यैव जीवितम् ।
स्युः सन्तोऽपि गुणा येन विना क्लेशाय देहिनाम् ॥ ४ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज आशीर्वादपूर्वक कहते हैं कि—यह ब्रह्मचर्यनामा महाव्रत जयवन्त हो। क्योंकि यह चारित्रका तो एकमात्र जीवन है और इसके विना अन्य जितने गुण हैं वे सब जीवोंको क्लेशकेही कारण होते हैं ॥ ४ ॥

नाल्पसत्त्वैर्न निःशीलैर्न दीनैर्नाक्षनिर्जितैः।
स्वप्नेऽपि चरितुं शक्यं ब्रह्मचर्यमिदं नरैः॥ ५॥

अर्थ—जो अल्पशक्ति पुरुष हैं, शीलरहित हैं, दीन हैं और इन्द्रियोंसे जीते हुए हैं वे इस ब्रह्मचर्यको धारण करनेको स्वप्नमें भी समर्थ नहीं होसकते हैं अर्थात् बड़ी शक्तिके धारक पुरुषही ऐसे कठिनव्रतके आचरण करनेके लिये समर्थ होते हैं॥ ५॥

अब इस ब्रह्मचर्यको धारण करनेवालोंके त्यागने योग्य दश प्रकारके मैथुनको कहते हैं,—

पर्यन्तविरसं विद्धि दशधान्यच्च मैथुनम्।
योषित्संगाद्विरक्तेन त्याज्यमेव मनीषिणा॥ ६॥

अर्थ—इस ब्रह्मचर्य व्रतका प्रतिपक्षी मैथुन (कामसेवन) है। सो दश प्रकारका है और अन्तमें निरस है, इस कारण जो पुरुष स्त्रीसे विरक्त हैं तथा बुद्धिमान् हैं उनको अवश्यही त्यागना योग्य है॥ ६॥

उन दशप्रकारके मैथुनोंके नाम तीन श्लोकोंसे कहते हैं,—

आद्यं शरीरसंस्कारो द्वितीयं वृष्यसेवनम्।
तौर्यत्रिकं तृतीयं स्यात्संसर्गस्तूर्यमिष्यते॥ ७॥
योषिद्विषयसंकल्पः पञ्चमं परिकीर्तितम्।
तदङ्गवीक्षणं षष्ठं संस्कारः सप्तमं मतम्॥ ८॥
पूर्वानुभोगसंभोगस्मरणं स्यात्तदष्टमम्।
नवमं भाविनी चिन्ता दशमं वस्तिमोक्षणम्॥ ९॥

अर्थ—प्रथम तो शरीरका संस्कार करना (शृंगारादि करना) १, दूसरा-पुष्टरस सेवन करना २, तीसरा-तौर्यत्रिक कहिये गीतनृत्यवादित्रका देखना सुनना ३, चौथा स्त्रीका संसर्ग करना ४, पांचवा-स्त्रीमें किसी प्रकारका संकल्प वा विचार करना ५, छठा-स्त्रीके अंग देखना ६, सातवा-उस देखनेका संस्कार (हृदयमें अंकित) रहना ७, आठवा-पूर्वमें किये हुए संभोगका स्मरण करना ८, नवा-आगामी भोगनेकी चिन्ता करना ९ और दशवा शुक्रका क्षरण १०। इस प्रकार मैथुनके दश भेद हैं इन्हें ब्रह्मचारीको सर्वथा त्यागना चाहिये॥ ७॥ ८॥ ९॥

किम्पाकफलसंभोगसन्निभं तद्धि मैथुनम्।
आपातमात्ररम्यं स्याद्विपाकेऽत्यन्तभीतिदम्॥ १०॥

अर्थ—जिस प्रकार किंपाकफल (इन्द्रायणका फल) देखने, सूंघने और खानेमें रमणीय (सुस्वादु) है और विपाक होनेपर हालाहल (विष)का काम करता है उसी प्रकार यह मैथुन भी कुछ कालपर्यन्त रमणीक वा सुखदायक मालूम होता है, परन्तु विपाकसमयमें (अन्तमें) बहुतही भयका देनेवाला है॥ १०॥

विरज्य कामभोगेषु ये ब्रह्म समुपासते ।
एते दश महादोषास्तैस्त्याज्या भावशुद्धये ॥ ११ ॥

अर्थ—जो पुरुष काम और भोगोंमें विरक्त होकर ब्रह्मचर्यका सेवन करते हैं उनको भावशुद्धिके लिये उपर्युक्त दश प्रकारके मैथुन त्याग देने चाहिये। क्योंकि इन दोषोंके त्यागे विना भावोंकी शुद्धि नहिं होती ॥ ११ ॥

अब और भी विशेषतासे कहते हैं,—

स्मरप्रकोपसंभूतान्स्त्रीकृतान्मैथुनोत्थितान् ।
संसर्गप्रभवान्ज्ञात्वा दोषान् स्त्रीषु विरज्यताम् ॥ १२ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! कामके प्रकोपसे उत्पन्न हुए दोषों तथा स्त्रीक किये दोषों और मैथुनकृत दोषों तथा संसर्गजन्य दोषोंको जानकर स्त्रियोंसे विरक्त हो ॥ १२ ॥

अब प्रथमही कामका प्रकोप होनेसे जो दोष होते हैं उनका वर्णन करते हैं,—

सिक्तोऽप्यम्बुधरव्रातैः प्लावितोऽप्यम्बुराशिभिः ।
न हि त्यजति संतापं कामवह्निप्रदीपितः ॥ १३ ॥

अर्थ—कामरूपी अग्निका ताप ऐसा होता है कि वह प्रज्वलित हुआ मेघके समूहोंसे सिंचन होनेपर भी दूर नहिं होता। अथवा कामाग्निसे प्रज्वलित पुरुषको समुद्रमें डुबा रक्खो तौ भी संताप दूर नहिं होता ॥ १३ ॥

मूले ज्येष्ठस्य मध्याह्ने व्यभ्रे नभसि भास्करः ।
न प्लोषति तथा लोकं यथा दीप्तः स्मरानलः ॥ १४ ॥

अर्थ—कामरूप अग्नि प्रज्वलित होकर जिस प्रकार लोकको संतापित करती है उस प्रकार जेठमहीनेके मूलनक्षत्रमें बादलरहित आकाशमें मध्याह्नका सूर्य नहिं कर सकता ॥ १४ ॥

हृदि ज्वलति कामाग्निः पूर्वमेव शरीरिणाम् ।
भस्मसात्कुरुते पश्चादङ्गोपाङ्गानि निर्दयः ॥ १५ ॥

अर्थ—कामरूपी निर्दय अग्नि प्रथम तो जीवोंके हृदयमें प्रज्वलित होती है, तत्पश्चात् जब वृद्धिको प्राप्त होती है तब शरीरके अंग उपांगोंको भस्म कर देता है। अर्थात् सुखा देती है ॥ १५ ॥

अचिन्त्यकामभोगीन्द्रविषव्यापारमूर्च्छितम् ।
वीक्ष्य विश्वं विवेकाय यतन्ते योगिनः परं ॥ १६ ॥

अर्थ—जो परम योगी हैं वे इस जगतको अचिन्त्य कामरूपी सर्पके विषसे विश्वको

[illegible] देवकी यतने अन्तरङ्गके भेदविज्ञानार्थ यत्न करते हैं। भावार्थ [illegible] करने [illegible] हैं ॥ १६ ॥

स्मरव्यालविषोद्गारैर्वीक्ष्य विश्व कदर्थितम् ।
यमिन शरण जग्मुर्विवेकविनतासुतम् ॥ १७ ॥

अर्थ—[illegible] सर्पके विषोद्गारसे पीडित समस्त जगतको देखकर [illegible] [illegible] हुए हैं। भावार्थ-कामसे बचनेका [illegible] [illegible] है ॥ १७ ॥

एक एव स्मरो वीरः स चैकोऽचिन्त्यविक्रम ।
अवज्ञयैव येनेदं पादपीठीकृतं जगत् ॥ १८ ॥

अर्थ—[illegible] और [illegible] है, [illegible] अचिन्त्य है। [illegible]

[illegible] जीवलोकं चराचरम् ।
[illegible] ॥ १९ ॥

अर्थ [illegible]

[illegible]
[illegible] ॥ २० ॥

अर्थ [illegible]

[illegible]
[illegible] ॥ २१ ॥

अर्थ—[illegible]

[illegible]
[illegible] ॥ २२ ॥

अर्थ—फिर भी कहते हैं कि मैं इस जीवोंके समूहको कामरूपी अग्निसे जलता हुआ मानता हूं। क्योंकि-यह प्राणिसमूह स्त्रीके शरीररूपी कीचड़में प्रवेश करके डूबता है। भावार्थ-कामी पुरुष कामरूप अग्निके तापमें संतप्त हो स्त्रीके शरीररूपी कीचड़में प्रवेश करके शीतल होना चाहता है ॥ २२ ॥

अनन्तव्यसनासारदुर्गे भवमरुस्थले ।
स्मरज्वरपिपासार्त्ता विपद्यन्ते शरीरिण ॥ २३ ॥

अर्थ—ये संसारी जीव कामज्वरके दाहसे उत्पन्न हुई तृषासे पीड़ित होकर अनन्त कष्टोंका समूहस्वरूप दुर्गम संसाररूपी मरुस्थलमें दुःख सहन करते हैं ॥ २३ ॥

घृणास्पदमतिक्रूरं पापाढ्यं योगिदूषितम् ।
जनोऽप्य कुरुते कर्म स्मरशार्दूलचर्वित ॥ २४ ॥

अर्थ—कामरूपी सिंहसे चर्वित हुआ यह मनुष्य योगियोंसे निन्दित, पापसे भरे, अतिशय क्रूरतारूप तथा घृणास्पद कार्यको भी करता है ॥ २४ ॥

दिग्मूढमथ विभ्रान्तमुन्मत्तं शङ्किताशयम् ।
विलक्ष्यं कुरुते लोकं स्मरवैरीविजृम्भित ॥ २५ ॥

अर्थ—प्रकोपको प्राप्तहुआ यह कामरूपी वैरी लोगोंको दिशामूढ़ अथवा विभ्रमरूप करता है। तथा उन्मत्त और भयभीत करता है। एवम् विलक्ष्य कहिये लक्ष्यभ्रष्ट (इष्टकार्यसे विमुख) करता है। भावार्थ-जब कामोद्दीपन होता है तब समस्त समीचीन कार्योंको भूलकर एकमात्र उसकाही चिंतवन स्मरणका ध्यान रहता है ॥ २५ ॥

न हि क्षणमपि स्वस्थं चेत स्वप्नेऽपि जायते ।
मनोभवशरव्रातैर्भिद्यमानं शरीरिणाम् ॥ २६ ॥

अर्थ—कामके बाणोंके समूहसे भिदता हुआ जीवोंका चित्त क्षणभरके लिये स्वप्नमेंभी स्वस्थताको प्राप्त नहिं होता ॥ २६ ॥

जानन्नपि न जानाति पश्यन्नपि न पश्यति ।
लोक कामानलज्वालाकलापकवलीकृत ॥ २७ ॥

अर्थ—यह लोक है सो कामरूपी अग्निकी ज्वालाके समूहसे ग्रसाहुआ जानता हुआभी कुछ नहि जानता और देखता हुआभी कुछ नहि देखता। इस प्रकार अचेत (वे खबर) हो जाता है ॥ २७ ॥

॥ भोगिदष्टस्य जायन्ते वेगा सप्तैव देहिन ।
स्मरभोगीन्द्रदष्टाना दश स्युस्ते भयानका ॥ २८ ॥

अर्थ—सर्पसे काटेहुए प्राणीके तो सातही वेग होते हैं, परन्तु कामरूपी सर्पके डसेहुए जीवोंके दश वेग होते हैं जो बड़े भयानक हैं ॥ २८ ॥

प्रथमे जायते चिन्ता द्वितीये द्रष्टुमिच्छति।
तृतीये दीर्घनिश्वासाश्चतुर्थे भजते ज्वरम्॥ २९॥
पञ्चमे दह्यते गात्रं षष्ठे भुक्तं न रोचते।
सप्तमे स्यान्महामूर्च्छा उन्मत्तत्वमथाष्टमे॥ ३०॥
नवमे प्राणसन्देहो दशमे मुच्यतेऽसुभिः।
एतैर्वेगैः समाक्रान्तो जीवस्तत्त्वं न पश्यति॥ ३१॥

अर्थ—कामके उद्दीपन होनेपर प्रथमही तो चिन्ता होती है कि स्त्रीका संग कैसे हो, दूसरे वेगमे उसके देखनेकी इच्छा होती है, तीसरे वेगमे दीर्घनिश्वास लेता है और कहता है, कि हाय देखना नहीं हुआ, चौथे वेगमें ज्वर होता है अर्थात् बुखार (ताप) चढ़ आता है, पांचवें वेगमें शरीर दग्ध होने लगता है, छठे वेगमें खियाहुआ भोजन नहीं रुचता, सातवें वेगमें महामूर्च्छा हो जाती है अर्थात् अचेत (बेहोश) हो जाता है, आठवें वेगमें उन्मत्त (पागल) हो जाता है तथा यद्वा तद्वा प्रलाप करने (बकने) लग जाता है, नवे वेगमें प्राणोंका संदेह हो जाता है कि अब मैं जीवित नहीं रहूँगा। और दशवां वेग ऐसा आता है कि जिससे मरण हो जाता है। इस प्रकार कामके दश वेग होते हैं। इन वेगोंसे व्याप्त हुआ जीव यथार्थ तत्त्व अर्थात् वस्तुस्वरूपको नहिं देखता। जब लोकव्यवहारहीका ज्ञान नहिं रहे तब परमार्थका ज्ञान कैसे हो॥ २९॥ ३०॥ ३१॥

संकल्पवशतस्तीव्रा वेगा मन्दाश्च मध्यमाः।
कामज्वरप्रकोपेन प्रभवन्तीह देहिनाम्॥ ३२॥

अर्थ—संकल्पके वशमे और कामज्वरके प्रकोपके तीव्र, मन्द, मध्यम होनेसे ये दश वेग तीव्र, मध्यम और मंद भी होते हैं। सबही एकसे नहिं होते॥ ३२॥

अपि मानसमुत्तुङ्गनगशृङ्गाग्रवर्तिनाम्।
स्मरवीरः क्षणार्द्धेन विधत्ते मानखण्डनम्॥ ३३॥

अर्थ—जो पुरुष मानरूपी ऊंचे पर्वतके शिखरके अग्रभागपर चढेहुए हैं अर्थात् बड़े बड़े अभिमानी हैं उनकाभी मान यह स्मरवीर आधेक्षणमें खंडित कर देता है। भावार्थ—कामकी ज्वालासे कामीके किसीका मान नहिं रहता। यह काम नीचसे नीच बना कर उसके मानरूपी पहाडको पृथ्वीमें गिरा देता है॥ ३३॥

वीतरागात्मविज्ञानं धीधनैरपि सन्मते।
दासत्वमन्त्यजस्त्रीणां संभोगाय प्रार्थ्यते॥ ३४॥

अर्थ—जो बड़े २ बुद्धिमान् हैं वेभी कामसेवनकी चाहसे अपने आत्माकी कोरं

उनका पर मनोहर किये नाचनेकी क्रीडा दासत्व स्वीकार करलेते हैं। भावार्थ-कामके वशीभूत होकर बड़े २ बुद्धिमान् चाण्डालकी स्त्रियोंतकके दास हो जाते हैं और वे जो जो नाच नचाती हैं वे सबही उनको नाचने पड़ते हैं ॥ ३४ ॥

" प्रवृद्धमपि चारित्रं ध्वंसयत्याशु देहिनाम् ।
निम्नत्याद्धि श्रुतं सत्यं धैर्यं च मदनव्यथा ॥ ३५ ॥

अर्थ—मदनकी व्यथा जब उठती है तब जीवोंके बहुत दिनमें बढ़ाये तथा पाले हुए चारित्रको ध्वंस करदेती है। एवम् शास्त्राध्ययन, धैर्य और सत्यभाषणादिकोभी नष्ट कर देती है। भावार्थ-जब कामकी पीड़ा व्यापती है तब चारित्र बिगड़ जाता है। शास्त्र पढ़ना, सत्य बोलना और धैर्य रखना आदि सबही भूल जाते हैं ॥ ३५ ॥

आसने शयने याने स्वजने भोजने स्थितिम् ।
क्षणमात्रमपि प्राणी प्राप्नोति स्मरशल्यितः ॥ ३६ ॥

अर्थ—जिसको कामरूपी काटा चुभता रहता है वह प्राणी बैठने, सोने, चलने, भोजन करने तथा स्वजनोंमें क्षणभरभी स्थिरताको प्राप्त नहिं होता । अर्थात् सर्वत्र डामाडोल रहता है ॥ ३६ ॥

वित्तवृत्तबलस्यान्तं स्वकुलस्य च लाञ्छनम् ।
मरणं वा समीपस्थं न स्मरार्त्तः प्रपश्यति ॥ ३७ ॥

अर्थ—कामपीड़ित पुरुष अपने धन, चारित्र और बलके नाश होनेको तथा अपने कुलपर कलंक लगनेको, वा मरणभी निकट आजाय तो उसकोभी नहिं देखता है। अर्थात् उसके विषय हिताहितका कुछ भी विचार नहिं रहता ॥ ३७ ॥

न पिशाचोरगा रोगा न दैत्यग्रहराक्षसाः ।
पीडयन्ति तथा लोकं यथाऽयं मदनज्वरः ॥ ३८ ॥

अर्थ—जैसा कष्ट यह कामज्वर जगतको देता है ऐसा पिशाच, सर्प, रोग, आदि नहिं देते और न दैत्य-ग्रह-राक्षसादिकही देते हैं। भावार्थ-कामकी पीड़ा सबसे अधिक है ॥ ३८ ॥

अनासाद्य जनः कामी कामिनीं हृदयप्रियाम् ।
विषशस्त्रानलोपायैः सद्यः स्वं हन्तुमिच्छति ॥ ३९ ॥

अर्थ—कामी पुरुष यदि अपनी मनकी प्यारी कामिनीको नहिं प्राप्त होता है तो विष, शस्त्र, अग्नि आदिसे शीघ्रतही अपना अपघात करनेको तैयार हो जाता है। भावार्थ-जिस स्त्रीसे कामीका मन आकर्षित होता है वह प्राप्त नहिं होती तो फिर अपना मरना विचार लेता है ॥ ३९ ॥

दक्षो मूढः क्षमी क्रुद्धः शूरो भीरुर्गुरुर्लघुः ।
तीक्ष्णः कुण्ठो वशी भ्रष्टो जनः स्यात्स्मरवञ्चितः ॥ ४० ॥

अर्थ—काममें ठगा हुआ मनुष्य चतुरभी मूर्ख हो जाता है, क्षमावान् क्रोधी हो जाता है, शूरवीर कायर हो जाता है, गुरु लघु हो जाता है, उद्यमी आलसी हो जाता है और जितेन्द्रिय भ्रष्ट हो जाता है ॥ ४० ॥

कुर्वन्ति वनिताहेतोरचिन्त्यमपि साहसम् ।
नरा कामहठात्कारविधुरीकृतमानसा ॥ ४१ ॥

अर्थ—कामके बलात्कार (जबरदस्तीसे) से जिनका चित्त दुःखित है वे स्त्रियोंके लिये ऐसे काम करनेका भी साहस करते हैं जो चिन्तवनमें नहि आवें ॥ ४१ ॥

उन्मूलयत्यविश्रान्तं पूज्यं श्रीधर्मपादपम् ।
मनोभवमहादन्ती मनुष्याणां निरङ्कुशः ॥ ४२ ॥

अर्थ—कामरूपी हस्ती निरंकुश है इसकारण वह मनुष्योंके निरन्तर पूज्य धर्मरूपी वृक्षको जड़से उखाड़ डालता है ॥ ४२ ॥

प्रवृत्यन्ति नरः कामी बहुलं ब्रह्मचारिणे ।
जनाय जाग्रते चौरो रजन्यां संचरन्निव ॥ ४३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार रात्रिमें भ्रमता फिरते हुए और जागनेवाले मनुष्यपर चोर [illegible] है, [illegible] कामी पुरुषभी बहुधा ब्रह्मचारी पुरुषपर कोप किया करता है । [illegible] प्रसिद्ध नियम है ॥ ४३ ॥

स्वसारं दुहितरं मातरं भार्यां गुरुपत्नीं तपस्विनीम् ।
तिर्यञ्चीमपि कामार्तो नरः स्त्रीं भोक्तुमिच्छति ॥ ४४ ॥

अर्थ—[illegible] पुरुष पुत्रवधू, माता, पुत्री, [illegible] पाव और [illegible], [illegible], तपस्विनी और तिर्यञ्ची (पशुजातिकी स्त्री) को भी भोगनेकी इच्छा करता है । [illegible] अवस्थाका कुछभी [illegible] नहिं रहता ॥ ४४ ॥

[illegible] कामज्वालाज्वलितस्य मनसि स्थितम् ।
[illegible] ॥ ४५ ॥

अर्थ—[illegible] ॥ ४५ ॥

आर्या ।

हरिहरपितामहाद्या बलिनोऽपि तथा स्मरेण विध्वस्ता ।
त्यक्तत्रपा यथैते स्वाङ्कान्नारीं न मुञ्चन्ति ॥ ४६ ॥

अर्थ—जैसे ये निर्लज्ज बन अपनी गोदमें स्थित स्त्रीको नहि छोड़ते वैसेही हरि, हर, और ब्रह्मादिक बलिष्ठोंको भी कामने नष्ट करदिया है अर्थात् ये भी स्त्रीको गोदसे कभी बाहर नहि करते ॥ ४६ ॥

यदि प्राप्तं त्वया मूढ नृत्वं जन्मोग्रसंक्रमात् ।
तदा तत्कुरु येनेयं स्मरज्वाला विलीयते ॥ ४७ ॥

अर्थ—हे मूढ प्राणी! जो तूने संसारमें भ्रमण करते २ इस मनुष्यभवको पाया है तो तू वह काम कर जिससे कि तेरी कामरूपी ज्वाला नष्ट हो जाय ॥ ४७ ॥

अब इस प्रकरणको पूर्ण करते हुए कहते हैं,—

मालिनी ।

स्मरदहनसुतीव्रानन्तसन्तापविद्धं
भुवनमिति समस्तं वीक्ष्य योगिप्रवीराः ।
विगतविषयसङ्गाः प्रत्यहं संश्रयन्ते
प्रशमजलधितीरं संयमारामरम्यम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—विषयसंगरहित योगिप्रवीर (श्रेष्ठ योगीजन) इस संसारको कामाग्निके प्रचण्ड और अनंत संतापोंसे पीडित देखकर प्रतिदिन संयमरूप बगीचेसे शोभायमान ऐसे शान्तिसागरके तटका आश्रय लेते हैं ॥ ४८ ॥

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे शुभचन्द्राचार्यविरचिते कामप्रकोपप्रकरणम् ॥ ११ ॥

अथ द्वादश प्रकरणम् ।

कुर्वन्ति यन्मदोद्रेकदर्पिता भुवि योषितः ।
शताशमपि तस्येह न वक्तुं कश्चिदीश्वरः ॥ १ ॥

अर्थ—इस पृथ्वीतलमें मदके आधिक्यसे गर्वित स्त्रियां जो कर डालती हैं, उसका शतांश कहनेके लिये भी कोई समर्थ नहि है ॥ १ ॥

धारयन्त्यमृतं वाचि हृदि हालाहलं विषम् ।
निसर्गकुटिला नार्यो न विद्मः केन निर्मिताः ॥ २ ॥

अर्थ—जो वाणीमें तो अमृतको धारण करती हैं और हृदयमें विष भरेहुए हैं, इस प्रकार स्वभावसेही कुटिल इन स्त्रियोंको किसने बनाया है यह हम नहि जानते। भावार्थ–

जिनका बोल तो अमृतके समान मीठा है, और हृदयमें जहर भरा हुआ है, इस प्रकार क्रूर स्वभाववाली स्त्रियोंको किसने बनाया? यह हम नहिं जान सकते ॥ २ ॥

वज्रज्वलनलेखेव भोगिदंष्ट्रेव केवलम् ।
वनितेयं मनुष्याणां संतापभयदायिनी ॥ ३ ॥

अर्थ—यह स्त्री मनुष्योंको वज्राग्निकि ज्वालाके समान और सापकी डाढके समान भय तथा संताप देनेवाली है। **भावार्थ**—जैसे वज्रपातजनित अग्निज्वाला और सापकी डाढ मनुष्योंको कष्ट और भय उपजानेवाली है, वैसेही यह स्त्रीभी है। इसमें कुछभी सन्देह नहि है ॥ ३ ॥

उद्वासयति निःशङ्का जगत्पूज्यं गुणव्रजम् ।
बध्नती वसतिं चित्ते सतामपि नितम्बिनी ॥ ४ ॥

अर्थ—शंकारहित मनमें स्थान (अड्डा) जमाती हुई स्त्री सज्जनोंके भी जगतमें पूजनेयोग्य गुणसमूहको दूर भगादेती है। **भावार्थ**—साधारण मनुष्योंकी क्या कथा? किंतु यदि बेटर स्त्रीने मनमें डेरा कर लिया तो सत्पुरुषोंके भी निःसन्देह गुणोंको दूर हटा देती है। अर्थात् मनमें स्त्रीका ध्यानमात्र करनेसेही वन्दनीय पुरुष भी निंदनीय हो जाते हैं ॥ ४ ॥

वरमालिङ्गिता क्रुद्धा चलल्लोलात्र सर्पिणी ।
न पुनः कौतुकेनापि नारी नरकपद्धतिः ॥ ५ ॥

अर्थ—क्रोधसे फुंकार मारती चलती हुई सर्पिणीका आलिंगन करना श्रेष्ठ है किन्तु स्त्रीको कौतुकमात्रसे भी आलिंगन करना श्रेष्ठ नहिं। क्योंकि सर्पिणी यदि दशन करै (काटै) तो एकवारही मरना होता है, और स्त्री तो नरककी पद्धतिस्वरूप है अर्थात् यह वारवार मरण कराकर नरकमें लेजानेवाली है ॥ ५ ॥

हृदि दत्ते तथा दाहं न स्पृष्टा हुतभुक्शिखा ।
वनितेयं यथा पुंसामिन्द्रियार्थप्रकोपिनी ॥ ६ ॥

अर्थ—यह स्त्री इन्द्रियोंके कोपको बढानेवाली है, सो स्पर्श कीहुई ऐसा दाह उत्पन्न करती है कि जैसा स्पर्श कीहुई अग्निकी शिखा भी नहीं करती ॥ ६ ॥

+सन्ध्येव क्षणरागाढ्या निम्नगेवाधरप्रिया ।
वक्रा बालेन्दुलेखेव भवन्ति नियतं स्त्रियः ॥ ७ ॥

अर्थ—ये स्त्रियें सन्ध्याकी समान क्षणभर रागसहित रहनेवाली (क्षणभर प्रीति रखनेवाली) हैं और नदीकी समान अधरप्रिया हैं अर्थात् जैसे नदी नीची भूमिकी तरफ जाती है उसी प्रकार स्त्रियें भी प्रायः नीच पुरुषसे रमण करनेवाली होती हैं। तथा स्त्रियोंके

चन्द्रमाकी समान वक्र (टेढ़ी) रहती है। अर्थात स्त्रिय हृदयमें कपटभाव अवश्य रखती हैं ॥ ७ ॥

धूमावत्य इवाशङ्क्या कुर्वन्ति मलिनं क्षणात्।
मदनोन्मादसम्भ्रान्ता योषितः स्वकुलं गृहम् ॥ ८ ॥

अर्थ—मदनके वेगसे उन्मादयुक्त होकर स्त्रिया अपने कुल और घरको क्षण भरमें मलिन (कलंकित) करदेती हैं, इस कारण धूमावलीके समान आशङ्का करने योग्य हैं। अर्थात् जिस प्रकार धूमावलीसे घर काला होनेकी शङ्का है इसी प्रकार स्त्रियोंकी तरफसे भी शंका रहनी चाहिये ॥ ८ ॥

निर्दयत्वमनार्यत्वं मूर्खत्वमतिचापलम्।
वञ्चकत्वं कुशीलत्वं स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः ॥ ९ ॥

अर्थ—निर्दयता, अनार्यता (अपवित्रता), मूर्खता, अतिचपलता, वंचकता और कुशीलता इतने दोष स्त्रियोंके स्वाभाविक होते हैं। अर्थात् विना सिखायेही आजाते हैं ॥ ९ ॥

विचरन्ति कुशीलेषु लङ्घयन्ति कुलक्रमम्।
न स्मरन्ति गुरुं मित्रं पतिं पुत्रं च योषितः ॥ १० ॥

अर्थ—ये स्त्रिया व्यभिचारी पुरुषोंमें विचरने लग जाती हैं और अपने कुलक्रमका उल्लंघन करदेती हैं तथा अपने गुरु मित्र (हितैषी) पति पुत्रका स्मरणतक नहीं करतीं ॥ १० ॥

यद्वाञ्जनादितन्त्राणि मन्त्रयन्त्राण्यनेकधा।
व्यर्थीभवन्ति सर्वाणि वनिताराधनं प्रति ॥ ११ ॥

अर्थ—स्त्रीकी आराधनाके लिये (प्रसन्न करनेके लिये) वशीकरण, अञ्जनादि तन्त्र अनेक प्रकारके यन्त्र-मन्त्र तन्त्रादि समस्त व्यर्थ हो जाते हैं ॥ ११ ॥

अगाधक्रोधवेगान्धाः कर्म कुर्वन्ति तत्स्त्रियः।
यस्य पतति येनैतद्भुवनं दुःखसागरे ॥ १२ ॥

अर्थ—ये स्त्रियां अगाध क्रोधके वेगसे अंधीहुई ऐसा काम करती हैं जिससे कि यह जगत् दुःखसागरमें पड़ जाता है ॥ १२ ॥

स्मरातङ्कपमभिपाऽनल्पं कुलकल्पमहीरुहम्।
अविचार्यैव निघ्नन्ति स्त्रियोऽभीष्टफलप्रदम् ॥ १३ ॥

अर्थ—स्मरातंककी बाधा करती हुई स्त्रियें अभीष्ट (मनोवांछित) फल देनेवाले अपने कुलरूपी कल्पवृक्षको विना विचारेही मूर्खतासे काट डालती हैं ॥ १३ ॥

न दानं न च सौजन्यं न प्रतिष्ठा न गौरवम् ।
न च पश्यन्ति कामान्धा योषितः स्वान्ययोर्हितम् ॥ १४ ॥

अर्थ—कामांध स्त्रियां न तो दान सुजनताको देखतीं हैं, न अपने गौरव और प्रतिष्ठाका विचार करती हैं और न अपना वा पराया हितही देखती हैं, किन्तु जो चित्तमें आया सो विना विचारेही कर बैठतीं हैं ॥ १४ ॥

न तत् क्रुद्धा हरिव्याघ्रव्यालानलनरेश्वराः ।
कुर्वन्ति यत्करोत्येका नरि नारी निरङ्कुशा ॥ १५ ॥

अर्थ—एक निरंकुश स्त्री ही नरके (मनुष्यके) लिये वह काम करती है कि जिसको क्रोधित हुए सिंह, व्याघ्र, सर्प, अग्नि और राजाभी नहि करसकते । भावार्थ—पुरुषको स्वतंत्र स्त्री जैसा कष्ट देती है वैसा कोईभी नहि दे सक्ता ॥ १५ ॥

यामासाद्य त्वया कान्ता सोढव्या नारकी व्यथा ।
तस्या वार्त्तापि न श्लाघ्या कथमालिङ्गनादिकम् ॥ १६ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज समझाते हैं कि—हे आत्मन्! जिस स्त्रीकी संगतिसे तुझे नरकके दुःख सहने पडें ऐसी स्त्रीकी चर्चा करनाभी तेरे लिये प्रशंसनीय नहीं है, तो उससे आलिंगनादि करना कैसे प्रशंसनीय हो सकता है? ॥ १६ ॥

स कोऽपि स्मर्यतां देवो मन्त्रो वाऽऽलम्ब्य साहसम् ।
यतोऽङ्गनापिशाचीयं ग्रसितुं नोपसर्पति ॥ १७ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि—हे आत्मन्! तू ऐसे किसी देव वा मंत्रको स्मरण कर अथवा ऐसा कोई साहस कर जिससे यह स्त्रीरूपी पिशाचिनी तुझे भक्षण करनेको निकट न आवै ॥ १७ ॥

एकैव वनिताव्याली दुर्विचिन्त्यपराक्रमा ।
लीलयैव यया मूढ खण्डितं जगतां त्रयम् ॥ १८ ॥

अर्थ—हे मूढ! आत्मन्! यह स्त्री रूपी सर्पिणी ऐसी है कि जिसका पराक्रम अचिन्त्य है अर्थात् चिन्तवनमें नहि आसक्ता । क्योंकि लीलामात्रसे जिस अकेलीनेही इन तीनों भुवनोंको खण्डित करदिया है, सो तू देख ॥ १८ ॥

न तद्दृष्टं श्रुतं ज्ञातं न तच्छास्त्रेषु चर्चितम् ।
यत्कुर्वन्ति महापापं स्त्रियः कामकलङ्किताः ॥ १९ ॥

अर्थ—वे स्त्रियें कामसे कलंकित हो ऐसाही कोई महापाप कर बैठती हैं कि जिसको न तो किसीने देखा, न सुना तथा न शास्त्रोंमेंही जिसकी चर्चा आई ॥ १९ ॥

यमजिह्वानलज्वालावज्रविषाङ्कुरान् ।
समाहृत्य कृता मन्ये वेधसेयं विलासिनी ॥ २० ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उत्प्रेक्षा करते हैं कि—मैं ऐसा मानता हूं कि—विधाताने यमराजकी जीभ, अग्निकी ज्वाला, बिजली तथा विष इनके अंकुर (सार भाग) इन सबको संग्रह करके यह विलासिनी (स्त्री) बनाई है क्योंकि इससे कोईभी नहीं बचता ॥ २० ॥

मनस्यन्यद्वचस्यन्यद्वपुष्यन्यद्विचेष्टितम् ।
यासां प्रकृतिदोषेण प्रेम तासां कियत्स्थिरम् ॥ २१ ॥

अर्थ—जिन स्त्रियोंके स्वभावसेही मनमें तो कुछ, वचनमें कुछ और शरीरसे कुछ और ही चेष्टा है उनका प्रेम कबतक स्थिर रह सक्ता है? अर्थात् बहुत समयतक नहीं ठहरता ॥ २१ ॥

अभ्युद्धृता पतिष्यन्ति नरा नार्यङ्गसंगता ।
यथावामिति लोकस्य स्तनाभ्यां प्रकटीकृतम् ॥ २२ ॥

अर्थ—स्त्रियोंके दोनों स्तन प्रकट करते हैं अर्थात् परस्पर कहते हैं कि देखो, भाई! स्त्रीके अंगसंगसे जिसप्रकार हमारा अधःपतन हुआ है इसी प्रकार जगतके बड़े २ पुरुष स्त्रीके अंगसंगसे नीचे गिरेंगे। अर्थात् नीची अवस्थाको प्राप्त होंगे ॥ २२ ॥

यदीन्दुस्तीव्रतां धत्ते धत्ते रोचिश्च शीततां ।
दैवात्तथापि नो धत्ते नरि नारी स्थिरं मनः ॥ २३ ॥

अर्थ—कदाचित् दैवयोगसे चन्द्रमा उष्णस्वभावी और सूर्य शीतल भलेही होजाय परन्तु स्त्रीका मन किसी एक पुरुषमें स्थिर नहीं होसक्ता। अर्थात् उसे अन्य २ पुरुषकी कामना बनीही रहती है ॥ २३ ॥

देवदैत्योरगव्यालग्रहचन्द्रार्कचेष्टितम् ।
विदन्ति ये महाप्राज्ञास्तेऽपि वृत्तं न योषिताम् ॥ २४ ॥

अर्थ—जो महाविद्वान् देव, दैत्य, नाग, हस्ती, ग्रह, चन्द्रमा और सूर्य इन सबकी चेष्टाओंको जानते हैं, वे भी स्त्रियोंके चरित्रको नहीं जान सक्ते। क्योंकि स्त्रीचरित्र अगाध है यह जगत्प्रसिद्ध उक्ति है ॥ २४ ॥

सुखदुःखजयपराजयजीवितमरणानि ये विजानन्ति ।
मुह्यन्ति तेऽपि नूनं तत्त्वविदश्चेष्टिते स्त्रीणाम् ॥ २५ ॥

अर्थ—जो तत्त्वज्ञानी सुख-दुःख, जय पराजय और जीवित मरण आदिकको निमित्तज्ञानके बलसे जानते हैं, वेभी स्त्रियोंकी चेष्टा जाननेमें मोहको प्राप्त होते हैं। अर्थात् स्त्रियोंके चरित्र जाननेके लिये अज्ञानमूढ होजाते हैं ॥ २५ ॥

जलधेर्यानपात्राणि ग्रहाश्चा गगनस्य च ।
यान्ति पारं न तु स्त्रीणां दुश्चरित्रस्य केचन ॥ २६ ॥

अर्थ—यद्यपि समुद्र और आकाश अपार है तथापि जहाजपर बैठनेवाले मनुष्य और ग्रहादिक आकाशके अन्तको पासकते हैं परन्तु स्त्रियोंके दुश्चरित्रका पार कोईभी नहीं पासकता ॥ २६ ॥

आरोपयन्ति सदेहतुलायामतिनिर्दयाः ।
नार्यः पतिं च पुत्रं च पितरं च क्षणादपि ॥ २७ ॥

अर्थ—स्त्रियें ऐसी निर्दय हैं कि क्षणमात्रमें अपने पति पुत्र पितादिकोंको सन्देहकी तुलापर चढ़ादेती हैं । **भावार्थ**–स्त्रियें जो दुश्चरित्र करें और पति पितादिकको ज्ञात होजाय तो तत्काल ऐसी चेष्टा करती हैं कि जिससे उनको ऐसा सदेह होजाताहै कि इसने यह दुश्चरित्र नहीं किया होगा, मुझे व्यर्थही भ्रम होगया है ॥ २७ ॥

गृह्णन्ति विपिने व्याघ्रं शकुन्तं गगने स्थितम् ।
सरिद्ध्रदगतं मीनं न स्त्रीणां चपलं मनः ॥ २८ ॥

अर्थ—कई पुरुष वनमेंसे व्याघ्रको पकड़ते हैं, आकाशगामी पक्षीको पकड़ते हैं तथा नदी वा तड़ागमेंसे मछलीको पकड़ते हैं, परन्तु स्त्रियोंके मनको कोईभी पकड़ नहीं सकता अर्थात् वशीभूत नहीं करसक्ता ॥ २८ ॥

न तदस्ति जगत्यस्मिन् मणिमन्त्रौषधाञ्जनम् ।
विद्याश्च येन सद्भावं प्रयास्यन्तीह योषितः ॥ २९ ॥

अर्थ—इस जगतमें ऐसा कोईभी मणि, मन्त्र, औषध, अंजन अथवा विद्या नहीं है कि जिससे स्त्रियें सद्भावको प्राप्त हों अर्थात् कुटिलतारहित होजाँय ॥ २९ ॥

मनोभवसमं शूरं कुलीनं भुवनेश्वरम् ।
हत्वा पतिं स्त्रियः सद्यो रमन्ते चेटिकासुतैः ॥ ३० ॥

अर्थ—स्त्रियें ऐसी दुष्टा हैं कि अपना पति कामदेवकी समान सुंदर शूरवीर, कुलीन और राजा ही क्यों न हो तोभी उसे मारकर तत्काल दासीके पुत्रसे रमने लग जाती हैं ॥ ३० ॥

स्मरोत्सङ्गमपि प्राप्य वाञ्छन्ति पुरुषान्तरम् ।
नार्यः सर्वाः स्वभावेन वदन्तीत्यमलाशयाः ॥ ३१ ॥

अर्थ—निर्मलाशय विद्वज्जन [illegible] स्त्रियें कामदेवसरीखे पतिको
[illegible] स्वभावसे अन्य पुरुषकी

विनाञ्जनेन तन्त्रेण मन्त्रेण विनयेन च ।
वञ्चयन्ति नरं नार्यः प्रज्ञाधनमपि क्षणात् ॥ ३२ ॥

अर्थ—स्त्रियोंमें कोई ऐसीही मोहिनी विद्या है कि विना मन्त्र तन्त्र अञ्जनके अथवा विना साधनाकेभी क्षणमात्रमें पंडित पुरुषकोभी ठगलेती हैं । अर्थात् अपने प्रेममें फँसा लेती हैं ॥ ३२ ॥

कुलजातिगुणभ्रष्टं निकृष्टं दुष्टचेष्टितम् ।
अस्पृश्यमधमं प्रायो मन्ये स्त्रीणां प्रियं नरम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—मैं ऐसा मानता हूं कि कुल-जाति-गुणसे भ्रष्ट, निकृष्ट, दुश्चरित्र, अस्पृश्य और नीच पुरुषही स्त्रियोंको प्रिय होता है । क्योंकि प्रायः ऐसाही देखनेमें आता है कि स्त्रियें उत्तम पुरुषको छोड़ नीचसेही प्रीति कर लेती हैं ॥ ३३ ॥

वैरिवारणदन्ताग्रे समारूढा स्थिरीकृता ।
वीरश्रीर्यैर्महासत्त्वैर्योषिद्भिस्तेऽपि खण्डिताः ॥ ३४ ॥

अर्थ—जिन महापराक्रमी वीर पुरुषोंने युद्धमें शत्रुके हस्तीके दांतोंपर चढकर वीरश्रीको दृढ किया है, अर्थात् विजय प्राप्त किया है, ऐसे शूरवीर योद्धाभी स्त्रियोंके द्वारा खण्डित (भयभीत) होजाते हैं अर्थात् स्त्रीके सामने किसीकाभी पराक्रम नहीं चलता ॥ ३४ ॥

गौरवेषु प्रतिष्ठासु गुणेष्वाराध्यकोटिषु ।
धृता अपि निमज्जन्ति दोषपङ्के स्वयं स्त्रियः ॥ ३५ ॥

अर्थ—गौरव, प्रतिष्ठा और आराधना करनेयोग्य गुणोंसे भूषित कर रक्खी हुईभी स्त्रियें अपने दुश्चरित्ररूपी कीचड़मे फँस जाती हैं । अर्थात् स्त्रियें किसीकी बन्दी नहीं रहतीं किंतु स्वच्छन्द वर्तने लग जाती हैं ॥ ३५ ॥

दोषान्गुणेषु पश्यन्ति प्रिये कुर्वन्ति विप्रियम् ।
सन्मानिताः प्रकुप्यन्ति निसर्गकुटिलाः स्त्रियः ॥ ३६ ॥

अर्थ—कुटिल स्त्रियोंका स्वभाव ऐसा है कि-वे गुणोंमें भी दोष देखती हैं और जो प्यार करे उसमें अप्रियताका आचरण करती हैं और सन्मान करनेसे कुपित होती हैं ॥ ३६ ॥

कृत्वाऽपकार्यलक्षाणि प्रत्यक्षमपि योषितः ।
छादयन्त्येव निःशङ्का विश्ववञ्चनपण्डिताः ॥ ३७ ॥

अर्थ—ये स्त्रियां लाखों बुरे काम प्रत्यक्ष में करकेभी निःशङ्क होकर उन्हें छिपाती हैं । क्योंकि ये स्त्रियें जगतको ठगनेके लिये अतिशय चतुर हैं । इनकी चतुराईका कोई भी पार नहीं पासकता ॥ ३७ ॥

दानसन्मानसंभोगप्रणतिप्रतिपत्तिभिः ।
अपि सेवापरं नाथ घ्नन्ति नार्योऽतिनिर्दयाः ॥ ३८ ॥

अर्थ—ये स्त्रियें ऐसी निर्दय होती हैं कि दान, सन्मान, संभोग, नमस्कार करने, आदर करने आदि खुशामतके कार्योंसे सेवा करनेमें तत्पर ऐसे पतिको भी मार डालती हैं ॥ ३८ ॥

विषमध्ये सुधास्यन्दः सस्यजातं शिलोच्चये ।
संभाव्यं न तु संभाव्यं चेतः स्त्रीणामकश्मलम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि विषमें कदाचित् अमृतका झरना अथवा पर्वतपर (शिलाओंके समूहपर) धान्यका उत्पन्न होना संभव है, परन्तु स्त्रियोंका चित्त निष्पाप कदापि न समझना । अर्थात् ये स्त्रियें निष्पाप (उज्ज्वल) कभी नहीं होती ॥ ३९ ॥

वन्ध्याङ्गजस्य राज्यश्रीः पुष्पश्रीर्गगनस्य च ।
स्याद्दैवान्न तु नारीणां मनःशुद्धिर्मनागपि ॥ ४० ॥

अर्थ—दैवात् वन्ध्यापुत्रकी राज्यलक्ष्मी और आकाशमें पुष्पोंकी शोभा होना संभव है; परन्तु स्त्रियोंके मनकी शुद्धि किंचिन्मात्रभी नहीं होती ॥ ४० ॥

कुलद्वयमहाकक्षं भस्मसात्कुरुते क्षणात् ।
दुश्चरित्रसमीरालीप्रदीप्तो वनितानलः ॥ ४१ ॥

अर्थ—दुश्चरित्ररूपी पवनसे प्रदीप्त हुई वनितारूपी अग्नि क्षणमात्रमें अपने उभय कुलरूपी वनको भस्म करदेती है ॥ ४१ ॥

सुराचला इवाकम्प्या अगाधा वार्धिवद्भृशम् ।
नीयन्तेऽत्र नराः स्त्रीभिरघघूर्तिं क्षणान्तरे ॥ ४२ ॥

अर्थ—जो पुरुष सुमेरु पर्वतके समान अचल (अकंप) हैं तथा समुद्रके समान अगाध अर्थात् गंभीरप्रकृति हैं वेभी इस जगतमें स्त्रियोंके द्वारा क्षणमात्रमें चलायमान वा तिरस्कृत किये जाते हैं तो अन्य सामान्य पुरुषोंकी तो कथाही क्या? ॥ ४२ ॥

वित्तहीनो जरी रोगी दुर्बलः स्थानविच्युतः ।
कुलीनाभिरपि स्त्रीभिः सद्यो भर्ता विमुच्यते ॥ ४३ ॥

अर्थ—स्त्रियोंका पति यदि धनरहित (दरिद्री) हो, वृद्ध हो, रोगी अथवा निर्बल हो तथा स्थानभ्रष्ट हो तो भले कुलकी स्त्रियेंभी अपने भरतारको शीघ्रही छोड़ देती हैं और किसी अन्यमें रमण करने लग जाती हैं ॥ ४३ ॥

मेघु शल्यमसिं छेत्तु कर्तितु क्रकचं दृढम् ।
नराणां पीडयितुं यन्त्र वेधसा विहिता स्त्रियः ॥ ४४ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उत्प्रेक्षा करते हैं कि पहिले ब्रह्माने जो स्त्रियें बनाई हैं, वे मनुष्योंको भेदनेके लिये शल्य, काटनेके लिये तरवार, कतरनेके लिये दृढ करोत (आरा), अथवा पेलनेके लिये मानों यंत्र ही बनाये हैं ॥ ४४ ॥

विप्रलब्धपूर्विभिर्मन्येऽयं नभस्थोऽपि प्रतारितः ।
अन्यथा क्षीयते यस्मात्कलङ्काऽपहृतप्रभः ॥ ४५ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज फिरभी उत्प्रेक्षा करते हैं कि आकाशमें रहनेवाला यह चन्द्रमाभी स्त्रियोंसे वंचित किया गया है, अर्थात् मोहित किया गया है। क्योंकि यदि ऐसा न माना जाय तो यह कलंकसे प्रभारहित होकर प्रतिदिन क्षीण क्यों होता है? ॥ ४५ ॥

आचार्य महाराज फिरभी उत्प्रेक्षा करते हैं—

यद्रागं सन्ध्ययोर्धत्ते यद्भ्रमत्यविलम्बितम् ।
तन्मन्ये वनितासार्थैर्विप्रलब्धः खरद्युतिः ॥ ४६ ॥

अर्थ—यह सूर्य जो दोनों संध्याओंके समय ललाईको धारण करता है और निरंतर भ्रमण करता रहता है सो मैं ऐसा मानता हूं कि यह भी स्त्रियोंके समूहोंसे ठगा गया है ॥ ४६ ॥

फिरभी उत्प्रेक्षा करते हैं—

अन्तःशून्यो भृशं रौति वेलाव्याजेन वेपते ।
धीरोऽपि मथितो बद्धः स्त्रीनिमित्ते सरित्पतिः ॥ ४७ ॥

अर्थ—यह समुद्र स्त्रीके निमित्तही नारायणसे मथागया और रामचन्द्रजीसे बांधा गया इस कारण अन्तःशून्य होकर गर्जनाके बहानेसे (मिससे) तो रोता है और धीर होते हुए भी लहरोंके बहानेसे मानों कम्पायमान होता है ॥ ४७ ॥

सुरेन्द्रप्रतिमा धीरा अप्यचिन्त्यपराक्रमाः ।
दशग्रीवादयो याताः कृते स्त्रीणां रसातलम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—देखो, इन्द्रके समान धीर वीर अचिन्त्यपराक्रमी रावण आदिक बड़े २ छत्रधारी राजाभी स्त्रियोंके निमित्त रसातलको (नरकको) चले गये तो अन्य सामान्य जनोंकी तो कहनाही क्या ॥ ४८ ॥

दुःखखानिरगाधेयं कलेर्मूलं भयस्य च ।
पापबीजं शुचां कन्दः श्वभ्रभूमिर्नितम्बिनी ॥ ४९ ॥

अर्थ—यह स्त्री दुःखोंकी तो अगाध खानि है, जिसमसे कि दुःखही दुःख निकलते रहते हैं और कलह तथा भयकी जड है, पापका बीज और चिन्ताओंका कद (मूल) है तथा नरककी पृथिवी है ॥ ४९ ॥

यदि मूर्त्ताः प्रजायन्ते स्त्रीणां दोषाः कथंचन।
पूरयेयुस्तदा नूनं निःशेषं भुवनोदरम् ॥ ५० ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उत्प्रेक्षामें कहते हैं कि–स्त्रियोंके दोष यदि किसी प्रकारसे मूर्तिमान् होजायँ तो मैं समझता हूं कि उन दोषोंसे निश्चयकरके समस्त त्रिलोकी परिपूर्ण भरजायगी ॥ ५० ॥

कौतुकेन समाहर्तुं विश्ववर्त्यङ्गिसंचयम्।
वेधसेव कृता मन्ये नारी व्यसनवागुरा ॥ ५१ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उत्प्रेक्षासे कहते हैं कि–ब्रह्माने जो स्त्री बनाई है सो मानों उसने कौतूहलसे जगतके समस्त जीवोंका संग्रह करनेके वास्ते आकर्षण करनेके लिये कष्टरूपी फांसीही बनाई है ॥ ५१ ॥

एकं दृशा परं भावैर्वाग्भिरन्यं तथेङ्गितैः।
सल्लापाऽन्यं रतैश्चान्यं रमयन्त्यङ्गना जनम् ॥ ५२ ॥

अर्थ—स्त्रियें किसी एकको तो दृष्टिसेही प्रसन्न करदेती हैं, किसी दूसरेको भावोंमें ही रमाती हैं, और अन्य किसी एकको वचनमात्रसे तृप्त करके किसीको इशारोंसेही प्रसन्न करलेती हैं, और शरीरके किसी सकेत ओरहीसे करती हैं और रतिसे किसी ओरहीसे रमण करती हैं। इस प्रकार अनेक पुरुषोंके चित्तको प्रसन्न करके अपने वश कर लेती हैं ॥ ५२ ॥

धीरैर्धैर्यं समालम्ब्य विवेकामललोचनैः।
त्यक्ताः स्वप्नेऽपि निःसङ्गैर्नार्यः श्रीगुरुपुङ्गवैः ॥ ५३ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि–जो धीर वीर और ज्ञान ही है निर्मल नेत्र जिनके ऐसे आचार्योंमें प्रधान हैं उन्होंने धीरजका अवलम्बन करके स्वप्नमें भी स्त्रियोंका त्याग कर दिया है ऐसे महापुरुषही धन्य हैं ॥ ५३ ॥

अब इस कथनको पूर्ण करनेके लिये संक्षेपसे उपदेश करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितम्।

वक्तुं न पूर्वदनि स्थाममय श्रोतुं नमाक्षाक्षम
मर्त्यानामगुणग्रन्थ निगदितुं मन्ये न कोऽपि प्रभुः।

आलोच्य स्वमनीषया कतिपयैर्वर्णैर्यदुक्तं मया
सद्वृत्ता गुणिनस्त्यजन्तु वनितासंभोगपापग्रहम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि स्त्रियोंके दोषसमूहको कहनेके लिये तो बृहस्पति समर्थ नहीं, और मुझ जैसे कवि तो समर्थ नहीं, इस कारण मैं ऐसा मानता हूं कि और कोईभी स्त्रियोंके दोषोंका वर्णन नहीं करसकता। तिसपरभी मैंने स्त्रियोंके अवगुण देखकर किंचित् अक्षरोंमें जो कहे हैं सो इनको सुनकर जो गुणी पुरुष हैं वे वनिताके संभोगरूपी पापरूप ग्रहको छोड़ो, यह हमारा उपदेश है ॥ ५४ ॥

मालिनी ।

परिभवफलवल्लीं दुःखदावानलालीम्
विषयजलधिवेलां श्वभ्रसौधप्रतोलीम् ।
मदनभुजगदंष्ट्रां मोहतन्द्रासवित्रीम्
परिहर परिणामैर्धैर्यमालम्ब्य नारीं ॥ ५५ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! तू धैर्यसे अवलम्बनपूर्वक चित्तमें स्त्रीका प्रसंग छोड़। क्योंकि यह स्त्री अपमानरूपी फलको उत्पन्न करनेके लिये तो बेल (लता) है और दुःखरूपी दावाग्निकी पंक्ति है तथा विषयरूपी समुद्रकी लहर और नरकरूपी महलमें प्रवेश करनेके लिये प्रतोली है अर्थात् प्रवेशद्वार वा दर है तथा कामरूपी सर्पकी दाढ़ और मोह वा तन्द्रा (आलस्य)की माता है ॥ ५५ ॥

इस प्रकार दोषोंके आश्रय स्त्रीका निषेध किया अब यह कहते हैं कि, समस्त स्त्रियें दोषयुक्तही हैं ऐसा एकान्त नहीं है, किन्तु जिनमें शीलसंयमादि गुण होते हैं वे प्रशंसा करनेयोग्यभी हैं—

यमिभिर्जन्मनिर्विण्णैर्दूषिता यद्यपि स्त्रियः ।
तथाप्येकान्ततस्तासां विद्यते नाघसंभवः ॥ ५६ ॥

अर्थ—यद्यपि संसारसे विरक्त हुए संयमी मुनियोंने स्त्रियोंको दूषितही किया है अर्थात् दोषयुक्तही वर्णन किया है तथापि उनमें एकान्ततासे पापकाही संभव नहीं है किंतु उनमेंसे किसी २ स्त्रीमें गुणभी होते हैं सोही कहते हैं ॥ ५६ ॥

आर्या ।

ननु सन्ति जीवलोके काश्चिच्छमशीलसंयमोपेताः ।
निजवंशतिलकभूताः श्रुतसत्यसमन्विता नार्यः ॥ ५७ ॥

अर्थ—अहो! इस जगतमें अनेक स्त्रियां ऐसीभी हैं कि–जो शमभाव (मंदकषायरूप परिणाम) और शीलसंयमसे भूषित हैं तथा अपने वंशमें तिलकभूत हैं अर्थात्

अपने घरको शोभायमान करती हैं और शास्त्राध्ययन तथा सत्यवचनकरके होती भी हैं ॥ ५७ ॥

सतीत्वेन महत्त्वेन वृत्तेन विनयेन च ।
विवेकेन स्त्रियः काश्चिद् भूषयन्ति धरातलम् ॥ ५८ ॥

अर्थ—अनेक स्त्रिया ऐसी हैं जो अपने पतिव्रतपनसे, महत्त्वसे, चारित्रसे (सद् धर्मोंसे), विनयसे और विवेकसे इस पृथिवीतलको भूषित (शोभायुक्त) करती हैं ॥ ५८ ॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

निर्विण्णैर्भवसङ्कटाच्छ्रुतधरैरेकान्ततो निःस्पृहै-
र्नार्यो यद्यपि दूषिताः शमधनैर्ब्रह्मव्रतालम्बिभिः ।
निन्द्यन्ते न तथापि निर्मलयमस्वाध्यायवृत्ताङ्किता
निर्दग्धप्रशमादिपुण्यचरितैर्याः शुद्धिभूता भुवि ॥ ५९ ॥

अर्थ—जो संसार भ्रमणसे विरक्त हैं, शास्त्रोंके पारगामी और स्त्रियोंसे सर्वथा निःस्पृह हैं तथा [illegible] हैं, [illegible] ऐसे ब्रह्मचर्यव्रतधारी मुनियोंने यद्यपि [illegible] की है तथापि जो स्त्रियां निर्मल और पवित्र यमनियमसे स्वाध्यायचारित्रसे [illegible] हैं और [illegible] पवित्राचरणोंसे पवित्र हैं वे निन्दा करनेयोग्य नहीं हैं। [illegible] दोषोंकी ही निन्दा की जाती है, किन्तु गुणोंकी निन्दा नहीं होती ॥ ५९ ॥

[illegible] आश्रय निन्दा और गुणोंके आश्रय निन्दा नहीं [illegible] वर्णन किया।

कवित्त ।

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] ॥ १२ ॥

[illegible]

[illegible] ॥ १२ ॥

[illegible]

अथ त्रयोदश सर्ग।

अथ मैथुन (कामसेवन) का वर्णन करते हैं—

स्मरज्वलनसम्भ्रान्तो यः प्रतीकारमिच्छति।
मैथुनेन स दुर्बुद्धिराज्येनाग्निं निषेधति॥ १॥

अर्थ—जो पुरुष कामरूपी अग्निसे पीड़ित होकर मैथुनसे उस पीड़ाको शान्त करनेकी इच्छा करता है, वह दुर्बुद्धि घृतसे अग्निको बुझाना चाहता है॥ १॥

वरमाज्यच्छटासिक्तः परिरब्धो हुताशनः।
न पुनर्दुर्गतेर्द्वारं योषितां जघनस्थलम्॥ २॥

अर्थ—घृतकी छटाओंसे सिंचन किये हुए अग्निका आलिंगन करना श्रेष्ठ है, परन्तु स्त्रीके जघनस्थलका आलिंगन करना कदापि श्रेष्ठ नहीं, क्योंकि वह दुर्गतिका द्वार है। अर्थात् अग्निसे जला हुआ तो इस जन्ममें ही किंचित् कष्ट पाता है, किन्तु स्त्रीका आलिंगन करनेसे दुर्गतिमें नाना प्रकारके कष्ट सहने पड़ते हैं॥ २॥

स्मरशीतज्वरातङ्कशङ्किताः शीर्णबुद्धयः।
विशन्ति वनितापङ्के तत्प्रतीकारवाञ्छया॥ ३॥

अर्थ—कामरूपी शीतज्वरके भयसे नष्ट बुद्धि पुरुष उसके प्रतीकारकी वाञ्छाकरके स्त्रीरूपी कर्दममें (कीचड़में) प्रवेश करते हैं, परन्तु यह समीचीन उपाय नहीं है॥ ३॥

वासनाजनितं मन्ये सौख्यं स्त्रीसङ्गसम्भवम्।
सेव्यमानं यदन्ते स्याद्वैरस्यायैव केवलम्॥ ४॥

अर्थ—स्त्रीके संगसे उत्पन्न हुए सुखका सेवन करना अन्तमें केवल विरसताका ही कारण है। इस कारण आचार्य महाराज कहते हैं कि इस प्राणीकी पूर्व वासना ऐसीही है, उसीसे ऐसा होता है, किंतु परमार्थसे विचार किया जाय तो यह सुख दुःख ही है॥ ४॥

प्रपश्यति यथोन्मत्तः शश्वल्लोष्टेऽपि काञ्चनम्।
मैथुनेऽपि तथा सौख्यं प्राणी रागान्धमानसः॥ ५॥

अर्थ—जिस प्रकार कोई पुरुष धतूरा खानेसे उन्मत्त होकर मिट्टीके ढेलेमें सोना समझता है, उसी प्रकार रागसे अंध होगया है चित्त जिसका ऐसा यह प्राणी मैथुनमेंभी (दुःखमेंभी) सुखानुभव करता है किंतु वास्तवमें इसमें सुख नहीं है॥ ५॥

अपथ्यानि यथा रोगी पथ्यबुद्ध्या निषेवते।
सुखबुद्ध्या तथाङ्गानि स्त्रीणां कामी गतत्रपः॥ ६॥

अर्थ—जैसे रोगी पथ्यकी इच्छासे अपथ्य सेवन करता है उसी प्रकार कामी पुरुष निर्लज्ज होकर सुखकी इच्छासे स्त्रियोंके अंगोंका दर्शनस्पर्शनादि करता है, परंतु उसकी बड़ी भूल है ॥ ६ ॥

कश्चिद्ब्रूते यथा दीप निर्वाणमपि नन्दितम् ।
स्मरमूढ. सुखं तद्वत्समप्यत्र मैथुने ॥ ७ ॥

अर्थ—जिसप्रकार दीपकके बुझजानेपर अनेक जन कहा करते हैं कि दीपक बढ़ गया, इसी प्रकार काममूढ पुरुषभी मैथुनमें दु खही दुख है तोभी उसको सुख कल्पना करलेता है ॥ ७ ॥

किम्पाकफलसमान वनितासंभोगसंभव सौख्यम् ।
आपाते रमणीय प्रजायते विरसमवसाने ॥ ८ ॥

अर्थ—स्त्रीके संभोगसे उत्पन्न हुआ सुख किम्पाकफल (इन्द्रायणके फल) के समान सेवन करते समय तो रमणीय भासता है, परन्तु अन्तमें विरस है । भावार्थ-जैसे-इन्द्रायणका फल देखनेमें सुन्दर सुगन्धित और खानेमें मिष्ट होता है, परन्तु उदरमें जाकर हलाहल विषकासा काम करता है इसी प्रकार स्त्रीजनित सुखभी सेवन करते रमणीक है परन्तु तज्जन्य पापसे नरक निगोदादि दुर्गतियोंके दु ख सहने पड़ते हैं ॥ ८ ॥

मैथुनाचरणे कर्म निर्घृणै. क्रियतेऽधमम् ।
पीयते वदन स्त्रीणा लालाम्बुकलुषीकृतम् ॥ ९ ॥

अर्थ—निर्दय अथवा ग्लानिरहित पुरुष मैथुनावस्थामें कैसा नीचकर्म करते हैं कि-स्त्रियोंके मुखसे निकली हुई लारोंसे मैले किये हुए मुखका पान करते हैं, अर्थात् चुंवन करते हैं । हा! इन मूर्खोंको ग्लानिभी नहीं आती ॥ ९ ॥

कण्डूयनतनुखेदादेत्ति कुष्टी यथा सुखम् ।
तीव्रस्मररुजातङ्कपीडितो मैथुन तथा ॥ १० ॥

अर्थ—जैसे कोढ़ी पुरुष शरीरको खुजाने तथा तपानेसे सुख मानता है उसी प्रकार तीव्र कामरूपी रोगसे दु खित हुआ पुरुषभी मैथुनकर्मको सुख मानता है। यह बड़ा विपर्यय है,क्योंकि जैसे खुजानेसे खाज बढ़ती है और अन्तमें कष्टदायक जलनको पैदा करती है इसी प्रकार स्त्रीका सेवनभी कामसेवनेच्छाको उत्तरो उत्तर बढ़ाता है और अन्तमें कष्टदायक होता है ॥ १० ॥

अशुचीन्यङ्गनाङ्गानि स्मराशीविषमूर्छिता ।
जिह्वाभिर्विलिहन्त्युच्चै शुनीनामिव कुक्कुरा ॥ ११ ॥

अर्थ—यद्यपि स्त्रियोंके अंग अशुचि हैं अर्थात् अपवित्र हैं परन्तु उन्हें कामरूपी

स्पर्शसे चाटते हुए अधीन पुरुष अतिशय आसक्त हो जैसे कुत्ते कुतियाके अंगोंको चाटते हैं इसी प्रकार चाटते हैं। हा! इन निर्लज्जोंको ग्लानिभी नहीं आती ॥ ११ ॥

ग्लानिर्मूर्छा भ्रमः कम्पः श्रमः स्वेदोऽङ्गविक्रिया।
क्षयरोगादयो दोषा मैथुनोत्थाः शरीरिणाम् ॥ १२ ॥

अर्थ—इस जीवके यद्यपि ग्लानि, क्षीणता, मूर्च्छा, अचेतनता, भ्रम, कंपन, खेद, स्वेद (पसेव), अंगविकार और क्षयरोग इत्यादि दोष मैथुनसेही उपजते हैं तौभी यह प्राणी मैथुनको सेवता ही है ॥ १२ ॥

अनेकदुःखसन्ताननिदानं विद्धि मैथुनम्।
अथ तदपि सेवन्ते हन्त रागान्धबुद्धयः ॥ १३ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! इस मैथुनकर्मको अनेक दुःखोंका कारण जान। आचार्य महाराज खेदपूर्वक कहते हैं,—प्रत्यक्ष दुःखदायक जानकरभी रागान्ध पुरुष इसका सेवन करते हैं, सो बड़ा खेद है ॥ १३ ॥

कुष्ठव्रणमिवाजस्रं याति स्रवति पूतिकम्।
यत्स्त्रीणां जघनद्वारं रतये तद्धि रागिणाम् ॥ १४ ॥

अर्थ—स्त्रियोंका जघनद्वार जो कुष्ठके (कोढ़के) घावके समान निरन्तर झरता है तथा दुर्गन्धसे वासता है वहभी रागी पुरुषोंकी रति (प्रीति) के लिये है, यह आश्चर्य है ॥ १४ ॥

काकः कृमिकुलाकीर्णे करङ्के कुरुते रतिं।
यथा तद्वदराकोऽयं कामी स्त्रीगुह्यमन्थने ॥ १५ ॥

अर्थ—जैसे काक कीड़ोंके समूहसे भरे हाड़ वा फलविशेषमें रति (प्रीति) करता है उसी प्रकार यह पामर प्राणीभी स्त्रीके गुह्यस्थानके मंथन करनेमें प्रीति करता है ॥ १५ ॥

आर्या।

वक्तुमपि लज्जनीये दुर्गन्धे मूत्रशोणितद्वारे।
जघनबिले वनितानां रमते बालो न तत्त्वज्ञः ॥ १६ ॥

अर्थ—स्त्रियोंके योनिछिद्रका नाम लेतेही लज्जा आती है, फिर दुर्गन्धमय और मूत्र तथा रुधिरके झरनेका द्वार है। ऐसेमें अज्ञानी ही रमता है तत्त्वज्ञानी तो कभी नहीं रमता ॥ १६ ॥

वंशस्थ।

स्वतालुरक्तं किल कुक्कुराधमैः प्रपीयते यद्वदिहास्थिचर्वणात्।
तथा विटैर्विद्धि वपुर्विडम्बनैर्निषेव्यते मैथुनसम्भवं सुखम् ॥ १७ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! तू ऐसा जान कि-जैसे नीच कुत्ते हाडके चर्वण करनेसे अपने ही तालुसे निकलनेवाले रक्तका पान करके प्रसन्न होते हैं कि यह रुधिर इस हाडमेंसे निकलता है इसी प्रकार व्यभिचारी जन अपने और स्त्रीके शरीरकी पिडनासे उत्पन्न हुए सुखका सेवन करते हैं ॥ १७ ॥

अशुचिष्वङ्गनाङ्गेषु सगताः पश्य रागिणः ।
जुगुप्सां जनयन्त्येते लोलन्तः कृमयो यथा ॥ १८ ॥

अर्थ—देखो, जिसप्रकार अपवित्र मलादिकमें कीड़े कलकलाहट करते हैं उसी प्रकार ये चपल कामीजन स्त्रियोंके अपवित्र अगोंकी संगति करते हुए ग्लानिता उत्पन्न करते हैं ॥ १८ ॥

योनिरन्ध्रमिदं स्त्रीणां दुर्गतेर्द्वारमग्रिमम् ।
तत्त्यजन्ति ध्रुवं धन्या न दीना दैववञ्चिताः ॥ १९ ॥

अर्थ—स्त्रियोंका योनिरन्ध्र दुर्गतिका प्रथम (मुख्य) द्वार है, इस कारण उसे जो धन्य पुरुष हैं वे तो अवश्यही त्यागते हैं। किन्तु जो दीन है अर्थात् नीच हैं वे नहीं छोड़ते क्योंकि वे दैवसे ठगे हुए अर्थात् अभागी है ॥ १९ ॥

मालतीव मृदून्यासां विद्धि चाङ्गानि योषिताम् ।
दारयिष्यन्ति मर्माणि विपाके ज्ञास्यसि स्वयम् ॥ २० ॥

अर्थ—हे आत्मन्! तू इन स्त्रियोंके अङ्गोंको मालती पुष्पके समान कोमल जानता है, परन्तु अन्तमें जब ए तेरे मर्मोंका विदारण करेंगे तब तुझे अपने आप मालूम हो जायगा। भावार्थ–तू स्त्रियोंके अगोंको कोमल समझ स्पर्शनादि करता है, परन्तु इनके फल (दुर्गतियां) बहुतही कष्टकर होंगे–॥ २० ॥

मैथुनाचरणे मूढ म्रियन्ते जन्तुकोटयः ।
योनिरन्ध्रसमुत्पन्ना लिङ्गसंघट्टपीडिताः ॥ २१ ॥

अर्थ—हे मूढ! योनिरंध्रमें असंख्यजीवोंकी कोटिकी (समूहकी) उत्पत्ति होती है सो मैथुनाचरणमें वे सब जीव मारे जाते हैं उनकी हिंसासेही दुर्गतिमें दुःख सहने पड़ते हैं ॥ २१ ॥

बीभत्सानेकदुर्गन्धमलाक्तं स्वकलेवरम् ।
यत्र तत्र वपुः स्त्रीणां कस्मात्तु रमसे शुचि ॥ २२ ॥

अर्थ—इस संसारमें जब अपनाही शरीर जहां तहां बीभत्स और दुर्गंधियों मल करके भरा है तो फिर स्त्रियोंका शरीर किस प्रकार रति करने योग्य हो-। अर्थात् किसी प्रकार योग्य नहीं है ऐसा ॥ २२ ॥

[illegible] ।
[illegible] मनुष्याणाम[illegible] ॥ [illegible] ॥

अर्थ—[illegible] ॥ [illegible] ॥

सर्वाङ्ग[illegible] ।
[illegible] ॥ [illegible] ॥

अर्थ—[illegible] ॥ [illegible] ॥

[illegible]

[illegible]
[illegible] ।
[illegible]
[illegible] ॥ [illegible] ॥

अर्थ—[illegible] ॥ [illegible] ॥

[illegible]

[illegible]

अथ चतुर्दशः सर्गः ।

[illegible]

[illegible]

अर्थ—हे आत्मन्! तू ऐसा जान कि–जैसे नीच कुत्ते हाड़के चर्वण करनेमें मग्न हो उसमेंसे निकलनेवाले रक्तका पान करके प्रसन्न होते हैं कि यह रुधिर इस हाड़में [illegible] है इसी प्रकार व्यभिचारी जन अपने और स्त्रीके शरीरको [illegible] सुखका सेवन करते हैं ॥ १७ ॥

अशुचिष्वङ्गनाङ्गेषु संगताः पश्य रागिणः।
जुगुप्स्यां जनयन्त्येते लोलन्तः कृमयो यथा ॥ १८ ॥

अर्थ—देखो जिसप्रकार [illegible] मलादिकमें कीड़े [illegible] करते हैं उसी प्रकार ये रागी कामीजन स्त्रियोंके अपवित्र अंगोंकी संगति करते हुए ग्लानि उत्पन्न करते हैं ॥ १८ ॥

योनिरन्ध्रमिदं स्त्रीणां दुर्गतेर्द्वारमग्रिमम्।
[illegible] पुरं [illegible] न धीरा देवयशिनाः ॥ १९ ॥

अर्थ—स्त्रियोंका [illegible] दुर्गतिका प्रथम (मुख्य) द्वार है, इस कारण जो [illegible] हैं वे तो [illegible] हैं। किन्तु जो धीर हैं अर्थात् [illegible] हैं वे [illegible] भागी हैं ॥ १९ ॥

[illegible] विरूपाणि योषिताम्।
[illegible] मर्माणि [illegible] शाल्मलि [illegible] ॥ २० ॥

अर्थ—हे आत्मन्! तू [illegible] मानकी [illegible] कोमल [illegible] है [illegible] कोमल [illegible] हैं, [illegible] ॥ २० ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥ २१ ॥

अर्थ—[illegible] ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥ २२ ॥

अर्थ—[illegible]

अर्थ—जो पुरुष समस्त परिग्रहोंसे विरक्त हो क्षुधित सर्पसे कोई जिस प्रकार दूर रहता है उसी प्रकार स्त्रियोंके संसर्गसे दूर रहता है, वही मुक्तिरूपी लक्ष्मीको वरता है। अर्थात् प्राप्त होता है ॥ १ ॥

यथा सद्यो विलीयन्ते गिरयो वज्रताडिताः ।
तथा मत्ताङ्गनापाङ्गप्रहारेणाल्पचेतसः ॥ २ ॥

अर्थ—जैसे वज्रपातसे ताड़े हुए पर्वत शीघ्रही खड खड होजाते हैं तैसे यौवनमदोन्मत्त स्त्रियोंके नेत्रकटाक्षोंके प्रहारसे अल्पज्ञानी खण्ड २ हो स्त्रियोंमें तन्मय हो जाते हैं। अर्थात् स्त्रियोंका संसर्ग अल्पज्ञोंको खराब करता है ॥ २ ॥

यस्तपस्वी व्रती मौनी संवृतात्मा जितेन्द्रियः ।
कलङ्कयति निःशङ्कं स्त्रीसखः सोऽपि संयमम् ॥ ३ ॥

अर्थ—जो मुनि, तपस्वी, व्रती, मौनी, संवरस्वरूप, तथा जितेन्द्रिय हो और स्त्रीकी संगति करता हो वह अपने संयमको कलंक ही लगावै ॥ ३ ॥

मासे मासे व्यतिक्रान्ते यः पिबत्यम्बु केवलम् ।
विमुह्यति नरः सोऽपि संगमासाद्य सुभ्रुवः ॥ ४ ॥

अर्थ—जो मुनि महीने २ का उपवास करके केवल जलही मात्र ग्रहण करता है ऐसा तपस्वीभी स्त्रीकी संगति पा मोहित होजाता है ॥ ४ ॥

सर्वमाप्युपचीयन्ते संयमाद्यास्तपस्विनाम् ।
गुणाः किन्त्वङ्गनासङ्गं प्राप्य यान्ति क्षयं क्षणात् ॥ ५ ॥

अर्थ—तपस्वियोंके संयमादि गुण सब जगह वृद्धिको प्राप्त होते हैं किन्तु अंगनाके संसर्गको प्राप्त होकर वे गुण क्षणमात्रमें नष्ट हो जाते हैं ॥ ५ ॥

संचरन्ति जगत्यस्मिन्स्वेच्छया यमिनां गुणाः ।
विलीयन्ते पुनर्नारीवदनेन्दुविलोकनात् ॥ ६ ॥

अर्थ—संयमी मुनियोंके गुण इस जगतमें स्वेच्छासे यत्र तत्र विस्तारताको प्राप्त होते हैं परन्तु स्त्रियोंके मुखरूपी चन्द्रमाके देखनेसे विलीन हो जाते हैं ॥ ६ ॥

तावद्धत्ते मुनिः स्थैर्यं श्रुतं शीलं कुलक्रमं ।
यावन्मत्ताङ्गनानेत्रवागुराभिर्न रुध्यते ॥ ७ ॥

अर्थ—मुनि है सो स्थिरता, शास्त्राध्ययन, शील और कुलक्रम (गुरु आम्नाय) तबतक धारण करते हैं जबतक [illegible] न और [illegible] [illegible] [illegible] अर्थात् स्त्रियोंके नेत्ररूपी [illegible] होते [illegible] नष्ट हो जाते हैं ॥ ७ ॥

नवनीतनिभं पुसा मन सद्यो विलीयते ।
वनितावह्निसतप्तं सतामपि न सशय ॥ ८ ॥

अर्थ—पुरुषोंका मन नवनीत (मक्खन) सदृश है सो स्त्रीरूपी अग्निका संयोग होनेपर सत्पुरुषोंका चित्तभी चलायमान हो जाता है, इसमें कोई संशय नहीं ॥ ८ ॥

अन्त'सुप्तोऽपि जागर्ति स्मर' सगेन योषिताम् ।
रोगव्रज इवापथ्यसेवासभावितात्मनाम् ॥ ९ ॥

अर्थ—जैसे अपथ्य सेवन करनेवाले मनुष्योंके रोगोंका समूह उत्पन्न हो जाता है, तैसेही काम है सो अन्तरंग (मनमें) सोता है तोभी स्त्रीके संगममात्रसे जागता है ॥९॥

क्रियते यैर्मन स्वस्थ श्रुतप्रशमसयमै ।
तेऽपि ससर्गमासाद्य वनिताना क्षय गता ॥ १० ॥

अर्थ—जिन पुरुषोंने शास्त्राध्ययन, प्रशमभाव और संयमसे अपने मनको स्वस्थ (वशीभूत) कर लिया है वे भी स्त्रियोंके संसर्गको प्राप्त होकर नष्ट होगये है ॥ १० ॥

स्थिरीकृत्य मनस्तत्त्वे तावत्तिष्ठति सयमी ।
यावन्नितम्बिनीभोगिभ्रूकुटिं न समीक्षते ॥ ११ ॥

अर्थ—संयमी पुरुष तबतकही मनको तत्त्वमें स्थिर करके रहता है जबतक कि स्त्रीरूपी सर्पकी भृकुटीको नहीं देखता है ॥ ११ ॥

?? यासा सकल्पलेशोऽपि तनोति मदनज्वरम् ।
प्रत्यासत्तिर्न किं तासा रुणद्धि चरणश्रियम् ॥ १२ ॥

अर्थ—जिन स्त्रियोंके संकल्पका लेश मात्र भी मनमें हो तो वह मदनज्वरको बढ़ा देता है तो उनकी निकटता क्या चारित्ररूपी लक्ष्मीको नष्ट भ्रष्ट नहीं करेगी? ॥ १२ ॥

• यस्या' संसर्गमात्रेण यतिभाव कलङ्क्यते ।
तस्या' किं न कथालापैर्भ्रूभङ्गैश्चारुविभ्रमै ॥ १३ ॥

अर्थ—जिस स्त्रीके ससर्गमात्रसे ही मुनिपन कलंकित होता है उसके साथ कथालाप करने, भौंहके टेढेपन और सुंदर विभ्रम विलासोंके देखनेसे क्या यतिपन नष्ट नहीं होता? अर्थात् होताही है ॥ १३ ॥

सुचिर सुष्ठु निर्णीत लब्ध वा वृद्धसंनिधौ ।
लुप्यते स्त्रीमुखालोकाद्भुवरत्न शरीरिणाम् ॥ १४ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि हमने बहुत काल वृद्धोंकी संगतिमें रहकर अनेक प्रकार निर्णय कर लिया है तथा यह सिद्धान्त प्राप्त किया है कि—स्त्रीके मुखावलोकन करनेसे जीवोंका संयमरूपी रत्न अवश्यही नष्ट होजाता है ॥ १४ ॥

पुस्तोपलविनिष्पन्नं दारुचित्रादिकल्पितम् ।
अपि वीक्ष्य वपुः स्त्रीणां मुह्यत्यङ्गी न संशयः ॥ १५ ॥

अर्थ—स्त्रियोंके शरीरकी आकृति पुस्त (मिट्टी आदिसे) व पाषाणसे रची हुई तथा काष्ठ चित्रादिसे रची हुईको देखकरभी प्राणी मोहको प्राप्त होता है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है फिर साक्षात् स्त्रीको देखनेसे क्यों नहीं मोहित होगा? अर्थात् अवश्यही होगा ॥ १५ ॥

यहां स्त्रीका संसर्ग होनेपर क्या क्या अवस्था होती है सो कहते हैं—

दृष्टिपातो भवेत्पूर्वं व्यामुह्यति ततो मनः ।
प्रणिधत्ते जनः पश्चात्तत्कथागुणकीर्तने ॥ १६ ॥

अर्थ—प्रथम तो स्त्रीपर दृष्टि पड़ती है, तत्पश्चात् चित्त मोहित होता है, तत्पश्चात् उस स्त्रीकी कथा और गुणकीर्तनमें मन लगाता है ॥ १६ ॥

ततः प्रेमानुबन्धः स्यादुभयोरपि निर्भरम् ।
उत्कण्ठते ततश्चेतः प्रेमकाष्ठप्रतिष्ठितम् ॥ १७ ॥

अर्थ—गुणकीर्तनके पश्चात् दोनोंके परस्पर प्रेमस्नेहकी अतिशयतासे प्रेमग्रंथि पड़ जाती है, तत्पश्चात् चित्त स्नेहकी सीमापर स्थित हो उत्कंठित रहता है कि कब मिलाप हो ॥ १७ ॥

दानदाक्षिण्यनिश्वासैरुभयोर्वर्द्धते स्मरः ।
ततः शाखोपशाखाभिः प्रीतिवल्ली विसर्पति ॥ १८ ॥

अर्थ—पूर्वोक्तप्रकारसे तथा दान-दाक्षिण्य-निश्वासादिसे दोनोंके शरीरमें कामकी वृद्धि होती है। तत्पश्चात् शाखा उपशाखाओंसे वह प्रीतिरूपी लता (बेल) फैल जाती है ॥ १८ ॥

मनो मिलति चान्योऽन्यं निःशङ्कं संगलालसम् ।
प्रणश्यति ततो लज्जा प्रेमप्रसरपीडिता ॥ १९ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् निःशंक संगमको लोलुप दोनोंका मन परस्पर एक हो जाता है। तत्पश्चात् प्रेमके प्रसर (वेग) से पीडित होकर लज्जा नष्ट हो जाती है। अर्थात् दोनों ऐसे निःशंक हो जाते हैं, कि बड़ोंके निकट रहनेपर भी परस्पर वचनालाप दृष्टिपातादि निर्लज्जताके कार्य होने लगते हैं ॥ १९ ॥

निःशङ्कं कुरुते नर्म ततोऽन्योन्यास्यविस्मयम् ।
संभाषादिसमुद्भूतः कामाग्निः प्रविजृम्भते ॥ २० ॥

---

१ [illegible]

अर्थ—तत्पश्चात् दोनों एकान्तमें पासमें निःशंक हो हास्यरूप वार्तालाप करते रहते हैं तत्पश्चात् स्पर्शनादि इंधनसे उत्पन्न हुई कामाग्नि प्रज्वलित (तीव्र) हो जाती है ॥ २० ॥

परिरम्भस्ततस्तेन दह्यमानोऽग्निना भृशम् ।
अविचार्य जनः शीघ्रं ततः पापे प्रवर्त्तते ॥ २१ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् यह मनुष्य उस कामरूपी अग्निसे बाहर तो शरीर और अन्तरंगमें चित्तसे अतिशय दग्धरूप होनेसे बिना विचारे पापकार्यमें प्रवर्त्तने लग जाता है। इसप्रकार मनुष्यके शीघ्र संसर्गसे मनुष्यकी पापाचरणमें प्रवृत्ति हो जाती है ॥ २१ ॥

श्रुतं सत्यं तपः शीलं विज्ञानं वृत्तमुत्तमम् ।
इन्धनीकुरुते मूढः प्रविश्य वनितानले ॥ २२ ॥

अर्थ—इसप्रकार यह मूढ प्राणी स्त्रीरूपी अग्निमें प्रवेश करके शास्त्राध्ययन, सत्यव्रत, तप, शील (ब्रह्मचर्य), विज्ञान और उत्तम चारित्र इनको इंधनकी समान जला देता है। अर्थात्—स्त्रीके संगमसे समस्त धर्म कर्म नष्ट कर देता है ॥ २२ ॥

स्फुरन्ति हृदि संकल्पा ये स्त्रीव्यासक्तचेतसाम् ।
रागिणां तानि हे भ्रातर्न कोऽपि गदितुं क्षमः ॥ २३ ॥

अर्थ—हे भाई! जिन पुरुषोंका चित्त स्त्रियोंमें आसक्त है उन रागियोंके मनमें जो जो संकल्प होते हैं उन्हें कहनेको कोईभी समर्थ है? कदापि नहीं क्योंकि कामीके मनमें क्षणक्षणमें अनेक संकल्प होते रहते हैं ॥ २३ ॥

संसर्गप्रभवा नूनं गुणा दोषाश्च देहिनाम् ।
एकान्तेन स दोषाय स्त्रीभिः सार्द्धं कृतः क्षणम् ॥ २४ ॥

अर्थ—सामान्यतासे संसर्गसे जीवोंके गुण दोष दोनोंही होते हैं, परन्तु स्त्रियोंके साथ जो संसर्ग क्षणभरके लियेभी कियाजाय तो वह केवल दोषोंके लियेही होता है ॥२४॥

पुण्यानुष्ठानसम्भूतं महत्त्वं क्षीयते नृणाम् ।
सद्यः कलङ्क्यते वृत्तं साहचर्येण योषिताम् ॥ २५ ॥

अर्थ—स्त्रियोंके साथ संसर्ग रहनेसे मनुष्योंका अनेक पुण्यकार्योंसे प्राप्त हुआ महत्त्व (बड़प्पन) तत्काल नष्ट हो जाता है और जो व्रत चारित्र हैं वे कलंकित हो जाते हैं ॥२५॥

अपवादमहापङ्के निमज्जन्ति न संशयः ।
यमिनोऽपि जगद्वन्द्यवृत्ता रामास्पदं श्रिताः ॥ २६ ॥

अर्थ—जो संयमी मुनि जगतसे वंदनेयोग्य चारित्रवाले हैं वे भी स्त्रीके संसर्गसे अपवादरूपी महाकर्दममें निःसन्देह डूबजाते हैं अर्थात् फँस जाते हैं ॥ २६ ॥

तासां पूर्णेन्दुगौरं मुखकमलमलं वीक्ष्य लीलारसाढ्यं
को योगी यस्तदानीं कलयति कुशलो मानसं निर्विकारम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—जिन स्त्रियोंके सुन्दर भुजलताओंके आलिंगनादि विलासोंको प्राप्त होकर कुरवक, तिलक, अशोक और आम्रवृक्षभी अतिशय विकारको प्राप्त होते हैं अर्थात् फूलते फलते हैं तो उन स्त्रियोंके पूर्णचन्द्रमाके समान गौर लीलारसयुक्त मुखकमलको देखकर ऐसा कौनसा योगी यति प्रवीण है जो अपने मनको उस समय निर्विकार रखनेको समर्थ हो, अर्थात् कोईभी नहीं ॥ ३८ ॥

फिरभी विशेषताके साथ कहते हैं,—

तावद्धत्ते प्रतिष्ठां परिहरति मनश्चापलं चैष तावत्
तावत्सिद्धान्तसूत्रं स्फुरति हृदि परं विश्वतत्त्वैकदीपम्।
क्षीराकूपारवेलावलयविलसितैर्मानिनीनां कटाक्षै-
र्यावन्नो हन्यमानं कलयति हृदयं दीर्घदोलायितानि ॥ ३९ ॥

अर्थ—यह पुरुष जबतक क्षीरसमुद्रकी लहरोंके वलयसरीखे विलासरूप मानिनी स्त्रियोंके कटाक्षोंसे हननेमें आये हुए हृदयके दीर्घ दोलायमान चंचलभावको प्राप्त नहीं होता तबतकही यह मनुष्य प्रतिष्ठाको धारण करता और मनकी चंचलताको छोड़कर स्थिरता रखसकता है और तबतकही समस्त तत्त्वोंको प्रकाश करनेके लिये दीपकके सम सिद्धान्तसूत्र हृदयमें स्फुरित होते हैं । अर्थात् स्त्रियोंके सुंदर कटाक्षोंको देखकर किसका मन स्थिर रह सकता है ? ॥ ३९ ॥

संसर्गाद्विधुरां दीनां सत्रपामप्यनिच्छतीम्।
कुष्ठिनीं रोगिणीं जीर्णां दुःस्थितां क्षीणविग्रहाम् ॥ ४० ॥
निन्दितां निन्द्यजातीयां स्वजातीयां तपस्विनीम्।
बालामपि तिरश्चीं स्त्रीं कामी भोक्तुं प्रवर्तते ॥ ४१ ॥

अर्थ—स्त्रीके संसर्गसे भ्रष्ट हुये कामी पुरुष दुर्बल, दीन (भिखारिनी), सलज्जा, विनाइच्छनी, कोढनी, रोगिणी, बुढ्या, दुःखिनी, क्षीणशरीरवाली, निंदित (वेश्यादिक) तथा निन्द्यजातिकी चंडालनी आदि, तथा स्वजातीया, तपस्विनी, बालिका, और तो क्या तिर्यचनीसेभी व्यभिचार करने लग जाते हैं इसकारण ब्रह्मचारियोंको स्त्रीका संग सर्वथा छोड़ना चाहिये ॥ ४० ॥ ४१ ॥

अङ्गनापाङ्गबाणालीं प्रपतन्तीं निवारय।
विधाय हृदयं धीरं दृढवैराग्यवर्मिनम् ॥ ४२ ॥

अर्थ—अब आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि– हे धीर वीर, अपने हृदयको

वैराग्यरूपी दृढ कवचसे वेष्टित करके स्त्रियोंके कटाक्षबाणोंकी पंक्ती हुई पंक्तिको निवारण कर ॥ ४२ ॥

ब्रह्मचर्यविशुद्ध्यर्थं सङ्गः स्त्रीणां न केवलम् ।
त्याज्यः पुंसामपि प्रायो विटविद्यावलम्बिनाम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—हे भाई ! ब्रह्मचर्यकी रक्षाके लिये केवल स्त्रियोंके संसर्गका ही निषेध नहीं किया है, किन्तु विटविद्यावलम्बी व्यभिचारी स्त्रीपुरुषोंका संगभी त्यागनेयोग्य कहा है ॥ ४३ ॥

मदान्धैः कामुकैः पापैर्वञ्चकैर्मार्गविच्युतैः ।
स्तब्धलुब्धाधमैः सार्द्धं सङ्गो लोकद्वयान्तकः ॥ ४४ ॥

अर्थ—जो मदसे अंधे हैं, कामी हैं, पापी हैं, ठग हैं, कुमार्गी हैं, लुब्ध हैं, मानी हैं, अधम हैं तथा नीच हैं, इनमसे किसीकेभी साथ संगम करना दोनों लोकोंका बिगाड़नेवाला है, इसकारण इनकी संगति करना सर्वथा त्याज्य है ॥ ४४ ॥

अब इस प्रकरणको पूर्ण करते हुए कहते हैं,—

स्रग्धरा ।

सूत्रे दत्तावधानाः प्रशमयमतपोध्यानलब्धावकाशाः
शश्वत्सन्यस्तसङ्गा विमलगुणमणिग्रामभाजः स्वयं ये ।
भ्रश्यन्ते कामिनीनां स्तनजघनमुखालोकनात्तेऽपि भग्ना
मज्जन्तो मोहवार्धौ जिनपतिपतयः प्राक् प्रसिद्धाः कथासु ॥ ४५ ॥

अर्थ—सिद्धान्तसूत्रोंमें दिया है चित्त जिन्होंने, ऐसे तथा प्रशमभाव और यम-नियम-तप-ध्यानादिमें समस्त काल बितानेवाले, निरंतर परिग्रहके त्यागी, निर्मलगुणरूपी मणियोंके समूहको धारण करनेवाले ऐसे जैनयती (रुद्रादिक)भी स्त्रियोंके स्तन, जघन व मुखके देखनेसे भ्रष्ट होकर मोहरूपी समुद्रमें डूबेहुए कथाओंमें प्रसिद्ध हैं अर्थात् सुने जाते हैं । भावार्थ—स्त्रीका संसर्गही ऐसा है कि जिससे कोईभी नहिं बचने । और जो धीर, वीर महापुरुष इसके संसर्गसे बचते हैं वे धन्य हैं ॥ ४५ ॥

इसप्रकार स्त्रीके संसर्गका निषेध वर्णन किया—

दोहा ।

तपसी मौनी संयमी, श्रुतपाठी गुन भार ।
संसर्गीव संसर्गतें बिगड़ तजहु सुजान ॥ १४ ॥

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे शुभचन्द्राचार्यविरचिते ब्रह्मचर्यमहाव्रतान्तर्गत स्त्रीसंसर्गनिषेधवर्णनं नाम चतुर्दशं प्रकरणम् ॥ १४ ॥

अथ पञ्चदश प्रकरणम् ।

आगे इस ब्रह्मचर्यमहाव्रतके वर्णनमें वृद्धसेवाका वर्णन करके इस महाव्रतका व्याख्यान पूर्ण करते हैं—

लोकद्वयविशुद्ध्यर्थं भावशुद्ध्यर्थमञ्जसा ।
विद्याविनयवृद्ध्यर्थं वृद्धसेवैव शस्यते ॥ १ ॥

अर्थ—अनायास दोनों लोकोंकी सिद्धिके लिये, भावोंकी शुद्धताके लिये तथा विद्याविनयकी वृद्धिके लिये वृद्धपुरुषोंकी (गुरुजनोंकी) सेवाहीकी प्रशंसा कीगई है। **भावार्थ**—गुरुजनोंके (बड़ोंके) निकट रहने तथा उनकी सेवा करनेसे यह लोक परलोक सुधरता है, अपने परिणाम शुद्ध रहते हैं, विद्याविनयादिक बढते हैं और मानकषायकी हानि इत्यादि गुण होते है ॥ १ ॥

कषायदहनः शान्तिं याति रागादिभिः समम् ।
चेतः प्रसत्तिमाधत्ते वृद्धसेवावलम्बिनाम् ॥ २ ॥

अर्थ—जो पुरुष वृद्धसेवा करनेवाले हैं उनकी कषायरूपी अग्नि रागादिकोंसहित शान्त होजाती है और चित्त प्रसन्न वा निर्मल होजाता है बड़ोंकी सेवासेही ये गुण होते हैं ॥ २ ॥

निश्चलीकुरु वैराग्यं चित्तदैत्यं नियन्त्रय ।
आसादय वरां बुद्धिं दुर्बुद्धे वृद्धसाक्षिकम् ॥ ३ ॥

अर्थ—आचार्यमहाराज यहां उपदेश करते हैं कि—हे दुर्बुद्धि आत्मा! गुरुजनोंकी साक्षीपूर्वक अर्थात् गुरुजनोंके निकट रहकर तू अपने वैराग्यको तो निश्चल कर और संसारदेहभोगोंसे लेशमात्रभी राग मत कर, तथा चित्तरूपी दैत्य (राक्षस) जो कि स्वेच्छासे प्रवर्तता है उसे वशमें कर और उत्कृष्ट बुद्धिको (विवेकिताको) अंगीकार कर। क्योंकि ये गुण गुरुजनोंकी सेवा करनेसेही प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥

१ स्वतत्त्वनिकषोद्भूतं विवेकालोकवर्द्धितम् ।
येषां बोधमयं चक्षुस्ते वृद्धा विदुषां मताः ॥ ४ ॥

अब वृद्धोंका स्वरूप कहते हैं,—

अर्थ—जिनके आत्मतत्त्वरूप कसौटीसे उत्पन्न भेदज्ञानरूप आलोकसे बढाया हुआ ज्ञानरूपी नेत्र है उनकोही विद्वानोंने वृद्ध कहा है । **भावार्थ**—स्वपर पदार्थोंका

१ 'यत्र दृष्टिं' इत्यपि पाठः ।

...नेमिजो ज्ञात है ऐसे ज्ञानीही वृद्ध कहाते हैं, केवल अवस्थामेंही वृद्ध नहिं होते ॥ ४ ॥

तपःश्रुतधृतिध्यानविवेकयमसयमैः ।
ये वृद्धास्तेऽत्र शस्यन्ते न पुनः पलिताङ्कुरैः ॥ ५ ॥

अर्थ—जो मुनि तप, शास्त्राध्ययन, धैर्य, ध्यान, विवेक (भेदज्ञान), यम, तथा संयमादिकसे वृद्ध (बढे हुए) अर्थात् बढे हैं वेही वृद्ध होते हैं। केवल अवस्था (उमर) मात्र अधिक होनेसे वा केश सफेद होनेसेही वृद्ध नहिं होते ॥ ५ ॥

प्रत्यासत्तिं समायातैर्विषयैः स्वान्तरञ्जकैः ।
न धैर्य स्खलितं येषां ते वृद्धा विबुधैर्मताः ॥ ६ ॥

अर्थ—जिनके निकट मनको रंजायमान करनेवाले विषयोंके प्राप्त होनेपरभी चित्तसे धैर्यता स्खलित (नष्ट) नहिं होती उनकोही विद्वानोंने वृद्ध माना है, अर्थात् विषयोंसे चलायमान होजाय वे बडे काहेके? ॥ ६ ॥

न हि स्वप्नेऽपि संजाता येषां सद्वृत्तवाच्यता।
यौवनेऽपि मता वृद्धास्ते धन्याः शीलशालिभिः ॥ ७ ॥

अर्थ—जिनके सदाचरण स्वप्नमेंभी कभी कलंकित (मैले) नहिं हुए वे यौवनावस्थामेंभी वृद्ध हैं और वेही धन्य पुरुष हैं ऐसा ब्रह्मचारी महात्माओंने माना है ॥ ७ ॥

यहां विशेष कहते हैं,—

प्रायः शरीरशैथिल्यात्स्यात्स्वस्था मतिरङ्गिनाम् ।
यौवने तु क्वचित्कुर्याद्दृष्टतत्त्वोऽपि विक्रियाम् ॥ ८ ॥

अर्थ—यद्यपि शरीरके शिथिल होनेसे (वृद्धावस्था होनेसे) जीवोंकी बुद्धिभी स्वस्थ (निश्चित) होजाती है परन्तु यौवनावस्थामें तो जिसने तत्त्वोंका स्वरूप जाना है वहभी कुछ विक्रियाको धारण करता है। भावार्थ-युवावस्थामें जो चलायमान नहिं होते वेही धन्य पुरुष हैं ॥ ८ ॥

वार्द्धक्येन वपुर्धत्ते शैथिल्यं च यथा यथा।
तथा तथा मनुष्याणां विषयाशा निवर्त्तते ॥ ९ ॥

अर्थ—मनुष्योंका शरीर जैसे जैसे शिथिलताको धारण करता है तैसे तैसेही विषयोंकी आशा घटती है परन्तु युवावस्थामें जिनके आशाका नाश हो यही अधिकता है॥

दीनाचरणसभ्रान्तो वृद्धोऽपि तरुणायते ।
तरुणोऽपि सतां धत्ते श्रियं सत्सङ्गवासितः ॥ १० ॥

अर्थ—जो वृद्ध होकर हीनाचरणोंसे व्याकुल हो भ्रमता फिरै वह वृद्ध होनेपर तरुण है और जो सत्संगतिसे रहता है वह तरुण होनेपरभी सत्पुरुषोंकीभी प्रतिष्ठा पात्र है, अर्थात् वास्तविक वृद्ध कहाता है ॥ १० ॥

साक्षाद्वृद्धानुसेवेय मातेव हितकारिणी।
विनेत्री वागिवासाना दीपिकेवार्थदर्शिनी ॥ ११ ॥

अर्थ—यह वृद्धसेवा साक्षात् माताकी समान तौ हित करनेवाली है और आप्तवाणी (जिनवाणी)के समान समीचीन शिक्षा देनेवाली है तथा दीपकके समान पदार्थोंको दिखानेवाली है ॥ ११ ॥

कदाचिद्दैववैमुख्यान्मातापि विकृतिं भजेत्।
न देशकालयो क्वापि वृद्धसेवा कृता सती ॥ १२ ॥

अर्थ—दैवके विमुख होनेसे माता तो कदाचित् पुत्रको अहितैषिणी होभी जाय तौ आश्चर्य नहीं किन्तु कीहुई वृद्धसेवा किसीभी देश वा कालमें हानिकारक नहिं होती। **भावार्थ**—यह वृद्धसेवा निरन्तर जीवोंका हितही करती है ॥ १२ ॥

अन्ध एव वराकोऽसौ न सता यस्य भारती।
श्रुतिरन्ध्र समासाद्य प्रस्फुरत्यधिक हृदि ॥ १३ ॥

अर्थ—सत्पुरुषोंकी पवित्रवाणी जिसके कानोंमें प्राप्त होकर हृदयमें प्रकाशमान नहिं हुई वह एक अधाही है। क्योंकि—सत्पुरुषोंकी वाणी मनुष्यके हृदयनेत्रको खोल देती है सो जिसने हृदयमें सत्पुरुषोंकी वाणीने प्रवेश नहिं किया वह वास्तवमें अधाही है ॥ १३ ॥

सत्ससर्गसुधास्यन्दै पुसा हृदि पवित्रिते।
ज्ञानलक्ष्मी पद धत्ते विवेकमुदिता सती ॥ १४ ॥

अर्थ—सत्पुरुषोंके सत्संसर्गरूपी अमृतके झरनेसे पुरुषोंका हृदय पवित्र होकर उसमें विवेकसे प्रसन्न हुई ज्ञानलक्ष्मी निवास करती है। **भावार्थ**—सत्पुरुषोंकी सङ्गतिसे समीचीन ज्ञानकी प्राप्ति होती है ॥ १४ ॥

वृद्धोपदेशघर्माशु प्राप्य चित्तकुशेशयम्।
न प्रबोधि कथ तत्र सयमश्री. स्थितिं दधे ॥ १५ ॥

अर्थ—मनुष्योंका चित्तरूपी कमल यदि वृद्धपुरुषोंके उपदेशरूपी सूर्यको प्राप्त होजाय तौ उसमें संयमरूप लक्ष्मी क्यों नहीं निवास करै? अर्थात्—सत्पुरुषोंके वचन जब चित्तमें रहैं तबही संयम दृढ रहता है ॥ १५ ॥

अनुपास्यैव यो वृद्धमण्डलीं मन्दविक्रम. ।
जगत्तत्त्वस्थितिं वेत्ति स मिमीते नभ करै' ॥ १६ ॥

अर्थ—जो पुरुष अल्पशक्तिवाला है और सत्पुरुषोंकी मडलीमें रहे बिनाही जगत्के तत्त्वस्वरूपकी अवस्थाको जानना चाहता है वह आकाशको हाथोंसे मापता है। भावार्थ-सत्पुरुषोंकी सेवाके विना अल्पशक्तिवालेको जगतकी रीतिनीतिका ज्ञान नहिं हो सकता ॥ १६ ॥

शीतांशुरश्मिसपर्कोद्विसर्पति यथाम्बुधि ।
तथा सद्वृत्तसंसर्गाद्‌नृणा प्रज्ञापयोनिधि ॥ १७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार चन्द्रमाकी किरणोंसे समुद्र बढता है उसी प्रकार समीचीन वृत्तोंके धारण करनेवाले सत्पुरुषोंकी संगतिमे मनुष्योंका प्रज्ञारूपी समुद्र बढता है ॥१७॥

नैराश्यमनुप्राप्ति विध्याप्याशाग्निर्भुज ।
आसाद्य यमिना योगी वाक्पथातीतसयमम् ॥ १८ ॥

अर्थ—योगी (मुनि) संयमी पुरुषोंके महान् वचनमार्गसे अगोचर संयमको प्राप्त हो, आशारूप अग्निको बुझाकर, निराशाका अवलंबन करता है। भावार्थ—संयमी मुनियोंकी संगतिसे आशा नष्ट होकर चित्त शान्तिको प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

वृद्धानुजीविनामेव स्युश्चारित्रादिसम्पद' ।
भवत्यपि च निर्लेप मन क्रोधादिकश्मलम् ॥ १९ ॥

अर्थ—वृद्धों (सत्पुरुषों)की सेवा करनेवाले पुरुषोंके ही चारित्र आदि सम्पदा होती हैं और क्रोधादि कषायोंसे मैला मन निर्लेप (निर्मल) हो जाता है ॥ १९ ॥

सुलभेष्वपि भोगेषु नृणा तृष्णा निवर्तते ।
सत्संसर्गसुधास्यन्दैः शश्वदार्द्रीकृतात्मनाम् ॥ २० ॥

अर्थ—जिनका आत्मा सत्पुरुषोंके संगरूपी अमृतके झरनेसे आर्द्र (भीजा हुआ गीला) रहता है उन पुरुषोंके ही भोग सुलभ होते हैं और उनके ही उनप्राप्त हुए भोगोंमें तृष्णाकी निवृत्ति (निस्पृहता) होती है ॥ २० ॥

कातरत्व परित्यज्य धैर्यमेवावलम्ब्यते ।
सत्संगजपरिज्ञानरञ्जितात्मा जन' स्वयम् ॥ २१ ॥

अर्थ—सत्पुरुषोंकी संगतिसे उत्पन्न हुए ज्ञानसे रंजायमान हो गया है आत्मा जिसका ऐसा पुरुष अपने आपही कायरताको छोड धैर्यावलम्बन करता है। भावार्थ-सत्पुरुषोंकी संगतिमें ज्ञान होता है और कायरता नष्ट होकर धीरता आती है वह आने पर पुरुष समीचीन मार्गसे च्युत नहिं होता ॥ २१ ॥

पुण्यात्मना गुणग्रामसीमासंसक्तमानसैः ।
तीर्यते यमिभिः किं न कुविचारागसागरः ॥ २२ ॥

अर्थ—पुण्यपुरुषोंके गुणग्रामकी सीमामें जिनका मन लगाहुआ है वे मुनि क्या कुविचाररूपी समुद्रको नहि तिरेंगे ? अवश्य तिरेंगे । क्यों कि जब सत्पुरुषोंके गुणोंमें मन लग जाता है तब अन्य पदार्थोंमें प्रीति हट जाती है ॥ २२ ॥

तत्त्वे तपसि वैराग्ये परां प्रीतिं समश्नुते ।
हृदि स्फुरति यस्योच्चैर्वृद्धवाग्दीपसन्ततिः ॥ २३ ॥

अर्थ—जिस मनुष्यके हृदयमें सत्पुरुषोंके वचनरूपी दीपककी सन्तति (परिपाटी) प्रकाशमान है उसकी तत्त्वोंमें, तपमें तथा वैराग्यमें अतिशय उत्कृष्ट प्रीति हो जाती है ॥२३॥

मिथ्यात्वादिनगोत्तुङ्गशृङ्गभङ्गाय कल्पितः ।
विवेकः साधुसङ्गोत्थो वज्रादप्यजयो नृणाम् ॥ २४ ॥

अर्थ—सत्पुरुषोंकी संगतिसे उत्पन्न हुआ मनुष्योंका विवेक मिथ्यात्वादि पर्वतोंके उच्च शिखरोंको (विचारमें आये मिथ्यात्वादि भावोंको) खंड खंड करनेके लिये वज्रसे अधिक अजेय है ॥ २४ ॥

अप्यनादिसमुद्भूतं क्षीयते निबिडं तमः ।
वृद्धानुयायिना च स्यादिश्वतत्त्वैकनिश्चयः ॥ २५ ॥

अर्थ—जो वृद्धपुरुषोंके (सत्पुरुषोंके) अनुयायी हैं उनका अनादिकालका उत्पन्न निबिड अज्ञानरूप अंधकार नष्ट हो जाता है और समस्त तत्त्वोंका अद्वितीय निश्चय हो जाता है, अर्थात् अज्ञानका लेशमात्रभी नहि रहता ॥ २५ ॥

अन्तःकरणजं कर्म यः स्फोटयितुमिच्छति ।
स योगिवृन्दमाराध्य करोत्यात्मन्यवस्थितिम् ॥ २६ ॥

अर्थ—जो पुरुष अन्तःकरणके (मनके) उपजे कर्मोंको दूर करनेकी इच्छा करता है वह पुरुष योगीश्वरोंके समूहकी सेवा करता है और वही अपनी आत्मामें स्थिरता [illegible] है। अर्थात् योगीश्वरोंकी [illegible] रहनेसे ही आत्मानुभवकी प्राप्ति और कर्मोंका नाश [illegible] है ॥ २६ ॥

[illegible] सेवा [illegible] भुवनत्रये ।
[illegible] यमिनामुं[illegible]निर्विजृम्भते ॥ २७ ॥

अर्थ—इस त्रिभुवनमें [illegible] (कर्मोंका [illegible]) है । [illegible] ॥ २७ ॥

[illegible] ।
[illegible]

अर्थ—संयमी मुनि योगीश्वरोंके महापवित्र आचरणके अनुष्ठानको देखकर वा सुनकर उन योगीश्वरोंकी सेईहुई पदवीको निरुपद्रव प्राप्त करता है। भावार्थ—जब धर्मीका बडा पवित्र आचरण देखे, सुने तब आपभी वैसा होनेका यत्न करता है॥ २८॥

विश्वविद्यासु चातुर्य विनयेष्वतिकौशलम्।
भावशुद्धिः स्वसिद्धान्ते सत्सङ्गादेव देहिनाम्॥ २९॥

अर्थ—जीवोंको समस्त विद्याओंमें चतुरता और विनयमें अतिप्रवीणता तथा अपने सिद्धान्तमें भावोंकी शुद्धि अर्थात् निःसंदेहता आदि गुण सत्पुरुषोंकी संगतिसे ही प्राप्त होते हैं॥ २९॥

यथात्र शुद्धिमाधत्ते स्वर्णमत्यन्तमग्निना।
मनःशुद्धिं तथा ध्यानी योगिसंसर्गवह्निना॥ ३०॥

अर्थ—जैसे इस जगतमें सुवर्ण अग्निके संयोगसे अत्यन्त शुद्ध (निर्मल) हो जाता है उसीप्रकार योगीश्वरोंकी संगतिरूपी अग्निसे ध्यानी मुनि अपने मनकी शुद्धिको प्राप्त होता है॥ ३०॥

भयलज्जाभिमानेन धैर्यमेवावलम्बते।
साहचर्यं समासाद्य संयमी पुण्यकर्मणाम्॥ ३१॥

अर्थ—संयमी मुनि पवित्राचरणवाले सत्पुरुषोंकी संगतिको प्राप्त हो, उनके भयसे वा लज्जा तथा अभिमानसे धैर्यका ही अवलंबन करता है। भावार्थ—कर्मोंके उदयसे परिणाम बिगडने लग जायँ तो महापुरुषोंकी संगतिमें रहनेसे भय, लज्जा वा अपने अभिमानसे ही वह मुनि मार्गसे च्युत नहिं होता। इसीकारणही सत्पुरुषोंमें रहना अतिशय श्रेष्ठ है॥३१॥

शरीराहारसंसारकामभोगेष्वपि स्फुटम्।
विरज्यति नरः क्षिप्रं सद्भिः सूत्रे प्रतिष्ठितः॥ ३२॥

अर्थ—सत्पुरुषोंके द्वारा सूत्रमें शिक्षित किया हुआ पुरुष शरीर, आहार, संसार, काम, व भोगादिकमें तत्काल ही विरक्त हो जाता है। सत्पुरुषोंकी शिक्षाका ही फल ऐसा होता है, शरीरादिकमें वैराग्य होनेके कारण मोक्षमार्गसे च्युत नहिं होता। यह स्पष्टतया जानो॥ ३२॥

यथा यथा मुनिर्धत्ते चेतः सत्सङ्गवासितम्।
तथा तथा तपोलक्ष्मीः परां प्रीतिं प्रकाशयेत्॥ ३३॥

अर्थ—जैसे जैसे मुनि अपने चित्तको सत्पुरुषोंकी संगतिमें लगाता है तैसे तैसे ही उससे तपरूपी लक्ष्मी उत्तम प्रीतिको प्रकाश करती है॥ ३३॥

पुण्यात्मना गुणग्रामसीमासंसक्तमानसैः ।
तीर्यते यमिभिः किं न कुविद्यारागसागरः ॥ २२ ॥

अर्थ—पुण्यपुरुषोंके गुणग्रामकी सीमामें जिनका मन लगाहुआ है वे मुनि क्या कुविद्यारूपी समुद्रको नहिं तिरेंगे ? अवश्य तिरेंगे । क्यों कि जब सत्पुरुषोंके गुणोंमें मन लग जाता है तब अन्य पदार्थोंसे प्रीति हट जाती है ॥ २२ ॥

तत्त्वे तपसि वैराग्ये परां प्रीतिं समश्नुते ।
हृदि स्फुरति यस्योच्चैर्वृद्धवाग्दीपसन्ततिः ॥ २३ ॥

अर्थ—जिस मनुष्यके हृदयमें सत्पुरुषोंके वचनरूपी दीपककी सन्तति (परिपाटी) प्रकाशमान है उसकी तत्त्वोंमें, तपमें तथा वैराग्यमें अतिशय उत्कृष्ट प्रीति हो जाता है ॥२३॥

मिथ्यात्वादिनगोत्तुङ्गशृङ्गभङ्गाय कल्पितः ।
विवेकः साधुसंगोत्थो वज्रादप्यजयो नृणाम् ॥ २४ ॥

अर्थ—सत्पुरुषोंकी संगतिसे उत्पन्न हुआ मनुष्योंका विवेक मिथ्यात्वादि पर्वतोंके उच्च शिखरोंको (विचारमें आये मिथ्यात्वादि भावोंको) खंड खंड करनेके लिये वज्रसे अधिक अजेय है ॥ २४ ॥

अप्यनादिसमुद्भूतं क्षीयते निबिडं तमः ।
वृद्धानुयायिनां च स्यादविश्वतत्त्वैकनिश्चयः ॥ २५ ॥

अर्थ—जो वृद्धपुरुषोंके (सत्पुरुषोंके) अनुयायी हैं उनका अनादिकालका उत्पन्न निबिड अज्ञानरूप अन्धकार नष्ट हो जाता है और समस्त तत्त्वोंका अद्वितीय निश्चय हो जाता है, अर्थात् अज्ञानका लेशमात्रभी नहिं रहता ॥ २५ ॥

अन्तःकरणजं कर्म यः स्फोटयितुमिच्छति ।
स योगिवृन्दमाराध्य करोत्यात्मन्यवस्थितिम् ॥ २६ ॥

अर्थ—जो पुरुष अन्तःकरणसे (मनसे) उपजे कर्मको दूर करनेकी इच्छा करता है वह पुरुष योगीश्वरोंके समूहकी सेवा करता है और वही अपनी आत्मामें तिष्ठता है। अर्थात् योगीश्वरोंकी सत्संगतिमें रहनेसे ही आत्मानुभवकी प्राप्ति और कर्मोंका नाश होता है ॥ २६ ॥

एकैव महतां सेवा स्याज्जेत्री भुवनत्रये ।
ययैव यमिनामुच्चैरन्तर्ज्योतिर्विजृम्भते ॥ २७ ॥

अर्थ—इस त्रिभुवनमें सत्पुरुषोंकी सेवा ही एकमात्र जयनशील (कर्मोंको जीतनेवाली) है । इसमेंही मुनियोंके अन्तःकरणमें ज्ञानरूप ज्योतिका प्रकाश विस्तृत होता है ॥ २७ ॥

दृष्ट्वा श्रुत्वा यमी योगिपुण्यानुष्ठानमूर्जितम् ।
आश्रयति निरातङ्कं पदवीं तैरुपासिताम् ॥ २८ ॥

देशके प्राप्त होनेसे स्वप्नमें भी मनुष्यके कुबुद्धिका प्रादुर्भाव नहिं होता । भावार्थ—सत्पुरुषोंके उपदेशसे दुर्मति नष्ट होती है और सुमतिकी प्राप्ति होती है ॥ ३८ ॥

तन्न लोके परं धाम न तत्कल्याणमग्रिमम् ।
यद्योगिपदराजीवसश्रितैर्नाधिगम्यते ॥ ३९ ॥

अर्थ—जगतमें न तो ऐसा कोई उत्कृष्ट स्थान (मंदिर) है और न कोई ऐसा कल्याण है, जो योगीश्वरोंके चरणकमलोंकी सेवा करनेवालोंको प्राप्त न हो । अर्थात् योगीश्वरोंकी सेवा करनेवालोंको समस्त प्रकारके कल्याणकी प्राप्ति होती है ॥ ३९ ॥

अन्तर्लीनमपि ध्वान्तमनादिप्रभवं नृणाम् ।
क्षीयते साधुसंसर्गप्रदीपप्रसरात्ततम् ॥ ४० ॥

अर्थ—अनादिकालसे उत्पन्न हुआ पुरुषोंके अंतरंगका अज्ञानरूप अंधकार भी साधु महात्माओंके संसर्गरूपी प्रदीपके प्रकाशसे नष्ट हो जाता है । अर्थात् साधुओंकी संगतिसे अज्ञान नहिं रहता ॥ ४० ॥

मालिनी ।

दहति दुरितकक्षं कर्मबन्धं लुनीते
वितरति यमसिद्धिं भावशुद्धिं तनोति ।
नयति जननतीरं ज्ञानराज्यं च दत्ते
ध्रुवमिह मनुजानां वृद्धसेवैव साध्वी ॥ ४१ ॥

अर्थ—मनुष्योंको वृद्धोंकी (सत्पुरुषोंकी) सेवाही करना उत्तम है क्योंकि यह वृद्ध सेवा पापरूपी वनको दग्ध करती है, कर्मके बंधोंको काटती है, चारित्रकी सिद्धिका देनी है, और भावोंकी शुद्धताका विस्तार करके संसारसे पारकर ज्ञानराज्यको (केवलज्ञान वा सुखज्ञानकी पूर्णताको) देती है ॥ ४१ ॥

इसप्रकार वृद्धसेवाका (सत्संगतिका) वर्णन किया। इस वृद्धसेवासे मनुष्यके समस्त दोष विलाय जाते हैं और समस्त गुणोंकी प्राप्ति होती है ॥ अब प्रकरण महात्म्यका कथनका समाप्त करते हुए कहते हैं,—

विरम विरम संगान्मुञ्च मुञ्च प्रपञ्चं
विसृज विसृज मोहं विद्धि विद्धि स्वतत्त्वम् ।
कलय कलय वृत्तं पश्य पश्य स्वरूपं
कुरु कुरु पुरुषार्थं निर्वृतानन्दहेतोः ॥ ४२ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि हे आत्मन् ! तू परिग्रहसे विरक्त हो विरक्त हो, प्रपंच मायाजालको छोड छोड, और आतंक मोहको दूर कर दूर कर, निज

उक्तं च ग्रन्थान्तरे ।

आर्या ।

नहि भवति निर्विगोपकमनुपासितगुरुकुलस्य विज्ञानम् ।
प्रकटितपश्चिमभाग पश्यत नृत्य मयूरस्य ॥ ३४ ॥

अर्थ—जिसने गुरुकुलकी (सत्पुरुषोंके समूहकी) उपासना नहीं की, उसका विज्ञान (भेदज्ञान, कला, चतुराइ) प्रशंसा करने योग्य नही है, किन्तु निंदासहित होता है। जैसे मयूर नृत्य करतेसमय अपना पृष्ठभाग (मलद्वार) उघाड कर नृत्य करता है। भावार्थ— मयूर नाचता है सो अपनी बुद्धिसे नाचता है, नृत्य करनेका विधान सुंदर भी होता है, सो मयूरने किसीसे सीखा नहीं इसी कारण वह नाच करते समय अपने पश्चिम भागको (गुदाको) उघाड देता है, सो ऐसा नृत्य प्रशंसनीय नहि होता। इसी प्रकार तपस्वी गुरुजनोंके निकट सीखे विना जो क्रिया की जाय वह यथावत् नहि होती। इसकारण योगीश्वरादि महापुरुषोंकी संगतिमें रहकरही उनकी आज्ञानुसार प्रवर्तना चाहिये ॥ ३४ ॥

तप कुर्वन्तु वा मा वा चेद्वृद्धान्समुपासते ।
तीर्त्वा व्यसनकान्तार यान्ति पुण्या गतिं नरा ॥ ३५ ॥

अर्थ—जो पुरुष सत्पुरुषोंकी उपासना (सेवा) करते है वे तप करें अथवा न करें किंतु दुःख रूपी मार्गको पार करके अवश्यही पवित्र (उत्तम) गतिको प्राप्त होते है। भावार्थ—तप तो शक्त्यनुसार करना कहा है, यदि तप करनेकी शक्ति न हो और सत्पुरुषोंकी संगतिमें रहकर उनकी उपासना करता रहै तो उसको भी उत्तम गति प्राप्त हो ॥ ३५ ॥

कुर्वन्नपि तपस्तीव्र विदन्नपि श्रुतार्णवम् ।
नासादयति कल्याण चेद्वृद्धानवमन्यते ॥ ३६ ॥

अर्थ—तीव्र तप करता हुआ भी तथा शास्त्ररूपी समुद्रका अवगाहन करता हुआ भी यदि वृद्धोंका नहि करता है अर्थात् सत्पुरुषोंकी आज्ञामें नहि रहता है तो उसका कल्याण नहि हो सकता ॥ ३६ ॥

मनोऽभिमतनिःशेषफलसम्पादनक्षमम् ।
कल्पवृक्षमिवोदार साहचर्य महात्मनाम् ॥ ३७ ॥

अर्थ—सत्पुरुषोंका संग करना कल्पवृक्षके समान समस्त प्रकार मनोवांछित फल देनेमें समर्थ है, अत एव सत्पुरुषोंकी संगति अवश्य करनी चाहिये ॥ ३७ ॥

जायते यस्समासाद्य न हि स्वप्नेऽपि दुर्मतिः ।
मुनिभिस्तैर्महेच्छ स्यात्सूर्यमाकार संगमम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—सत्पुरुषोंकी उत्तमता पाकर मुनियोंका संग होता है। ...

के प्राप्त होनेसे स्वप्नमें भी मनुष्यके कुबुद्धिका प्रादुर्भाव नहिं होता। भावार्थ-सत्पुरुषोंके उपदेशसे दुर्मति नष्ट होती है और सुमतिकी प्राप्ति होती है ॥ ३८ ॥

सततं लोके परं धाम न तत्कल्याणमग्रिमम् ।
यद्योगिपदराजीवसंश्रितैर्नाधिगम्यते ॥ ३९ ॥

अर्थ—जगतमें न तो ऐसा कोई उत्कृष्ट स्थान (मंदिर) है और न कोई ऐसा कल्याण है, जो योगीश्वरोंके चरणकमलोंकी सेवा करनेवालोंको प्राप्त न हो। अर्थात् योगीश्वरोंकी सेवा करनेवालोंको समस्त प्रकारके कल्याणकी प्राप्ति होती है ॥ ३९ ॥

अन्तर्लीनमपि ध्वान्तमनादिप्रभवं नृणाम् ।
क्षीयते साधुसंसर्गप्रदीपप्रसराहतम् ॥ ४० ॥

अर्थ—अनादिकालसे उत्पन्न हुआ पुरुषोंके अंतरंगका अज्ञानरूप अंधकार भी साधु महात्माओंके संगरूपी प्रदीपके प्रकाशसे नष्ट हो जाता है। अर्थात् साधुओंकी संगतिसे अज्ञान नहिं रहता ॥ ४० ॥

मालिनी ।

दहति दुरितकक्षं कर्मबन्धं लुनीते
वितरति यमसिद्धिं भावशुद्धिं तनोति ।
नयति जननतीरं ज्ञानराज्यं च दत्ते
ध्रुवमिह मनुजानां वृद्धसेवैव साध्वी ॥ ४१ ॥

अर्थ—मनुष्योंको वृद्धोंकी (सत्पुरुषोंकी) सेवाही करना उत्तम है क्योंकि यह वृद्धसेवा पापरूपी वनको दग्ध करती है, कर्मके बंधोंको काटती है, चारित्रकी सिद्धिको करती है, और भावोंकी शुद्धताका विस्तार करके संसारसे पारकर ज्ञानराज्यको (केवलज्ञान वा श्रुतज्ञानकी पूर्णताको) देती है ॥ ४१ ॥

इसप्रकार वृद्धसेवाका (सत्संगतिका) वर्णन किया। इस वृद्धसेवासे मनुष्यके समस्त दोष विलाय जाते हैं और समस्त गुणोंकी प्राप्ति होती है ॥ अब ब्रह्मचर्य महाव्रतके कथनको समाप्त करते हुए कहते हैं,—

विरम विरम सङ्गान्मुञ्च मुञ्च प्रपञ्चं
विसृज विसृज मोहं विद्धि विद्धि स्वतत्त्वम् ।
कलय कलय वृत्तं पश्य पश्य स्वरूपं
कुरु कुरु पुरुषार्थं निर्वृतानन्दहेतो ॥ ४२ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि हे आत्मन्! तू परिग्रहसे विरक्त हो विरक्त हो, प्रपंच मायाशल्यको छोड छोड, और जगतके मोहको दूर कर दूर कर, निज

तत्त्वको जान जान, चारित्रका अभ्यास कर कर अपने स्वरूपको देख देख, और स्वरू सुखार्थ पुरुषार्थ कर कर। इसप्रकार जोटोवार कहनेमें आचार्य महाराजने अत्यन्त प्रेरणा की है, क्यों कि श्रीगुरु महाराज वडे दयालु है सो वारवार हितके लिये प्रेरणा करते हैं॥४२॥

ॐ, अतुलसुखनिधान ज्ञानविज्ञानवीज
विलयगतकलङ्क शान्तविश्वप्रचारम्।
गलितसकलशङ्क विश्वरूप विशाल
भज विगतविकार स्वात्मनात्मानमेव ॥ ४३ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! तू अपने आत्माको आपहीं कर भज अर्थात् सेव। तेरा आत्मा कैसा है कि अतुल्य (अतीन्द्रिय) सुखका निधान है, ज्ञान और विज्ञान (भेदज्ञान) का बीज है, जिसके मिथ्यात्वभावरूपी कलक नष्ट होगये हैं, जिसमे नानाप्रकारके विकल्पोंका विस्तार शान्त हो गया है, अथात् जो निर्विकल्प स्वरूप है तथा जिसकी समस्त शंकायें नष्ट हो गई हैं, जो समस्त ज्ञेयोंके आकारस्वरूप विश्वमय है, विशाल है, अपने गुण पर्यायोंमे फैला हुआ है और समस्त प्रकारके विकारोंमे रहित होगया है। इस प्रकारके अपने आत्माको भजना, उसीमें लीन रहना, इसीको परम ब्रह्मचर्य कहते हैं। ब्रह्म कहिये आत्मा, उसमें चरना (लीन होना) योंही ब्रह्मचर्य है ॥ ४३ ॥

शार्दूलविक्रीडितम्।

धन्यास्ते मुनिमण्डलस्य गुरुता प्राप्ता स्वय योगिन'
शुद्ध्यत्येव जगत्रयी शमवता श्रीपादरागाङ्किता।
तेपा सयमसिद्धय' सुकृतिना स्वप्नेऽपि येपा मनो
नालीढ विपयैर्न कामविशिखैर्नैवाङ्गनालोचनै ॥ ४४॥

अर्थ—जिन मुनियोंका मन विषयोंसे स्वप्नमे भी आलीढ (विद्ध) नहिं हुआ और कामके वाण तथा स्त्रियोंके नेत्रकटाक्षोंसे स्पृष्ट नहिं हुआ वे ही सुकृती धन्य है। उनके सयमकी सिद्धियें होती हैं और वेही मुनि योगीश्वरोंके समूहमें प्रधानताको (आचार्यताको) प्राप्त होते हैं तथा उन्ही शातभावयुक्त योगीश्वरोंके शोभायमान चरणोंके रागसे अंकित यह तीन भुवन निश्चय करके पवित्र होते हैं ॥ ४४ ॥

येपा वाग्भुवनोपकारचतुरा प्रज्ञा विवेकास्पदम्
ध्यान ध्वस्तसमस्तकर्मकवच वृत्त कलङ्कोज्झितम्।
सम्यग्ज्ञानसुधातरङ्गनिचयैर्येनाथ निर्वापित
धन्यास्ते शमयन्त्यनङ्गविशिखव्यापारजाता रुज ॥ ४५ ॥

अर्थ—जिन योगीश्वरोंके वचन तो लोकोपकारमें चतुर हैं और प्रज्ञा (बुद्धि) विवेकका स्थान है और जिनके ध्यानने कर्मरूपी कवचको (बखतरको) नष्ट करदिया है तथ

जिनका चारित्र चन्द्रकांति (उज्ज्वल) है, व जिनका चित्त सम्यग्ज्ञानरूपी अमृतकी तरंगोंसे प्रक्षालित होता है वही योगी मुनि धन्य हैं। वही हमारे कामबाणके व्यापारसे उत्पन्न हुए पीडाका शमन करो ॥ ४५ ॥

शमशिखिभिरमन्दकन्दर्पसम्पर्कधूलोपने
यैरपि मिथ्यान्मदः कृतधियां नाच्छेदि शीलद्रुमः ।
धन्यास्ते शमयन्तु सन्ततमिह दुर्वारकामानल-
ज्वालाजालकरालमानसमिदं विश्वं विवेकाम्बुभिः ॥ ४६ ॥

अर्थ—जिन दुर्निवार हुए कामके दनेवाला शीलरूपी वृक्ष चपल तथा चमकते हुए कामके बुझानेमात्र निर्दोष ज्ञान निरन्तर नहि छेदागया व महाभाग्य कृतबुद्धि धन्य हैं। वे मुनिमहाराज निरंतर प्राप्त होनेवाली दुर्निवार कामरूपी अग्निकी ज्वालाओंसे संतप्त जलते हुए इस जगतको निवेकरूपी किरणोंसे शीतल करो ॥ ४६ ॥

मालिनी ।

यदि विषयपिशाची निर्गता देहगेहात्
सपदि यदि विशीर्णो मोहनिद्रातिरेकः ।
यदि युवतिकरङ्के निर्ममत्वं प्रपन्नो
झगिति ननु विधेहि ब्रह्मवीथीविहारम् ॥ ४७ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! जो तेरे देहरूपी घरसे विषयरूपी पिशाची निकलगई हो, तथा मोहरूप निद्राकी अधिकता क्षीण हो गई हो, और स्त्रीके शरीरमें तू निर्ममत्व (निस्पृहता)को प्राप्त हुआ हो तो तू शीघ्रही ब्रह्मचर्यरूपी मार्गमें विहार कर (सैर कर)। अर्थात् उक्तप्रकारका होगया है तो ब्रह्मचर्य अंगीकार करनेमें ढील मत कर, ऐसा उपदेश है ॥ ४७ ॥

स्मरभोगीन्द्रदुर्वारविषानलकरालितम् ।
जगद्यैः शान्तिमानीतं ते जिनाः सन्तु शान्तये ॥ ४८ ॥

अर्थ—कामरूपी सर्पके दुर्निवार विषरूपी अग्निकी ज्वालासे प्रज्वलित इस जगतको जिन महात्माओंने शान्तरूप किया, ऐसे सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ भगवान् जगतको शान्तरूप करनेवाले हों ऐसा आशीर्वाद दिया है ॥ ४८ ॥

इसप्रकार ब्रह्मचर्यनामा महाव्रतका वर्णन किया। जिसमें कामका प्रकोप, मैथुन, स्त्रीका स्वरूप, और संसर्ग इनका वर्णन किया, सो इनका त्याग करके जब मुनिमहाराजके निकट रहे और उनकी सेवा करे तबही ब्रह्मचर्य दृढ रहै और तबही परमार्थरूप ब्रह्मचर्य (आत्मामें लीन होनेरूप ध्यान) की सिद्धि होती है । इस कारण इस व्रतका वर्णन खुब विस्तारसे किया है । यहां बारबार कहनेमें पुनरुक्ति दोष न समझना, किंतु अतिस्पष्टता जानना ।

छप्पय।

कामकोप मदुन निवारि, तियरहार निरंतर।
धामसंग साधन विसारि गुरु धारि सुमन्तर॥
सेय सडलिका संग विषयआशा जु निवारहु।
ब्रह्मचर्यको धारि शुद्ध आतम ल्य लावहु॥
इमि ध्यानसिद्धिकरि घाति हति केवलबोध उपावई।
संबोध भव्य सब कर्म हरि, तु म इरो शिव पायई॥

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे शुभचन्द्राचार्यविरचिते ब्रह्मचर्यव्रतवर्णनं नाम पञ्चदशं प्रकरणम्॥ १५॥

अथ षोडश प्रकरणम्।

अब परिग्रहत्याग महाव्रतका वर्णन करते हैं, सो प्रथम ही परिग्रहके दोष दिखाते हैं

यानपात्रमिवाम्भोधौ गुणवानपि मज्जति।
परिग्रहगुरुत्वेन संयमी जन्मसागरे॥ १॥

अर्थ—जिसप्रकार समुद्रमें पाषाणादिके बोझ संयोग [illegible] अर्थात् [illegible] [illegible] हुआ जाती है, उसीप्रकार संयमी मुनि यदि गुणवान् है तो भी [illegible] जन्मरूपी समुद्रमें डूब जाता है॥ १॥

बाह्यान्तर्भूतभेदेन द्विधा स्युस्ते परिग्रहाः।
चिदचिद्रूपिणो बाह्या अन्तरङ्गास्तु चेतनाः॥ २॥

अर्थ—[illegible] परिग्रह दो प्रकार है। बाह्य परिग्रह [illegible] [illegible] है और अन्तरङ्ग परिग्रह [illegible] है। क्योंकि वे सब [illegible] है॥ २॥

दश ग्रन्था मता बाह्या अन्तरङ्गाश्चतुर्दश।
तान्मुक्त्वा भव निःसङ्गो भावशुद्ध्या भृशं मुने॥ ३॥

अर्थ—[illegible] अन्तरङ्ग परिग्रह [illegible] [illegible]॥ ३॥

वास्तु क्षेत्रं धनं धान्यं द्विपदाश्च चतुष्पदाः।
शयनासनयानं च कुप्यं भाण्डममी दश॥ ४॥

अर्थ—वास्तु (घर), क्षेत्र (खेत), धन, धान्य, द्विपद (मनुष्य), चतुष्पद (पशु, हाथी, घोडे,) शयनासन, यान, कुप्य और भांड ये बाहरके दश परिग्रह हैं ॥ ४ ॥

॥ निःसङ्गोऽपि मुनिर्न स्यात्संमूर्छन्सङ्गवर्जितः ।
यतो मूर्छैव तत्त्वज्ञैः सङ्गसूतिः प्रकीर्तिता ॥ ५ ॥

अर्थ—जो मुनि निःसंग हो अर्थात् बाह्य परिग्रहसे रहित हो और ममत्व करता हो वह निःपरिग्रही नहिं हो सकता। क्योंकि, तत्त्वज्ञानी विद्वानोंने मूर्छाको (ममत्वरूप परिणामोंको) ही परिग्रहकी उत्पत्तिका स्थान माना है ॥ ५ ॥

आर्या।

॥ स्वजनधनधान्यदाराः पशुपुत्रपुराकरा गृहं भृत्याः ।
मणिकनकरचितशय्या वस्त्राभरणादि बाह्यार्थाः ॥ ६ ॥

अर्थ—स्वजन, धन, धान्य, स्त्री, पशु, पुत्र, पुर, खानि, घर, नौकर, माणिक, रत्न, सोना, रूपा, शय्या, वस्त्र, आभरण, इत्यादि सब ही पदार्थ बाह्य परिग्रह हैं ॥ ६ ॥

उक्तं च।

॥ "मिथ्यात्ववेदरागा दोषा हास्यादयोऽपि षट् चैव ।
चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः" ॥ १ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व १ वेदराग २ हास्यादिक (हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा) ६ और क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय, इसप्रकार अन्तरंगके चौदह परिग्रह हैं ॥ १ ॥

॥ संवृतस्य सुवृत्तस्य जिताक्षस्यापि योगिनः ।
व्यामुह्यति मनः क्षिप्रं धनाशाव्यालविलुप्तम् ॥ ७ ॥

अर्थ—जो मुनि संवरसहित हो, उत्तम चरित्रसहित हो तथा जितेंद्रिय हो उसका भी मन धनाशारूपी सर्पसे पीडित होता हुआ तत्काल ही मोहको प्राप्त होता है, इसकारण धनकी आशा अवश्य छोडनी चाहिये ॥ ७ ॥

॥ त्याज्य एवाखिलः सङ्गो मुनिभिर्मोक्तुमिच्छुभिः ।
स चेत्त्यक्तुं न शक्नोति कार्यस्तर्ह्यात्मदर्शिभिः ॥ ८ ॥

अर्थ—मुक्त होनेके इच्छुक मुनियोंको समस्त प्रकारका परिग्रह अर्थात् सब पदार्थोंका संग छोडना चाहिये। कदाचित् अन्तरंगके परिग्रहमेंसे कोई परिग्रह विद्यमान रहै तो जो आत्मदर्शी बडे मुनि हों उनकी संगतिमें रहै। क्योंकि मुनिको समस्त संग त्यागकर ध्यानस्थ रहना कहा है। यदि ध्यानस्थ नहिं रहा जाय तो आचार्योंके साथ संघमें रहै ॥ ८ ॥

॥ नाणवोऽपि गुणा लोके दोषाः शैलेन्द्रसन्निभाः ।
भवन्त्यत्र न सन्देहः सङ्गमासाद्य देहिनाम् ॥ ९ ॥

२१

अर्थ—इस लोकमें जीवोंके परिग्रहके प्राप्त होनेसे गुण तो अणुमात्र भी नहीं किन्तु दोष सुमेरु पर्वतसरीखे बड़े २ होते हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ ९ ॥

अन्तर्बाह्यभुवो शुद्धयोर्योगाद्योगी विशुद्ध्यति।
नयेक पत्रमालम्ब्य व्योम्नि पक्षी विसर्पति ॥ १० ॥

अर्थ—योगी बाह्याभ्यन्तर दोनोंप्रकारकी शुद्धियोंका योग होनेसे ही शुद्ध है किंतु एक प्रकारकी विशुद्धिसे ही नहिं होता जैसे-पक्षी एक ही पंखके आलम्बनसे आकाशमें नहिं उड़सकता, किन्तु दोनों पांखोंके होनेसे ही उड़ सकता है इसीप्रकार दोनों प्रकारकी शुद्धि होनेसे ही मुनि निर्मल हो सकता है ॥ १० ॥

साध्वीयं स्याद्बहिःशुद्धिरन्तःशुद्ध्याऽत्र देहिनाम्।
फल्गुभावं भजत्येव बाह्या स्वाध्यात्मिकीं विना ॥ ११ ॥

अर्थ—जीवोंके बाह्यकी शुद्धता अन्तरंगकी शुद्धतासे उत्तम होती है और [illegible] है। क्योंकि, अंतरंगकी आध्यात्मिकी शुद्धिके बिना बाह्यशुद्धि व्यर्थ ही रहती है। [illegible] निष्फल है ॥ ११ ॥

सगात्कामस्ततः क्रोधस्तस्माद्धिंसा तयाऽशुभम्।
तेन श्वाभ्री गतिस्तस्यां दुःखं वाचामगोचरम् ॥ १२ ॥

अर्थ—परिग्रहसे काम (वांछा) होता है, कामसे क्रोध, क्रोधसे हिंसा और पापसे नरकगति होती है। उस नरकगतिमें वचनोंके अगोचर अतिदुःख इसप्रकार दुःखका मूल परिग्रह है ॥ १२ ॥

सग एव मतः सूत्रे निःशेषानर्थमन्दिरं।
येनासन्तोऽपि सूयन्ते रागाद्या रिपवः क्षणे ॥ १३ ॥

अर्थ—सूत्रसिद्धान्तमें परिग्रह ही समस्त आपदाका मूल माना गया है जिसके होनेसे रागादिक शत्रु न हों तो भी क्षणमात्रमें उत्पन्न हो जाते हैं ॥

रागादिविजयः सत्यं क्षमा शौचं वितृष्णता।
मुनेः प्रच्याव्यते नूनं सगैर्व्यामोहितात्मनः ॥ १४

अर्थ—परिग्रहोंसे मोहित मुनिके रागादिकोंका जीतना, [illegible] आदि गुण नष्ट होजाते हैं ॥ १४ ॥

सगाः शरीरमासाद्य स्वीक्रियन्ते [illegible]
[illegible] मुनिभिर्योगिभिः परिग्र[illegible]

अर्थ—[illegible] शरीरको प्राप्त होकर ही परिग्रहोंको [illegible] किया है ॥ १५ ॥

इन्द्रियराक्षसमानीकं कषायभुजगव्रजम् ।
वित्तामिषमुपादाय धत्ते कामप्युदीर्णताम् ॥ १६ ॥

अर्थ—इन्द्रियरूपी राक्षसोंकी सेना और कषायरूपी सर्पोंका समूह धनरूपी मांसको ग्रहण करके कोई ऐसी उत्कटता धारण करते हैं जो कि चिन्तवनमें ही नहिं आती ॥ १६ ॥

उन्मूलयति निर्वेदविवेकद्रुममञ्जरीम् ।
यन्नासर्वं समापातः सतामपि परिग्रहः ॥ १७ ॥

अर्थ—यह परिग्रह बिना प्राप्त होनेसे सत्पुरुषोंके भी वैराग्य विवेकरूपी वृक्षकी मंजरियोंको उन्मूलन करदेता है ॥ १७ ॥

स्वप्यते विषयव्यालैर्भिद्यते मारमार्गणैः ।
रुध्यते वनिताव्याधैर्नरः सङ्गैरभिद्रुतः ॥ १८ ॥

अर्थ—यह मनुष्य परिग्रहोंसे पीडित होकर विषयरूपी सर्पोंसे तो काटा जाता है, कामके बाणोंसे बींधा जाता है और स्त्रीरूपी व्याधस (शिकारीसे) रोका जाता है, अर्थात् बांधा जाता है ॥ १८ ॥

यः सङ्गपङ्कनिर्मग्नोऽप्यपवर्गाय चेष्टते ।
स मूढः पुष्पनाराचैर्विभिन्द्यात्रिदशाचलम् ॥ १९ ॥

अर्थ—जो प्राणी परिग्रहरूपी कीचडमें फंसा हुआ भी मोक्षप्राप्तिके लिये चेष्टा (उपाय) करता है वह मूढ फूलोंके बाणोंसे मेरुपर्वतको तोडना चाहता है। भावार्थ–परिग्रह धारण करनेवालोंको मोक्षकी प्राप्ति होना असंभव है ॥ १९ ॥

अणुमात्रादपि ग्रन्थान्मोहग्रन्थिर्दृढीभवेत् ।
विसर्पति ततस्तृष्णा यस्या विश्वं न शान्तये ॥ २० ॥

अर्थ—अणुमात्र परिग्रहके रखनेसे मोहकर्मकी ग्रंथि (गांठ) दृढ होती है और इस तृष्णाकी ऐसी वृद्धि होजाती है कि उसकी शान्तिके लिये समस्त लोकके राज्यसे भी नहिं पडता ॥ २० ॥

परीषहरिपुव्रातं तुच्छवृत्तैकभीतिदम् ।
वीक्ष्य धैर्यं विमुञ्चन्ति यतयः सङ्गसङ्गताः ॥ २१ ॥

—परिग्रह रखनेवाले यती तुच्छवृत्तवालोंको भयके देनेवाले परिग्रहरूपी शत्रुओंके देखते ही धैर्यको छोड देते हैं अर्थात् परिग्रही मुनि परीषहोंके आनेपर दृढ रहता, किंतु मागस हट जाता है ॥ २१ ॥

सर्वसङ्गपरित्यागः कीर्तितः श्रीजिनागमे ।
यस्तमेवान्यथा ब्रूते स हीनः स्वान्यघातकः ॥ २२ ॥

अर्थ—श्रीमज्जिनेन्द्रभगवानके परमागममें समस्त परिग्रहोंका त्याग ही [illegible] है। इसको जो कोई अन्यथा कहता है वह नीच है तथा [illegible] और [illegible] घातक है ॥ २२ ॥

धर्मप्रशमज राज्यं तपःश्रुतपरिग्रहं।
योगिनोऽपि विमुञ्चन्ति वित्तवेतालपीडिताः॥ २३ ॥

अर्थ—जो धनरूपी पिशाचसे पीडित हैं ऐसे योगी मुनि भी धर्म, नियम व [illegible] भावोंसे उत्पन्न राज्यको तथा तप और शास्त्रस्वाध्यायादिके ग्रहणको छोड देते हैं ॥ २३ ॥

पुण्यानुष्ठानजातेषु निःशेषाभीष्टसिद्धिषु।
कुर्वन्ति नियतं पुंसां प्रत्यूहं धनसंग्रहाः॥ २४ ॥

अर्थ—धनका संग्रह पुरुषोंके पुण्यकार्योंसे उत्पन्न हुई समस्त मनोवाञ्छित [illegible] सिद्धियोंमें विघ्न करता है ॥ २४ ॥

[illegible]संगमन्त्रानो मोक्तुमात्मानमुद्यत।
[illegible] न जानाति स्वं धनैः कर्मबन्धनैः॥ २५ ॥

अर्थ—[illegible] है परिग्रहकी [illegible] ऐसा पुरुष [illegible] करते हैं, परन्तु [illegible] परिग्रहके कारण [illegible] है [illegible] । [illegible], परिग्रहोंमें प्रायः [illegible] समान होता है ॥ २५ ॥

[illegible] स्थिरत्वं वा सुराचल।
न पुनः संगसंकीर्णो मुनिः स्यात्संवृतेन्द्रियः॥ २६ ॥

अर्थ—[illegible] मुनि [illegible] और सुमेरुपर्वत [illegible] (अग्नि[illegible] परन्तु परिग्रहसहित मुनि कदापि जितेन्द्रिय नहिं हो सकता ॥ २६ ॥

[illegible]।
[illegible] कर्मणा [illegible] हनिष्यति॥ २७ ॥

अर्थ—[illegible] है वह [illegible] ॥ २७ ॥

[illegible]
[illegible]

अर्थ—[illegible]

[illegible]
[illegible]

अर्थ—थोडेसे भी धनरूपी कीचड में आत्म फसा हुआ गुणवान् पुरुष भी इस जगतमें तत्काल लक्षावधि दोषोंसे कलङ्कित होता है। भावार्थ-थोडेसे भी धनसे कालिमा लगती है ॥ २९ ॥

सन्यस्तसर्वसङ्गेभ्यो गुरुभ्योऽप्यतिशङ्क्यते ।
धनिभिर्धनरक्षार्थं रात्रावपि न सुप्यते ॥ ३० ॥

अर्थ—धनाढ्य पुरुष समस्त परिग्रहके त्यागनेवाले अपने गुरुसे भी शङ्कायुक्त रहता है तथा धनकी रक्षाके लिये रात्रिको सोता भी नहीं। भावार्थ-कोई मेरा धन न ले जाय ऐसी शंका उसे निरन्तर रहती है ॥ ३० ॥

सुतस्वजनभूपालदुष्टचौरारिविड्वरात् ।
बन्धुमित्रकलत्रेभ्यो धनिभिः शङ्क्यते भृशं ॥ ३१ ॥

अर्थ—जो धनवान् होते हैं वे पुत्र, सजन, राजा, दुष्ट, चौर, वैरी, बन्धु, स्त्री, मित्र अथवा परचक्र आदिसे निरन्तर शङ्कित रहते हैं ॥ ३१ ॥

कर्म बध्नाति यज्जीवो धनाशाकश्मलीकृतः ।
तस्य शान्तिर्यदि क्लेशाद्बहुभिर्जन्मकोटिभिः ॥ ३२ ॥

अर्थ—यह जीव धनकी आशासे मलिन होकर जो कर्म बांधता है उस कर्मकी शान्ति बहुत ही करोडों जन्मसे और बडे कष्टसे होती है क्योंकि, एक जन्मका बांधा हुआ कर्म अनेक जन्मोंमें क्लेश भोगनेपर ही छूटता है ॥ ३२ ॥

सर्वसङ्गविनिर्मुक्तः संवृताक्षः स्थिराशयः ।
धत्ते ध्यानधुरां धीरः संयमी वीरवर्णिताम् ॥ ३३ ॥

[illegible]—समस्त परिग्रहोंसे तो रहित हो और इन्द्रियोंको संवररूप करनेवाला हो ऐसा संयमी मुनि ही श्रीवर्धमान भगवानकी कही हुई ध्यानकी धुराको धारण करता क्योंकि ऐसा हुए विना ध्यानकी सिद्धि नहिं होती ॥ ३३ ॥

[illegible] ...यमवलम्बते ।
[illegible] ...यथेन्मुनिः ॥ ३४ ॥

[illegible] हो वही निराकुलताका (निःस्पृह [illegible] होनेपर यह मुनि परतन्त्र स्वरूप [illegible] आशारहित होनेपर निर[illegible]

[illegible] ॥

अर्थ—श्रीमज्जिनेन्द्रभगवानके परमागममें समस्त परिग्रहोंका त्याग ही महाव्रत कहा है। उसको जो कोई अन्यथा कहता है वह नीच है तथा अपना और दूसरोंका घातक है ॥ २२ ॥

यमप्रशमजं राज्यं तपःश्रुतपरिग्रहं ।
योगिनोऽपि विमुञ्चन्ति वित्तवेतालपीडिताः ॥ २३ ॥

अर्थ—जो धनरूपी पिशाचसे पीडित हैं ऐसे योगी मुनि भी यम, नियम व प्रशमभावोंमें उत्पन्न राज्यको तथा तप और शास्त्रस्वाध्यायादिके ग्रहणको छोड देते हैं ॥ २३ ॥

पुण्यानुष्ठानजातेषु निःशेषाभीष्टसिद्धिषु ।
कुर्वन्ति नियतं पुंसां प्रत्यूहं धनसंग्रहाः ॥ २४ ॥

अर्थ—धनका संग्रह पुरुषोंके पुण्यकार्योंसे उत्पन्न हुई समस्त मनोवांछितकी सिद्धियोंमें विघ्न करता है ॥ २४ ॥

अत्यक्तसङ्गसन्तानो मोक्तुमात्मानमुद्यतः ।
पाशमपि न जानाति स्वं घनैः कर्मबन्धनैः ॥ २५ ॥

अर्थ—नहीं त्यागी है परिग्रहकी वासना जिसने ऐसा पुरुष अपनेको मुक्त करनेके लिये उद्यमी है, परन्तु अपना आत्मा परिग्रहके कारण कर्मोंके दृढबंधनसे बँधता है तो भी उसे नहीं जानता। क्योंकि, परिग्रहलोलुप प्रायः अंधेके समान होता है ॥ २५ ॥

अपि सूर्यस्त्यजेद्धाम स्थिरत्वं वा सुराचलः ।
न पुनः सङ्गसंकीर्णो मुनिः स्यात्संवृतेन्द्रियः ॥ २६ ॥

अर्थ—कदाचित् सूर्य तो अपना प्रकाश छोड दे और सुमेरुपर्वत स्थिरता (अचलता) छोड देवे तो संभव है, परन्तु परिग्रहसहित मुनि कदापि जितेन्द्रिय नहिं हो सकता ॥ २६ ॥

बाह्यानपि च यः सङ्गान्परित्यक्तुमनीश्वरः ।
स क्लीबः कर्मणां सैन्यं कथमग्रे हनिष्यति ॥ २७ ॥

अर्थ—जो पुरुष बाह्य परिग्रहको छोडनेमें असमर्थ है वह नपुंसक (नामर्द या कायर) कर्मोंकी सेनाको कैसे हनैगा? ॥ २७ ॥

स्मरभोगीन्द्रवल्मीकं रागाद्यरिनिकेतनं ।
क्रीडास्पदमविद्यानां बुधैर्वित्तं प्रकीर्तितम् ॥ २८ ॥

अर्थ—[illegible] (पण्डितजन) धनको कामरूपी सर्पकी बांबी तथा [illegible] अविद्याओंका क्रीडा करनेका स्थान कहा है ॥ २८ ॥

समस्तं यत्नतस्त्यक्त्वा निसर्गो गुणवानपि ।
[illegible] ॥ २९ ॥

अर्थ—थोडेसे भी धनरूपी कीचड संबन्धसे फसा हुआ गुणवान् पुरुष भी इस जगतमें स्वकार्य स्वभावमें दोषोंसे कलंकित होता है। भावार्थ–थोडेसे भी धनसे कालिमा लगती है॥ २९॥

सन्यस्तसर्वसङ्गेभ्यो गुरुभ्योऽप्यतिशङ्कते।
धनिभिर्धनरक्षार्थं रात्रावपि न सुप्यते॥ ३०॥

अर्थ—धनाढ्य पुरुष समस्त परिग्रहके त्यागनेवाले अपने गुरुसे भी शकायुक्त रहता है तथा धनकी रक्षाके लिये रात्रिको सोता भी नहीं। भावार्थ–कोइ मेरा धन न ले जाय ऐसी शंका उसे निरन्तर रहती है॥ ३०॥

सुतस्वजनभूपालदुष्टचौरारिविड्वरात्।
बन्धुमित्रकलत्रेभ्यो धनिभिः शङ्क्यते भृशं॥ ३१॥

अर्थ—जो धनवान् होते हैं वे पुत्र, स्वजन, राजा, दुष्ट, चौर, वैरी, बन्धु, स्त्री, मित्र अथवा परचक्र आदिसे निरन्तर शंकित रहते हैं॥ ३१॥

कर्म बध्नाति यज्जीवो धनाशाकश्मलीकृतः।
तस्य शान्तिर्यदि क्लेशाद्बहुभिर्जन्मकोटिभिः॥ ३२॥

अर्थ—यह जीव धनकी आशासे मलिन होकर जो कर्म बांधता है उस कर्मकी शान्ति बहुत ही करोडों जन्मसे और बडे कष्टसे होती है क्योंकि, एक जन्मका बांधा हुआ कर्म अनेक जन्मोंमें क्लेश भोगनेपर ही छूटता है॥ ३२॥

सर्वसङ्गविनिर्मुक्तः संवृताक्षः स्थिराशयः।
धत्ते ध्यानधुरां धीरः संयमी वीरवर्णितां॥ ३३॥

—समस्त परिग्रहोंसे तो रहित हो और इन्द्रियोंको संवररूप करनेवाला हो ऐसा संयमी मुनि ही श्रीवर्धमान भगवानकी कही हुई ध्यानकी धुराको धारण करता क्योंकि ऐसा हुए विना ध्यानकी सिद्धि नहिं होती॥ ३३॥

सङ्गपङ्कात्समुत्तीर्णो नैराश्यमवलम्बते।
ततो नाक्रम्यते दुःखैः पारतन्त्र्यैः क्वचिन्मुनिः॥ ३४॥

—जो मुनि परिग्रहरूपी कर्दमसे निकल गया हो वही निराशताका (निस्पृह अवलंबन कर सकता है और उस निराशताके होनेपर वह मुनि परतन्त्र स्वरूप दापि नहिं घेरा वा दबाया जाता सो ठीक ही है, आशारहित होनेपर फिर का दुःख क्यों होय?॥ ३४॥

विजने जनसङ्कीर्णे सुस्थिते दुःस्थितेऽपि वा।
सर्वत्राप्रतिबद्धः स्यात्संयमी सङ्गवर्जितः॥ ३५॥

तो बीज है तथा समस्त पापोंका मूल है और नरकनगरकी ध्वजा है। सो ऐसे अनर्थकारी धनको छोडकर संतोषको अंगीकार कर, जिससे समारका पद कटता है ॥ ४० ॥

शार्दूलविक्रीडितम्।

हन्त किं न धनप्रसक्तमनसा नामादि हिंसादिना कस्तस्यार्जनरक्षणक्षयकृतैर्नादाहि दुःखानलैः ।
तत्प्रागेव विचार्य वर्जय वर व्यामूढ वित्तस्पृहां येनैकास्पदतां न यासि विपदैः पापस्य तापस्य च ॥ ४१ ॥

अर्थ—हे व्यामूढ आत्मन्! जिनका मन धनमें लवलीन है उन्होंने क्या हिंसादिक कार्योंसे पापार्जन नहिं किया? तथा उस धनके उपार्जन, रक्षण वा व्यय करनेसे दुःख रूपी अग्निसे कौन नहिं जला? इस कारण पहिले ही विचार कर इस धनकी स्पृहाको (इच्छाको) छोड, जिससे तू विपदोंसहित पाप तापकी एकताको प्राप्त न हो। अर्थात् विपदों और पापतापोंका संगी न हो ॥ ४१ ॥

पुनश्च।

एष तावदहं लभेय विभवं रक्षेयमेवं ततः स्तद्वृद्धिं गमयेयमेवमनिशं भुञ्जीय चैवं पुनः ।
द्रव्याशारसरुद्धमानस भृशं नात्मानमुत्पश्यसि क्रुद्धयत्क्रूरकृतान्तदन्तपटलीयन्त्रान्तरालस्थितम् ॥ ४२ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! धनकी आशारूपी रससे मन रुक जानेसे तू ऐसा विचारता है कि—'प्रथम तो मैं धनोपार्जन कर सम्पदाको प्राप्त होउंगा, फिर ऐसे उसकी रक्षा करूंगा, इस प्रकार उसकी वृद्धि करूंगा तथा अमुक प्रकारसे उसको भोग कर व्यय करूंगा' इत्यादि विचार करता रहता है, परन्तु क्रोधायमान यमके दांतोंकी दोनें पंक्तियोंके बीचमें अपनेको आया हुआ नहिं देखता, सो यह तेरा बडा अज्ञान है ॥ ४२ ॥

इसप्रकार परिग्रहत्याग महाव्रतके वर्णनमें परिग्रह दोष बताये किये—

दोहा।

सर्वपापको मूल यह, ग्रहण परिग्रह जानि ।
त्यागै सो मुनि ध्यानमें, थिरता पावै मानि ॥ १६ ॥

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे शुभचन्द्राचार्यविरचिते षोडश प्रकरणम् ॥ १६ ॥

अर्थ—जो परिग्रहरहित संयमी है वह चाहे तो निर्जन ग्राममें रहो, चाहे वनमें रहो, चाहे पुरमें रहो, चाहे दुर्गमें रहो, उसको कहीं भी प्रतिबन्धता नहीं है अर्थात् सब जगह सम्बन्धरहित निर्मोही रहता है ॥ ३५ ॥

दुःप्रमेव धनव्यालनिर्विषीकृतचेतसाम्।
अर्जने रक्षणे नाशे पुंसां तस्य परिक्षये ॥ ३६ ॥

अर्थ—धनरूपी सर्पके विषसे जिनका चित्त बिगड़ गया है उन पुरुषोंका धनोपार्जनमें रक्षा करनेमें अथवा नाश होने वा व्यय (खर्च) करनेमें सर्वत्र दुःख ही होता है ॥ ३६ ॥

स्वजातीयैरपि प्राणी सर्वोऽप्यभिद्रूयते धनी।
यथात्र सामिषः पक्षी पक्षिभिर्विहमण्डले ॥ ३७ ॥

अर्थ—जिसप्रकार किसी पक्षीके पास मांसका खंड हो तो वह अन्यान्य मांसभक्षी पक्षियोंसे पीड़ित वा दुःखित किया जाता है, उसी प्रकार धनाढ्य पुरुष भी अपनी जातिवालोंसे दुःखित वा पीड़ित किया जाता है ॥ ३७ ॥

आरम्भो जन्तुघातश्च कषायाश्च परिग्रहात्।
जायन्तेऽत्र ततः पातः प्राणिनां श्वभ्रसागरे ॥ ३८ ॥

अर्थ—जीवोंके परिग्रहसे इस लोकमें तो आरंभ होता है, हिंसा होती है, और कषाय होते हैं उससे फिर नरकोंमें पतन होता है ॥ ३८ ॥

न स्याद्ध्यातुं प्रवृत्तस्य चेतः स्वप्नेऽपि निश्चलं।
मुनेः परिग्रहग्राहैर्भिद्यमानमनेकधा ॥ ३९ ॥

अर्थ—जिस मुनिका चित्त परिग्रहरूपी पिशाचोंसे अनेक प्रकार पीड़ित है उसका चित्त ध्यान करते समय कदापि स्वप्नमें भी स्थिर (निश्चल) नहिं रह सकता ॥ ३९ ॥

मालिनी।

सकलविषयबीजं सर्वसावद्यमूलं
नरकनगरकेतुं वित्तजातं विहाय।
अनुसर मुनिवृन्दानन्दि सन्तोषराज्य—
मभिलषसि यदि त्वं जन्मबन्धव्यपायम् ॥ ४० ॥

अर्थ—अब आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि हे आत्मन्! यदि तू संसारके बंधका नाश करना चाहता है तो धनके समूहको छोड़कर मुनियोंके समूहको आनंद देनेवाले संतोषरूपी राज्यको अंगीकार कर। क्योंकि, धनका समूह समस्त इन्द्रियोंके विषयक

(१ 'अभिभूयते' इत्यपि पाठः।)

तो बीज है तथा समस्त पापोंका मूल है और नरकागारकी ध्वजा है। सो ऐसे अनर्थकारी धनको छोड़कर सतोषको अंगीकार कर, जिससे संसारका फंद कटता है ॥ ४० ॥

शार्दूलविक्रीडितम्।

एनः किं न धनप्रसक्तमनसा नासादि हिंसादिना
कस्तस्यार्जनरक्षणक्षयकृतैर्नोदाहि दुःखानलैः ।
तत्प्रागेव विचार्य वर्जय वर व्यामूढ वित्तस्पृहां
येनैकास्पदतां न यासि विपयैः पापस्य तापस्य च ॥ ४१ ॥

अर्थ—हे व्यामूढ आत्मन्! जिनका मन धनमें लवलीन है उन्होंने क्या हिंसादिक कार्योंसे पापार्जन नहिं किया? तथा उस धनके उपार्जन, रक्षा वा व्यय करनेसे दुःख रूपी अग्निसे कौन नहिं जला? इस कारण पहिले ही विचार कर इस धनकी स्पृहाको (इच्छाको) छोड़, जिससे तू विषयोंसहित पाप तापकी एकताको प्राप्त न हो। अर्थात् विषयों और पापतापोंका साथी न हो ॥ ४१ ॥

पुनश्च।

एवं तावदहं लभेय विभवं रक्षेयमेवं ततः
स्तद्वृद्धिं गमयेयमेवमनिशं भुञ्जीय चैवं पुनः ।
द्रव्याशारसरुद्धमानस भृशं नात्मानमुत्पश्यसि
क्रुद्ध्यत्क्रूरकृतान्तदन्तपटलीयन्त्रान्तरालस्थितम् ॥ ४२ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! धनकी आशारूपी रसमें मन रुक जानेसे तू ऐसा विचारता है कि–'प्रथम तो मैं धनोपार्जन कर सम्पदाको प्राप्त होऊंगा, फिर ऐसे उसकी रक्षा करूंगा, इस प्रकार उसकी वृद्धि करूंगा तथा अमुक प्रकारसे उसको भोग कर व्यय करूंगा' इत्यादि विचार करता रहता है, परन्तु क्रोधायमान यमके दांतोंकी दोनो पंक्तिरूपी चक्कीके बीचमें अपनेको आया हुआ नहिं देखता, सो यह तेरा बड़ा अज्ञान है ॥ ४२ ॥

इसप्रकार परिग्रहत्याग महाव्रतके वर्णनमें परिग्रह दोष वर्णन किये—

दोहा।

सबपापको मूल यह, ग्रहण परिग्रह जानि ।
त्यागै सो मुनि ध्यानमें, थिरता पावै मानि ॥ १६ ॥

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे शुभचन्द्राचार्यविरचिते षोडश प्रकरणम् ॥ १६ ॥

अथ सप्तदश प्रकरणम्।

आगे इस परिग्रहके वर्णनमें आशाके निषेधका वर्णन करते हैं,—

बाह्यान्तर्भूतनिःशेषसङ्गसन्याससिद्धये।
आशा सद्भिर्निराकृत्य नैराश्यमवलम्ब्यते ॥ १ ॥

अर्थ—जो सत्पुरुष हैं वे बाह्याभ्यान्तरके समस्त परिग्रहोंके त्यागकी सिद्धिके लिये प्रथम ही आशाको छोडकर निराशताका आलंबन करते हैं क्योंकि, आशाके छूटनेसे ही परिग्रहका त्याग होता है ॥ १ ॥

यावद्यावच्छरीराशा धनाशा वा विसर्पति।
तावत्तावन्मनुष्याणां मोहग्रन्थिर्दृढीभवेत् ॥ २ ॥

अर्थ—मनुष्योंके जैसे जैसे शरीर तथा धनमें आशा फैलती है तैसे २ उनके मोहरूपी गांठ दृढ होती जाती है ॥ २ ॥

अनिरुद्धा सती शश्वदाशा विश्वं प्रसर्पति।
ततो निबद्धमूलाऽसौ पुनश्छेत्तुं न शक्यते ॥ ३ ॥

अर्थ—इस आशाको रोका नहिं जाय तो यह निरन्तर समस्त लोकपर्यंत फैलती रहती है और उससे इसका मूल दृढ होता जाता है फिर इसका काटना अशक्य हो जाता है। इसकारण इसका रोकना श्रेष्ठ है ॥ ३ ॥

यद्याशा शान्तिमायाता तदा सिद्धं समीहितम्।
अन्यथा भवसंभूतो दुःखवार्धिर्दुरुत्तरः ॥ ४ ॥

अर्थ—यदि आशा शांतिको प्राप्त हो जाती है तो फिर उसी समय सब मनोवांछितकी सिद्धि होजाती है, यदि शांत न हुई तो फिर संसारमें उत्पन्न हुआ दुःखरूपी समुद्र दुस्तर हो जाता है। भावार्थ—फिर संसारका दुःख नहिं मिटैगा ॥ ४ ॥

यमप्रशमराज्यस्य महोद्यार्कोदयस्य च।
विवेकस्यापि लोकानामाशैव प्रतिषेधिका ॥ ५ ॥

अर्थ—लोगोंके यम, नियम वा प्रशम भावोंके राज्यका तथा सम्यग्ज्ञानरूपी सूर्यके उदयका प्रतिषेध (निषेध) करनेवाली और विवेकको रोकनेवाली एक मात्र यह आशा ही है अतएव इसके नष्ट होनेसे ही सर्व सिद्धि है ॥ ५ ॥

आशामपि न संरुन्धे यः क्षणं रक्षितुं क्षमः।
तस्यापवर्गसिद्ध्यर्थं वृथा मन्ये परिश्रमम् ॥ ६ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि—जो पुरुष धनी हुए आशाको क्षणभर भी रोकनेको असमर्थ है उसका मोक्षकी सिद्धिके लिये परिश्रम करना व्यर्थ है, ऐसा मैं मानता हूँ ॥ ६ ॥

आशैव मदिराऽक्षाणामाशैव विषमञ्जरी ।
आशामूलानि दुःखानि प्रभवन्तीह देहिनाम् ॥ ७ ॥

अर्थ—संसारी जीवोंके आशा ही तो इन्द्रियोंको उन्मत्त करनेवाली मदिरा है और आशा ही विषको उपजानेवाली मंजरी है तथा समस्त जितने दुःख होते हैं उनकी एकमात्र यह आशा ही मूलकारण है ॥ ७ ॥

त एव सुखिनो धीरा यैराशाराक्षसी हता ।
महाव्यसनसंकीर्णश्चोत्तीर्णः क्लेशसागरः ॥ ८ ॥

अर्थ—जिन पुरुषोंने आशारूपी राक्षसीको नष्ट किया वे ही पुरुष धीर, वीर और सुखी हैं तथा वे ही अनेक आपदा वा कष्टोंके भरे हुए दुःखरूपी संसारसमुद्रसे पार हुए हैं ॥ ८ ॥

येषामाशा कुतस्तेषां मनःशुद्धिः शरीरिणाम् ।
अतो नैराश्यमालम्ब्य शिवीभूता मनीषिणः ॥ ९ ॥

अर्थ—जिन पुरुषोंके आशा लगी है उनके मनकी शुद्धि कैसे हो, इसकारण जो बुद्धिमान् पुरुष हैं उन्होंने निराशताका अवलंबन करके ही अपना कल्याण साधन किया है। भावार्थ—जो जो निराश हुए उन्होंने ही अपना कल्याण किया है ॥ ९ ॥

सर्वाशां यो निराकृत्य नैराश्यमवलम्बते ।
तस्य क्वचिदपि स्वान्तं सङ्गपङ्कैर्न लिप्यते ॥ १० ॥

अर्थ—जो पुरुष समस्त आशाओंका निराकरण करके निराशाका अवलंबन करता है, उसका मन किसी कालमें भी परिग्रहरूपी कर्दमसे नहिं लिपता। भावार्थ—जो आशा छोड़े उसको परिग्रहरूपी मल काहेको लगै? ॥ १० ॥

तस्य सत्यं श्रुतं वृत्तं विवेकस्तत्त्वनिश्चयः ।
निर्ममत्वं च यस्याशापिशाची निधनं गता ॥ ११ ॥

अर्थ—जिस पुरुषके आशारूपी पिशाची नष्टताको प्राप्त हुई उसका ही शास्त्राध्ययन करना, चारित्र पालना, विवेक, तत्त्वोंका निश्चय और निर्ममता आदि सत्यार्थ (सच्चे) हैं वा साधक हैं ॥ ११ ॥

यावदाशानलश्चित्ते जाज्वलीति विशृङ्खलः ।
तावत्तव महादुःखदाहः शान्तिं कुतस्तनी ॥ १२ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! जबतक तेरे चित्तमें आशारूपी अग्नि मनमाना निरन्तर प्रज्वलित होरहा है तबतक तेरे मनोदुःखरूपी तापकी शान्ति कहांसे हो? ॥ १२ ॥

निराशतासुधापूरैर्यस्य चेतः पवित्रितम् ।
तमालिङ्गति सोत्कण्ठं शमश्रीर्बद्धसौहृदा ॥ १३ ॥

अर्थ—जिसका चित्त निराशतारूपी अमृतके प्रवाहोंसे पवित्र हो चुका है, उस पुरुषको प्रीतिसे बंधी हुई उपशमतारूपी लक्ष्मी उत्कण्ठापूर्वक आलिंगन करती है। भावार्थ—आशासे मैले हुए चित्तमें उपशमता नहिं आ सकती ॥ १३ ॥

न मज्जन्ति मनो येषामाशाम्भसि दुस्तरे ।
तेषामेव जगत्यस्मिन्फलितो ज्ञानपादपः ॥ १४ ॥

अर्थ—इस जगतमें जिनका मन दुस्तर आशारूपी जलमें नहिं डूबता उनके ही ज्ञानरूपी वृक्ष फलता है। भावार्थ—आशारूपी दुस्तर जलमें ज्ञानरूपी वृक्ष गल जाता है, इसकारण फल नहिं लगता ॥ १४ ॥

शक्रोऽपि न सुखी स्वर्गे स्यादाशानलदीपितः ।
विध्याप्याशानलज्वालां श्रयन्ति यमिनः शिवम् ॥ १५ ॥

अर्थ—स्वर्गका इन्द्र भी आशारूपी अग्निसे जलता हुआ सुखी नहीं है, और मुनिगण तो आशारूपी अग्निकी ज्वालाको बुझाकर मोक्षका आश्रय करलेते हैं। अर्थात् मुनिगण निराशताका अवलम्बन करके सर्वथा सुखी हो जाते हैं ॥ १५ ॥

चरस्थिरार्थजातेषु यस्याशा प्रलयं गता ।
किं किं न तस्य लोकेऽस्मिन्मन्ये सिद्धं समीहितम् ॥ १६ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि—जिस पुरुषकी चराचर (चित् अचित्) पदार्थोंमें आशा नष्ट हो गई है, उसके इसलोकमें क्या क्या मनोवाञ्छित सिद्ध नहिं हुए? अर्थात् सर्व मनोवाञ्छित सिद्ध हुए, ऐसा मैं मानता हूं ॥ १६ ॥

चापलं त्यजति स्वान्तं विक्रियाश्चाक्षदन्तिनः ।
प्रशाम्यति कषायाग्निर्नैराश्याधिष्ठितात्मनाम् ॥ १७ ॥

अर्थ—जिनकी आत्माने निराशताको स्वीकृत किया है, उनका मन तो चपलताको छोड देता है और इन्द्रियरूपी हस्ती विषयविकारताको छोड देते हैं तथा कषायरूप अग्नि शान्त हो जाती है ॥ १७ ॥

किमत्र बहुनोक्तेन यस्याशा निधनं गता ।
स एव महतां सेव्यो लोकद्वयविशुद्धये ॥ १८ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि बहुत कहांतक कहैं? इतना ही बहुत है कि

जिनकी आशा नष्ट हो गई वही पुरुष उभयलोककी विशुद्धताके लिये महापुरुषोंके द्वारा सेवा करनेयोग्य है। भावार्थ-आशारहित मुनिको यह २ सत्पुरुष सेवा करते हैं ॥ १८॥

आशा जन्मोग्रपङ्काय शिवायाशाविपर्ययः ।
इति सम्यक्समालोच्य यद्धितं तत्समाचर ॥ १९ ॥

अर्थ- आशा है सो संसाररूपी कर्दममें फसानेवाली है और उसका विपर्यय अर्थात् आशाका अभाव मोक्षका करनेवाला है। अब तू इन दोनोंका भलेप्रकार विचार कर, जिसमें अपना हित समझे उसीका आचरण कर। यह उपदेश है॥ १९ ॥

न स्यादिक्षिप्तचित्तानां स्वेष्टसिद्धिः कचिन्नृणाम् ।
कथं प्रक्षीणविक्षेपा भवन्त्याशाग्रहक्षताः ॥ २० ॥

अर्थ—जो आशारूपी पिशाचसे क्षत अर्थात् पीडित है वे विक्षिप्तचित्त हैं। सो जिनका चित्त विक्षिप्त है उन मनुष्योंकी इष्टसिद्धि कहीं भी नहीं है। उनकी विक्षिप्तता कैसे नष्ट होगी सो नहि कहा जा सकता ॥ २० ॥

अब इस प्रकरणको पूरा करते हुए कहते हैं,—

मालिनी।

विषयविपिनवीथीसंकटे पर्यटन्ती
झटिति घटितवृद्धिः कापि लब्धावकाशा ।
अपि निगमिनरेन्द्रानाकुलत्वं नयन्ती
छलयति खलु कं वा नेयमाशापिशाची ॥ २१ ॥

अर्थ—विषयरूपी वनकी गलियोंमें फिरती हुई, तत्काल घनी बढती फिरती, जहां तहां स्वतन्त्र (बेरोकटोक) विचरनेवाली सबकी मुनियोंको आकुलित करनेवाली यह आशारूपी पिशाची किस २ को नहि छलती? । अर्थात् सबको छलती फिरती है ॥ २१ ॥

इसप्रकार आशापिशाचीका वर्णन किया—

दोहा।

आशा माता जगतकी, आतमसौं प्रतिकूल ।
जन घट वसै यह, ध्यान न शिवसुखमूल ॥ १७ ॥

इति श्रीज्ञानार्णवे शुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे आशापिशाचीवर्णनं नाम सप्तदश प्रकरणम् ॥ १७ ॥

अथाष्टादश प्रकरणम्।

उक्तप्रकारसे सम्यक्चारित्रके वर्णनमें पांच महाव्रतोंका वर्णन किया गया अब महाव्रत शब्दका अर्थ कहकर इनके दृढ करनेवाली पचीस भावनाओंका तथा पांच समिति, व तीन गुप्तियोंको संक्षेपतासे कहकर रत्नत्रयके प्रकरणको पूर्ण करेंगे, अतएव प्रथम ही महाव्रत शब्दका अक्षरार्थ कहते हैं,—

उपेन्द्रवज्रा।

महत्त्वहेतोर्गुणिभिः श्रितानि महान्ति मत्वा त्रिदशैर्नुतानि।
महासुखज्ञाननिबन्धनानि महाव्रतानीति सतां मतानि॥ १॥

अर्थ—प्रथम तो ये महाव्रत महत्ताके कारण हैं, इस कारण इनका गुणी पुरुषोंने आश्रय किया है अर्थात् धारण करते हैं। दूसरे—ये स्वयं महान् हैं इसकारण देवताओंने भी इन्हें नमस्कार किया है। तीसरे—महान् अतीन्द्रिय सुख और ज्ञानके कारण हैं इसकारण ही सत्पुरुषोंने इनको महाव्रत माना है॥ १॥

उक्तं च ग्रन्थान्तरे।

आर्या।

"आचरितानि महद्भिर्यच महान्तं प्रसाधयन्त्यर्थम्।
स्वयमपि महान्ति यस्मान्महाव्रतानीत्यतस्तानि॥ १॥

अर्थ—अन्य ग्रन्थमें भी कहा है कि इन पांच महाव्रतोंको महापुरुषोंने आचरण किया है, तथा महान् पदार्थ कहिये मोक्षको साधते हैं, तथा स्वयं भी बडे हैं अर्थात् निर्दोष हैं इसकारण इनका महाव्रत ऐसा नाम कहा गया है॥ १॥"

महाव्रतविशुद्ध्यर्थं भावनाः पञ्चविंशतिः।
परमासाद्य निर्वेदपदवीं भव्य भावय॥ २॥

अर्थ—आचार्यमहाराज कहते हैं कि—हे भव्य! ए पांच महाव्रत कहे उनकी शुद्धताके लिये (निर्मलताके लिये) पचीस भावना कही हैं, उन्हें अंगीकार करके वैराग्यदीकी भावना कर॥ २॥

इन २५ भावनाओंके नाम तत्त्वार्थसूत्रादिकी टीकामें प्रसिद्ध है, इसकारण यहां नहीं कहे॥ अब पांच समितियोंको कहते हैं,—

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गसंज्ञकाः।
सद्भिः समितयः पञ्च निर्दिष्टाः संयतात्मभिः॥ ३॥

अर्थ—संयमसहित है आत्मा जिनका ऐसे सत्पुरुषोंने ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और उत्सर्ग ये हैं नाम जिनके ऐसी पांच समितियें कही हैं॥ ३॥

वाक्कायचित्तजानेकसावद्यप्रतिषेधकम् ।
त्रियोगरोधनं वा स्याद्यत्तद्गुप्तित्रयं मतम् ॥ ४ ॥

अर्थ—मन वचन कायसे उत्पन्न अनेक पापसहित प्रवृत्तियोंका प्रतिषेध करनेवाला प्रवर्तन, अथवा तीनों योग (मनवचनकायकी क्रिया) का रोकना ये तीन गुप्तियें कही गई हैं ॥ ४ ॥

अब इन पांच समिति और तीन गुप्तियोंका भिन्न २ स्वरूप कहते हैं—

सिद्धक्षेत्राणि सिद्धानि जिनबिम्बानि वन्दितुम् ।
गुर्वाचार्यतपोवृद्धान्सेवितुं व्रजतोऽथवा ॥ ५ ॥
दिवा सूर्यकरैः स्पष्टं मार्गं लोकातिवाहितम् ।
दयार्द्रस्याङ्गिरक्षार्थं शनैः संश्रयतो मुनेः ॥ ६ ॥
प्रागेवालोक्य यत्नेन युगमात्राहितेक्षणः ।
प्रमादरहितस्यास्य समितिरीर्या प्रकीर्तिता ॥ ७ ॥

अर्थ—जो मुनि प्रसिद्ध सिद्धक्षेत्रोंको तथा जिनप्रतिमाओंको वन्दनाके लिये तथा गुरु, आचार्य वा जो तपसे बड़े हों उनकी सेवा करनेके लिये गमन करता हो उसके ५ ॥ तथा दिनमें सूर्यकी किरणोंसे स्पष्ट दीखनेवाले, बहुत लोग जिसमें गमन करते हों ऐसे मार्गमें दयासे आर्द्रचित्त होकर जीवोंकी रक्षा करता हुआ धीरे २ गमन करै उस मुनिके ६ ॥ तथा चलनेसे पहिले ही जिसने युग (जूडे) परिमाण (चार हाथ) मार्गको भले प्रकार देखलिया हो और प्रमादरहित हो ऐसे मुनिके ईर्या समिति कही गई है ॥ ७ ॥

धूर्तकामुकक्रव्यादचौरचार्वाकसेविता ।
शङ्कासंकेतपापाढ्या त्याज्या भाषा मनीषिभिः ॥ ८ ॥
दशदोषविनिर्मुक्तां सूत्रोक्तां साधुसंमताम् ।
गदतोऽस्य मुनेर्भाषां स्याद्भाषासमितिः परा ॥ ९ ॥

अर्थ—धूर्त (मायावी), कामी, मांसभक्षी, चौर, नास्तिकमती चार्वाकादिसे व्यवहार में लाई हुई भाषा तथा संदेह उपजानेवाली, व पापयुक्त हो ऐसी भाषा बुद्धिमानोंको त्यागनी चाहिये ॥ ८ ॥ तथा वचनोंके दश दोषरहित सूत्रानुसार साधुपुरुषोंके मान्य हो ऐसी भाषाको कहनेवाले मुनिके उत्कृष्ट भाषासमिति होती है ॥ ९ ॥

उक्तं च ग्रन्थान्तरे ।

"कर्कशा परुषा कट्वी निष्ठुरा परकोपिनी ।
छेद्याङ्कुरा मध्यकृशाऽतिमानिनी भयङ्करी ॥ १ ॥

१ [illegible]

११ भूतहिंसाकरी चेति दुर्भाषा दशधा त्यजेत् ।
हितं मितमसंदिग्धं स्याद्भाषासमितिर्मुने. ॥ २ ॥

अर्थ—कर्कश, परुष, कटु, निष्ठुर, परकोपी, छेद्यांकुरा, मध्यकृशा, अतिमानिनी, भयकरी, और जीवोंकी हिंसा करानेवाली, ये दश दुर्भाषा हैं इनको छोडै तथा हितकारी, मर्यादासहित असंदिग्ध वचन बोले उसी मुनिके भाषासमिति होती है ॥ १२ ॥"

ठ उद्गमोत्पादसंज्ञैस्तैर्धूमाङ्गारादिगैस्तथा ।
दोषैर्मलैर्विनिर्मुक्तं विघ्नशङ्कादिवर्जितम् ॥ १० ॥

१४ शुद्धं काले परैर्दत्तमनुद्दिष्टमयाचितम् ।
अदतोऽन्नं मुनेर्ज्ञेया एषणासमिति. परा ॥ ११ ॥

अर्थ—जो उद्गमदोष १६, उत्पादनदोष १६, एषणादोष १०, धुआ अगार प्रमाण सयोजन ये ४ चार मिलाकर ४६ दोषरहित तथा मासादिक १४ मलदोष और अन्त राय शकादिसे रहित, शुद्ध, कालमे परके द्वारा दिया हुआ, बिना उद्देशा हुआ और याचना रहित आहार करै उस मुनिके उत्तम एषणा समिति कही गई है ॥ १० ॥ ११ ॥ इन दोषोंका स्वरूप (आचारवृत्ति) आदिक ग्रन्थोंमे जानना ॥

हा शय्यासनोपधानानि शास्त्रोपकरणानि च ।
पूर्वं सम्यक्समालोच्य प्रतिलिख्य पुनः पुन. ॥ १२ ॥

११ गृह्णतोऽस्य प्रयत्नेन क्षिपतो वा धरातले ।
भवत्यविकला साधोरादानसमिति. स्फुटं ॥ १३ ॥

अर्थ—जो मुनि शय्या आसन, उपधान, शास्त्र और उपकरण आदिको पहिले भले प्रकार देखकर फिर उठावै अथवा रक्खै उसके तथा यत्ने यत्नसे ग्रहण करते हुए तथा पृथिवीपर धरते हुए साधुके अविकल (पूर्ण) आदान निक्षेपणसमिति स्पष्टतया पलती है ॥ १२ ॥ १३ ॥

ति विजन्तुकधरापृष्ठे मूत्रश्लेष्ममलादिकम् ।
क्षिपतोऽतिप्रयत्नेन व्युत्सर्गसमितिर्भवेत् ॥ १४ ॥

अर्थ—जीवरहित पृथिवीपर मल, मूत्र श्लेष्मादिकको बडे यत्नसे (प्रमादरहितपने) क्षेपण करनेवाले मुनिके उत्सर्गसमिति होती है ॥ १४ ॥

ठं विहाय सर्वसंकल्पान् रागद्वेषावलम्बितान् ।
स्वाधीनं कुरुते चेत समत्वे सुप्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

११ सिद्धान्तसूत्रविन्यासे शश्वत्प्रेरयतोऽथवा ।
भवत्यविकला नाम मनोगुप्तिर्मनीषिण. ॥ १६ ॥

अर्थ—रागद्वेषसे अवलंबित समस्त संकल्पोंको छोड कर जो मुनि अपने मनको स्वाधीन करता है और समताभावोंमें स्थिर करता है तथा—सिद्धान्तके सूत्रकी रचनामें निरन्तर प्रेरणारूप करता है उस बुद्धिमान मुनिके सम्पूर्ण मनोगुप्ती होती है ॥ १५ ॥ १६ ॥

साधुसंवृतवाग्वृत्तेर्मौनारूढस्य वा मुने ।
संज्ञादिपरिहारेण वाग्गुप्तिः स्यान्महामुनेः ॥ १७ ॥

अर्थ—भले प्रकार संवररूप (वश) करी है वचनोंकी प्रवृत्ति जिसने ऐसे मुनिके तथा समस्यादिका त्याग कर मौनारूढ होनेवाले महामुनिके वचगुप्ति होती है ॥ १७ ॥

स्थिरीकृतशरीरस्य पर्यङ्कसंस्थितस्य वा ।
परीषहप्रपातेऽपि कायगुप्तिर्मता मुनेः ॥ १८ ॥

अर्थ—स्थिर किया है शरीर जिसने तथा परिषह आजाय तो भी अपने पद्मासनसे हो स्थिर रहैं, किन्तु डिगैं नहीं उस मुनिके ही कायगुप्ति मानी गई है अर्थात् कही गई है॥१८॥

जनन्यो यमिनामष्टौ रत्नत्रयविशुद्धिदाः ।
एताभी रक्षितं दोषैर्मुनिवृन्दं न लिप्यते ॥ १९ ॥

अर्थ—पांच समिति और तीन गुप्ति ये आठों संयमी पुरुषोंकी रक्षा करनेवाली माता हैं तथा रत्नत्रयको विशुद्धता देनेवाली हैं इनसे रक्षा किया हुआ मुनियोंका समूह दोषोंसे लिप्त नहिं होता ॥ १९ ॥

अथ सम्यक्चारित्रके कथनको पूर्ण करते हुए कहते हैं—

मालिनी ।

इति कतिपयवर्णैश्चर्चितं चित्ररूपं
चरणमनघमुच्चैश्चेतसां शुद्धिधाम ।
अविदितपरमार्थैर्यन्न साध्यं विपक्षैः
स्तदिदमनुसरन्तु ज्ञानिनः शान्तदोषाः ॥ २० ॥

अर्थ—उक्त प्रकारसे कितने ही अक्षरोंद्वारा वर्णन किया जो अनेकरूप निर्दोष चारित्र सो अतिशय उच्चे चित्तवालोंको तो शुद्धताका मन्दिर है और नहिं जाना है परमार्थ जिन्होंने ऐसे विपक्षियोंद्वारा जो असाध्य है अर्थात् धारण नहिं किया जा सकता ऐसे इस चारित्रको शान्तदोषी ज्ञानी पुरुष धारण करो ऐसा उपदेश है ॥ २० ॥

अब सम्यग्दर्शन—ज्ञान—चारित्र—रूप रत्नत्रयके कथन (जो अवतार हुआ उसको) को पूर्ण करते हुए कहते हैं,—

सम्यगेतत्समासाद्य त्रयं त्रिभुवनार्चितम् ।
द्रव्यक्षेत्रादिसामग्र्या भव्यः सपदि मुच्यते ॥ २१ ॥

अर्थ—इस त्रिभुवनकरके पूजित सम्यक्रत्नत्रयको द्रव्य-क्षेत्र काल भावरूप सामग्री के अनुसार अंगीकार करके भव्य पुरुष शीघ्र ही कर्मोंसे छूटता है। अर्थात् मुक्त होता है ॥ २१ ॥

एतत्समयसर्वस्वं मुक्तेश्चैतन्निबन्धनम्।
हितमेतद्धि जीवानामेतदेवाग्रिमं पदम् ॥ २२ ॥

अर्थ—यह रत्नत्रय ही सिद्धान्तका सर्वस्व है और यही मुक्तिका कारण है तथा यही जीवोंका हित और प्रधान पद है ॥ २२ ॥

ये याता यान्ति यास्यन्ति यमिनः पदमव्ययम्।
समाराध्यैव ते नूनं रत्नत्रयमखण्डितम् ॥ २३ ॥

अर्थ—निश्चयकरके इस रत्नत्रयको अखंडित (परिपूर्ण) आराधन करके ही संयमी मुनि आजतक पूर्वकालमें मोक्ष गये हैं और वर्तमानमें जाते हैं तथा भविष्यतमें जायगे ॥ २३ ॥

साक्षादिदमनासाद्य जन्मकोटिशतैरपि।
दृश्यते न हि केनापि मुक्तिश्रीमुखपङ्कजम् ॥ २४ ॥

अर्थ—इस रत्नत्रयको प्राप्त न होकर करोडों जन्म धारण करनेपर भी कोई मुक्तिरूपी लक्ष्मीके मुखरूपी कमलको साक्षात् नहिं देख सकता ॥ २४ ॥

अब अध्यात्मभावना करके शुद्ध निश्चयनयकी प्रधानतासे रत्नत्रयका वर्णन करते हैं—

दृग्बोधचरणान्याहुः स्वमेवाध्यात्मवेदिनः।
यतस्तन्मय एवासौ शरीरी वस्तुतः स्थितः ॥ २५ ॥

अर्थ—जो अध्यात्मके जाननेवाले हैं वे दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीनोंको एक आत्मा ही कहते हैं क्योंकि परमार्थदृष्टिसे देखा जाय तो यह शरीरी आत्मा उन तीनोंमें तन्मय हो है, कुछ भी पृथक् अर्थात् अन्य नहीं है। यद्यपि भावभावीके भेदसे तीन भेद किये गये हैं, तथापि वास्तवमें एक ही है ॥ २५ ॥

निर्णीतेऽस्मिन्स्वयं साक्षान्नापरः कोऽपि मृग्यते।
यतो रत्नत्रयस्यैष प्रसूतेरग्रिमं पदम् ॥ २६ ॥

अर्थ—इस आत्माको स्वयं आपहीसे साक्षात् निर्णय करनेसे और कोई भी अन्य नहिं पाया जाता। केवल मात्र यह आत्मा ही रत्नत्रयकी उत्पत्तिका मुख्य पद है ॥ २६ ॥

जानाति यः स्वयं स्वस्मिन्स्वस्वरूपं गतभ्रमः।
तदेव तस्य विज्ञानं तद्वृत्तं तच्च दर्शनम् ॥ २७ ॥

अर्थ—जो पुरुष अपनेमें अपनेहीसे अपने निजस्वरूपको भ्रमरहित होकर जानता है,

वही उसके विज्ञानविशिष्ट ज्ञान है और वही सम्यक्चारित्र तथा सम्यग्दर्शन है, अन्य कुछ भी नहीं है ॥ २७ ॥

स्वविज्ञानादेव मुक्तिः स्याज्जन्मबन्धस्ततोऽन्यथा ।
एतदेव जिनोद्दिष्टं सर्वस्वं बन्धमोक्षयोः ॥ २८ ॥

अर्थ—आत्मज्ञानसे ही मोक्ष होता है, आत्मज्ञानके विना अन्यप्रकारसे संसारका बन्ध होता है, यही जिनेन्द्रभगवानका कहाहुआ बन्ध मोक्षका सर्वस्व है ॥ २८ ॥

आत्मैव मम विज्ञानं दृग्वृत्तं चेति निश्चयः ।
मत्तः सर्वेऽप्यमी भावा बाह्याः संयोगलक्षणाः ॥ २९ ॥

अर्थ—मेरे आत्मा ही विज्ञान है, आत्मा ही दर्शन और चारित्र है ऐसा निश्चय है। इससे अन्य सब ही पदार्थ मुझसे बाह्य और संयोगस्वरूप हैं। इसप्रकार अनुभव करनेसे रत्नत्रयमें और आत्मामें कुछ भी भेद नहीं रहता ॥ २९ ॥

अयमात्मैव सिद्धात्मा स्वशक्त्यापेक्षया स्वयम् ।
व्यक्तीभवति सद्ध्यानवह्निनाऽत्यन्तसाधितः ॥ ३० ॥

अर्थ—यह आत्मा संसारअवस्थामें भी अपनी शक्तिकी अपेक्षासे सिद्धस्वरूप है और समीचीन ध्यानरूपी अग्निसे अत्यन्त साधनेसे व्यक्तरूप सिद्ध होता है। अर्थात् अष्टकर्मका नाश होनेपर सिद्धस्वरूप व्यक्त (प्रकट) होता है ॥ ३० ॥

एतदेव परं तत्त्वं ज्ञानमेतद्धि शाश्वतम् ।
अतोऽन्यो यः श्रुतस्कन्धः स तदर्थं प्रपञ्चितः ॥ ३१ ॥

अर्थ—यह आत्माही परम तत्त्व है और यही शाश्वत ज्ञान है। अतएव अन्य श्रुतस्कन्ध द्वादशाङ्ग शास्त्ररूप रचना इस आत्माहीको जाननेके लिये विस्तृत हुआ है ॥ ३१ ॥

अपास्य कल्पनाजालं चिदानन्दमये स्वयम् ।
यः स्वरूपे लयं प्राप्तः स स्याद्रत्नत्रयास्पदम् ॥ ३२ ॥

अर्थ—जो मुनि कल्पनाके जालको दूर करके अपने चैतन्य और आनन्दमय स्वरूपमें लयको प्राप्त हो, वही निश्चय रत्नत्रयका स्थान (पात्र) होता है ॥ ३२ ॥

सुप्तेष्वक्षेषु जागर्ति पश्यत्यात्मानमात्मनि ।
वीतविश्वविकल्पोऽसौ स स्वदर्शी बुधैर्मतः ॥ ३३ ॥

अर्थ—जो मुनि इन्द्रियोंके सोते हुए भी जागता है तथा आत्मामें ही आत्माको देखता है और समस्त विकल्पोंसे रहित है वही ज्ञानियोंकरके आत्मदर्शी माना गया है ॥ ३३ ॥

निःशेषक्लेशनिर्मुक्तममूर्तं परमाक्षरम् ।
निष्प्रपञ्चं व्यतीताक्षं पश्य स्वं स्वात्मनि स्थितम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! तू अपने आत्मामही रहता हुआ अपनेको समस्त क्षेत्रोंसे रहित, अमूर्तीक, परम उत्कृष्ट, अविनाशी, विकल्पोंसे और इन्द्रियोंसे रहित तथा अतीन्द्रिय स्वरूप देख ॥ ३४ ॥

नित्यानन्दमयं शुद्धं चित्स्वरूपं सनातनम् ।
पश्यात्मनि परं ज्योतिरद्वितीयमनव्ययम् ॥ ३५ ॥

अर्थ—फिर भी कहते हैं कि तू अपने आत्मामें ही अपनेको इसप्रकार देख कि—मैं नित्य आनन्दमय हूं, शुद्ध हूं, चैतन्यस्वरूप हूं और सनातन हूं, अविनश्वर हूं, परमज्योति ज्ञानप्रकाशरूप हूं, अद्वितीय हूं और अनव्यय कहिये व्ययरहित नहीं हूं । अर्थात् पूर्वपर्यायके व्ययसहित हूं ॥ ३५ ॥

यस्या निशि जगत्सुप्तं तस्यां जागर्ति संयमी ।
निष्पन्नं कल्पनातीतं स वेत्त्यात्मानमात्मनि ॥ ३६ ॥

अर्थ—जिस रात्रिमें जगत् सोता है उस रात्रिमें संयमी मुनि जागता है और अपने आत्माने ही अपनेको निष्पन्न, स्वयंसिद्ध तथा कल्पनारहित जानता है । भावार्थ—जगत् अज्ञानरूपी रात्रिमें सोता है और संयमी ज्ञानरूप सूर्यके उदय होनेसे जागता है ॥ ३६ ॥

या निशा सर्वभूतेषु तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ३७ ॥

अर्थ—जो समस्त प्राणियोंमें रात्रि मानीजाती है उसमें तो संयमी जागता है और जिस रात्रिमें समस्त प्राणी जागते हैं वह अपने स्वरूपावलोकन करनेवाले मुनिकी रात्रि है । भावार्थ—जगतके जीवोंको अपने स्वरूपका प्रतिभास नहीं है इस कारण इनको रात्रि है । इससे सब जगत सोते हुए हैं और संयमी मुनिजनोंको अपने स्वरूपका प्रतिभास है इसकारण वे इसमें जागते हैं । और जगतके प्राणी अज्ञानमें जागते हैं । यह अज्ञान ही मुनिकी रात्रि है । तात्पर्य यह कि मुनियोंके अज्ञान है ही नहीं ॥ ३७ ॥

यस्य हेयं न चादेयं निःशेषं भुवनत्रयम् ।
उन्मीलयति विज्ञानं तस्य स्वान्यप्रकाशकम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—जिस मुनिके समस्त त्रिभुवन हेय अथवा आदेय नहीं है उस मुनिके [illegible] [illegible] उदय होता है । क्योंकि जबतक हेय उपादेय बुद्धि रहै तबतक [illegible] [illegible] (प्रगट) ॥ ३८ ॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

दृश्यन्ते भुवि किं न ते [illegible] संख्यातिगाधिरम
[illegible] परमंदिरो [illegible] पारग ।

त साक्षादनुभूय नित्यपरमानन्दाम्बुराशिं पुन-
र्ये जन्मभ्रममुत्सृजन्ति सहसा धन्यास्तु ते दुर्लभा ॥ ३९ ॥

अर्थ—जो पुरुष अपने वचनोंसे केवल परमेष्ठीकी बहुत काल पर्यन्त लीला गुणानुवादका विस्तार करते हैं ऐसे अल्पमती ससारमें क्या प्राय सख्यारहित देखनेमें नहि आते ? अर्थात् ऐसे जीव असख्य हैं। परन्तु जो पुरुष नित्य परमानन्दके समुद्रको साक्षात् अनुभवगोचर करके ससारके भ्रमको तत्काल ही दूर करदेते हैं वे महाभाग्य इस पृथ्वीपर दुर्लभ हैं ॥ ३९ ॥

इसप्रकार रत्नत्रयका वर्णन किया। यहा तात्पर्य ऐसा है कि जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रको निश्चय व्यवहाररूप भलेप्रकार जानकर अगीकार करता है उसके ही मोक्षके कारण अपने स्वरूपके ध्यानकी सिद्धि होती है। अन्यमती अन्यथा अनेकप्रकारसे ध्यानका तथा ध्यानकी सामग्रीका स्वरूप स्थापन करते हैं। उनके किंचिन्मात्र लौकिक चमत्कारकी सिद्धि कदाचित् हो तो हो सकती है किन्तु मोक्षमार्ग वा मोक्षकी सिद्धि कदापि नहि हो सकती ॥

दोहा।

सम्यक्दर्शन ज्ञान व्रत, शिवमग भाख्यो नाम।
तीन भेद व्यवहारतैं, निश्चय आतम राम ॥
रत्नत्रय धारे विना, आतमध्यान न सार।
जे उमंग नर करावो, वृथा खेद निरधार ॥

छप्पय।

अतर बाहर तत्त्व होय परकार जु सोहै।
उपादेय निजरूप आनि अन्तर अवरोहै ॥
बाहिर हेय विसारि धारि सरधा दृढ करनी।
दुहुँकी रीति अनेक वानि जिनकी मधि वरनी ॥
नय निश्चय अरु व्यवहार दो, पर्यय नय व्यवहार है।
लखि द्रव्यदृष्टि निश्चय भले, चिन्मय निज यह सार है ॥

दोहा।

चेतनके परिणाम निज, हैं असख्य श्रुत भाख।
रत्नत्रय उत्सरवक, दोष जिनेश्वर शाख ॥ १९ ॥

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे शुभचन्द्राचार्यविरचिते रत्नत्रयवर्णनं नाम अष्टादशं प्रकरणम् ॥ १८ ॥

अथ एकोनविंश प्रकरणम् ।

आगे क्रोधादिक कषाय और इन्द्रियोंके विषय चारित्रके और ध्यानके घातक हैं, इस कारण उनका वर्णन करते हैं। जिनमेंसे प्रथम ही क्रोधकषायका वर्णन करते हैं —

सत्संयममहारामं यमप्रशमजीवितम् ।
देहिनां निर्दहत्येव क्रोधवह्निः समुत्थितः ॥ १ ॥

अर्थ—जीवोंके यम, नियम तथा प्रशम (शान्तभाव) ही है जीवन जिसका ऐसा उत्कृष्ट संयमरूपी उपवन (बाग) को प्रज्वलित हुई क्रोधरूपी अग्नि भस्म कर देती है ॥ १ ॥

दृग्बोधादिगुणानर्घ्यरत्नप्रचयसंचितम् ।
भाण्डागारं दहत्येव क्रोधवह्निः समुत्थितः ॥ २ ॥

अर्थ—तथा यह क्रोधरूपी अग्नि प्रगट होनेपर सम्यग्दर्शन ज्ञानादि अमूल्य रत्नोंके समूहोंके संचित किये गुणरूपी भंडारको भी दग्ध कर देती है ॥ २ ॥

संयमोत्तमपीयूषं सर्वाभिमतसिद्धिदम् ।
कषायविषसेकोऽयं निःसारीकुरुते क्षणात् ॥ ३ ॥

अर्थ—इस कषायरूपी विषका सिंचन करना सर्व मनोवाञ्छित सिद्धिको देनेवाले संयमरूपी उत्तम अमृतको भी क्षणमात्रमें निःसार कर देता है ॥ ३ ॥

तपःश्रुतयमाधारं वृत्तविज्ञानवर्द्धितम् ।
भस्मीभवति रोषेण पुंसां धर्मात्मकं वपुः ॥ ४ ॥

अर्थ—चारित्र और विशिष्ट ज्ञानसे बढाया हुआ तथा तप, स्वाध्याय और संयमका आधार जो पुरुषोंका धर्मरूपी शरीर है सो क्रोधरूपी अग्निसे भस्म हो जाता है ॥ ४ ॥

अयं समुत्थितः क्रोधो धर्मसारं सुरक्षितम् ।
निर्दहत्येव निःशङ्कं शुष्कारण्यमिवानलः ॥ ५ ॥

अर्थ—प्रगट हुआ यह क्रोध सूखे वनको अग्निके समान सुरक्षित धर्मरूपी सार कहिये जल अथवा धनको निःसंदेह दग्ध कर देता है ॥ ५ ॥

पूर्वमात्मानमेवासौ क्रोधान्धो दहति ध्रुवम् ।
पश्चादन्यन्न वा लोको विवेकविकलाशयः ॥ ६ ॥

अर्थ—क्रोधसे अन्धा हुआ विवेकरहित यह लोक प्रथम तो अपनेको निश्चय करके जला देता है, तत्पश्चात् दूसरोंको जलावे अथवा नहिं जलावें, पहिले अपने समीचीन परिणामोंका घात तो कर ही लेता है ॥ ६ ॥

कुर्वन्ति यतयोऽप्यत्र क्रुद्धास्तत्कर्म निन्दितम् ।
त्यक्त्वा लोकद्वयं येन विशन्ति धरणीतलम् ॥ ७ ॥

अर्थ—क्रोधित हुए मुनिभी इस जगतमें ऐसा निन्दित कार्य करते हैं कि जिससे दोनो लोक नष्ट करके नरकमें पड़जाते हैं फिर अन्य सामान्य जनका तो कहनाही क्या ? ॥ ७ ॥

क्रोधाद्वीपायनेनापि कृतं कर्मातिगर्हितम् ।
दग्ध्वा द्वारावती नाम पूः स्वर्गनगरीनिभा ॥ ८ ॥

अर्थ—देखो ! द्वीपायन नामके मुनिने क्रोधसे ऐसा निन्द्य काय किया कि स्वर्गके समान सुन्दर द्वारकापुरी भस्म करदी ॥ ८ ॥

लोकद्वयविनाशाय पापाय नरकाय च ।
स्वपरस्यापकाराय क्रोधः शत्रुः शरीरिणाम् ॥ ९ ॥

अर्थ—जीवोंके क्रोधरूपी शत्रु इस लोक और परलोकको नष्ट करनेवाला है तथा नरकमें ले जानेवाला और पापको करनेवाला एवं निजपर अर्थात् दोनोंका अपकार करने वाला है ॥ ९ ॥

अनादिकालसंभूतः कषायविषमग्रहः ।
स एवानन्तदुर्वारदुःखसंपादनक्षमः ॥ १० ॥

अर्थ—यह कषायरूपी विषम ग्रह अनादिकालसे इस प्राणीके पीछे लगा हुआ है और यही अनन्त दुर्निवार दुःखोंको प्राप्त करनेमें समर्थ है ॥ १० ॥

तस्मात्प्रशममालम्ब्य क्रोधवैरी निवार्यताम् ।
जिनागममहाम्भोधिरवगाह्य सेव्यताम् ॥ ११ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि हे आत्मन् ! शान्तभावका अवलम्बन करके क्रोधरूप वैरीको निवारण कर और जिनागमरूपी महासमुद्रका अवगाहन कर। क्योंकि क्रोधनिवारण करनेका यही एक उपाय है ॥ ११ ॥

क्रोधवह्नेः क्षमैकेय प्रशान्तौ जलवाहिनी ।
उद्दामसंयमारामवृतिर्वाऽत्यन्तनिर्भरा ॥ १२ ॥

अर्थ—क्रोधरूपी अग्निको शान्त करनेके लिये क्षमा ही अद्वितीय नदी है। क्षमा हीसे क्रोधाग्नि बुझती है तथा क्षमा ही उत्कृष्टसंयमरूपी बागकी रक्षा करनेके लिये अतिशय दृढ बाड़ है ॥ १२ ॥

जयन्ति यमिनः क्रोधं लोकद्वयविरोधकम् ।
तन्निमित्तेऽपि संप्राप्ते भजन्तो भावनामिमाम् ॥ १३ ॥

अर्थ—इस लोक और परलोकके बिगाडनेवाले क्रोधको मुनिगण ही जीतते हैं। क्यों कि वे क्रोधके कारण प्राप्त होनेपर इसप्रकार भावना करते हैं, जो कि आगे कहते हैं॥ १३॥

यन्मय कुरुते कोऽपि मा स्वस्य कर्मपीडितम्।
चिकित्सित्वा स्फुटं दोषं स एवाकृत्रिमः सुहृत्॥ १४॥

अर्थ—मुनिमहाराज ऐसी भावना करते हैं कि मैं कर्मसे पीडित हूं, कर्मोदयसे मुझमें कोई दोष उत्पन्न हुआ है सो उस दोषको अभी कोई प्रगट करै और मुझे आत्मानुभवमें स्थापित करके स्वस्थ करै वही मेरा अकृत्रिम मित्र (हितैषी) है। **भावार्थ**–जो मेरे किसी कर्मके उदयमें दोष आया हो तो उसे काटकर जो मुझे सावधान करता है वही मेरा परम मित्र है। क्योंकि उसके प्रगट करनेसे मैं उस दोषको छोड दूंगा, अतएव उससे मुक्त हो जाऊंगा। इस प्रकार भावना करनेसे दोष करनेवालेसे क्रोध नहिं उपजता॥१४॥

हृत्वा स्वपुण्यसन्तानं मद्दोषं यो निकृन्तति।
तस्मै यदिह रुष्यामि मदन्यः कोऽधमस्तदा॥ १५॥

अर्थ—पुन ऐसी भावना करते हैं कि जो कोई अपने पुण्यका क्षय करके मेरे दोषोंको काटता है (कहता है) उससे यदि मैं रोष करूं तो इस जगतमें मेरी समान नीच वा पापी कौन है? । **भावार्थ**–जैसे कोई अपना धनादिक व्यय करके परका उपकार करता है उसी प्रकार जो अपने पुण्यरूपी परिणामोंको बिगाडकर मेरे दोष कहे अर्थात् मुझे सावधान करके मेरे दोष काटे तो ऐसे उपकारीपर क्रोध करना कृतघ्नताही है॥ १५॥

आक्रुष्टोऽहं हतो नैव हतो वा न द्विधाकृतः।
मारितो न हतो धर्मो मदीयोऽनेन बन्धुना॥ १६॥

अर्थ—जो कोई अपनेको दुर्वचन कहे तो मुनि महाराज ऐसा विचार करते हैं कि–इसने दुर्वचनही तो कहे हैं, मेरा घात तो नहिं किया? और कोई घात भी करै (अर्थात् लाठी वगैरहसे मारै) तो ऐसा विचारते हैं कि–इसने मुझे केवल माराही तो, काटकर दो खड तो नहिं किये? यदि कोई काटनेही लगै तो मुनिमहाराज विचारते हैं कि यह मुझे मारता है (काटता है) परन्तु मेरा धर्म तो नष्ट नहिं करता? मेरा धर्म तो मेरे साथही रहैगा। अथवा ऐसा विचार करते हैं कि यह मेरा बडा हितैषी है, क्योंकि चैतन्यस्वरूप मुद्रामा इस शरीररूपी कारागारमें रुद्ध हूं (कैद हूं) सो यह इस शरीरको (कारागारको) तोडकर मुझे कैदखानेसे छुडाता है, अत यह मेरा बडा उपकार कर रहा है। इत्यादि विचारनेसे किसीमेंभी क्रोध नहिं होता॥ १६॥

सम्भवन्ति महाविघ्ना इह निःश्रेयसार्थिनाम्।
ते चेत् किल समायाताः समत्वं सम्रयाम्यतः॥ १७॥

अर्थ—जो मोक्षाभिलाषी हैं उनके इस लोकमें बड़े २ विघ्न होने समव हैं, यह प्रसिद्ध है वेही विघ्न यदि मेरे आवें तो इसमें आश्चर्य क्या हुआ? इसकारण अब मैं सम भावका आश्रय करता हूं, मेरा किसीपर भी राग द्वेष नहीं है ॥ १७ ॥

चेन्मामुद्दिश्य भ्रश्यन्ति शीलशैलात्तपस्विनः ।
अमी अतोऽत्र मज्जन्म परक्लेशाय केवलम् ॥ १८ ॥

अर्थ—फिर ऐसाभी विचार करते हैं कि यदि मैं क्रोध करूं तो मुझे लेकर अ न्यान्य तपस्वी मुनि अपने शीलस्वभावसे च्युत हो जावें (भ्रष्ट हो जावें) तो फिर इस लोकमें मेरा जन्म केवल परके अपकारार्थ या क्लेशार्थ लिये ही हुआ, इसकारण मुझे क्रोध करना किसीप्रकार भी उचित नहीं है ॥ १८ ॥

प्रागज्ञया यत्कृतं कर्म तन्मयैवोपभुज्यते ।
मन्ये निमित्तमात्रोऽन्यः सुखदुःखोद्यतो जनः ॥ १९ ॥

अर्थ—फिर ऐसा विचारते हैं कि—मैने पूर्वजन्ममें जो कुछ बुरे भले कर्म किये हैं उनका फल मुझेही भोगना पड़ैगा, सो जो कोई मुझे सुख दुःख करनेके लिये तत्पर हैं वे तो केवल मात्र बाह्य निमित्त हैं, ऐसा मैं मानता हूं तब इनसे क्रोध क्यों करना चाहिये १९॥

मदीयमपि चेच्चेतः क्रोधाद्यैर्विप्रलुप्यते ।
अज्ञातज्ञाततत्त्वानां को विशेषस्तदा भवेत् ॥ २० ॥

अर्थ—फिर ऐसा विचार करते हैं कि मैं मुनि हूं तत्त्वज्ञानी हूं यदि क्रोधादि करि मेरा भी चित्त बिगड़ जायगा तो फिर अज्ञानी तथा तत्त्वज्ञानीमें विशेष (भेद) ही क्या रहा? मैं भी अज्ञानीके समान हुआ। इसप्रकार विचार करके क्रोधादि कषायें नहिं करि गमते ॥ २० ॥

न्यायमार्गं प्रपन्नेऽस्मिन्कर्मपाके पुरःस्थिते ।
विवेकी कस्तदात्मानं क्रोधादीनां वशं नयेत् ॥ २१ ॥

अर्थ—फिर ऐसा विचारते हैं कि—यह जो कर्मोंका उदय है सो न्यायमार्गमें प्राप्त है। इसके निकट होनेपर (आगे आनेपर) ऐसा कौन विवेकी है जो अपनेको क्रोधादिकके वशमें होने दे?। भावार्थ—जो कोई अपना बिगाड़ करता है सो अपने पूर्वजन्मके कर्मके उदयके अनुसार करता है। कर्म बांधने हैं, सो उनका उदय आना न्यायमार्ग है। इसकारण कर्मोदयके होनेपर क्रोध करना युक्त नहीं है क्रोध करनेसे फिर भी नये कर्मोंकी उत्पत्ति होती है और आगेको सन्तति चलती है ॥ २१ ॥

सहस्व प्राक्तनासातफलं स्वस्थेन चेतसा ।
निष्प्रतीकारमालोच्य भविष्यद्दुःखशङ्कितः ॥ २२ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! तूने पूर्वजन्म असाता कर्म बांधा था उसीका फल यह दुःख [illegible] है सो इनको उपकारक समझकर आपनी दुःखकी शान्तिके लिये [illegible] कर। भावार्थ—जो दुर्वचनादिक पूर्वोपार्जित असाता कर्मका फल है सो [illegible] चुकाना है। इसका अन्य कोई इलाज नहीं है, जिससे [illegible] दुःख होना इसलिये समभावोंसे सहना उचित है ॥ २२ ॥

उद्दीपयन्तो रोषाग्निं बहु विस्मय निष्ठिप ।
मन्ये विलोपयिष्यन्ति कर्मिन्मत्ता शमभिगम् ॥ २३ ॥

अर्थ—फिर विचारते हैं कि—दूसरा पुरुष मेरे वैरी हैं सो मैं ऐसा मानता हूं कि ये [illegible] कोधादिके उत्पन्न करनेसे [illegible] अग्नि [illegible] करते हुए मेरी उपशमभावरूपी [illegible] होंगे। भावार्थ [illegible] अग्नि [illegible] है, उसी प्रकार क्रमसे [illegible] उपशमभावरूपी [illegible] ऐसा विचार करते हैं ॥ २३ ॥

[illegible] समुत्पन्ने महाक्लेशासमुत्करे ।
[illegible] विज्ञानां प्राक्संचितपोधन ॥ २४ ॥

अर्थ— [illegible] विचारते हैं कि—जो विज्ञानी पुरुषार्थी [illegible] [illegible] है [illegible] होते [illegible] [illegible] उनका [illegible] होना है [illegible] [illegible] हुआ। इसप्रकार [illegible] है ॥ २४ ॥

[illegible] [illegible] शमासम्य ।
[illegible] ॥ २५ ॥

[illegible]

[illegible] ।
[illegible] ॥ २६ ॥

[illegible]

य: शमः प्रागसम्भ्यस्तो विवेकज्ञानपूर्वकः ।
तस्यैतेऽद्य परीक्षार्थं प्रत्यनीकाः समुत्थिता ॥ २७ ॥

अर्थ—'जो ये दुर्वचन कहनेवाले वा वधबंधादि करनेवाले शत्रु उत्पन्न हुए हैं वे मानो मैंने भेदज्ञानपूर्वक शमभावका अभ्यास किया है उसकी आज परीक्षा करनेकोही आए हैं, सो देखते हैं कि इसके शमभाव अब है कि नहीं' ऐसा विचार करना किंतु क्रोधरूप न होना ॥ २७ ॥

यदि प्रशमसर्यादां भित्वा रुष्यामि शत्रवे ।
उपयोगः कदाऽस्य स्यात्तदा मे ज्ञानचक्षुषः ॥ २८ ॥

अर्थ—जो मैं प्रशमभावकी मर्यादाका उल्लंघन करके वध बंधादि करनेवाले शत्रुसे क्रोध करूंगा तो इस ज्ञानरूपी नेत्रका उपयोग कौनसे कालमें होगा? अर्थात् यह ज्ञानाभ्यास ऐसेही कालके लिये किया था, सो अब शमभावमें रहनाही योग्य है। इसप्रकार विचारते हैं ॥ २८ ॥

अयत्नेनापि सैवेयं संजाता कर्मनिर्जरा ।
चित्रोपायैर्ममानेन यत्कृता भर्त्सयातना ॥ २९ ॥

अर्थ—फिर मुनि महाराज ऐसा विचार करते हैं कि इस शत्रुने मेरे अनेक प्रकारके उपायोंसे तिरस्कार करके जो तीव्र यातना (पीडा) करी इससे यह बडा भारी लाभ हुआ कि बिना यत्न किये ही मेरे पापकर्मोंकी निर्जरा सहजहीमें होगई। यह उपकारही मानना, क्रोध क्यों करना? ॥ २९ ॥

उक्तं च ग्रन्थान्तरे वृत्तद्वयम् ।

"ममापि चेद्द्रोहमुपैति मानसं परेषु सद्यः प्रतिकूलवर्त्तिषु ।
अपारसंसारपरायणात्मना किमस्ति तेषां मम वा विशेषणम् ॥१॥

अर्थ—जो प्रतिकूल (वर्तनेवाले उपसर्ग करनेवाले शत्रु) हैं उनमें मेरा मन तत्काल जो द्रोहको प्राप्त होता है तो इस अपारसंसारमें जिनका आत्मा तत्पर है उन शत्रुओंमें और मुझमें क्या भेद रहा? अर्थात् मैं उनसे भिन्न मोक्षार्थी कहलाताहूं, सो उनसे मेरी समानताही हुई अर्थात् मैं भी उनके समान संसारमें भ्रमूंगा ॥ १ ॥'

अपारयन्बोधयितुं पृथग्जनानसत्प्रवृत्तेष्वपि नाऽसदाचरेत् ।
अशक्नुवन्पीतविषं चिकित्सितुं पिबेद्विषं कः स्वयमप्यनातुरः ॥ ३० ॥

अर्थ—असमीचीन कार्योंमें प्रवर्त्तनेवाले अन्य पुरुषोंको उपदेश करके रोकनेको असमर्थ हो तो क्या वह पंडित पुरुष भी असदाचरण करने लग जाय? नहिं कदापि नहीं। जैसे—कोई पुरुष विष पीजाय और उसकी चिकित्सा करनेमें वैद्य असमर्थ हो जाय तो ऐसा वैद्य पंडित

कौन है जो आप भी विष पीले? अर्थात् ज्ञानी पंडित तो कोई नहीं पीवेगा। यदि पीवै तो वह अज्ञानी मूर्ख है। इसीप्रकार मुनि विचारते हैं कि किसीने अपने परिणाम बिगाड़कर मेरा बुरा करना चाहा और मैं उसको निवारण करनेको (समझानेको) समर्थ न होऊं तो क्या अपने परिणाम बिगाड़कर उसीकी समान बुरा करना उचित है? कदापि नहीं॥ ३०॥

न चेदयं मां दुरितैः प्रकम्पयेदहं यतेय प्रशमाय नाधिकम्।
अतोऽतिलाभोऽयमिति प्रतर्कयन् विचाररूढा हि भवन्ति निश्चलाः॥ ३१॥

अर्थ—यदि मुनिको कोई दुष्ट दुर्वचनादिक उपसर्ग करै तो वह इसप्रकार विचारता है कि—जो यह दुर्वचन कहनेवाला मुझे पापोंसे भय नहिं उपजावै तो मैं शान्तभावके लिये अधिक प्रयत्न नहिं करूं, इस कारण इसने मुझे सावधान किया है कि—पूर्वकालमें जो क्रोधादि पाप किये थे उसीका यह उपसर्ग फल है, सो मुझे यह बड़ा भारी लाभ हुआ इसप्रकार विचारमें आरूढ होकर मुनि महाराज निश्चल रहते हैं॥ ३१॥

आर्या।

परपरितोषनिमित्तं त्यजन्ति केचिद्धनं शरीरं वा।
दुर्वचनबन्धनाद्यैर्वयं रुषन्तो न लज्जामः॥ ३२॥

अर्थ—फिर मुनिमहाराज ऐसा विचार करते हैं कि—परको सन्तुष्ट करनेके लिये अनेक नर अपना धन वा शरीरको छोड़ देते हैं और हम दूसरोंके दुर्वचनादि [illegible] रोष करते हुए क्या लज्जित नहीं होते? । भावार्थ—जो हमसे [illegible] [illegible] हैं [illegible] तो अच्छा ही है। हम क्रोध न करेंगे हमारी क्या हानि है? [illegible] [illegible] क्रोध करनेसे तो पापबन्ध होगा॥ ३२॥

[illegible] स्यादत्र [illegible]।
[illegible] यदि न [illegible]॥ ३३॥

अर्थ—[illegible] और [illegible] नहिं [illegible] तो [illegible] [illegible] परन्तु मेरे [illegible] सिद्धि हुई अर्थात् [illegible] [illegible], इसमें कोई [illegible] नहीं है। [illegible] [illegible]। अर्थात् [illegible], [illegible] [illegible] [illegible]॥ ३३॥

[illegible] [illegible]।
[illegible] [illegible]॥ ३४॥

अर्थ—[illegible]

भावार्थ—उपसर्ग करनेवाला अपना प्राण नाश करै तोभी मुनिको क्षमाही करनी चाहिये, सत्पुरुषोंने इसका इलाज यह कहा है किन्तु क्रोध करना समीचीन नहीं है ॥३४॥

इय निकषभूरद्य सम्पन्ना पुण्ययोगतः ।
शमत्वं किं प्रपन्नोऽस्मि न वेत्यद्य परीक्ष्यते ॥ ३५ ॥

अर्थ—यह क्षमा है सो इससमय मेरी परीक्षा करनेकी जगह है और पुण्ययोगसे मुझे प्राप्त हुई है—सो मेरी परीक्षा करके देखती है कि मैं शान्तभावको प्राप्त हूं कि नहीं। भावार्थ—जो उपसर्ग आनेपर क्षमा करदे तो जानना कि इसके शान्त भाव है, जो क्षमा नहि करै तो शान्तभाव नहीं। इसप्रकार परीक्षा क्षमासेही होती है। क्षमा इसकी कसौटी है ॥ ३५॥

स एव प्रशमः श्लाघ्यः स च श्रेयोनिबन्धनम् ।
अदयैर्हन्तुकामैर्यो न पुंसां कश्मलीकृतः ॥ ३६ ॥

अर्थ—पुरुषोंने वही प्रशम भाव प्रशंसनीय है और वही कल्याणका कारण है, जो मारनेकी इच्छा करके निर्दय पुरुषोंने मलिन नहि किया। भावार्थ—उपसर्ग आनेपर क्रोधरूपी मैलसे मलिन न हो वही प्रशमभाव सराहने योग्य है ॥ ३६ ॥

चिराभ्यस्तेन किं तेन शमेनास्त्रेण वा फलम् ।
व्यर्थीभवति यत्कार्ये समुत्पन्ने शरीरिणाम् ॥ ३७ ॥

अर्थ—जीवोंके चिरकालसे अभ्यास किये हुए शमभाव और शस्त्र चलानेका अभ्यास काम पडनेपर व्यर्थ हो जाय तो उस शमभाव वा शस्त्रविद्या सीखनेसे क्या फल?। भावार्थ—उपसर्ग आनेपर क्षमा नहि की और शत्रुके सम्मुख आनेपर शस्त्रविद्याका प्रयोग नहि किया तो उनका अभ्यास करना व्यर्थही हुआ ॥ ३७ ॥

प्रत्यनीके समुत्पन्ने यद्धैर्यं तद्धि शस्यते ।
स्यात्सर्वोऽपि जनः स्वस्थः सत्यशौचक्षमास्पदः ॥ ३८ ॥

अर्थ—स्वस्थ चित्तवाले तो सबही प्राय सत्य शौच क्षमादि गुणयुक्त होते हैं परन्तु उपसर्ग करनेवाले शत्रुके आनेपर धैर्य रखना हो धैर्यगुण प्रशंसा करने योग्य है ॥ ३८ ॥

वासीचन्दनतुल्यान्तर्वृत्तिमालम्ब्य केवलम् ।
आरब्धं सिद्धिमानीतं प्राचीनैर्मुनिसत्तमैः ॥ ३९ ॥

अर्थ—प्राचीन बडे २ मुनि महाराजोंने प्रारंभ किये हुए मोक्षकार्यको साधन किया है सो केवल वसूले और चन्दनके समान अन्तर्वृत्तिको (समभावरूप वृत्तिको) आलंबन करके ही साधन किया है। भावार्थ—कुठारसे चंदन काटा जाता है वह चंदनवृक्ष जिसप्रकार कुठारकी धारको सुगंधित करता है अथवा काटनेवालेको सुगंध प्रदानसे प्रसन्न करता है—उसी प्रकार मुनि महाराज कोईभी उपसर्ग करता हो तो उसका

हितही चाहते हैं, अहित कदापि नहिं चाहते, इस वृत्तिसे ही रहनेमें मुक्तिकी होती है ॥ ३९ ॥

कृतैर्वान्यैः स्वयं जातैरुपसर्गैः कलङ्कितम् ।
येषां चेतः कदाचित्तैर्न प्राप्ताः स्वेष्टसम्पदः ॥ ४० ॥

अर्थ—जिनका चित्त अन्यके किये उपसर्गसे तथा अचेतन पदार्थोंसे स्वयं हुए उपसर्ग वा परीषहसे कलङ्कित (दूषित) हुआ उन्होंने अपने इष्टकार्यकी प्राप्ति कदापि नहीं की । **भावार्थ**—यह प्रसिद्ध है कि जो उपसर्ग वा आनेपर मुनिमार्गसे च्युत होगये उनके कभी सिद्धि नहिं हुई ॥ ४० ॥

प्राकृताय न रुष्यन्ति कर्मणे निर्विवेकिनः ।
तस्मिन्नपि च क्रुध्यन्ति यस्तदेव चिकित्सति ॥ ४१ ॥

अर्थ—विवेकरहित अज्ञानी पुरुष पूर्व जन्ममें किये हुए कर्मोंके (पापोंके) रोष करते नहीं और जो पुरुष क्रोधके निमित्त मिलाकर उन पापकर्मोंकी निर्जरा करा है अर्थात् वैद्यके समान चिकित्सा करता है उसके ऊपर क्रोध करता है सो यह किसी प्र भी युक्त नहीं है । क्योंकि अपने कर्मकी निर्जरा करानेवाला वह तो वैद्यके समान उपकारी है उसका तो उपकार ही मानना चाहिये । उसपर क्रोध करना बडी भारी भूल वा प्रता है ॥ ४१ ॥

यः श्वभ्रान्मा समाकृष्य क्षिप्यत्यात्मानमस्तधीः ।
वधबन्धनिमित्तेऽपि कस्तस्मै विप्रियं चरेत् ॥ ४२ ॥

अर्थ—जो कोई निर्बुद्धि वधबन्धादिक उपसर्गका निमित्त मिलाकर मुझे तो नर जानेसे बचाता है अर्थात् पूर्व कर्मोंकी निर्जरा करानेका निमित्त बनता है और अ नेको नरकमें डालता है, उसके लिये कौन बुरा आचरण करे ? उसका तो उप मानना उचित है ॥ ४२ ॥

यस्यैव कर्मणो नाशात्सन्मदाहः प्रशाम्यति ।
तदेवृद्धिसमायातं सिद्धं तत्रैव वाञ्छितम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—जिस कर्मके नाश होनेसे समाग्रका आताप नष्ट हो उस कर्मका उदय कालमें भोगनेमें आया तो यह वाञ्छित कार्य सिद्ध हुआ ऐसा समझना चाहिये क्योंकि कर्मका नाश तो करना ही था, सो यहीं उपसर्ग आनेसे और उसमें सह निर्जरा हुई तो यह वाञ्छित सिद्धि क्यों न हुई ? ॥ ४३ ॥

अनात्मक्लेदागमसाक्षिप्रदीपेन नयात्पर्यौ ।
तमोऽपनीते किं मत्तसदृक्षो ज्यमनोऽन्तरः ॥ ४४ ॥

अर्थ—यह संसाररूपी अटवी है सो अनन्तप्रकारके क्लेशरूपी अग्नि जलती है सो उसमें उत्पन्न होनेवाले जीव क्या उस संसाररूप वनमें उत्पन्न हुए दुःखोंके समूहको नहिं सहते हैं ? अर्थात् सहतेही हैं तब मैं जो उपसर्गजनित अल्प दुःखको सहूंगा तो फिर संसारके अनन्तदुःख नहिं होंगे ऐसा विचार करना चाहिये ॥ ४४ ॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

सम्यग्ज्ञानविवेकशून्यमनसः सिद्धान्तसूत्रद्विषो
निस्त्रिंशाः परलोकनष्टमतयो मोहानलोद्दीपिताः ।
दौर्जन्यादिकलङ्किता यदि नरा न स्युर्जगत्यां तदा
कस्मात्तीव्रतपोभिरुद्यतधियः काङ्क्षन्ति मोक्षश्रियम् ॥ ४५ ॥

अर्थ—यदि इस जगतमें सम्यग्ज्ञान और विवेकसे शून्य चित्तवाले, सिद्धान्तशास्त्रके द्वेषी, निर्दय, परलोकको नहिं माननेवाले नास्तिक, मोहरूपी अग्निसे जलनेवाले दुर्जनादि कलंकसे कलंकित मनुष्य नहिं होते तो उद्यतबुद्धिवाले मुनिगण तीव्र तपस्यादिक करके मोक्षरूप लक्ष्मीको क्यों चाहते ? । भावार्थ—उक्तप्रकारके दुष्ट पुरुष अनेक हैं, तप करनेसे वे उपसर्ग करेंगे, उस उपसर्गको जीतेंगे तबही हम मोक्षकी सिद्धि होगी ऐसा विचार करकेही मानों मुनिगण मोक्षके अर्थ तीव्र तपस्या करते हैं ॥ ४५ ॥

मालिनी ।

वयमिह परमात्मध्यानदत्तावधानाः
परिकलितपदार्थास्त्यक्तसंसारमार्गाः ।
यदि निकषपरीक्षासुक्षमा नो तदानीं
भजति विफलभावं सर्वथैष प्रयासः ॥ ४६ ॥

अर्थ—मुनिमहाराज विचार करते हैं कि—इस जगतमें हम परमात्माके ध्यानमें चित्त लगानेवाले हैं, पदार्थोंके स्वरूपको जाननेवाले और संसारमार्गके त्यागी हैं । यदि हम ऐसे होकर भी उपसर्ग परीषहोंकी कसौटीमें परीक्षामें असमर्थ हो जावें अर्थात् इससमय जो हम अपने उपशम भावोंकी परीक्षा नहिं करें तो हमारा मुनिधर्मके धारण करनेका समस्त प्रयास व्यर्थ हो जाय—। क्योंकि जब उपसर्ग आनेपर शममात्र रहे तबहीं उपशम भावकी प्रशंसा होती है ॥ ४६ ॥

शिखरिणी ।

अहो कैश्चित्कर्मोदयगतमानीय रभसा
दशेषं निर्धूतं प्रयस्तपसा जन्मचकितैः ।
स्वयं यद्यायातं तदिह मुदमालम्ब्य मनसा
न किं सह्यं धीरैरतुलसुगतिद्वेष्यमितैः ॥ ४७ ॥

अर्थ—अहो देखो! अनेक मुनिगणोंने संसारसे भयभीत होकर प्रबल (तीव्र) दा... दिकसे उत्पन्न लाकर समस्त कर्मोंको शीघ्र ही नष्ट करदिया थे कम यदि स्वयमा... निमित्तसे अपनी स्थिति पूरी करके स्वयं उदयमें आये है तो अमूल्य मोक्षसुखकी सिद्धि... लिये उद्यम करनेवाले धीरपुरुषोंको मनोभिलाषपूर्वक क्या उपसर्गादि नहिं सहने चाहिये? अर्थात् अवश्य ही सहने चाहिये। क्योंकि जिन कर्मोंको तीव्र तप करके नष्ट करना ... स्वय स्थिति पूरी करके उदयमें आये तो उनका फल सह लेनेमें सहजहीमें उनकी निर्जरा हो जाती है—सो यह तो उत्तम लाभ है। सो हर्षपूर्वक सहनी चाहिये। यहां मोक्षसिद्धिका उद्यम सफल होसक्ता है ॥ ४७ ॥

इसप्रकार क्रोधकषायका वर्णन करके उसके निमित्त आनेपर ऐसी भावना करना बत... दिया गया ॥

दोहा।

उपसर्गादिक क्रोधके, निमित भये मुनिरान।
क्षमा धरै क्रोध न करै, तिनकै ध्यानसमाज ॥

इति क्रोधकषायवर्णनम्।

अब मानकषायका वर्णन करते हैं,—

कुलजातीश्वरत्वादिमदविध्वस्तबुद्धिभिः।
सद्यः सचीयते कर्म नीचैर्गतिनिबन्धनम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—कुल, जाति, ऐश्वर्य, रूप, तप, तप, बल, विद्या और धन इन आठ मदोंसे जिनकी बुद्धि बिगड गई है अर्थात् मान करते हैं वे तत्काल नीच गतिके कारण कर्मका संचय करते है। अर्थात् कोई ऐसा समझै कि मान करनेसे मैं ऊंचा कहलाऊंगा सो इस लोकमें मानी पुरुष ऊंचे तो नहि होते किन्तु नीच गतिको प्राप्त होते हैं—॥ ४८ ॥

मानग्रन्थिर्मनस्युच्चैर्यावदास्ते दृढस्तदा।
तावद्विवेकमाणिक्य प्राप्तमप्यपसर्पति ॥ ४९ ॥

अर्थ—हे मुने! जबतक तेरे मनमें मानकी गांठ अतिशय दृढ है तबतक तेरा विवेकरूपी रत्न प्राप्त हुआ भी चला जायगा। क्योंकि मानकषायके सामने हेय उपादेयका ज्ञान नहि रहता ॥ ४९ ॥

प्रोत्तुङ्गमानशैलाग्रवर्तिभिर्लुप्तबुद्धिभिः।
क्रियते मार्गमुल्लङ्घ्य पूज्यपूजाव्यतिक्रमः ॥ ५० ॥

अर्थ—जो पुरुष अति ऊँचे मानपर्वतके अग्रभागमें (चोटीपर) रहते हैं वे नष्टबुद्धि हैं ऐसे मानी समीचीनमार्गका उल्लघन करके पूज्यपुरुषोंकी पूजाका (प्रतिष्ठाका) लोप कर देते हैं। **भावार्थ**—मानी पुरुष पूज्यपुरुषोंकाभी अपमान करनेमें शङ्कित नहि होते॥५०॥

लुप्यते मानत: पुंसां विवेकामललोचनम् ।
प्रच्यवन्ते ततः शीघ्रं शीलशैलाग्रसंक्रमात् ॥ ५१ ॥

अर्थ—इस मानकषायसे पुरुषोंके भेदज्ञानरूप निर्मल लोचन (नेत्र) लोप हो जाते हैं, जिससे शीघ्रही शीलरूपी पर्वतके शिखरके संक्रमसे (चलनेसे) गिर जाते हैं । क्योंकि विवेक जब नहिं रहा तो शील कहां? ॥ ५१ ॥

ज्ञानरत्नमपाकृत्य गृह्णात्यज्ञानपन्नगम् ।
गुरूनपि जनो मानी विमानयति गर्वतः ॥ ५२ ॥

अर्थ—मानी पुरुष गर्वसे अपने गुरुको भी अपमानित करता है सो मानो ज्ञानरूपी रत्नको दूर करके अज्ञानरूपी सर्पको ग्रहण करता है ॥ ५२ ॥

करोत्युद्धतधीर्मानाद्विनयाचारलंघनम् ।
विराध्याराध्यसन्तानं स्वेच्छाचारेण वर्तते ॥ ५३ ॥

अर्थ—मानसे उद्धतबुद्धि पुरुष गर्वसे विनयाचारका उल्लंघन करता है और पूज्य गुरुओंकी परिपाटी (पद्धति)को छोडकर स्वेच्छाचारसे प्रवर्तने लग जाता है ॥ ५३ ॥

मानमालम्ब्य मूढात्मा विधत्ते कर्म निन्दितम् ।
कलङ्कयति चाशेषचरणं चन्द्रनिर्मलम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—इस मानको अवलम्बन कर मूढात्मा निंदित कार्यको करता है तथा चन्द्रमाकी समान निर्मल अपने समस्त सदाचरणोंको कलंकित करता है ॥ ५४ ॥

गुणरिक्तेन किं तेन मानेनार्थः प्रसिद्ध्यति ।
तन्मन्ये मानिनां मानं यल्लोकद्वयशुद्धिदम् ॥ ५५ ॥

अर्थ—गुणरहित रीते मानसे कौनसे अर्थकी सिद्धि है । वास्तवमें मानी पुरुषोंका वही मान कहा जा सकता है जो इस लोक और परलोककी शुद्धि देनेवाला हो । भावार्थ—यद्यपि मानकषाय दुर्गतिका कारण है, तथापि मान दो प्रकारके हैं एक तो प्रशस्त मान और एक अप्रशस्त मान । जिस मानके वशीभूत होकर नीचकार्योंको छोड उंचे कार्योंमें प्रवृत्ति हो वह तो प्रशंसनीय प्रशस्तमान है और जिस मानसे नीचकार्योंमें प्रवृत्ति हो और जो परको हानिकारक हो वह अप्रशस्तमान है—। कोई धनी विद्वान् वा उच्चकुलवाला हो और कोई असदाचारी वा धनाढ्य पुरुष उस विद्वान् वा सदाचारीका आदर सत्कार न करे तो मनमें अपने धनके घमंडसे उसे हलका समझे तो उसके धन कर्म विद्वान् वा सदाचारियोंको नहिं जाना चाहिये । क्योंकि उसके धन ज्ञान वा उत्कृष्टता है हो निरन्तर उच ज्ञान और आचरणका (धनका) अभ्यास होता है। यह विषय वा उदाहरण गृहस्थोंके लिये हैं, मुनियोंके लिये नहीं है ॥ ५५ ॥

अपमानकरं कर्म येन दूरान्निषिध्यते ।
स उच्चैश्चेतसा मानः परः स्वपरघातकः ॥ ५६ ॥

अर्थ—जिससे अपमान करनेवाले कार्य दूरहीसे छोड दिये जाय वही उच्चाशयवालोंका प्रशस्त मान है। इसके अतिरिक्त जो अन्यमान है वे स्वपरके घातक अर्थात् अप्रशस्त हैं।

क मानो नाम संसारे जन्तुव्रजविडम्बके ।
यत्र प्राणी नृपो भूत्वा विष्ठामध्ये कृमिर्भवेत् ॥ ५७ ॥

अर्थ—जीवमात्रकी विडम्बना करनेवाले इस संसारमें मान नामका पदार्थ है ही क्या! क्योंकि जिस संसारमें राजा भी मरकर तत्काल विष्ठामें कृमि आदि कीट हो जाता है। और प्रत्यक्षमें भी देखा जाता है कि जो आज राजगद्दीपर विराजमान है वही कल राज्यरहित होकर रंक हो जाता है ॥ ५७ ॥

इसप्रकार मानकषायका वर्णन किया। अब मायाकषायका वर्णन करते हैं,—

जन्मभूमिरविद्यानामकीर्तेर्वासमन्दिरम् ।
पापपङ्कमहागर्तो निकृतिः कीर्तिता बुधैः ॥ ५८ ॥

अर्थ—मायाकषाय अविद्याकी भूमि है, अपयशका घर है और पापरूपी कर्दमका बड़ा भारी गड्ढा है, इसप्रकार विद्वानोंने मायाका कीर्तन (कथन) किया है ॥ ५८ ॥

अर्गलेवापवर्गस्य पदवी श्वभ्रवेश्मनः ।
शीलशालवने वह्निर्मायेयमवगम्यताम् ॥ ५९ ॥

अर्थ—यह माया मोक्ष रोकनेको अर्गला है। क्योंकि जबतक मायाशल्य रहता है तबतक मोक्षमार्गका आचरण नहिं आता। और नरकरूपी घरमें प्रवेश करनेकी पदवी (द्वार) है। तथा शीलरूपी शालवृक्षके वनको दग्ध करनेके लिये अग्निसमान है। क्योंकि मायावीकी प्रवृत्ति सदा दाहरूप रहा करती है ॥ ५९ ॥

कूटद्रव्यमिवासारं स्वप्नराज्यमिवाफलम् ।
अनुष्ठानं मनुष्याणां मन्ये मायावलम्बिनाम् ॥ ६० ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि मैं मायावलम्बी पुरुषोंके अनुष्ठान आचरणको कूटद्रव्यके समान (क्रित्रिमद्रव्यके समान) असार समझता हूं। अथवा स्वप्नमें राज्यप्राप्तिके समान निष्फल समझता हूं। क्योंकि मायावीका आचरण मन्यार्थ नहिं होता किंतु निष्फल होता है ॥ ६० ॥

लोकद्वयहितं केचित्तपोभिः कर्तुमुद्यताः ।
निकृत्या वर्तमानास्ते हन्त हीना न लज्जिताः ॥ ६१ ॥

अर्थ—कोई पुरुष लोकद्वय उभय हित अर्थात् निःश्रेयस पदवी को ...

परन्तु खेद है कि वे मायाचारसहित रहते हैं सो बड़े नीच है और निर्लज्ज हैं ऐसा नहिं विचारते कि हम तपस्वी होकर जो मायाचार रक्खेंगे तो लोग हम क्या कहैंगे ॥ ६१॥

मुक्तेरविलुनैर्योक्ता गतिर्ऋज्वी जिनेश्वरैः ।
तत्र मायाविना स्थातु न स्वप्नेऽप्यस्ति योग्यता ॥ ६२ ॥

अर्थ—वीतराग सर्वज्ञ भगवान्ने मुक्तिमार्गकी गति सरल कही है उसमें मायावी जनोंके स्थिर रहनेकी योग्यता स्वप्नमें भी नहीं है ॥ ६२ ॥

व्रती निःशल्य एव स्यात्सशल्यो व्रतघातकः ।
मायाशल्य मत साक्षात्सूरिभिर्भूरिभीतिदम् ॥ ६३ ॥

अर्थ—व्रती तो निःशल्यही होता है। शल्यसहित सो व्रतका घातक होता है। और आचार्योंने मायाको साक्षात्—शल्य कहा है। क्योंकि माया अतिशय भयदायक है। भावार्थ—मायावीके अपने मायाचारके प्रगट होनेका भय बनाही रहता है, अतएव उसका (कप टीका) व्रत सत्यार्थ नहिं होता ॥ ६३ ॥

इहाकीर्तिं समादत्ते मृतो यात्येव दुर्गतिम् ।
मायाप्रपञ्चदोषेण जनोऽयं जिह्मिताशयः ॥ ६४ ॥

अर्थ—इस मायाप्रपंचके दोषसे यह कुटिलाशय मनुष्य इस लोकमें तो अपयशको प्राप्त होता है और मृत्यु होनेपर दुर्गतिमें ही जाता है ॥ ६४ ॥

छाद्यमानमपि प्रायः कुकर्म स्फुटति स्वयम् ।
अलं मायाप्रपञ्चेन लोकद्वयविरोधिना ॥ ६५ ॥

अर्थ—कुकर्म ढकते हुए भी प्रायः अपने आप ही प्रगट हो जाता है इसकारण दोनो लोकोंको बिगाडनेवाले इस मायाप्रपंचसे अल (बस) है। भावार्थ—मायाचारसे निंद्य कार्य किया जाय और छिपाया जाय तो भी प्रगट हुए बिना नहिं रहता। प्रगट होनेपर वह उभयलोकको बिगाडता है, इस मायाचारीसे अलग रहना ही चाहिये ॥ ६५॥

क मायाचरणं हीनं क सन्मार्गपरिग्रहः ।
नापवर्गपथि भ्रान्तः सचरन्तीह वञ्चकाः ॥ ६६ ॥

अर्थ—मायारूप हीनाचरण तो कहा? और सन्मार्गका ग्रहण करना कहा? इनमें बडी विषमता है इसकारण आचार्य महाराज कहते हैं कि हे भाई! मायाचारी इस मोक्षमार्गमें कदापि नहिं विचर सकते ॥ ६६ ॥

बकवृत्तिं समालम्ब्य वञ्चकैर्वञ्चितं जगत् ।
कौटिल्यकुशलैः पापैः प्रसन्नं कश्मलाशयैः ॥ ६७ ॥

१ माया मिथ्या और निदान ये तीन शल्य हैं। निःशल्यो व्रती ऐसा तत्त्वार्थसूत्रका सिद्धान्त है।

अर्थ—कुटिलतामें चतुर ऐसे मलिनचित्त पापी ठग बगलेके ध्यानकीसी वृत्तिका (क्रियाका) आलम्बन कर इस जगतको ठगते रहते हैं । **भावार्थ**—बगलेकी वृत्ति लोकप्रसिद्ध है । बगला जलमें समस्त अंगोंको सकोचकर एक पांवसे खड़ा रहकर ध्यानमग्न हो जाता है । यदि मच्छियें उसे कमल-पुष्पवत् समझ उसके निकट आ जावें तो तत्काल उन्हें उठाकर खा जाता है इसी प्रकार मायावीकी वृत्ति होती है ॥ ६७ ॥

इसप्रकार मायाकषायका वर्णन किया । अब लोभकषायका वर्णन करते हैं ।

ये नयन्ति विफलं जन्म प्रयासैर्मृत्युगोचरैः ।
वराकाः प्राणिनोऽजस्रं लोभादप्राप्तवाञ्छिताः ॥ ६८ ॥

अर्थ—पामर प्राणी निरंतर लोभकषायके वशीभूत होकर वाञ्छित फलको नहीं पाते हुए मृत्युका सामना करनेवाले अनेक उपायोंसे अपने जन्मको व्यर्थ ही नष्ट कर देते हैं । **भावार्थ**—यह प्राणी लोभसे ऐसे उपाय करता है कि जिनमें मरण होना भी संभव है, तथापि अपने मनोवांछित कार्यकी सिद्धिको प्राप्त नहीं होता और अपने जन्मको व्यर्थ ही खो बैठता है ॥ ६८ ॥

शाकेनापीच्छया जातु न भर्तुमुदरं क्षमाः ।
लोभात्तथापि वाञ्छन्ति नराश्चक्रेश्वरश्रियम् ॥ ६९ ॥

अर्थ—अनेक मनुष्य यद्यपि अपनी इच्छासे शाकसे भी पेट भरनेको कभी समर्थ नहीं हैं तथापि लोभके वशसे चक्रवर्तीकी सम्पदाकी वाञ्छा करते हैं । **भावार्थ**—लोभ ऐसा है कि जिस वस्तुकी प्राप्ति होनेकी योग्यता स्वप्नमें भी असंभव हो उसकी भी वांछा कराता है और ऐसी निष्फल वाञ्छा कराकर मनुष्यको दुर्गतिका पात्र बनाता है ॥ ६९ ॥

आर्या ।

स्वामिगुरुबन्धुवृद्धानबलाबालांश्च जीर्णदीनादीन् ।
व्यापाद्य विगतशङ्को लोभार्तो वित्तमादत्ते ॥ ७० ॥

अर्थ—इस लोभकषायसे पीड़ित हुआ पुरुष अपने मालिक, गुरु, बन्धु (हितैषी) वृद्ध स्त्री, बालक तथा क्षीण दुर्बल, अनाथ, दीनादिकोंको भी निःशंकतासे मारकर धन ग्रहण करता है, अत एव लोभ ऐसा अनर्थ कराता है ॥ ७० ॥

ये केचित्सिद्धान्ते दोषाः श्वभ्रस्य साधकाः प्रोक्ताः ।
प्रभवन्ति निर्विचारं ते लोभादेव जन्तूनाम् ॥ ७१ ॥

अर्थ—[illegible] सिद्धान्तमें जो जो [illegible] कहे हैं [illegible] प्रगट होते हैं । **भावार्थ**—[illegible] ॥ ७१ ॥

इसप्रकार लोभकषायका वर्णन किया । अब सामान्यरूपसे चारों कषायोंके त्याग करनेका उपदेश करते हैं,—

वंशस्थ ।

शमाम्बुभिः क्रोधशिखी निवार्यताम्
नियम्यतां मानमुदारमार्दवैः ।
इयं च मायाऽऽर्जवतः प्रतिक्षणं
निरीहतां चाश्रय लोभशान्तये ॥ ७२ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! शान्तभावरूपी जलसे तो क्रोधरूपी अग्नि निवारण कर और उदार मार्दव अर्थात् कोमल परिणामोंसे मानको (मानरूप हाथीको) नियन्त्रित कर (वश कर) तथा मायाको निरन्तर आर्जवसे दूर कर और लोभकी शांतिके लिये निर्लोभताका आश्रय कर। इसप्रकार चारों कषायोंको दूर करनेका उपदेश है ॥ ७२ ॥

यत्र यत्र प्रसूयन्ते तव क्रोधादयो द्विषः ।
तत्तत्प्रागेव मोक्तव्यं वस्तु तत्सूतिशान्तये ॥ ७३ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! तेरे जिस जिस पदार्थमें क्रोधादिक शत्रु उत्पन्न होते हैं वही वही वस्तु उन क्रोधादिकी शांतिके लिये प्रथमहीसे त्याग देनी चाहिये । इसप्रकार कषायोंके बाह्य कारणोंके त्यागका उपदेश है ॥ ७३ ॥

येन येन निवार्यन्ते क्रोधाद्याः परिपन्थिनः ।
स्वीकार्यमप्रमत्तेन तत्तत्कर्म मनीषिणा ॥ ७४ ॥

अर्थ—तथा जिस जिस कार्यके करनेसे क्रोधादिक शत्रुओंका निवारण हो, बुद्धिमानको वह वह कार्य निरालस्य हो स्वीकार करना चाहिये ॥ ७४ ॥

गुणाधिकतया मन्ये स योगी गुणिनां गुरुः ।
तन्निमित्तेऽपि नाक्षिप्तं क्रोधाद्यैर्यस्य मानसम् ॥ ७५ ॥

अर्थ—जिस मुनिका मन क्रोधादिक कषायोंके निमित्त मिलनेपर क्रोधादिकसे भी विक्षिप्त न हो अर्थात् जिसके क्रोधादिक उत्पन्न न हों वही योगी गुणाधिकतासे गुणी जनोंका गुरु है, ऐसा मैं मानता हूं । यहां क्रोधादिकका कारण मिलनेपर भी जिनके क्रोधादिक न हों उनकी प्रशंसा की गई ॥ ७५ ॥

यदि क्रोधादयः क्षीणास्तदा किं खिद्यते वृथा ।
तपोभिरथ तिष्ठन्ति तपस्तत्राप्यपार्थकम् ॥ ७६ ॥

अर्थ—हे मुने! यदि क्रोधादिक कषाय क्षीण हो गये तो तप करके खेद करना व्यर्थ है, क्योंकि क्रोधादिकका जीतना ही तप है । और यदि क्रोधादिक तेरे तिष्ठते हैं तो भी तप करना व्यर्थ है, क्योंकि कषायीका तप करना व्यर्थ ही होता है ॥ ७६ ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥ ७३ ॥

अर्थ—[illegible] ॥ ७३ ॥ [illegible]

[illegible]

अथ शिरा प्रकरणम् ।

[illegible]

[illegible] ।
[illegible] ॥ १ ॥

अर्थ—[illegible]

[illegible] ।
[illegible] ॥ २ ॥

अर्थ—[illegible]

[illegible] ।
[illegible] ॥ ३ ॥

[illegible]

चित्तके जीतनेका कभी अभ्यास नहिं किया और न कभी वैराग्यको प्राप्त हुए इन कर्मी आत्माको दुःखी ही समझा और वृथा ही मोक्षप्राप्तिके लिये ध्यानमार्गमें प्रवृत्त गये, उन्होंने अपने आत्माको ठगलिया और वे इसलोक और परलोक दोनोंसे च्युत हो गये। **भावार्थ**–जो इन्द्रिय और मनको जीते बिना तथा ज्ञानवैराग्यकी प्राप्ति बिना ही मोक्षके लिये ध्यानका अभ्यास करते हैं, वे मूल अरत दोनों सब निष्फल है ॥ २१ ॥ २२ ॥

अब कहते हैं कि योगियोंका सुख इन्द्रियोंके बिना ऐसा है —

अध्यात्मजं यदत्यक्षं स्वसंवेद्यमनश्वरम् ।
आत्माधीनं निराबाधमनन्तं योगिनां मतम् ॥ २३ ॥

अर्थ—योगियोंका अध्यात्मसे उत्पन्न अतीन्द्रिय सुख आत्माके ही (अपनेही) आश्रय है अर्थात् स्वय ही उत्पन्न हुआ है, किन्तु इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंसे नहिं हुआ है। तथा आत्माहीसे जानने (भोगने) योग्य है अर्थात् स्वानुभवगम्य है, और अविनाशी है, अर्थात् इन्द्रियजनित सुखकी समान विनाशी नहीं है, स्वाधीन है, व बाधारहित है अर्थात् जिसमें कुछ भी बिगाड वा विघ्न नहिं होता तथा अनंत अर्थात् अन्तरहित है। जो कोई ऐसा समझते हैं कि इन्द्रियोंके बिना सुख कैसा? उनको यह अतिंद्रिय सुखका स्वरूप बतलाया गया है ॥ २३ ॥

अपास्य करणग्रामं यदात्मन्यात्मना स्वयम् ।
सेव्यते योगिभिस्तद्धि सुखमाध्यात्मिकं मतम् ॥ २४ ॥

अर्थ—जो इन्द्रियोंके विषयोंके बिना ही अपने आत्मामें आत्मासे ही सेवन करनेमें आता है उसको ही योगीश्वरोंने आध्यात्मिक सुख कहा है ॥ २४ ॥

आपातमात्ररम्याणि विषयोत्थानि देहिनाम् ।
विषपाकानि पर्यन्ते विद्धि सौख्यानि सर्वथा ॥ २५ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! जीवोंके विषयजनित सुख कैसे हैं कि सेवनके आरम्भमें तो कुछ रम्य भासते हैं परन्तु विपाकसमयमें सर्वथा विषकी समान ही जानिये ॥ २५ ॥

हृषीकतस्करानीकं चित्तदुर्गान्तराश्रितम् ।
पुंसां विवेकमाणिक्यं हरत्येवानिवारितम् ॥ २६ ॥

अर्थ—यह इन्द्रियरूपी चोरोंकी सेना (फौज) चित्तरूपी दुर्ग (किले) के आश्रय रहती है, जो पुरुषोंके विवेकरूपी रत्नको हरती है अर्थात् चुराती है और रोकी भी नहिं रुकती है ॥ २६ ॥

त्वामेव वञ्चितुं मन्ये प्रवृत्ता विषया इमे ।
स्थिरीकुरु तथा चित्तं यथैतैर्न कलङ्क्यते ॥ २७ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! ये इन्द्रियोंके विषय तुझको ठगनेके लिये प्रवृत्त हुए हैं ऐसा मैं मानता हूँ इसकारण चित्तको ऐसा स्थिर कर कि जिसप्रकार उन विषयोंसे छला न जाय ॥ २७ ॥

मालिनी ।

उदधिरुदकपूरैरिन्धनैश्चित्रभानु
र्यदि कथमपि दैवात्तृप्तिमासादयेताम् ।
न पुनरिह शरीरी कामभोगैर्विसर्गै
श्चिरतरमपि भुक्तैस्तृप्तिमापाति कश्चित् ॥ २८ ॥

अर्थ—इस जगतमें समुद्र तो जलके प्रवाहोंसे (नदियोंके मिलनेसे) तृप्त नहिं होता और अग्नि इन्धनोंसे तृप्त नहिं होती, सो कदाचित् दैवयोगसे किसी प्रकार ये दोनों तृप्त हो भी जावें परन्तु यह जीव चिरकालपर्यन्त नानाप्रकारके काम भोगादिके भोगनेपर भी कभी तृप्त नहिं होता ॥ २८ ॥

आर्या ।

यद्यपि दुर्गतिबीज तृष्णासन्तापपापसकलितम् ।
तदपि न सुखमप्राप्य विषयसुख वाञ्छित नृणाम् ॥ २९ ॥

अर्थ—यद्यपि विषयजनित सुख दुर्गतिका बीजभूत कारण है और तृष्णा-सन्तापादि-सहित है तथापि यह सुख बिना कष्टके इच्छानुसार मनुष्योंको प्राप्त होना कठिन है॥२९॥

अपि सकल्पिता कामा सभवन्ति यथा यथा ।
तथा तथा मनुष्याणा तृष्णा विश्व विसर्पति ॥ ३० ॥

अर्थ—मनुष्योंके जैसे जैसे इच्छानुसार संकल्पित भोगोंकी प्राप्ति होती है तैसें २ ही इनकी तृष्णा उत्तरोत्तर बढ़ती हुई समस्त लोकपर्यन्त विस्तारताको प्राप्त होती है॥ ३०॥

अनिरुध्याक्षसदोह य साक्षान्मोक्तुमिच्छति ।
विदारयति दुर्बुद्धि शिरसा स महीधरम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—जो पुरुष इन्द्रियसमूहको वश नहिं करके साक्षात् मोक्ष (कर्मरहित) होना चाहता है वह दुर्बुद्धि अपने मस्तककी टक्कर लगाकर पर्वतको तोड़ना चाहता है ऐसी अवस्थामें उसका मस्तकही फूटेगा, पर्वत तो किसी प्रकार फूटेगा ही नहीं ॥ ३१ ॥

मालिनी ।

इदमिह विषयोत्थ यत्सुख तद्धि दुःख
व्यसनविपिनबीज तीव्रसतापविद्धम् ।
कटुतरपरिपाक निन्दित ज्ञानवृद्धै
परिहर किमिहान्यैर्धूर्तवाचा प्रपञ्चै ॥ ३२ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! इस जगतमें विषयजनित जो सुख है सो वास्तवमें दुःख ही है क्योंकि—यह कष्ट अर्थात् आपदारूपी वृक्षोंका तो बीज है और तीव्र संतापोंसे मिला हुआ है तथा जिसका परिपाक (फल) अतिशय कटु है और ज्ञानसे वृद्ध विद्वानोंके द्वारा निंदनीय है, इसकारण हे भाई! इसको छोड धूर्तोंके प्रपंचवाक्योंके माननेमें क्या लाभ?॥३२॥

शार्दूलविक्रीडितम्।

तत्तत्कारकपारतन्त्र्यमचिरान्नाशं सतृष्णान्वयं
स्तैरेभिर्निरुपाधिसंयमभृतो बाधानिदानैः परैः।
शर्मेभ्यः स्पृहयन्ति हन्त विषयानाश्रित्य यद्देहिन
स्तत्क्रुध्यत्फणिनायकाग्रदशनैः कण्डूविनोदं स्फुटम्॥३३॥

अर्थ—यद्यपि विषयजनित पूर्वोक्त सुखको दुःखही कहा है सो ठीक भी है, क्योंकि उस सुखको कारकोंकी पराधीनता है अर्थात् वह सुख अन्यके द्वारा होता है और तत्काल नाशवान् भी है तथापि ये संसारी जीव उपाधिरहित संयमके धारक होनेपर भी तृष्णाके साथ सम्बंध करते हुए बाधाके कारण ऐसे, अन्य धनादिकोंके द्वारा सुखके लिये विषयोंकी इच्छा करते हैं सो क्या करते हैं कि मानो क्रोधायमान नागेन्द्रके अगले दाँतोंसे (विषके दाँतोंसे) खुजलानेका साक्षात् विनोद ही करते हैं। **भावार्थ**—सापके जहरीले दाँतोंसे खुजलाना मृत्युका वा दुःखका ही कारण है॥ ३३ ॥

पुनः।

निःशेषाभिमतेन्द्रियार्थरचनासौन्दर्यसंदानित
प्रीतिप्रस्तुतलोभलङ्घितमनाः को नाम निर्वर्त्यताम्।
अस्माकं तु नितान्तघोरनरकज्वालाकलापः पुर
स्सोढव्यः कथमित्यसौ तु महती चिन्ता मनः कृन्तति॥ ३४॥

अर्थ—अहो! खेद है कि—समस्त मनोवांछित इन्द्रियोंके विषयोंकी रचनाके सौंदर्यसे जिसका मन बँधा हुआ है तथा प्रीतिके प्रस्तावसे (प्रकर्ष) आगे लोभसे लंघित हो गया है मन जिसका ऐसे जीवोंमेंसे कौन ऐसा है जो विषयोंसे उदासीन होनेके लिये मन करे? । यहां आचार्य महाराज कहते हैं कि—ये संसारी जीव विषयोंसे विरक्त हों वा नहीं हों परन्तु इन विषयोंसे उत्पन्न हुए अतिशय रूप तीव्र नरकाग्निकी ज्वालाके समूहको भविष्यत्में कैसे सहेंगे? यही महाचिन्ता हमारे मनको दुःखित कर रही है॥ ३४ ॥

स्रग्धरा।

भीता मृत्यु प्रयाता रमनयनामिता दन्तिनः स्पर्शमुग्धाः
बद्धास्ते वारिबन्धे ज्वलनमुपगताः ५[illegible]॥[illegible]॥

भृङ्गा गन्धोद्धताशा' प्रलयमुपगता गीतलोला' कुरङ्गा'
फालव्यालेन दष्टास्तदपि तनुभृतामिन्द्रियार्थेषु राग' ॥ ३५ ॥

अर्थ—अरे ऐसो ! रसना इन्द्रियके वश तो मत्स्य (मच्छियें) हैं वे अपने गलेको छिदाकर मृत्युको प्राप्त हुए और हस्ती स्पर्श इन्द्रियके वशीभूत हो गढेमें बाधे गये तथा नेत्र इन्द्रियके विषयदोपसे पतग (छोटे २ जीव) दीपकादिक ज्वालामें जलकर मरणको प्राप्त हुए हैं । और भ्रमर नासिका इन्द्रियके वशीभूत होकर सुगधसे मुग्ध हो नाशको प्राप्त हुए । इसी प्रकार हरिण भी गीतके (रागके) लोलुप हो कर्ण इन्द्रियके विषयसे कालरूप सर्पसे मारे गये ऐसे एक एक इन्द्रियके विषयमे उक्त जीव नष्ट होते देखते हैं तो भी ससारी जीवोंके इन्द्रियविषयोंमे प्रीति (अनुराग) होती है सो यह बड़ा खेद अथवा आश्चर्य है ॥ ३५ ॥

आर्या ।

एकैककरणपरवशमपि मृत्यु याति जन्तुजातमिदम् ।
सकलाक्षविषयलोल' कथमिह कुशली जनोऽन्य स्यात् ॥ ३६ ॥

अर्थ—जो यह पूर्वोक्त एक एक इन्द्रियके वश हुआ जीवोंका समूह मरणको प्राप्त हुआ सो जो अन्य प्राणी समस्त इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त है उसका भला किसप्रकार हो सकता है, अर्थात् वह किसप्रकार सुखी हो सकता है ? ॥ ३६ ॥

सवृणोत्यक्षसैन्य य कूर्मोऽङ्गानीव सयमी ।
स लोके दोषपङ्काढ्ये चरन्नपि न लिप्यते ॥ ३७ ॥

अर्थ—जिसप्रकार कछुआ अपने अगोंको सकोचता है उसप्रकार जो सयमी मुनि इन्द्रियोंके सेनासमूहको सवररूप करता है अर्थात् सकोचता वा वशीभूत करता है वही मुनि दोषरूपी कर्दमसे भरे इस लोकमें विचरता हुआ भी दोषोंसे लिप्त नहिं होता । भावार्थ-जलमें कमलकी समान अलिप्त रहता है ॥ ३७ ॥

अयत्नेनापि जायन्ते तस्यैता दिव्यसिद्धय ।
विषयैर्न मनो यस्य मनागपि कलङ्कितम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—जिस मुनिका मन इन्द्रियोंके विषयोंसे किंचिमात्र भी कलंकित नहिं होता उस मुनिके आगे जो दिव्य सिद्धियें कही जायगी वे विना यत्नके ही उत्पन्न होती हैं ॥ ३८ ॥

इस प्रकार ध्यानके घातक कषाय और विषयोंका वर्णन किया, इससे निर्णीत हुआ कि कषायी तथा विषयी पुरुषके प्रशस्त ध्यानकी सिद्धि कदापि नहीं होती ॥

घनाक्षरी कवित्त ।

क्रोध क्षमातैं विडारि मान मृदुतातैं मारि
माया ऋजुतातैं लोभ तोषतैं मिटावना ।

निष्कषाय भय इन्द्री मन वशि होयँ तबै,
　　ध्यानयोग्य भाव जग जोग थिर धारना ॥
अन्यमती यहै रीति जानि नाहि जानैं ताकै,
　　सरवथा एकान्त पक्ष एक रूप भावना ।
एकमें अनेक भाव नित्य वा अनित्य आदि,
　　शुद्ध औ अशुद्ध मानि निजरूप पावना ॥ २१ ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे अक्षविषयनिरोधो नाम विंश प्रकरणम् ॥ २० ॥

अथ एकविंश प्रकरणम् ।

आगे तीन तत्त्वोंके प्रकरणका प्रारंभ है, जिसका आशय यह है कि अन्यमती तीन तत्त्वोंकी कल्पना करके उनका ध्यान करते हैं और उस ध्यानसे सब सिद्धि होना कहते हैं, इसकारण उनका भ्रम दूर करनेके लिये आचार्य महाराज तीन तत्त्वोंके व्याख्यानद्वारा कहते हैं कि ये तत्त्व एक आत्माहीकी सामर्थ्यरूप हैं। यह आत्मा ध्यानके बलसे अचिन्त्य सामर्थ्यरूप हो चेष्टा करता है। इस आत्माके अतिरिक्त अन्य कल्पना है सो सब मिथ्या है, इस कारण आत्माका सामर्थ्य वर्णन करते हैं ॥

अयमात्मा स्वयं साक्षाद्गुणरत्नमहार्णवः ।
सर्वज्ञः सर्वदृक् सार्वः परमेष्ठी निरञ्जनः ॥ १ ॥

अर्थ—यह आत्मा स्वयं साक्षात् गुणरूपी रत्नोंका भरा हुआ समुद्र है तथा यही आत्मा सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है, सबके हितरूप समस्त पदार्थोंमें व्याप्त है, परमेष्ठी (परमपदमें स्थित) है और निरंजन है अर्थात् जिसके किसी प्रकारकी कालिमा नहीं है। शुद्ध नयका विषयभूत आत्मा ऐसा ही है ॥ १ ॥

तत्स्वरूपमजानानो जनोऽयं विधिवञ्चितः ।
विषयेषु सुखं वेत्ति यत्स्यात्पाके विषान्नवत् ॥ २ ॥

अर्थ—उस आत्माके स्वरूपको नहि जानता हुआ यह मनुष्य कर्मोंसे वंचित होकर इन्द्रियोंके विषयोंमें सुख जानता है सो बडी भूल है। क्योंकि, इन्द्रियोंका विषय विपाकसमयमें विषमिश्रित अन्नके समान होता है ॥ २ ॥

यत्सुखं वीतरागस्य मुनेः प्रशमपूर्वकम् ।
न तस्यानन्तभागोऽपि प्राप्यते त्रिदशेश्वरैः ॥ ३ ॥

अर्थ—जो स्वयं वीतराग मुनि प्रशमरूप (मंदकषायरूप) विशुद्धतायुक्त है उनका अन्य स्थान भी इन्द्रको प्राप्त नहीं है ॥ ३ ॥

अनन्तवीर्यवीर्यादिनिर्मला गुणिभिर्गुणाः ।
स्वस्मिन्नेव स्वयं मृग्या अपास्य करणान्तरम् ॥ ४ ॥

अर्थ—अनन्त ज्ञान अनन्त वीर्यादि गुण गुणी पुरुषोंके द्वारा अपने आत्मामें ही अन्य इन्द्रियादिकी सहायता छोड़ अपने आप ही खोजने चाहिये ॥ ४ ॥

अहो अनन्तवीर्योऽयमात्मा विश्वप्रकाशकः ।
त्रैलोक्यं चालयत्येव ध्यानशक्तिप्रभावतः ॥ ५ ॥

अर्थ—अहो देखो यह आत्मा अनन्तवीर्यवान् है तथा समस्त वस्तुओंको प्रकाशित करनेवाला है तथा ध्यानशक्तिके प्रभावसे तीनों लोकोंको भी चलायमान कर सकता है। भावार्थ—मुनि जब ध्यान करते हैं तब तीनों लोकोंके इन्द्रोंके आसन कम्पायमान होते हैं अथवा ध्यानके करनेसे जो कोई जीव तीर्थंकरपद प्राप्त करता है उसका जन्म होनेके समय ही तीनों लोकोंमें क्षोभ होता है ॥ ५ ॥

अस्य वीर्यमहं मन्ये योगिनामप्यगोचरम् ।
यत्समाधिप्रयोगेण स्फुरत्यव्याहतं क्षणे ॥ ६ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि इस आत्माकी शक्तिको मैं ऐसा समझता हूं कि वह योगियोंके भी अगोचर है। क्योंकि समाधि ध्यान रूप स्वरूपके प्रयोगोंसे क्षण मात्रमें अव्याहत प्रकाश होती है। भावार्थ—अनन्त पदार्थोंके देखने जाननेकी शक्ति प्रगट होती है ॥ ६ ॥

अयमात्मा स्वयं साक्षात्परमात्मेति निश्चयः ।
विशुद्धध्याननिर्धूतकर्मेन्धनसमुत्करः ॥ ७ ॥

अर्थ—जिस समय विशुद्ध ध्यानके बलसे कर्मरूपी इन्धनोंको भस्म कर देता है उस समय यह आत्मा ही स्वयं साक्षात्परमात्मा हो जाता है, यह निश्चय है ॥ ७ ॥

ध्यानादेव गुणग्राममस्याशेषं स्फुटीभवेत् ।
क्षीयते च तथानादिसम्भवा कर्मसन्ततिः ॥ ८ ॥

अर्थ—इस आत्माके गुणोंका समस्त समूह ध्यानसे ही प्रगट होता है तथा ध्यानसे ही अनादिकालकी संचित की हुई कर्मसन्तति नष्ट होती है ॥ ८ ॥

शिवोऽयं वैनतेयश्च स्मरश्चात्मैव कीर्तितः ।
अणिमादिगुणानर्घ्यरत्नवाधिर्बुधैर्मतः ॥ ९ ॥

अर्थ—विद्वानोंने इस आत्माको ही शिव, गरुड और काम कहा है। क्योंकि यह

आत्मा ही अणिमा महिमादि अनर्घ्य (अमूल्य) गुणरूपी रत्नोंका समुद्र है। भावार्थ शिवतत्त्व, गरुडतत्त्व और कामतत्त्व जो अन्यमती ध्यानके लिये स्थापन करते हैं। आचार्य महाराज कहते हैं कि यह आत्मा ही की चेष्टा है, आत्मासे भिन्न अन्य कोई पदार्थ नहीं है ॥ ९ ॥

उक्तं च ग्रन्थान्तरे।

"आत्यन्तिकस्वभावोत्थानन्तज्ञानसुखः पुमान्।
परमात्मा विपः कन्तुरहो माहात्म्यमात्मनः ॥ १ ॥

अर्थ—अहो! आत्माका माहात्म्य कैसा है कि—आत्यन्तिक कहिये अन्तरहित और नश्वर स्वभावसे उत्पन्न हुए अनन्तज्ञान अनन्तसुखवाला ऐसा परमात्मा स्वरूप शिव तथा गरुड और काम यह आत्मा ही है ॥ १ ॥

अब इन तीनों तत्त्वोंको आचार्य महाराज गद्यद्वारा स्पष्ट करते हैं ॥ १ ॥

यथान्तर्बहिर्भूतनिजनिजानन्दसन्दोहसंपाद्यमानद्रव्यादिचतुष्कसकलसामग्रीस्वभावप्रभावात्परिस्फुरितरत्नत्रयातिशयसमुल्लासितस्वशक्तिनिराकृतसकलतदावरणप्रादुर्भूतशुक्लध्यानानलबहुलज्वालाकलापकवलितगहनान्तरालादिसकलजीवप्रदेशघनघटितसंसारकारणज्ञानावरणादिद्रव्यभावबन्धनविश्लेषस्ततो युगपत्प्रादुर्भूतानन्तचतुष्टयो घनपटलविगमे सवितुः प्रतापप्रकाशाभिव्यक्तिवत् स खल्वयमात्मैव परमात्मव्यपदेशभाग्भवति ॥ १० ॥

अर्थ—यथा-जैसी चाहिये वैसी, अंतरंग और बहिर्भूत, तथा निज (अपनी) निजानन्दसन्दोह—(अपने आनन्द स्वरूप विशुद्धता सहित परिणामोंके समूहसे) संपाद्यमान—अर्थात् उत्पन्न की हुई वा प्राप्त की हुई द्रव्य क्षेत्रकालभावके चतुष्क स्वरूप समस्त सामग्रीरूप स्वभावके प्रभावसे प्रगट हुआ जो सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय उसके अतिशयसे (प्रकर्ष) उल्लासरूप हुई (उदयरूप हुई) अपनी शक्ति निराकरण किया हुआ तदावरण-मोहकर्मका उदय, उससे प्रगट हुई शुक्लध्यानरूप अग्निकी ज्वालाके पृथक्त्व वितर्क विचार आदि भेदरूप विशुद्धताके समूहसे ग्रासीभूत किये हैं सघन, और अंतरालवर्ती अनादिकालके जीवके प्रदेशोंमें समूहरूप ठहरे हुए संसारके कारणस्वरूप ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म भावकर्मके बंधनके विश्लेष जिसने ऐसा, तत्पश्चात् प्रगट हुआ है युगपत् (एकही कालमें) अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यरूप चतुष्टय जिसके ऐसा, जैसे मेघपटलोंके दूर होनेसे सूर्यका प्रताप और प्रकाश युगपत् (एक साथ) प्रगट होता है उसी प्रकार प्रगट हुआ आत्मा ही निश्चय करके परमात्माके व्यपदेश (नामका) भागी होता है। भावार्थ—यह आत्मा संसार-अवस्थामें जीवात्मा कहाता

है और जब यही आत्मा अन्तरंग तथा बाह्यस्वरूप द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप समस्त सामग्रीको प्राप्त होता है तब इसके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रके अतिशयताकी प्राप्ति होती है। उसके साधनमें मोहका क्रमक्रमसे अभाव होनेपर शुक्लध्यान प्रगट होता है। उस शुक्लध्यानके प्रभावसे घातिया कर्मोंका नाश होनेपर अनन्तचतुष्टय प्राप्त होता है, इस प्रकार आत्मा परमात्मा नाम पाता है और इसीको शिव वा शिवतत्त्व कहते हैं। यह शिवतत्त्वका स्वरूप कहा गया ॥ १० ॥

अब गरुडतत्त्वको कहते हैं, सो अन्यमती गरुडतत्त्वकी ऐसी कल्पना करते हैं कि— गरुडपक्षीका सा तो मुख, और दूसरे सब अंग मनुष्यके समान किन्तु दोनों तरफ घोंटू ओंतक (गोडोंतक) लटकती हुई दोनों पांखें और मुखमें (चोंचमें) दो सर्पोंकी डाढ़ी (फण) उनमेंसे एक सर्प तो मस्तकपर होकर पीठकी तरफ लटकता हुआ और दूसरा पेटकी तरफ लटकता हुआ तथा घोंटुओंके नीचे नीचे तो पृथिवीतत्त्वकी रचना और घोंटुओंसे ऊपरि नाभिपर्यंत अप्तत्त्वकी (जलतत्त्वकी) रचना और उसके ऊपरि हृदय पर्यन्त अग्नितत्त्वकी रचना और उसके ऊपरि मुखमें पवनतत्त्वकी रचना, इसप्रकार आकाशतत्त्वमें गरुडकी कल्पना करके ध्यान करते हैं और उसे समस्त उपद्रव मेटने वाला कहते हैं। उसका स्वरूप संस्कृत गद्य (वचनिका) द्वारा आचार्य महाराज कहते हैं। उसमेंसे प्रथम पृथिवी तत्त्वका स्वरूप कहते हैं,—

अविरलमरीचिमञ्जरीपुञ्जपिञ्जरितभासुरतरशिरोमणिमण्डलीगाढसमण्डितविकटतरफूत्कारमारुतपरपरोत्पातप्रेङ्खोलितकुलाचलमिलितशिखिशिखासन्तापप्रपलायमानवान्तिकपिशनिजवायवान्धकारपटलजटिलितदिग्वलयपक्षत्रियभुजङ्गपुङ्गवपतिपरिक्षिप्तपक्षनिर्घाटितदुष्टप्रकटपयिपञ्जरपिनद्धसघनगिरिचतुरस्रमेदिनीमण्डलावलम्बनगजपतिपृष्ठप्रतिष्ठितपरिवलितकुलिशाङ्करधारीप्रमुखदिशाभिर्नीरङ्गारदर्पोद्धसितलोचनसहस्रश्रीत्रिदशपतिकुलिशलाञ्छनसमस्तभुवनावलम्बितसुनासीरपरिवलितजानुरूप इति पृथ्वीतत्त्वम् ॥ ११ ॥

अर्थ—प्रचुर अविच्छेदरूप किरणोंकी लताओंके समूहसे पीतवर्ण देदीप्यमान (चमकते हुए) मस्तकमणियोंकी मंडलीके समूहद्वारा मंडित, और अत्यन्त विकट [illegible] हुए फूत्काररूप पवनकी परंपरा (उत्क्षिप्त परिपाटी) के उत्पात द्रवते हुए कुलाचल [illegible] समान कपिश (पीतरक्तवर्णसदृश), अपने शरीरकी कांतिसे [illegible] [illegible] जटिलित किया है दिशाओंका चक्र जिन्होंने ऐसे, ऐसे [illegible] [illegible] [illegible]

१ [illegible]

सर्पोंमें प्रधान जो सर्पोंमें (जिनके नाम वासुकी और शंखपाल हैं) वेष्टित ऐसा पृथ्वी मंडल है सो क्षितिके बीजाक्षरों सहित है तथा वज्रपंजरके (वज्रसहित रेखाके) चतुष्क बँधा हुआ और सुवर्णगिरि (मेरुपर्वत) सहित चौकोन, (इसप्रकार चार विशेषण पृथ्वी मंडलके हैं) ऐसा पृथ्वी मंडल है आधार जिसका (यह इन्द्रका विशेषण है) और ऐरावत हस्तीके स्कन्धपर चढा हुआ, हाथमें वज्र है, शची आदि सुन्दर देवांगनाओंके शृंगार देखनेसे प्रफुल्लित है हजार नेत्र जिसके ऐसी देवेन्द्रकी मुद्रासे शोभायमान है, ऐसे समस्तभुवनका आलम्बन करनेवाले सुनाशीर (इन्द्र) के द्वारा रचनारूप किये हैं दोनो जानु जिसने ऐसा गरड है। यहातक पृथिवीतत्त्वसहित गरडका विशेषण है ॥११॥

आगे जलतत्त्वका स्वरूप कहते हैं—

तदुपरि पुनरानाभिविपुलतरसुधासमुद्रसन्निभसमुल्लसन्निजशरीरप्रभापटलव्याप्तसकलगगनान्तरालवैरजातिविषधरावनद्धवारुणनीलाक्षरमण्डनपुण्डरीकलक्ष्मोपलक्षितपारावारमयखण्डेन्दुमण्डलाकारवरुणपुरप्रतिष्ठितविपुलतरप्रचण्डमुद्राग्रहेति निकीर्णशिशिरतरपयःकणकान्तिकर्बुरितसकलककुप्चक्रकरिमकरमारूढप्रशस्तपाशपाणिवरुणामृतमुद्राबन्धविधुरितानिःशेषविषानलसंतानभगवद्वरुणानिर्गूढोत्सङ्गप्रदेश इति अप्तत्त्वम् ॥ १२ ॥

अर्थ—तथा उस जानुद्वयके उपरि नाभिपर्यन्त अप्तत्त्व है, वहा अतिविलीण वा सुधासमुद्र (क्षीरसमुद्र) समान शुक्लवर्ण उल्लासको प्राप्त होते अपने शरीरकी प्रभाके पटलसे (तेजसमूहसे) व्याप्त किया है समस्त आकाशका मध्यभाग जिन्होंने ऐसे वैरजातिके कर्कोट और पद्म है नाम जिनके ऐसे दो आशीविष सर्पोंसे वेष्टित अप्मण्डल है और वारुण बीजोंसे (जलके बीजाक्षरोंसे) शोभित और पुंडरीक अर्थात् पद्मपत्रोपलक्षित श्वेत कमलके चिह्नसे चिह्नित और पारावारमय कहिये क्षीरसमुद्रमय, खंडेन्दु कहिये अर्द्ध चन्द्राकारके मंडलके समान, वरुणपुरमें तिष्ठता अतिविस्तीर्ण प्रचंड मुद्राजाला और अग्र हेति कहिये मुख्य किरणोंसे बखेरे हुए अतिशीतल जलके कणोंकी आकान्तिन (व्याप्तिसे) कर्बुरित (नानावर्णवाला) किया है समस्त दिशाओंका समूह जिसने ऐसा और करिमकर कहिये—जलहस्तीपर चढा हुआ सुन्दर नागपाश है हाथमें जिसके ऐसा जो वरुण दिक्पाल उसके अमृतकी मुद्राके बन्धसे दूर किया है सम्पूर्ण विषका अग्निका समूह जिसने ऐसे समर्थ वरुण दिक्पालके द्वारा रचित है उत्संग (कटिस्थान) स्थान जिसका ऐसा यह गरडका दूसरा विशेषण है ॥ १२ ॥

आगे गरुडके तीसरे विशेषण अग्नितत्त्वका रूप कहते हैं,—

विस्फुरितनिजवपुर्ष्फुलज्वालावलीपरिकलितसकलदिग्वलयप्रिजद

न्दनकरक्षिताशुशुक्षणिरवर्णविस्फुरितविस्तीर्णस्वस्तिकोपपन्नत्रिकोण तेजोमयपुरमध्यपद्मवसतिवस्ताधिरूढज्वलदलातहस्तानलमुद्रोद्दीपित-सकललोकवह्निविरचितोरःप्रदेश इति वह्नितत्त्वम् ॥ १३ ॥

अर्थ—नवम फैलती हुई अपने शरीरकी ज्वालाकी पंक्तिसे व्याप्त किया है समस्त दिशाओंका वलय (मण्डल) जिन्होंने ऐसे अनन्त और कुलिक नाम धारक ब्राह्मण जातिके दो सर्पोंसे रक्षित और रकाररूप बीजाक्षरसे स्फुरायमान विस्तीर्ण तीन कूटोंपर तीन स्वस्तिक (साथिया) सहित ऐसा त्रिकोण तेजोमय देदीप्यमान पुर अग्निमण्डल उसके बीचमें पाथी है वसती जिसने ऐसा, तथा वस्ताधिरूढ कहिये बकरेपर चढा हुआ, प्रज्वलित आलात कहिये जलता हुआ काष्ठ है हाथमें जिसके ऐसी अग्निकी मुद्रासे समस्त लोकको उद्योत करनेवाले वह्नि दिक्पालसे रचित है उरःप्रदेश जिसका ऐसा तीसरा गरुडका विशेषण हुआ । यह अग्नितत्त्वका स्वरूप है ॥ १३ ॥

आगे वायुतत्त्वका रूप कहते हैं,—

अविरतपरिस्फुरितफूत्कारमारुतान्दोलितसकलभुवनाभोगपरिभ्रूत पट्चरणचयकालकालिमानिजतनुसमुच्छलद्बहुलकान्तिपटलपिहितनिखिलनभस्तलशङ्खमहापद्मवेष्टपवलयितमरुन्मुद्रोपपन्नबिन्दुसन्दोहसुन्दरमहामारुतवलयत्रितयात्मकसकलभुवनाभोगवायुपरिमण्डलनभस्तपुरान्तर्गतचारनकुरङ्गवेगविहरणदुर्ललितकरतलकलितचलविटपकोटिकिशलयशालशालिमरुन्मुद्रोच्छलितसकलभुवनपवनमयवदनारविन्द इति वायुतत्त्वम् ॥ १४ ॥

अर्थ—निरंतर स्फुरायमान होता जो फूत्कारसे बहता हुआ पवन, उसके द्वारा कंपायमान किया जो सकल भुवनका आभोग (मध्य) उसके द्वारा उडाये हुए भ्रमरोंके समूहकी कालिमाके समान, तथा उनमें मिली अपने शरीरकी उछलती हुई प्रचुर कान्तिके पटल (समूह)से आच्छादित किया है समस्त आकाशमंडल जिन्होंने ऐसे शंख और महापद्म नामक शूद्र जातिके दो सर्पोंसे वेष्टित, और मरुत् मुद्रामें मंडित और बिन्दुओंके (जलकणोंके) समूहसे सुन्दर महामारुत प्रचंड पवनके वलयके त्रितय (त्रिक) स्वरूप सकलभुवनके मध्यमें वायुके परिमंडल स्वरूप नभस्तलपुटके अंतर्गत तिष्ठा हुआ ऐसा, और वाहन जो वातप्रमी जातिका हिरण उसके वेगसे विहार करनेमें दुर्ललित (लीलायुक्त) हाथोंसे पकडे हुए चलायमान शाखाओंके अग्रभागमें किशलय (कोंपल) जिसके ऐसे शालवृक्षकी शोभासहित मरुत्मुद्रासे उत्पन्न हुआ सकलभुवनोंमें पवनमय है मुखकमल जिसका ऐसा यह गरुडका चौथा विशेषण हुआ और वायुतत्त्वका स्वरूप कहा गया ॥ १४ ॥

अब इन चारोंही तत्त्वोंसहित गरुडका स्वरूप कहते हैं—

गगनगोचरामूर्त्तजयविजयभुजङ्गभूषणोऽनन्ताकृतिपरमविभुर्नभस्तलनिलीनसमस्ततत्त्वात्मकः समस्तज्वररोगविषधरोड्डामरडाकिनीग्रहयक्षकिन्नरनरेन्द्रारिमारिपरयन्त्रतन्त्रमुद्रामण्डलज्वलनहरिशरभशार्दूलद्विपदैत्यदुष्टप्रभृतिसमस्तोपसर्गनिर्मूलनकारिसामर्थ्यः परिकलितसमस्तगारुडमुद्राडम्बरसमस्ततत्त्वात्मकः सन्नात्मैव गारुडगीर्गोचरत्वमवगाहते । इति विषतत्त्वम् ॥ १७ ॥

अर्थ—आकाशगोचरही है मूर्ति जिनकी ऐसे विजय नामके दो सर्प हैं भूषण जिनके तथा अनन्ताकृति परमविभु अर्थात् आकाशकी आकृतिस्वरूप सर्वव्यापक, तथा आकाशमंडलमें लीन है पृथ्वी वरुण वह्नि वायुनामा समस्त तत्त्व जिसमें, तथा समस्त, वात पित्त श्लेष्मसे उत्पन्न ज्वर आदिरोग, अनेक जातिके सर्प आदि विषधर जीव, महाभय, डाकिनी, कुत्सित (खोटे) मन्त्रकर्तृक तथा पिशाच, यक्ष, भैरवादि किन्नर, अश्वमुख, व्यन्तर, नरेन्द्र (राजा), शत्रु, महामारी, तथा परके किये यन्त्र, तन्त्र, मुद्रामंडल, तथा अग्नि, सिंह, शरभ, अष्टापद, शार्दूल, व्याघ्र, हस्ती, दैत्य, व्यन्तरादिक दुष्टदुर्जनादिक सबके किये हुए उपसर्गको निर्मूलन करनेवाला है सामर्थ्य जिसका, ऐसा तथा रचा है समस्त गारुड मुद्रामंडलका आडम्बर जिसने ऐसा, तथा पृथ्वीआदि तत्त्वस्वरूप हुआ है आत्मा जिसका ऐसा गारुडगी [1]के नामको अवगाहन करनेवाला गारुड ऐसा नाम आत्माही पाता है । **भावार्थ**—पहिले चार तत्त्वोंके रूप कहे सो गरुडतत्त्वके विशेषणरूप कहे गये, उन चारों तत्त्वोंसहित यह गरुडतत्त्व है सो यह आत्माकी ही सामर्थ्यका वर्णन है। यह आत्मा ध्यानके बलसे अनेकसामर्थ्यसहित होता है । उसमें देहका रूप है वह तो सब पुद्गलका रूप है और आत्मा है सो अमूर्तीक ज्ञान आदि गुणोंकी शक्ति स्वरूप है, उसके ध्यानके प्रभावसे अनेक व्यक्तिरूप चेष्टा होती है, इसप्रकार जानना ॥ १५ ॥

आगे कामतत्त्वका रूप कहते हैं,—

यदि पुनरसौ सकलजगच्चमत्कारिकार्मुकास्पदनिवेशितमण्डलीकृतसरसेक्षुकाण्डस्थरसहितकुसुमसायकविधिलक्ष्यीकृतदुर्लभमोक्षलक्ष्मीसमागमोत्कण्ठितकठोरतरमुनिमना । स्फुरन्मकरकेतु । कमनीयसकललनावृन्दवन्दितसौन्दर्यरतिकेलिकलापदुर्ललितचेताश्चतुरश्चेष्टितभ्रूभङ्गमात्रवशीकृतजगत्त्रयस्त्रैणसाधनो दुरधिगमागाधगहनरागसागरान्तर्दोलितसुरासुरनरभुजगयक्षसिद्धगन्धर्वविद्याधरादिवर्गः । स्त्रीपुरुष

[1] गरुडमिथ्यो जानै सो गारुड=आर गी कहिय शब्दमय-सा गारुडगी।

[illegible] [illegible]द्रमाः। विविधपदसानिमग्रौ [illegible] [illegible] सुमनदन [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]रागपिष्टानकपिशु [illegible] [illegible] [illegible]सियमांस [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] सुरम [illegible] निमग्निनीजनप [illegible] [illegible] [illegible] परिगतसुरलन्देन्निमपि [illegible] [illegible]दिलानवनिजसरशि [illegible] [illegible] परिस्फुरितमपाटलांसरसे परि [illegible] [illegible] भुवनजनम [illegible] [illegible] पवनसुहृदा दूरमारोपितम [illegible] । [illegible] [illegible] मुनिजनमार्पितमपदो [illegible] स्वर्गाप- वर्गद्वाराविघटनपटुभिः। [illegible] जगदिजयजयन्तीभूतचतुरकामिनी [illegible] । [illegible] [illegible] जगद्वशीकरणसमर्थ इति [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ॥१९॥

अर्थ—पुनः कैसे हैं, कामतत्त्व जिसने ध्याया जाय सो [illegible] तो ऐसा है— [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] धनुष [illegible] [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] समान स्वरसहित [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible] इन पांचबाणोंकी [illegible] (आरोपणसे) [illegible] ([illegible]) [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] गमागम होनेके लिये उरः [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है। तथा—[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है जिनके, और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] समूहद्वारा वदनीय है सुदरता जिनकी [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] जो [illegible] ([illegible]) उसके [illegible] (समूहसे) [illegible] है ([illegible] है) [illegible] जिनका [illegible] है। तथा—चतुरोंकी चेष्टारूप भ्रूभंगमात्रसे वशी- भूत किया [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] जिनके [illegible] है। पुनः दुरधिगम, अगाध (गहरा) है मध्यभाग जिसका [illegible] [illegible] [illegible] समुद्रमें डुलाये हैं सुर (कल्पवासी देव), असुर (भुवनवासी [illegible] [illegible] ज्योतिषी देव), नर (राजादि लोक), भुजग धरणीन्द्र (शेषनाग [illegible]), [illegible] ([illegible]), सिद्ध ([illegible] [illegible] रसायनादि विद्या सिद्ध हो), [illegible] [illegible] [illegible] गंधर्व (गान [illegible] अधिकारी [illegible]), विद्याधर (आकाशमें [illegible] चलनेवाले) इत्यादिकोंके समूह जिसने ऐसा, तथा स्त्रीपुरुषके भेदसे

जिन समस्त प्राणियोंके [illegible] निजानन्द किये [illegible] ([illegible] आता) है। [illegible] [illegible]कुसुमकी जिसने [illegible] कर लिया है [illegible] किया [illegible], [illegible] ऐसा है कि— [illegible] पथिक मूर्छा [illegible] [illegible] समूह जिसने [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible] जिसकी, तथा— [illegible] (आमकी मंजरी) [illegible] (अंकुर) [illegible] [illegible] है मंजरीका [illegible] हुआ [illegible] (सुगंधित मंजरी) [illegible] है अपने [illegible] जिसने ऐसा, तथा— [illegible] [illegible] [illegible] किया। पुष्ट [illegible] कोकिलाओंके समूहके शब्दरूपी [illegible] है जिसके [illegible] तथा—मलयाचलके सुगंधित पवनसे उदय हुआ है सौभाग्य जिसका, [illegible] सुगंधित पवन कैसा है कि—मलयगिरिके [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है अर्थात् पवनमें [illegible] [illegible] है [illegible] उत्प्रेक्षा [illegible] है कि मानो पवन है सो इन लताओंको [illegible] सिखा दे रहा है। [illegible] फिर कैसा है मलयाचलका पवन कि— [illegible] अतिशयताके [illegible] [illegible] सर्पिणी उनके मुखमें प्राप्तीभूत होगए हैं [illegible] जिनकी तौभी विरहिणी जो वियोगिनी स्त्री उनके निश्वासोंसे पुष्ट हुआ है [illegible] जिसका ऐसा, तथा— [illegible] केरलदेशकी स्त्रियोंके कुरलोंको ([illegible]) कंपित करनेमें चतुर है— [illegible] उत्कंपित किये हैं कुंतलदेशकी स्त्रियोंके [illegible] जिसने, तथा प्राप्त हुए [illegible] [illegible] उत्पन्न हुए लाटदेशकी स्त्रियोंके ललाटस्थ पसीनेके जलकणोंके पान करनेमें इच्छावान् है तथा—ग्रहण किये हैं अनेक निर्झरके शीतल [illegible] [illegible] जिसने, तथा [illegible] (मौलसिरी) आदि सुगंधित वृक्षोंके आमोदित परागके समूहसे भरा हुआ—फिर कैसा है पवन? कि—समस्त प्रकार लूट लिया है पाटलवृक्षोंका सौरभ [illegible] जिसने—तथा [illegible] [illegible]ताके मिला है मालतीका सुगंध जिसमें तथा मंद संचरण करनेका है स्वभाव [illegible] तथा विषयोंमें आकुलित किया है समस्त भुवनोंके जीवोंका मन जिसने, ऐसे [illegible] पवनसे वसंत ऋतुकी सुभगता प्रकट होती है। फिर कैसा है काम? — [illegible] किया जो उत्तम तप उसको तपनेसे खेद खिन्न हुए मुनिजनोंद्वारा वांछित जो [illegible] उत्सव उसके द्वारा स्वर्ग मोक्षके द्वारका जो उघटना (खुलना) उसमें वज्रमयी [illegible] समान है, अर्थात् मुनिजनोंके [illegible] करनेवाला है तथा— [illegible] जगतको जीतनेकी वैजयन्ती [illegible] [illegible] सौंदर्यरूपा विभ्रमको जिसने ऐसा। तथा—कोमल [illegible] (आकार [illegible] शेषमें) शाठी कहिये चतुर है, [illegible] करनेवाल [illegible] भावारोंको प्रगट करनेवाला है। [illegible] [illegible] का

नकी कल्पना करके अन्यमती जो ध्यान करते हैं, सो यह आत्मा ही कामकी उक्ति कहिये नाम वा संज्ञाको धारण करनेवाला है ॥ १६ ॥

अब उक्त प्रकारकी तीन तत्त्वरूपी समस्त चेष्टायें इस आत्माहीकी हैं ऐसा कहते हैं—

तदेव यदिह जगति शरीरविशेषसमवेत किमपि सामर्थ्यमुपलभामहे तत्सकलमात्मन एवेति विनिश्चयः । आत्मप्रवृत्तिपरपरोत्पादितत्वाद्विग्रहग्रहणस्येति ॥ १७ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि—इस कारणसे पूर्वोक्त प्रकार शिवतत्त्व-गरुडतत्त्व—कामतत्त्वमें इस जगतमें शरीरविशेषसे मिला हुआ जो कुछ सामर्थ्य हम देखते हैं सो सब आत्माहीकी है । यह हमको भले प्रकार निश्चय है । क्योंकि, शरीरके ग्रहण करनेमें आत्माकी प्रवृत्तिकी परपरा (परिपाटी) को उत्पत्तिहेतुता है । भावार्थ—यह आत्मा जैसी शुभ तथा अशुभ तथा अशुद्ध ध्यानादिरूप प्रवृत्ति करता है वैसेही निमित्तरूप शरीर धारण करता है । और वैसीही अपने सामर्थ्यरूप अनेक चेष्टाय करना उसका फल होता है ॥ १७ ॥

आगे आत्माका वर्णन पद्यसे करते हैं ।

मालिनी ।

यदिह जगति किञ्चिद्विस्मयोत्पत्तिबीजं
भुजगमनुजदेवेष्वस्ति सामर्थ्यमुच्चैः ।
तदखिलमपि मत्वा नूनमात्मैकनिष्ठं
भजत नियतचित्ताः शश्वदात्मानमेव ॥ १८ ॥

अर्थ—हे भव्य जीवो! इस जगतमें जो कुछ अधोलोकमें भवनवासी देवोंकी, मध्य लोकमें मनुष्योंकी और ऊर्ध्वलोकमें देवोंकी सामर्थ्य विस्मय उत्पन्न करनेका कारण है सो सबही सामर्थ्य निश्चय करके इस एक आत्माहीमें है । इस कारण हम उपदेश करते हैं कि निश्चलचित्त होकर, तुम एक आत्माहीको निरन्तर भजो । भावार्थ—आत्मा अनन्त शक्तिका धारक है, सो इसको जिस प्रकार वा जिस रीतिसे प्रगट किया जावे उसी प्रकारसे यह आत्मा व्यक्तरूप (प्रगट) होता है ॥ १८ ॥

अचिन्त्यमस्य सामर्थ्यं प्रवक्तुं कः प्रभुर्भवेत् ।
तच्च नानाविधध्यानपदवीमधितिष्ठति ॥ १९ ॥

अर्थ—इस आत्माकी शक्ति अचिन्त्य है । उसको प्रगट करनेको कोई समर्थ नहीं है । यह शक्ति (सामर्थ्य) नानाप्रकारके ध्यानकी पदवीके आश्रयसे होती है । अर्थात् नानाप्रकारके ध्यानसे ही आत्माकी अचिन्त्य शक्तियें प्रगट होती हैं ॥ १९ ॥

इन्द्रवज्रा ।

तदस्य कर्तुं जगदङ्हिलीन निरोहिताऽऽस्ते सहजैव शक्तिः ।
प्रबोधितस्ता समभिव्यनक्ति प्रसह्य विज्ञानमय प्रदीप' ॥ २० ॥

अर्थ—पूर्वोक्त आत्माकी सामर्थ्य इस जगतको अपने पदम (प्रभानम) लीन क नेको स्वभावस्वरूपही है, परन्तु वह कर्मोंसे आच्छादित है । विज्ञानरूप उत्कृष्ट दीपकके प्रज्वलित करनेसे वह उस शक्तिको प्रगट (स्वानुभवगोचररूप) करता है । **भावार्थ** आत्माकी शक्तिय सब स्वाभाविक हैं । सो अनादिकालसे कर्मोंके द्वारा ढकी हुई है । ध्यानादिक करनेसे प्रगट होती हैं । सब नई उत्पन्न हुई दीसती हैं । सो ज्ञान रूपी दीपकके प्रकाश होनेपर प्रगट होती हैं । परकी की हुइ वस्तुमे कोई भी शक्ति नहीं होती, अन्यनिमित्तसे उत्पन्न होनेपर जो अन्यसे हुइ मानते हैं सो भ्रम है । वे पर्याय बुद्धि है । जब वस्तुका स्वरूप द्रव्यपर्यायस्वरूप जानै तब भ्रम नहिं रहता ॥ २० ॥

अथवा अन्यपक्ष है कि—

अयं त्रिजगतीभर्त्ता विश्वज्ञोऽनन्तशक्तिमान् ।
नात्मानमपि जानाति स्वस्वरूपात्परिच्युत ॥ २१ ॥

अर्थ—यह आत्मा तीन जगतको भर्त्ता (स्वामी) है, समस्त पदार्थोंका ज्ञाता है अनन्तशक्तिवाला है, परन्तु अनादिकालसे अपने स्वरूपसे च्युत होकर अपनेको आपही नहीं जानता । **भावार्थ**—यह अपनीही भूल है । अर्थात् कर्मके वशसे यह दूसरा अज्ञान पक्ष बताया गया है ॥ २१ ॥

अनादिकालसम्भूतैः कलङ्कैः कश्मलीकृतः ।
स्वेच्छयार्थान्समादत्ते स्वतोऽत्यन्तविलक्षणान् ॥ २२ ॥

अर्थ—यह आत्मा अनादिसे उत्पन्न हुए कलङ्कोंसे मलिन किया हुआ अपने विलक्षण आपसे भिन्न पदार्थोंको स्वेच्छासे ग्रहण करता है । **भावार्थ**—पदार्थोंमें राग द्वेष मोहसे अहङ्कार ममकार इष्ट अनिष्ट आदि बुद्धि करता है ॥ २२ ॥

दृग्बोधनयनः सोऽयमज्ञानतिमिराहत ।
जानन्नपि न जानाति पश्यन्नपि न पश्यति ॥ २३ ॥

अर्थ—यह आत्मा दर्शन ज्ञान नेत्रवाला है, परन्तु अज्ञानरूपी अंधकारसे आच्छादित हो रहा है इस कारण जानता हुआ भी नहिं जानता और देखता हुआ भी कुछ नहिं देखता ॥ २३ ॥

अविद्योद्भवरागादिगरव्यग्रीकृतात्मनः ।
पश्यन्नन्दुः शाम्यति नामदुर्गमं ॥ २४ ॥

अर्थ—अविद्यासे (मोहसे) उत्पन्न रागादिकरूपी विषके विकारसे भ्रम चित्त होनेसे यह आत्मा दुःखरूपी अग्निसे जलते हुए दुर्गम संसारमें पड़ता है ॥ २४ ॥

लोष्टेष्वपि यथोन्मत्तः स्वर्णबुद्ध्या प्रवर्त्तते ।
अर्थेष्वनात्मभूतेषु स्वेच्छयाऽपि तथा भ्रमात् ॥ २५ ॥

अर्थ—जैसे धतूरा खाया उन्मत्त पुरुष पत्थरादिकमें सुवर्णबुद्धिसे प्रवृत्ति करता है उसी प्रकार यह आत्मा अज्ञानसे अपने स्वरूपसे भिन्न अन्य पदार्थोंमें स्वेच्छाचाररूप प्रवृत्ति करता है । भावार्थ—उनमें राग द्वेष मोह करता है ॥ २५ ॥

वासनाजनितान्येव सुखदुःखानि देहिनाम् ।
अनिष्टमपि येनायमिष्टमित्यभिमन्यते ॥ २६ ॥

अर्थ—जीवोंके जो सुखदुःख हैं वे अनादि अविद्याकी वासनासे उत्पन्न हुए हैं इसी कारणसे यह आत्मा अनिष्टको भी इष्ट मानता है । भावार्थ—संसारसम्बन्धी सुख दुःख हैं वे कर्मजनित होनेके कारण अनिष्टही हैं तथापि यह आत्मा उनको इष्ट मानता है ॥ २६ ॥

अविश्रान्तमसौ जीवो यथा कामार्थलालसः ।
विचेष्टेऽत्र यदि स्वार्थे तथा किं न विमुच्यते ॥ २७ ॥

अर्थ—यह आत्मा जिस प्रकार काम और अर्थके लिये अविश्रान्त परिश्रम करता है उस प्रकार यदि अपने स्वार्थ अर्थात् मोक्ष वा मोक्षमार्गमें लालसासहित प्रवृत्ति करै तो क्या यह कर्मोंसे मुक्त न हो ? अवश्यही हो ॥ २७ ॥

इसप्रकार इस त्रितत्त्वके प्रकरणमें तात्पर्य यह है कि—इन तीन तत्त्वोंकी जो चेष्टा कही गई सो सब इस आत्माहीकी चेष्टा है। और वे सब ध्यान करनेसे प्रगट होती हैं इस कारण आत्माके ध्यान करनेका विधान है । सो ऐसाही करना चाहिये । मिथ्याकल्पना किस लिये करनी ? । मिथ्याकल्पनाओंसे कुछ लौकिक चमत्कार हो तो हो सक्ता है परन्तु उससे मोक्षका साधन नहिं होता । इस कारण ऐसा ध्यानही करना उत्तम है जिससे मोक्ष और सांसारिक अभ्युदय प्रगटै, इस प्रकार उपदेश है ।

कवित्त-मनाक्षरी ।

शिव काम विष तत्त्व ध्यान थापि अन्यमती, मानैं हम स्वर्ग मोक्ष साधे हैं विधानतैं ।
शिव कौन काम कौन विष कौन यह मम, जानै नाहि याथातथ्य भर्म ते अज्ञानतैं ॥
जैनवानी स्याद्वाद वस्तुरूप सत्य कहै, सब रूप आत्माके शक्तिव्यक्तिमानतैं ।
पुद्गलसयोगतैं अनादि भूलि कर्मवरि, दवी शक्ति ध्यान खोलै आपापर जानतैं ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे
त्रितत्त्ववर्णना नाम एकविंशं प्रकरणम् ॥ २१ ॥

अथ द्वात्रिंश प्रकरणम् ।

आगे अन्यमती ध्यानकी सिद्धि यमनियमादिक योगसाधनसे कहते हैं और आच
महाराज कहते हैं कि यमनियमादिक तो पूर्वाचार्योंने अन्य वस्तुसे व्यापार छ
स्वरूपमें लीन करनेके लिये कहे हैं । अन्यमती जिस प्रकार कहते हैं वैसे ध्यानकि
नहि होती ऐसा वर्णन करते हैं । सो अन्यमतियोंका संस्कृतसूत्र जिसप्रकार है वह आच
महाराज कहते हैं ।

**अथ कैश्चिद्यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधय इ
त्यष्टावङ्गानि योगस्य स्थानानि ॥ १ ॥**

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि कई अन्यमती "यम १, नियम २, आस
३, प्राणायाम ४, प्रत्याहार ५, धारणा ६, ध्यान ७, और समाधि ८, इस प्रकार अ
अंग योगके स्थान हैं" ऐसा कहते हैं ॥ १ ॥

इसी प्रकार अन्यने भी कहा है, जैसे —

**तथान्यैर्यमनियमावपास्यासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमा
धय इति षट् ॥ २ ॥**

अर्थ—वैसे ही अन्य कई अन्यमतियोंने यम नियमको छोडकर आसन १, प्राणाया
२, प्रत्याहार ३, धारणा ४, ध्यान ५ और समाधि ६ ये छह ही कहे हैं ॥ २ ॥

तथान्यै.,—

इसी प्रकार फिर अन्यने अन्य प्रकार कहा है । उसका पाठ —

उत्साहान्निश्चयाद्धैर्यात्सन्तोषात्तत्त्वदर्शनात् ।
मुनेर्जनपदत्यागात् षड्भिर्योग. प्रसिद्ध्यति ॥ १ ॥

अर्थ—उत्साहसे, निश्चयसे, धैर्यसे, सन्तोषसे, तत्त्वदर्शनसे, देशके त्यागसे योगकी
सिद्धि होती है ॥ १ ॥

फिर कोई एक इस प्रकार कहता है—

एतान्येवाहुः केचिच्च मनःस्थैर्याय शुद्धये ।
तस्मिन्स्थिरीकृते साक्षात्स्वार्थसिद्धिर्ध्रुवं भवेत् ॥ २ ॥

अर्थ—कोइ ऐसे कहते हैं कि-ये यमादिक कहे हैं सो मनको स्थिर करनेके लि
तथा मनकी शुद्धताके लिये कहे हैं क्योंकि, मनके स्थिर होनेसे साक्षात्स्वार्थसि
होती है ॥ २ ॥

तथा फिर भी कहते है—

यमादिषु कृताभ्यासो निःसङ्गो निर्ममो मुनिः ।
रागादिक्लेशनिर्मुक्तं करोति स्ववशं मनः ॥ ३ ॥

अर्थ—जिसने यमादिकमें अभ्यास किया है, परिग्रह और ममतासे रहित है ऐसा मुनिही अपने मनको रागादिकसे निर्मुक्त तथा अपने वशमें करता है ॥ ३ ॥

अब पूर्वाचार्योंकी उक्ति कहते है कि—

अष्टावङ्गानि योगस्य यान्युक्तान्यार्यसूरिभिः ।
चित्तप्रसत्तिमार्गेण बीजं स्युस्तानि मुक्तये ॥ ४ ॥

अर्थ—योगके जो आठ अंग पूर्वाचार्योंने कहे हैं वे चित्तकी प्रसन्नताके मार्गसे मुक्तिके लिये बीजभूत (कारण) होते हैं, अन्यप्रकारसे नहि होते इस प्रकार पूर्वाचार्योंने कहा है ॥ ४ ॥

अङ्गान्यष्टावपि प्रायः प्रयोजनवशात्क्वचित् ।
उक्तान्यत्रैव तान्युच्चैर्विदाङ्कुर्वन्तु योगिनः ॥ ५ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि ये आठों अंग भी प्रयोजनानुसार प्रायः इसी ग्रन्थमें कहे गये हैं, उन्हें भलेप्रकार सबको जानना चाहिये ॥ ५ ॥

अब मनोरोधका वर्णन करते है—

मनोरोधे भवेद्रुद्धं विश्वमेव शरीरिभिः ।
प्रायोऽसंवृतचित्तानां शेषरोधोऽप्यपार्थकः ॥ ६ ॥

अर्थ—जिसने मनका रोध किया उसने सबही रोका, अर्थात् जिसने अपने मनको वश किया उसने सबको वश किया और जिसने अपने मनको वशीभूत नहिं किया उसका अन्य इन्द्रियादिकका रोकना व्यर्थ ही है ॥ ६ ॥

अब मनके व्यापारका वर्णन करते है—

कलङ्कविलयः साक्षान्मनःशुद्ध्यैव देहिनाम् ।
तस्मिन्नपि समीभूते स्वार्थसिद्धिरुदाहृता ॥ ७ ॥

अर्थ—मनकी शुद्धतासे ही साक्षात् कलङ्कका विलय होता है और जीवोंके उसका समभावस्वरूप होनेपर स्वार्थकी सिद्धि कही है । क्योंकि जब मन रागद्वेषरूप नहिं वर्तता तब ही अपने स्वरूपमें लीन होता है, यही स्वार्थकी सिद्धि है ॥ ७ ॥

चित्तप्रपञ्चजानेकविकारप्रतिबन्धकाः ।
प्राप्नुवन्ति नरा नूनं मुक्तिकान्ताकरग्रहम् ॥ ८ ॥

अर्थ—जो पुरुष चित्तके प्रपञ्चसे उत्पन्न हुए अनेक प्रकारके विकारोंको रोकनेवाले

हैं वे ही निश्चय मुक्तिरूपी स्त्रीके कटाक्षोंको प्राप्त होते हैं । भावार्थ—मन ग्र
ही मुक्तिरूपी स्त्री तिरस्कृत होती है ॥ ८ ॥

अतस्तदेव संरुध्य कुरु स्वाधीनमञ्जसा ।
यदि छेत्तुं समुद्युक्तस्त्वं कर्मनिगडं दृढम् ॥ ९ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि आत्मन् हे महात्मन्! यदि तू कर्मरूपी दृढ बेडियोंको काटनेके लिये उद्यमी हुआ है तो उस मनको ही समस्त विकल्पोंसे रहित करके शीघ्र ही अपने वशमें कर ॥ ९ ॥

सम्यगस्मिन्मनो नीते दोषा जन्मभ्रमोद्भवाः ।
जन्मिनां खलु शीर्यन्ते ज्ञानश्रीप्रतिबन्धकाः ॥ १० ॥

अर्थ—इस मनको भलेप्रकार समभावरूप प्राप्त करनेसे जीवोंके ज्ञानरूपी लक्ष्मीके प्रतिबन्धक, संसारके भ्रमणसे उत्पन्न हुए दोष निश्चय करके नष्ट हो जाते हैं ॥ १० ॥

एक एव मनोदैत्यजयः सर्वार्थसिद्धिदः ।
अन्यत्र विफलः क्लेशो यमिनां तज्जयं विना ॥ ११ ॥

अर्थ—संयमी मुनियोंको एक मात्र मनरूपी दैत्यका जीतना ही समस्त अर्थोंकी सिद्धिका देनेवाला है, क्योंकि इस मनको जीते बिना अन्य व्रत नियम तप व शास्त्रादिकमें क्लेश करना व्यर्थ ही है ॥ ११ ॥

एक एव मनोरोधः सर्वाभ्युदयसाधकः ।
यमेवालम्ब्य संप्राप्ता योगिनस्तत्त्वनिश्चयम् ॥ १२ ॥

अर्थ—एक मनका रोकना ही समस्त अभ्युदयोंका साधनेवाला है क्योंकि मनोरोधका आलंबन करके ही योगीश्वर तत्त्वनिश्चयताको प्राप्त हुए हैं ॥ १२ ॥

पृथक्करोति यो धीरः स्वपरावेकतां गतौ ।
स चापलं निगृह्णाति पूर्वमेवान्तरात्मनः ॥ १३ ॥

अर्थ—जो धीरवीर पुरुष एकताको प्राप्त हुए आत्मा और शरीरादि परवस्तुको पृथक् २ करके अनुभव करते हैं वे सबसे पहिले अन्तरात्माकी अर्थात् मनकी चंचलताको रोक लेते हैं ॥ १३ ॥

मनःशुद्ध्यैव शुद्धिः स्याद्देहिनां नात्र संशयः ।
वृथा तद्व्यतिरेकेण कायस्यैव कदर्थनम् ॥ १४ ॥

अर्थ—निःसंदेह मनकी शुद्धिसे ही जीवोंके शुद्धता होती है, मनकी शुद्धिके विना केवल कायको क्षीण करना वृथा है ॥ १४ ॥

ध्यानशुद्धिं मनःशुद्धिः करोत्येव न केवलम् ।
विच्छिनत्त्यपि निःशङ्कं कर्मजालानि देहिनाम् ॥ १५ ॥

अर्थ—मनकी शुद्धता केवल ध्यानकी शुद्धताको ही नहिं करती है किन्तु जीवोंके कर्मजालको (कर्मोंके समूहको) भी निःसंदेह काटती है । भावार्थ—मनकी शुद्धतासे ध्यानकी निर्मलता भी होती है और कर्मोंकी निर्जरा भी होती है ॥ १५ ॥

पादपङ्कजसंलीनं तस्यैतद्भुवनत्रयम् ।
यस्य चित्तं स्थिरीभूय स्वस्वरूपे लयं गतम् ॥ १६ ॥

अर्थ—जिस मुनिका मन स्थिर होकर आत्मस्वरूपमें लीन हो गया उसके चरणकमलोंमें यह तीनों जगत् भले प्रकार लीन हुए समझने चाहिये ॥ १६ ॥

मनः कृत्वाशु निःसङ्गं निःशेषविषयच्युतम् ।
मुनिभिर्भृङ्गैः समालीढं मुक्तेर्वदनपङ्कजम् ॥ १७ ॥

अर्थ—जिन मुनिरूपी भ्रमरोंने अपने मनको निःसंगतासे शीघ्र ही समस्तविषयोंसे छुडाया उन्होंने ही मुक्तिरूपी स्त्रीके मुखरूपी कमलको आलिंगन किया ॥ १७ ॥

यथा यथा मनःशुद्धिर्मुनेः साक्षात्प्रजायते ।
तथा तथा विवेकश्रीर्हृदि धत्ते स्थिरं पदम् ॥ १८ ॥

अर्थ—मुनिके जैसे २ मनकी शुद्धता साक्षात् होती जाय तैसे २ विवेक अर्थात् भेदज्ञानरूप लक्ष्मी अपने हृदयमें स्थिरपदको धारण करती है । भावार्थ–मनकी शुद्धतासे उत्तरोत्तर विवेक बढता है ॥ १८ ॥

चित्तशुद्धिमनासाद्य मोक्तुं यः सम्यगिच्छति ।
मृगतृष्णातरङ्गिण्यां स पिबत्यम्बु केवलम् ॥ १९ ॥

अर्थ—जो पुरुष चित्तकी शुद्धताको न पाकर भले प्रकार मुक्त होना चाहता है वह केवल मृगतृष्णाकी नदीमें जल पीता है । भावार्थ–मृगतृष्णामें जल कहांसे आया? उसी प्रकार चित्तकी शुद्धताके विना मुक्ति कहांसे हो? ॥ १९ ॥

तद्ध्यानं तद्धि विज्ञानं तद्ध्येयं तत्त्वमेव वा ।
येनाविद्यामतिक्रम्य मनस्तत्त्वे स्थिरी भवेत् ॥ २० ॥

अर्थ—वही तो ध्यान है, वही विज्ञान है और वही ध्येय तत्त्व है कि–जिसके प्रभावसे अविद्याको उल्लंघकर मन निजस्वरूपमें स्थिर हो जाय ॥ २० ॥

विषयग्रासलुब्धेन चित्तदैत्येन सर्वथा ।
विक्रम्य स्वेच्छयाजस्रं जीवलोकः कदर्थितः ॥ २१ ॥

अर्थ—विषय ग्रहण करनेमें लुब्ध ऐसे इस चित्तरूपी दैत्यने (राक्षसने) सब प्रकार विक्रिया करके विकाररूप हो अपनी इच्छानुसार इस जगतको पीडित किया है ॥ २१ ॥

अचार्यविभ्रमः सोऽयं चित्तदन्ती निवार्यताम् ।
न यावद्धंसपत्येव सत्संयमनिकेतनम् ॥ २२ ॥

अर्थ—हे मुने! यह चित्तरूपी हस्ती ऐसा प्रबल है कि इसका पराक्रम अनिवार्य है। सो जबतक यह समीचीनसंयमरूपी घरको नष्ट करता, उससे पहिले २ तू इसका निवारण कर। यह चित्त निर्गल (स्वच्छन्द) रहैगा तो संयमको बिगाडैगा ॥ २२ ॥

विभ्रमक्षिप्तयारण्ये चलचेतोवलीमुखः।
येन रुद्धो ध्रुवं सिद्धं फलं तस्यैव वाञ्छितम् ॥ २३ ॥

अर्थ—यह चंचलचित्तरूपी बंदर विषयरूपी बनमें भ्रमता रहता है सो जिस पु पने इसको रोका, वश किया, उसीके वाञ्छित फलकी सिद्धि है ॥ २३ ॥

चित्तमेकं न शक्नोति जेतुं स्वातन्त्र्यवर्त्ति यः।
ध्यानवार्त्तां ब्रुवन्मूढः स किं लोके न लज्जते ॥ २४ ॥

अर्थ—जो पुरुष स्वतन्त्रतासे वर्त्तनेवाले एक मात्र चित्तको जीतनेमें समर्थ नहीं वह मूर्ख ध्यानकी चर्चा करता हुआ लोकमें लज्जित नहिं होता? । **भावार्थ**—चित्त तो जीत नहीं सक्ता और लोकमें ध्यानकी चर्चावार्ता करे कि मैं ध्यानी हूं, ध्यान करता रहता हूं सो वह बडा निर्लज्ज है ॥ २४ ॥

यदसाध्यं तपोनिष्ठैर्मुनिभिर्वीतमत्सरैः।
तत्पदं प्राप्यते धीरैश्चित्तप्रसरयन्त्रकैः ॥ २५ ॥

अर्थ—जो पद निमत्सर तपोनिष्ठ मुनियोंके द्वारा भी असाध्य है वह पद चित्तके प्रसरको रोकनेवाले धीर पुरुषोंके द्वारा ही प्राप्त किया जाता है। **भावार्थ**—केवल बाह्यतपसे उत्तम पद पाना असंभव है ॥ २५ ॥

अनन्तजन्मजानेककर्मबन्धस्थितिर्दृढा।
भावशुद्धिं प्रपन्नस्य मुनेः प्रक्षीयते क्षणात् ॥ २६ ॥

अर्थ—जो अनन्त जन्मसे उत्पन्न हुई दृढ कर्मबंधकी स्थिति है सो भावशुद्धिको प्राप्त होनेवाले मुनिके क्षणमात्रमें नष्ट हो जाती है क्योंकि कर्मक्षय करनेमें भावोंकी शुद्धता ही प्रधान कारण है ॥ २६ ॥

यस्य चित्तं स्थिरीभूतं प्रसन्नं ज्ञानवासितम्।
सिद्धमेव मुनेस्तस्य साध्यं किं कायदण्डनैः ॥ २७ ॥

अर्थ—जिस मुनिका चित्त स्थिरीभूत है, प्रसन्न है, रागादिककी कलुषता जिसमें नहीं है और ज्ञानकी वासनासहित है उस मुनिके साध्य अर्थात् अपने स्वरूपादिकी प्राप्ति में सब कार्य सिद्ध ही हैं। अतएव उस मुनिको बाह्यतपादिकसे कायको दंड देनेसे कुछ साध्य नहीं है ॥ २७ ॥

तपःश्रुतयमज्ञान-तनुक्लेशादिसंश्रयम्।
अनियन्त्रितचित्तस्य स्यान्मुनेस्तुषखण्डनम् ॥ २८ ॥

अर्थ—जिस मुनिने अपने चित्तको वश नहिं किया उसका तप, शास्त्राध्ययन, व्रत धारण, ज्ञान, कायक्लेश इत्यादि सब तुषखंडनवत् समान निःसार (व्यर्थ) हैं। क्योंकि मनके वशीभूत हुए विना ध्यानकी सिद्धि नहिं होती ॥ २८ ॥

एकैव हि मनःशुद्धिर्लोकाग्रपथदीपिका ।
स्खलितं बहुभिस्तत्र तामनासाद्य निर्मलाम् ॥ २९ ॥

अर्थ—मनकी शुद्धता ही एक मोक्षमार्गमें प्रकाश करनेवाली दीपिका (चिराग) है सो उसको निर्मल न पानेसे अनेक मोक्षमार्गी च्युत हो गये ॥ २९ ॥

असन्तोऽपि गुणाः सन्ति यस्यां सत्यां शरीरिणाम् ।
सन्तोऽपि यां विना यान्ति सा मनःशुद्धिः शस्यते ॥ ३० ॥

अर्थ—जिस मनकी शुद्धताके होते हुए अविद्यमान गुण भी विद्यमान हो जाते हैं और जिसके न होते विद्यमान गुण भी जाते रहैं वही मनकी शुद्धि प्रशंसा करने योग्य है ॥ ३० ॥

अपि लोकत्रयैश्वर्यं सर्वाक्षप्रीणनक्षमम् ।
भजत्यचिन्त्यवीर्योऽयं चित्तदैत्यो निरङ्कुशः ॥ ३१ ॥

अर्थ—यह चित्तरूपी दैत्य अचिन्त्यपराक्रमी है सो निरंकुश हो कर समस्त इन्द्रियोंको तृप्त करनेमें समर्थ ऐसे तीन लोकके ऐश्वर्यको भोगता है। भावार्थ—जबतक यह मन रुकता नहीं तबतक अपने सङ्कल्पोंमें यह इन्द्रकेसे सुख भोगता है जिससे कि अनेक कर्म बँधते हैं ॥ ३१ ॥

शमश्रुतयमोपेता जिताक्षाः शंसितव्रताः ।
विदन्त्यनिर्जितस्वान्ताः स्वस्वरूपं न योगिनः ॥ ३२ ॥

अर्थ—जो योगी शमभाव, शास्त्राध्ययन और यम नियमादिसे युक्त हैं और जितेन्द्रिय हैं, तथा जिनके व्रत प्रशंसा करने योग्य हैं वे भी यदि मनको नहिं जीते हुए हों तो अपने स्वरूपको नहिं जान सकते। भावार्थ—मनके जीते विना आत्माका अनुभव नहिं होता ॥ ३२ ॥

विलीनविषयं शान्तं निःसङ्गं त्यक्तविक्रियम् ।
स्वस्थं कृत्वा मनः प्राप्तं मुनिभिः पदमव्ययम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—मुनिगणोंने अपने मनको विलीनविषय, शांत, निःसंग (परिग्रहके ममत्व रहित), विकाररहित स्वस्थ करके ही अव्ययपदको (मोक्षपदको) पाया है। भावार्थ—जब मनको अन्य विकल्प व विकारोंसे रहित करके आत्मस्वरूपमें स्थिर करै तब ही मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ ३३ ॥

स्रग्धरा।

दिक्चक्रं दैत्यधिष्ण्यं त्रिदशपतिपुराण्यम्बुवाहान्तरालं
द्वीपाम्भोधिप्रकाण्डं नगनरनरसुरागेन्द्रवास समग्रम्।
एतत्त्रैलोक्यनीडं पवनचयचितं चापलेन क्षणार्द्धं
नाश्रान्तं चित्तदैत्यो भ्रमति तनुमतां दुर्विचिन्त्यप्रभावः॥३४॥

अर्थ—जीवोंके मनरूपी दैत्यका प्रभाव दुर्विचिन्त्य है। किसीके चिन्तवनमें नहीं आ सकता। क्योंकि यह अपनी चचलताके प्रभावसे दशों दिशाओंमें दैत्योंके स्थानमें, इन्द्रके पुरोंमें, आकाशमें तथा द्वीपसमुद्रोंमें विद्याधर मनुष्य देव धरणी इन्द्रादिके निवासस्थानोंमें तथा वातवलयोंसहित तीन लोकरूपी घरमें सर्वत्र आधे क्षणमें ही भ्रमण कर आता है। इसका रोकना अतिशय कठिन है। जो योगीश्वर इसे रोकते हैं वे धन्य हैं॥३४॥

मालिनी।

प्रशमयमसमाधिध्यानविज्ञानहेतो-
र्विनयनयविवेकोदारचारित्रशुद्ध्यै।
य इह जयति चेतःपन्नगं दुर्निवारं
स खलु जगति योगिव्रातवन्द्यो मुनीन्द्रः॥ ३५॥

अर्थ—इस जगतमें जो मुनि प्रशम (कषायोंका अभाव), यम (त्याग), समाधि (स्वरूपमें लय), ध्यान (एकाग्रचित्त), विज्ञानके (विशिष्टज्ञानके) अर्थात् भेदज्ञानके लिये तथा विनय नयके (स्वरूपकी प्राप्तिके), विवेकके और उदारचारित्रकी शुद्धिके लिये चित्तरूपी दुर्निवार सर्पको जीतते हैं वे योगियोंके समूहकरके वन्दनीय हैं और मुनियोंमें इन्द्र हैं॥ ३५॥

इस प्रकार मनके व्यापारका वर्णन किया। यहा अभिप्राय ऐसा है कि—मनको वश किये विना ध्यानकी सिद्धि नहिं होती और इसके वश करनेसे सर्व सिद्धि होती है।

दोहा।

पवनवेगतैं प्रबल, मन भरमै सब ठौर।
याको वश करि निज रमैं, ते मुनि सब शिरमौर॥ २२॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे मनोव्यापार
प्रतिपादनस्वरूपं द्वाविंशं प्रकरणं समाप्तम्॥ २२॥

अथ त्रयोविंशं प्रकरणम्।

आगे ऐसा कहते हैं कि—यदि मनके व्यापारको सकोचकर एकाग्र भी करै तो राग

दिक ऐसे प्रबल हैं कि ये मनमें विकार उत्पन्न करके बिगाड देते हैं, इस कारण इस
मही रागादिकके दूर करनेका यत्न करना चाहिये,—

निःशेषविषयोत्तीर्ण विकल्पव्रजवर्जितम्।
स्वतत्त्वैकपरं धत्ते मनीषी नियमं मनः॥ १॥
क्रियमाणमपि स्वस्थं मनः सद्योऽभिभूयते।
अनादिसमुत्पन्नसंबद्धैः रागादिरिपुभिर्यतः॥ २॥

अर्थ—मनीषी (बुद्धिमान्) मुनि यदि अपने मनको समस्त विषयोंसे रहित और
ज्ञेयोंमें भ्रम या संशयरूप विकल्पोंसे वर्जित, अपने स्वरूपमें ही एकाग्र तत्पर करें, तथापि
आत्मस्वरूपके सन्मुख स्वस्थ किया हुआ मन भी अनादिकालसे उत्पन्न हुए या बँधे हुए
रागादि शत्रुओंसे जबरदस्ती पीडित किया जाता है। भावार्थ—मनको रागादि शत्रु
च्युतकरके विकाररूप कर देते हैं॥ १॥ २॥

स्वतत्त्वानुगतं चेतः करोति यदि संयमी।
रागादयस्तथाप्येते क्षिपन्ति भ्रमसागरे॥ ३॥

अर्थ—यद्यपि संयमी मुनि निजस्वरूपके अनुगत मनको जब करता है तथापि
रागादिक भाव उसको फिर भी भ्रमरूपी समुद्रमें डाल देते हैं॥ ३॥

आत्माधीनमपि स्वान्तं सद्यो रागैः कलङ्क्यते।
अस्ततन्द्रैरतः पूर्वमत्र यत्नो विधीयताम्॥ ४॥

अर्थ—आचार्यमहाराज उपदेश करते हैं कि—अपने आधीन (वश) किया हुआ
मन भी रागादिक भावोंसे तत्काल कलंकित (मलिन) किया जाता है इस कारण
मुनिगणोंका यह कर्तव्य है कि इस विषयमें प्रमादरहित हो सबसे पहिले इन रागादिक
दूर करनेमें यत्न करें॥ ४॥

अयत्नेनापि जायन्ते चित्तभूमौ शरीरिणाम्।
रागादयः स्वभावोत्थज्ञानराज्याङ्गघातकाः॥ ५॥

अर्थ—जीवोंके स्वभावज ज्ञानरूपी राज्यके अंगके घात करनेवाले रागादिक और
चित्तरूपी पृथिवीमेंसे बिना यत्नके ही स्वयमेव उत्पन्न होते हैं॥ ५॥

इन्द्रियार्थानपाकृत्य स्वतत्त्वमवलम्बते।
यदि योगी तथाप्येते छलयन्ति मुहुर्मनः॥ ६॥

अर्थ—जो योगी मुनि इन्द्रियोंके विषयोंको दूर कर निजस्वरूपका अवलम्बन करे तो
भी रागादिक भाव मनको बारबार छलते हैं अर्थात् विकार उत्पन्न करते हैं॥ ६॥

क्वचिन्मूढं क्वचिद्भ्रान्तं क्वचिद्भीतं क्वचिद्रुतम्।
शङ्कितं च क्वचित्क्लिष्टं रागाद्यैः क्रियते मनः॥ ७॥

अर्थ—ये रागादिक भाव मनको कभी तो मूढ करते हैं, कभी भ्रमरूप करते हैं, कभी भयभीत करते हैं, कभी रोगोंमें चलायमान करते हैं, कभी शंकित करते हैं, कभी क्लेशरूप करते है। इत्यादि प्रकारसे स्थिरतासे डिगा देते हैं ॥ ७ ॥

अजस्रं रुध्यमानेऽपि चिराभ्यासाद्दृढीकृताः।
चरन्ति हृदि निःशङ्का नृणां रागादिराक्षसाः॥ ८॥

अर्थ—मनुष्योंके निरन्तर वश किये हुए मनमें भी चिरकालसे अभ्यास किये रागादिक राक्षस निःशंक हो प्रवर्तते हैं। **भावार्थ**—रागादिकका संस्कार ऐसा प्रबल है कि एकाग्र मन करे तौ भी चलायमान कर देते हैं ॥ ८ ॥

प्रयासैः फल्गुभिर्मूढ किमात्मा दण्ड्यतेऽधिकम्।
शक्यते न हि चेच्चेतः कर्तुं रागादिवर्जितम्॥ ९॥

अर्थ—हे मूढ प्राणी! जो अपने चित्तको रागादिकसे रहित करनेको समर्थ नहीं है तो व्यर्थ ही अन्य क्लेशोंसे आत्माको दंड क्यों देता है? क्योंकि रागादिकके मिटे विना अन्य खेद करना निष्फल है ॥ ९ ॥

क्षीणरागं च्युतद्वेषं ध्वस्तमोहं सुसंवृतम्।
यदि चेतः समापन्नं तदा सिद्धं समीहितम्॥ १०॥

अर्थ—क्षीण हुआ है राग जिसमें और च्युत हुआ है द्वेष जिसमें तथा नष्ट हुआ है मोह जिसमें ऐसा जो मन संवरताको प्राप्त है तो वाछित सिद्धि है। **भावार्थ**—चित्तमेंसे द्वेष और मोह तो नष्ट हों और रागादिक क्षीण हों तथा अपना स्वरूप साधनेमें लग रहे तो सर्व प्रकारसे मनोवाछित सिद्ध होते हैं ॥ १० ॥

मोहपङ्के परिक्षीणे प्रशान्ते रागविभ्रमे।
पश्यन्ति यमिनः स्वस्मिन्स्वरूपं परमात्मनः॥ ११॥

अर्थ—मोहरूपी कर्दमके क्षीण होनेपर तथा रागादिक परिणामोंके प्रशान्त होनेपर योगीगण अपनेमें ही परमात्माके स्वरूपको अवलोकन करते हैं या अनुभव करते हैं॥११॥

महाप्रशमसंग्रामे शिवश्रीसंगमोत्सुकैः।
योगिभिर्ज्ञानशस्त्रेण रागमल्लो निपातितः॥ १२॥

अर्थ—मुक्तिरूपी लक्ष्मीके संगकी वाछा करनेवाले योगीश्वरोंने महाप्रशमरूपी संग्राममें ज्ञानरूपी शस्त्रसे रागरूपी मल्लको निपातन किया। क्योंकि इसके हने विना मोक्षरूपकी प्राप्ति नहीं है ॥ १२ ॥

असंक्लिष्टमविभ्रान्तमविकल्पमनाकुलम्।
स्वस्थं च मनः कृत्वा वस्तुतत्त्वं निरूपय॥ १३॥

अर्थ—हे आत्मन्! अपने भावो संवेग, भ्रान्ति और रागादिक विकारोंसे रहित करके अपने मनको वशीभूत कर तथा वस्तुके यथार्थ स्वरूपको अवलोकन कर ॥ १३॥

रागाद्यभिहतं चेतः स्वतत्त्वविमुखं भवेत् ।
ततः प्रच्यवते क्षिप्रं ज्ञानरत्नाद्रिमस्तकात् ॥ १४ ॥

अर्थ—जो चित्त रागादिकसे पीडित होता है वह स्वतत्त्वसे विमुख हो जाता है इसी कारण ही मनुष्य ज्ञानरूपी रत्नमय पर्वतसे च्युत हो जाता है ॥ १४ ॥

रागद्वेषभ्रमाभावे मुक्तिमार्गे स्थिरीभवेत् ।
संयमी जन्मकान्तारसंक्रमक्लेशशङ्कितः ॥ १५ ॥

अर्थ—संसाररूपी भ्रमणके क्लेशोंसे भयभीत संयमी मुनि रागद्वेष मोहके अभाव होनेसे ही मोक्षमार्गमें स्थिर होता है। भावार्थ—रागद्वेषमोहके विद्यमान रहते [illegible] स्थिरता नहिं होती ॥ १५ ॥

रागादिभिरविश्रान्तं वञ्च्यमानं मुहुर्मनः ।
न पश्यति परं ज्योतिः पुण्यपापेन्धनानलम् ॥ १६ ॥

अर्थ—यह मन है सो रागादिकसे निरंतर वारंवार वंचित हुआ [illegible] नको अग्निके समान ऐसी परमज्योतिको अवलोकन नहिं कर सकता। [illegible] मनमें रागद्वेष रहता है तबतक परमात्माका स्वरूप नहीं [illegible] ही शुभाशुभकर्मोंको नष्ट करनेवाले परमात्माके स्वरूपको [illegible] ॥ १६ ॥

रागादिपङ्कविश्लेषात्प्रसन्ने चित्तवारिणि ।
परिस्फुरति निःशेषं मुनेर्वस्तुकदम्बकम् ॥ १७ ॥

अर्थ—रागद्वेषमोहरूपी कर्दमके अभावसे [illegible] वस्तुओंका समूह स्पष्ट स्फुरायमान होने हैं अर्थात् [illegible] ॥ १७ ॥

स कोऽपि परमानन्दो वीतराग[illegible]
येन लोकत्रयैश्वर्यमप्यचिन्त्यं [illegible] ॥ १८ ॥

अर्थ—तथा जो कोई एक परमानन्द [illegible] तीन लोकका अचिन्त्य ऐश्वर्य भी तृणवत् [illegible] तीन लोकका ऐश्वर्य भी कुछ नहीं है ॥ १८ ॥

प्रशाम्यति विरागस्य [illegible]
एव यदर्नेऽनन्[illegible]

अर्थ—इस संसारमें रागरहित जीवके अनानन्द निरम आसर शात हो बढ़ता और रागसे पीड़ितके वही अपार बढ़ता है घटता नहीं है ॥ १९ ॥

स्वभावजमनातङ्कं वीतरागस्य यत्सुखम्।
न तस्यानन्तभागोऽपि प्राप्यते त्रिदशेश्वरैः ॥ २० ॥

अर्थ—स्वभावसे उत्पन्न हुआ आतंक रहित जो सुख वीतरागके होता उससे अनन्तवें भाग भी इन्द्रोंके नहिं होता। भावार्थ—निर्मलध्यान और स्वाभाविक सु ये दोनों वीतरागके ही होते हैं ॥ २० ॥

एतावनादि संभूतौ रागद्वेषौ महाग्रहौ।
अनन्तदुःखसन्तानप्रसूते प्रथमाङ्कुरौ ॥ २१ ॥

अर्थ—ये अनादिसे उत्पन्न रागद्वेषरूपी महा पिशाच वा ग्रह हैं सो अनन्तदुःखों सन्तानकी प्रसूतिके प्रथम अंकुर ही हैं। भावार्थ—दुःखकी परिपाटी इनसे ही चल है ॥ २१ ॥

उक्तं च ग्रन्थान्तरे।

रागी बध्नाति कर्माणि वीतरागो विमुच्यते।
जीवो जिनोपदेशोऽयं समासाद्बन्धमोक्षयोः ॥ १ ॥

अर्थ—रागी जीव तो कर्मोंको बांधता है और वीतरागी कर्मोंसे छूटता है यह बंध और मोक्ष इन दोनोंका संक्षेप उपदेश जिनेन्द्र सर्वज्ञ भगवान् का है ॥ १ ॥

इस कारण आचार्य महाराज कहते हैं कि—

तद्विवेच्य ध्रुवं धीर ज्ञानार्कालोकमाश्रय।
विशुष्यति च यं प्राप्य रागकल्लोलमालिनी ॥ २२ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त अर्थका विचार करके हे धीरवीर[1] निश्चयसे ज्ञानरूपी सूर्यके प्रकाशका आश्रय कर, क्योंकि जिसको प्राप्त होकर रागरूपी नदी सूख जाती है ॥ २२ ॥

चिदचिद्रूपभावेषु सूक्ष्मस्थूलेष्वपि क्षणम्।
रागः स्याद्यदि वा द्वेषः क्व तदाध्यात्मनिश्चयः ॥ २३ ॥

अर्थ—सूक्ष्म तथा स्थूल चेतन अचेतन पदार्थोंमें क्षणभर भी राग अथवा द्वेष होता तो फिर अध्यात्मका निश्चय कहां? ॥ २३ ॥

१ मराठुरा इत्यपि पाठः।

नित्यानन्दमयीं साध्वीं शाश्वतीं चात्मसम्भवाम् ।
वृणोति वीतसंरम्भो वीतराग शिवश्रियम् ॥ २४ ॥

अर्थ—जिसका संरम्भ रागादिमयी विकल्प उद्यम बीत गये हैं ऐसा वीतराग मुनि नित्यानन्दमयी समीचीन, शाश्वती, आत्मासे उत्पन्न मोक्षरूपी लक्ष्मीको वरता है। भावार्थ-मोक्षका स्वामी होता है ॥ २४ ॥

यत्र राग पद धत्ते द्वेषस्तत्रैति निश्चय ।
उभावेतौ समालम्ब्य विक्राम्यत्यधिक मन ॥ २५ ॥

अर्थ—जहापर राग पद धारे अर्थात् प्रवर्त्ते तहा द्वेष भी प्रवर्त्तता है यह निश्चय है और इन दोनोंको अवलंबन करके मन भी अधिकतर विकाररूप होता है ॥ २५ ॥

सकलज्ञानसाम्राज्य स्वीकर्तुं य समीप्सति ।
स धन्य शमशस्त्रेण रागशत्रु निकृन्तति ॥ २६ ॥

अर्थ—जो पुरुष समस्त ज्ञानरूप साम्राज्यके अंगीकार करनेकी इच्छा रखता है वह धन्य महात्मा उपशमभावरूप शस्त्रसे रागरूप शत्रुको काटता है ॥ २६ ॥

यथोत्पाताक्षम पक्षी लूनपक्ष प्रजायते ।
रागद्वेषच्छदच्छेदे स्वान्तपत्ररथस्तथा ॥ २७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार कटीहुई पांखोंका पक्षी उडनेमें असमर्थ होता है तैसे मनरूप पक्षी है सो रागद्वेषरूप पांखोंके कट जानेसे विकल्परूप भ्रमणसे रहित हो जाता है॥२७॥

चित्तप्लवङ्गदुर्वृत्त स हि नून विजेष्यति ।
यो रागद्वेषसतानतरुमूल निकृन्तति ॥ २८ ॥

अर्थ—जो पुरुष रागद्वेषके संतानरूप वृक्षकी जडको काटता है वह पुरुष चित्तरूप बंदरके दुर्वृत्तविकाररूप भ्रमणको अवश्य ही जीतैगा ॥ २८ ॥

इस प्रकार रागद्वेषका वर्णन किया अब इनका मूल कारण मोह है सो उसका वर्णन करते हैं,—

अथ मोहवशाज्जन्तु क्रुध्यति द्वेष्टि रज्यते ।
अर्थेष्वन्यस्वभावेषु तस्मान्मोहो जगज्जयी ॥ २९ ॥

अर्थ—यह प्राणी मोहके वशसे अन्य स्वरूप पदार्थोंमें क्रोध करता है, द्वेष करता है, तथा राग भी करता है इस कारण मोह ही जगतको जीतनेवाला है ॥ २९ ॥

रागद्वेषविषोद्यानं मोहबीज जिनैर्मतम् ।
अत स एव निःशेषदोषसेनानरेश्वर ॥ ३० ॥

अर्थ—इस रागद्वेषरूप विषके वनका बीज मोह ही है ऐसा भगवानने कहा है इस कारण यह मोह ही समस्त दोषोंकी सेनाका राजा है ॥ ३० ॥

असावेव भवोद्भूतदाववह्निः शरीरिणाम् ।
तथा दृढतरानन्तकर्मबन्धनिबन्धनम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—यह मोह ही जीवोंके संसारसे उत्पन्न हुआ दावानल है तथा अतिशय दृढ अनन्त कर्म बन्धनका कारण है ॥ ३१ ॥

रागादिगहने खिन्नं मोहनिद्रावशीकृतम् ।
जगन्मिथ्याग्रहाविष्टं जन्मपङ्के निमज्जति ॥ ३२ ॥

अर्थ—यह जगत रागादिके गहन वनमें खेदखिन्न हुआ मोहरूप निद्राके वशीभूत हो मिथ्यात्वरूपी पिशाचसहित होनेसे संसाररूपी कीचडमें डूबता है। यहां खेद निद्रा पिशाच ये तीनों ही बे खबर होनेके कारण है यह आत्मा इन कारणोंसे अपनेको भूल ज्ञानरूप समारमें डुबाता है ॥ ३२ ॥

स पश्यति मुनिः साक्षाद्विश्वमध्यक्षमञ्जसा ।
यः स्फोटयति मोहाख्यं पटलं ज्ञानचक्षुषा ॥ ३३ ॥

अर्थ—जो मुनि मोहरूपी पटलको दूर करता है वह मुनि शीघ्र ही समस्त लोकको ज्ञानरूपी नेत्रोंसे साक्षात् प्रत्यक्ष (प्रगट) देखता है ॥ ३३ ॥

इयं मोहमहाज्वाला जगत्त्रयविसर्पिणी ।
क्षणादेव क्षयं याति प्लाव्यमाना शमाम्बुभिः ॥ ३४ ॥

अर्थ—यह मोहरूप महा अग्निकी ज्वाला तीन जगतमें फैलनेवाली है इसे प्रशमतारूप जलमें सिंचन किया जाय तो यह क्षणमात्रमें क्षय हो जाती है ॥ ३४ ॥

यस्मिन्सत्येव संसारी यद्वियोगे शिवीभवेत् ।
जीव स एव पापात्मा मोहमल्लो निवार्यताम् ॥ ३५ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! जिस मोह मल्लके होनेसे यह जीव संसारी है और जिसके वियोग होनेसे मोक्षस्वरूप होता है वही यह पापी मोहमल्ल है सो इसे निवारणकर ॥ ३५ ॥

यत्संसारस्य वैचित्र्यं नानात्वं यच्छरीरिणाम् ।
यदात्मीयेष्वनात्मास्था तन्मोहस्यैव वल्गितम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—जो ये संसारकी विचित्रता, अनेकप्रकारता, तथा अपने आत्मीयोंमें अनात्मबुद्धिकी आस्था है सो ये सब मोहके ही विलास हैं अर्थात् मोहकी ही चेष्टा है ॥ ३६ ॥

रागादिवैरिणः क्रूरान्मोहभूपेन्द्रपालितान् ।
निकृत्य शमशस्त्रेण मोक्षमार्गं निरूपय ॥ ३७ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! मोहरूपी राजाके पाले हुए क्रूर रागादि शत्रुओंको शान्तभावरूप शरसे छेदन करके मोक्षमार्गका अवलोकन कर ॥ ३७ ॥

आर्या।

इति मोहवीरवृत्तं रागादिवरूथिनीसमाकीर्णम्।
सुनिरूप्य भावशुद्ध्या यतस्व तद्वन्धमोक्षाय ॥ ३८ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! इस प्रकार मोहरूपी सुभटका वृत्तान्त है सो यह रागादिरूपी सेनाके सहित है इसकारण इसे भले प्रकार विचार करके इसके बंधसे छूटनेके लिये यत्नकर ॥ ३८ ॥

इस प्रकार राग द्वेष मोहका वर्णन किया और इनके नष्ट करनेका उपदेश दिया। यहा अभिप्राय यह है कि अन्यमती यमनियमादि योगके साधनोंसे मनको वश करते हैं तथापि उनके मतमें रागद्वेषमोहका यथार्थ स्वरूप तथा उनके जीतनेका वर्णन सत्यार्थ नहीं है और इन रागादिकके जीते विना मोक्षके कारणभूत ध्यानकी सिद्धि नहीं है, इसकारण रागद्वेष मोहका वर्णन किया इनका यथार्थ स्वरूप तथा जीतनेका विधान जैनशास्त्रोंमें ही है उसी रीतिसे ही साधन करके ध्यान करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥

कवित्त (३१ वर्ण)

मिथ्या कर्म उदै होय, राग द्वेष मोह जोय,
बन्ध हेतु गाढे ते जु भवमें भ्रमावते।
मिथ्याभाव बीते रहैं चारित्रके घातक जे,
बन्ध करैं तुच्छभाव निर्जरा बढावते ॥
सम्यक् दरश धारि राग द्वेष मोह टारि,
चारित्र सवाँरि मुनि ध्यानको धरावते।
निजरूप लय लाय घातिया नशाय ज्ञान
केवलको पाय धाय मोक्षमें रमावते ॥ २३ ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे रागद्वेष वर्णनो नाम त्रयोविंश प्रकरणं समाप्तम् ॥ २३ ॥

अथ चतुर्विंश प्रकरणम्।

अब रागद्वेष मोहके अभावसे साम्य अर्थात् समताभाव होते हैं जिनसे कि, तृण कंचन, शत्रु मित्र, निन्दा प्रशंसा, वन नगर, सुख दुःख, जीवन मरण इत्यादि पदार्थोंमें इष्ट

अनिष्ट बुद्धि और ममत्व नहीं होना। ऐसे साम्यभाव सहित मुनिके ही मोक्षके कार-
णस्वरूप ध्यानकी सिद्धि होती है इस कारण साम्यका वर्णन करते हैं,—

मोहवह्निमपाकर्तुं स्वीकर्तुं संयमश्रियम्।
छेत्तुं रागद्रुमोद्यानं समत्वमवलम्ब्यताम्॥ १॥

अर्थ—हे आत्मन्! मोहरूप अग्निको बुझानेके लिये और संयमरूपी लक्ष्मीको अंगी-
कार करनेके लिये तथा रागरूप वृक्षोंके समूहको काटनेके लिये समभावको (समत्वको)
अवलम्बन कर ऐसा उपदेश है॥ १॥

चिदचिल्लक्षणैर्भावैरिष्टानिष्टतया स्थितैः।
न मुह्यति मनो यस्य तस्य साम्ये स्थितिर्भवेत्॥ २॥

अर्थ—जिस पुरुषका मन चित् (पुत्रकलत्रादि) अचित् (धनधान्य
कनकादि) इष्ट अनिष्टरूप पदार्थोंके द्वारा मोहको प्राप्त नहिं होता, उस पुरुषके ही साम्य-
भावमें स्थिति होती है यह साम्यभावका लक्षण है॥ २॥

विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम्।
साम्यं भज [illegible]॥ ३॥

अर्थ— हे आत्मन्! तू काम और भोगादिकसे विरक्त हो, शरीरमें वांछा [illegible] [illegible] भज (सेव), क्योंकि यह साम्यभाव [illegible] (मोक्ष [illegible]) [illegible] यह स्पृहा साम्यभाव ही है॥ ३॥

छित्त्वा प्रज्ञाशस्त्रेण [illegible]।
[illegible] धीर भज शनैः शनैः॥ ४॥

अर्थ—हे आत्मन् हे धीर! तू [illegible] संसारिक बन्धन (आत्मा-
[illegible] कर। आत्मा
[illegible] को [illegible] नहीं है इस कारण [illegible]
[illegible] है॥ ४॥

[illegible] रागादितिमिरोत्करे।
[illegible] परमात्मनः॥ ५॥

अर्थ—[illegible] भावार्थ—[illegible]
[illegible]
[illegible]

साम्यसीमानमालम्ब्य कृत्वात्मन्यात्मनिश्चयम् ।
पृथक् करोति विज्ञानी संश्लिष्टे जीवकर्मणी ॥ ६ ॥

अर्थ—भेद विज्ञानी पुरुष है सो समभावकी सीमाको अवलम्बन करके तथा अपने में ही अपने आत्माको निश्चय करके मिले हुए जीव और कर्मको पृथक् २ करता है ॥ ६ ॥

साम्यवारिणि शुद्धानां सतां ज्ञानैकचक्षुषाम् ।
इहैवानन्तबोधादिराज्यलक्ष्मीः सखी भवेत् ॥ ७ ॥

अर्थ—जो समभावरूपी जलसे शुद्ध हुये हैं और जिनके ज्ञानही नेत्र हैं ऐसे सत्पुरुषोंके इस ही जन्ममें अनन्त ज्ञानादिक लक्ष्मी सखी होती है। **भावार्थ**—कोई यह जानें कि समभावका फल परलोकमें होता है सो यह एकान्त नहीं है किन्तु इसही जन्ममें केवल ज्ञानादिककी प्राप्ति होती है ॥ ७ ॥

भावयस्व तथात्मानं समत्वेनातिनिर्भरम् ।
न यथा द्वेषरागाभ्यां गृह्णात्यर्थकदम्बकम् ॥ ८ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! अपने आत्माको तू समभावसे अति निर्भररूप इस प्रकार भाव जिस प्रकारसे यह आत्मा रागद्वेषादिकसे पदार्थोंके समूहको ग्रहण न करे। **भावार्थ**—आत्मामें ऐसा लीन हो कि जहां रागद्वेषादिक अवकाश न पावें ॥ ८ ॥

रागादिविपिनं भीमं मोहशार्दूलपालितम् ।
दग्धं मुनिमहावीरैः साम्यधूमध्वजार्चिषा ॥ ९ ॥

अर्थ—यह रागादिरूप भयानक वन है सो मोहरूपी सिंहके द्वारा रक्षित है, उस वनको मुनिरूपी महासुभटोंने समभावरूप अग्निकी ज्वालासे दग्ध करदिया है ॥ ९ ॥

मोहपङ्के परिक्षीणे शीर्णे रागादिबन्धने ।
नृणां हृदि पदं धत्ते साम्यश्रीर्विश्ववन्दिता ॥ १० ॥

अर्थ—पुरुषोंके हृदयमें मोहरूपी कर्दमके सूखनेसे तथा रागादि बन्धनोंके दूर होने पर जगत्पूज्य समभावरूप लक्ष्मी निवास करती है। **भावार्थ**—मलिन घरमें और बंधन सहित घरमें उत्तम स्त्री प्रवेश नहिं करती, इसी प्रकार साम्यभावरूप लक्ष्मी भी रागद्वेषके हादिसहित हृदयमें प्रवेश नहिं करती ॥ १० ॥

आशाः सद्यो विपद्यन्ते यान्त्यविद्याः क्षयं क्षणात् ।
म्रियते चित्तभोगीन्द्रो यस्य सा साम्यभावना ॥ ११ ॥

अर्थ—जिस पुरुषके समभावरूपी भावना है उसके आशायें तो तत्काल नष्ट हो जाती हैं, अविद्या क्षणमात्रमें क्षय हो जाती है उसी प्रकार चित्तरूपी सर्प भी मर जाता है अर्थात् भ्रमणसे रहित हो जाता है यह साम्यभावका फल है ॥ ११ ॥

साम्यकोटिं समारूढो यमी जयति कर्म यत्।
निमिषान्तेन तज्जन्मकोटिभिस्तपसेतर॥ १२ ॥

अर्थ—समभावकी हदको आरूढ हुआ संयमी मुनि जो नेत्रके टिमकार मात्र मको जीतता है अर्थात् कर्मोंको क्षय करता है, उतना इतर पुरुष समभावरहित क तपोंके करनेपर भी नहिं कर सकता, यह साम्यभावका माहात्म्य है ॥ १२ ॥

साम्यमेव परं ध्यानं प्रणीतं विश्वदर्शिभि।
तस्यैव व्यक्तये नूनं मन्येऽयं शास्त्रविस्तर॥ १३ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि—सर्वज्ञ भगवानने साम्यभावको ही उत्त ध्यान कहा है और यह शास्त्रका विस्तार है सो निश्चयतः उस साम्यभावको प्रगट क नेके लिये ही है ऐसा मैं मानता हूं। भावार्थ—शास्त्रमें जितने व्याख्यान हैं वे साम्य दृढ करते हैं ॥ १३ ॥

साम्यभावितभावानां स्यात्सुखं यन्मनीषिणाम्।
तन्मन्ये ज्ञानसाम्राज्यसमत्वमवलम्बते॥ १४ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि—साम्य भावोंसे पदार्थोंके विचार करनेव बुद्धिमान् पुरुषोंके जो सुख होता है सो मैं ऐसा मानता हूं कि वह ज्ञानसाम्राज्य (केवलज्ञानकी) समताको अवलम्बन करता है। **भावार्थ**—समभावोंसे केवल ज्ञा उत्पन्न होता है उससे पहिले ही समभावमें ऐसा सुख है कि उसे केवल ज्ञानके समान माना जाता है क्योंकि दुःख तो रागादिकसे है उनके विना केवल मात्र सुख ही सु है ॥ १४ ॥

यः स्वभावोत्थितां साध्वीं विशुद्धिं स्वस्य वाञ्छति।
स धारयति पुण्यात्मा समत्वाधिष्ठितं मन॥ १५ ॥

अर्थ—जो पुरुष अपने स्वभावसे उत्पन्न हुई समीचीन विशुद्धताको चाहते हैं सो पु अपने मनको समभावोंसहित धारता है वही पुण्यात्मा है महाभाग्य है ॥ १५ ॥

तनुत्रयविनिर्मुक्तं दोषत्रयविवर्जितम्।
यदा वेत्त्यात्मनात्मानं तदा साम्ये स्थितिर्भवेत्॥ १६ ॥

अर्थ—जिस समय यह आत्मा अपने आत्माको औदारिक, तैजस और कार्माण इ तीन शरीरोंसे तथा रागद्वेषमोहसे रहित जानता है तब ही समभावमें स्थिति (स्थिरता होती है ॥ १६ ॥

अशेषपरपर्यायैरन्यद्रव्यैर्विलक्षणम्।
निश्चिनोति यदात्मानं तदा साम्यं प्रसूयते॥ १७॥

अर्थ—जिस समय यह आत्मा अपनेको समस्त परद्रव्योंके पर्यायोंसे तथा परद्रव्योंसे विलक्षण भिन्नस्वरूप निश्चय करता है उसी काल साम्यभाव उत्पन्न होता है ॥१७॥

तस्यैवाविचलं सौख्यं तस्यैव पदमव्ययम् ।
तस्यैव बन्धविश्लेषः समत्वं यस्य योगिनः ॥ १८ ॥

अर्थ—जिस योगीश्वरके समभाव है उसके ही तो अविचल सुख है और उसके ही अविनाशी पद और कर्मका क्षयकरी निर्जरा है ॥ १८ ॥

यस्य हेयं न चादेयं जगद्विश्वं चराचरम् ।
स्यात्तस्यैव मुनेः साक्षाच्छुभाशुभमलक्षयः ॥ १९ ॥

अर्थ—जिस मुनिके चराचररूप समस्त जगतमेंसे न तो कोई हेय है न उपादेय है, उस मुनिके ही शुभाशुभरूप कर्मरूपी मैलका साक्षात् क्षय है ॥ १९ ॥

अब साम्यका प्रभाव कहते हैं,—

शाम्यन्ति जन्तवः क्रूरा बद्धवैराः परस्परम् ।
अपि स्वार्थे प्रवृत्तस्य मुनेः साम्यप्रभावतः ॥ २० ॥

अर्थ—इस साम्यके प्रभावसे अपने स्वार्थमें प्रवृत्त मुनिके निकट परस्पर वैर करनेवाले क्रूर जीव भी साम्यभावको प्राप्त हो जाते हैं। भावार्थ-मुनि तो अपने स्वरूपके साधनार्थ साम्यभावोंमें प्रवर्तते हैं किन्तु उनकी साम्यमूर्ति अवलोकन करके उनके निकट रहनेवाले क्रूर सिंहादिक भी परस्पर वैरभाव छोड़ समताका आश्रय कर लेते हैं ऐसा ही साम्यभावका माहात्म्य है ॥ २० ॥

भजन्ति जन्तवो मैत्रीमन्योऽन्यं त्यक्तमत्सराः ।
समत्वालम्बिनां प्राप्य पादपद्मार्चितां क्षितिम् ॥ २१ ॥

अर्थ—समभावके अवलम्बन करनेवाले मुनियोंके चरणकमलोंके प्रभावसे पूजनीय पृथिवीको प्राप्त होनेपर प्राणीजन परस्परका ईर्षाभाव छोड़कर मित्रताको प्राप्त हो जाते हैं ॥ २१ ॥

शाम्यन्ते योगिभिः क्रूरा जन्तवो नेति शङ्क्यते ।
दावदीप्तमिवारण्यं यथा वृष्टैर्बलाहकैः ॥ २२ ॥

अर्थ—योगिगण क्रूर जीवोंको उपाय करके शान्तरूप करते हैं ऐसी शंका कदापि नहीं करनी चाहिये। क्योंकि, जैसे दावानलसे जलताहुआ वन स्वयमेव मेघ बरसनेसे शान्त हो जाता है उसी प्रकार मुनियोंके तपके प्रभावसे स्वय ही क्रूर जीव समतारूप प्रवर्त्तनें लग जाते हैं योगीश्वर उनको प्रेरणा कदापि नहिं करते॥ २२ ॥

भवन्त्यतिप्रसन्नानि कश्मलान्यपि देहिनाम्।
चेतांसि योगिसंसर्गेऽगस्त्ययोगे जलानिवत् ॥ २३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार शरद ऋतुमें अगस्त्य ताराके संसर्ग होनेसे जल निर्मल हो जाता है उसी प्रकार समतायुक्त योगीश्वरोंकी संगतिसे जीवोंके मलिन चित्त भी प्रसन्न अर्थात् निर्मल हो जाते हैं ॥ २३ ॥

शार्दूलविक्रीडितम्।

क्षुभ्यन्ति ग्रहयक्षकिन्नरनरास्तुष्यन्ति नाकेश्वराः
मुञ्चन्ति द्विपदैत्यसिंहशरभव्यालादयः क्रूरताम्।
रुग्वैरप्रतिबन्धविभ्रमभयभ्रष्टं जगज्जायते
स्याद्योगीन्द्रसमत्वसाध्यमथवा किं किं न सद्यो भुवि ॥२४॥

अर्थ—समभावयुक्त योगीश्वरोंके प्रभावसे ग्रह यक्ष किन्नर मनुष्य ये क्षोभको प्राप्त होते हैं और नाकेश्वर अर्थात् इन्द्रगण हर्षित होते हैं। तथा शत्रु दैत्य सिंह अष्टापद सर्प इत्यादि क्रूर प्राणी अपनी क्रूरताको छोड देते हैं और यह जगत् रोग वैर प्रतिबन्ध विभ्रम भयादिकसे रहित हो जाता है। इस पृथिवीमें ऐसा कौनसा कार्य है, जो योगीश्वरोंके समभावोंसे साध्य न हो अर्थात् समताभावोंसे सर्व मनोवांछित सधते हैं ॥ २४ ॥

मन्दाक्रान्ता।

चन्द्रः सान्द्रैर्विकिरति सुधामंशुभिर्जीवलोके
भास्वानुच्चैः किरणपटलैरुच्छिनत्त्यन्धकारम्।
धात्री धत्ते भुवनमखिलं विश्वमेतच्च वायु
र्यद्वत्साम्यात्प्रशमयति तथा जन्तुजातं यतीन्द्रः ॥ २५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार चन्द्रमा जगतमें किरणोंसे सघन करता हुआ अमृत वर्षाता है और सूर्य तीव्र किरणोंके समूहसे अन्धकारका नाश करता है तथा पृथिवी समस्त भुवनोंको धारण करती है तथा पवन है सो इस समस्त लोकको धारण करता है उसी प्रकार मुनीश्वर महाराज भी साम्यभावोंसे जीवोंके समूहको शान्तस्वरूप करते हैं ॥ २५ ॥

स्रग्धरा।

सारङ्गी सिंहशावं स्पृशति सुतधिया नन्दिनी व्याघ्रपोतं
मार्जारी हंसबालं प्रणयपरवशा केकिकान्ता भुजङ्गम्।
वैराण्याजन्मजातान्यपि गलितमदा जन्तवोऽन्ये त्यजन्ति
श्रित्वा साम्यैकरूढं प्रशमितकलुषं योगिनं क्षीणमोहम् ॥ २६ ॥

अर्थ—क्षीण होगया है मोह जिसका और शान्त होगया है कलुष कषायरूप मैल जिसका ऐसे समभावोंमें आरूढ हुए योगीश्वरको आश्रय करके हरिणी तो सिंहके बालकको अपने पुत्रकी बुद्धिसे स्पर्श करती वा प्यार करती है और गऊ है सो व्याघ्रके बच्चेको पुत्रकी बुद्धिसे प्यार करती है, मार्जारी हंसके बच्चेको स्नेहकी दृष्टिसे वशीभूत हो स्पर्शती है तथा मयूरनी सर्पके बच्चेको प्यार करती है इसी प्रकार अन्य प्राणी भी जन्मसे जो वैर है उसको मदरहित हो छोड देते हैं। यह साम्यभावका ही प्रभाव है ॥२६॥

मन्दाक्रान्ता ।

एकः पूजां रचयति नरः पारिजातप्रसूनैः
क्रुद्धः कण्ठे क्षिपति भुजगं हन्तुकामस्ततोऽन्यः ।
तुल्या वृत्तिर्भवति च तयोर्यस्य नित्यं स योगी
साम्यारामं विशति परमज्ञानदत्तावकाशम् ॥ २७ ॥

अर्थ—जिस मुनिकी ऐसी वृत्ति हो कि—कोई तो नम्रीभूत होकर पारिजातके पुष्पोंसे पूजा करता है और कोई मनुष्य क्रुद्ध होकर मारनेकी इच्छासे गलेमें सर्पकी माला पहराता है, इन दोनोंमें ही जिसकी सदा रागद्वेषरहित समभावरूपवृत्ति हो, वही योगीश्वर समभावरूपी आराममें (क्रीडावनमें) प्रवेश करता है और उस समभावरूप क्रीडावनमें ही केवल ज्ञानके प्रकाश होनेका अवकाश है ॥ २७ ॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

नोऽरण्यान्नगरं न मित्रमहितात्लोष्टान्न जाम्बूनदं
न स्रग्दाम भुजङ्गमान्न दृषदस्तल्पं शशाङ्कोज्ज्वलम् ।
यस्यान्तःकरणे बिभर्ति कल्पना नोत्कृष्टतामीदृशं
व्यापर्यस्तं परमोपशान्तपदवीमारूढमालम्बते ॥ २८ ॥

अर्थ—जिस मुनिके मनमें वनसे नगर, शत्रुसे मित्र, लोष्टसे कांचन (सुवर्ण) रस्सी व सर्पसे पुष्पमाला, पाषाणशिलासे चन्द्रमासमान उज्ज्वल शय्या, इत्यादिक पदार्थ अन्य कल्पनासे किंचिन्मात्र भी उत्कृष्ट नहीं दीखते उस मुनिको आप सत्पुरुष परम उपशान्तरूप पदवीको प्राप्त हुआ कहते हैं। भावार्थ—वनादिकसे नगरादिकमें कुछ भी उत्तमता नहीं मानै वही मुनि रागद्वेषरहित साम्यभावयुक्त है ॥ २८ ॥

स्रग्धरा ।

सौधोत्सङ्गे श्मशाने स्तुतिशपनविधौ कर्दमे कुङ्कुमे वा
पल्यङ्के कण्टकाग्रे दृषदि शशिमणौ चर्मचीनांशुकेषु ।
शीर्णाङ्गे दिव्यनार्यामसमशमवशाद्यस्य चित्तं विकल्पै-
र्नालीढं सोऽयमेकः कलयति कुशलः साम्यलीलाविलासम् ॥

अर्थ—जिस मुनिका चित्त सकलके निरपेक्ष, और मानापमानमें तथा स्तुति और निन्दाके विधानमें, तृणमें, और कंचनमें पर्यायरूपता और सामोक्त अभयमानें, पाषाण और चन्द्रकान्त मणिमें, घर और नीरन्ध्रीय देशमें उद्योतमें, और भीतर्गीर ? सुख स्त्रीमें अतुल्य शान्तमानके प्रभावसे निर्मलाने स्थापित न हो, वही एक प्रवीण मुनि सम्भावकी लीलाके विलासको अनुभव करता है अर्थात् तात्त्विक समभाव ऐसे मुनिके ही जानना ॥ २० ॥

)) चलत्यचलमालेयं कदाचिद्दैवयोगतः ।
नोपसर्गैरपि स्वान्तं मुनेः साम्यप्रतिष्ठितम् ॥ ३० ॥

अर्थ—यह अत्यन्त अचल पर्वतोंकी श्रेणी कदाचित् चलायमान भी हो जाय तो आश्चर्य नहीं किन्तु साम्यभावमें प्रतिष्ठित मुनिका चित्त उपसर्गोंसे कदापि नहीं चलता ऐसा लीन हो जाता है ॥ ३० ॥

)) उन्मत्तमथ विभ्रान्तं दिग्मूढं सुप्तमेव वा ।
साम्यस्थस्य जगत्सर्वं योगिनः प्रतिभासते ॥ ३१ ॥

अर्थ—साम्यभावमें स्थित मुनिको यह जगत् ऐसा भासता है कि मानों यह जगत् उन्मत्त है वा विभ्रमरूप है अथवा दिशाभूला हुआ अथवा सोता है ॥ ३१ ॥

वाचस्पतिरपि ब्रूते यद्यजस्रं समाहितः ।
वक्तुं तथापि शक्नोति न हि साम्यस्य वैभवम् ॥ ३२ ॥

अर्थ—इस साम्यके विभवको यदि बृहस्पति भी स्थिरचित्त होकर निरन्तर कहे तो भी कहनेको समर्थ नहीं होता ॥ ३२ ॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

दुष्प्रज्ञाबललुप्तवस्तुनिचया विज्ञानशून्याशया
विद्यन्ते प्रतिमन्दिरं निजनिजस्वार्थोद्यता देहिनः ।
आनन्दामृतसिन्धुशीकरचयैर्निर्वाप्य जन्मानलं
ये मुक्तेर्वदनेन्दुवीक्षणपरास्ते सन्ति द्वित्रा यदि ॥ ३३ ॥

अर्थ—जिन्होंने अपनी दुर्बुद्धिके बलसे समस्त वस्तुके समूहका लोप कर दिया और जिनका चित्त विज्ञानसे शून्य है ऐसे पुरुष तो घर २ में विद्यमान हैं और अपने २ प्रयोजनको साधनेमें तत्पर हैं किन्तु जो समभावजनित आनन्दामृतसमुद्रके जलकणोंके समूहसे संसाररूप अग्निको बुझाकर मुक्तिरूपी स्त्रीके वदनचन्द्रमाको देखनेमें तत्पर हैं ऐसे महापुरुष यदि हैं तो दो वा तीन ही हैं। भावार्थ–इस निकृष्ट पंचम कालमें

१ मूल पुस्तकमें यह श्लोक अगले अध्यायकी आदिमें लिखा है ।

मोक्षमार्ग प्रवर्तनेवालोंकी विरलता है अर्थात् जो साम्य रहकर मोक्षमार्गको साधै ऐसे योगीश्वरोंका तो प्राय अभाव ही है, किसी दूर क्षेत्र कालमें हो तो दो तीनही होंगे बहुलताका तो अभाव ही है ॥ ३३ ॥

इस प्रकार साम्यका वर्णन किया यह ध्यानका प्रधान अंग है इसके विना लौकिक प्रयोजनादिक लिये जो अन्यमती ध्यान करते है सो निष्फल है, मोक्षका साधन तो साम्य सहित ध्यानही है ॥

दोहा

मोह राग रुष वीतमें, समता धरै जु कोय।
सुख दुख जीवित मरण सम, सम लखि ध्यानी होय॥२४॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे साम्यवर्णन नाम चतुर्विंश प्रकरण समाप्तम् ॥ २४ ॥

अथ पञ्चविंश प्रकरणम् ।

आगे ध्यानका वर्णन करते हैं,—

साम्यश्रीर्नातिनिःशङ्कं सतामपि हृदि स्थितिम् ।
धत्ते सुनिश्चलध्यानसुधासम्बन्धवर्जिते ॥ १ ॥

अर्थ—सत्पुरुषोंका हृदय यदि भले प्रकार निश्चल ध्यानरूप अमृतके सम्बन्धसे रहित हो तो उसमें यह साम्यरूप लक्ष्मी अतिनिःशंकतासे अपनी स्थिति धारण नहि करती। **भावार्थ**—समभाव ध्यानसे निश्चल ठहरता है इस कारण ध्यानका उपदेश है॥१॥

यस्य ध्यानं सुनिष्कम्पं समत्वं तस्य निश्चलम् ।
नानयोर्विद्ध्यधिष्ठानमन्योऽन्यं स्याद्विभेदतः ॥ २ ॥

अर्थ—जिस पुरुषके ध्यान निश्चल है उसके समभाव भी निश्चल है इन दोनोंके अधिष्ठान (आधार) परस्पर भेदसे नहीं है अर्थात् ध्यानका आधार समभाव है और समभावका आधार ध्यान है ॥ २ ॥

साम्यमेव न सद्ध्यानात्स्थिरीभवति केवलम् ।
शुद्ध्यत्यपि च कर्मौघकलङ्की यन्त्रवाहकः ॥ ३ ॥

अर्थ—समीचीन प्रशस्त ध्यानसे केवल साम्य ही स्थिर नहि होता किन्तु कर्मके समूहसे मलिन यह यन्त्रवाहक जीव भी शुद्ध होता है अर्थात् ध्यानसे कर्मोंका क्षय भी होता है ॥ ३ ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥ ४ ॥

[illegible] । [illegible] ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥ ५ ॥

[illegible]

[illegible] ।
[illegible] ॥ ६ ॥

[illegible]

[illegible] ।
[illegible] ॥ ७ ॥

[illegible]

[illegible] ।
[illegible] ॥ [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

अर्थ—यह बड़ा खेद है कि जहां अमृत तो विषके लिये हो और ज्ञान मोहके लिये हो और ध्यान नरकके लिये होता है सो जीवोंकी यह विपरीत चेष्टा आश्चर्य उत्पन्न करती है। भावार्थ—जहां प्रशस्त वस्तु भी अप्रशस्त हो जाती है उसका यहां आश्चर्य किया है ॥ १० ॥

अभिचारपरैः कैश्चित्कामक्रोधादिवञ्चितैः ।
भोगार्थमरिघातार्थं क्रियते ध्यानमुद्धतैः ॥ ११ ॥
ख्यातिपूजाभिमानार्त्तैः कैश्चिदुक्तानि सूरिभिः ।
पापाभिचारकर्माणि क्रूरशास्त्राण्यनेकधा ॥ १२ ॥
अनाप्ता वञ्चकाः पापा दीना मार्गद्वयच्युताः ।
दिशन्त्यज्ञेष्वनात्मज्ञा ध्यानमत्यन्तभीतिदम् ॥ १३ ॥

अर्थ—अभिचार कहिये वश्याकर्षणादिक व्यापार ही है आशय जिनके ऐसे तथा कई एक कामक्रोधादिकसे वञ्चित हुए उद्धत पुरुषोंके द्वारा भोगोंके लिये और शत्रुओंके घातके लिये ध्यान किया जाता है ॥ ११ ॥ तथा कितनेक अन्यमती आचार्योंने ख्याति पूजा अभिमानसे पीडित होकर पापकार्योंकी विधिवाले अनेक शास्त्र रचे हैं सो वे पापी हैं, अनाप्त हैं, कुमार्गको चलानेवाले हैं, ठग हैं, दीन हैं, दोनो लोकके मार्गसे भ्रष्ट हैं, अनात्मज्ञ हैं अर्थात् जिनको अपनी आत्माका ज्ञान नहीं है वे मूर्खोंमें ही अत्यन्त भयके देनेवाले ध्यानका उपदेश करें, (ज्ञानी) विवेकी पुरुष तो उनका उपदेश कदापि अंगीकार नहीं करते ॥ १२ ॥ १३ ॥

इस कारण कहते हैं कि,—

संसारसंभ्रमश्रान्तो यः शिवाय विचेष्टते ।
स युक्त्यागमनिर्णीते विवेच्य पथि वर्त्तते ॥ १४ ॥

अर्थ—जो पुरुष संसारके भ्रमणसे खेदखिन्न होकर मोक्षके लिये चेष्टा करता है वह तो विचार कर युक्ति और आगमसे निर्णय किये हुए मार्गमें ही प्रवर्त्तता है अन्य दुर्गेय प्ररूपण किये मार्गमें कदापि नहीं प्रवर्त्तता ॥ १४ ॥

अब यहां ध्यानका स्वरूप कहते हैं,—

उत्कृष्टकायबन्धस्य साधोरन्तर्मुहूर्त्ततः ।
ध्यानमाहुरथैकाग्रचिन्तारोधो बुधोत्तमाः ॥ १५ ॥

अर्थ—उत्कृष्ट है कायका बंध कहिये संहनन जिसके ऐसे साधुका अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त एकाग्र चिन्ताके रोधनेको पण्डित जन ध्यान कहते हैं यही उमास्वामी महाराजने तत्त्वार्थ सूत्रमें कहा है कि—"उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्त्तात् ॥"

अर्थात् उत्तम संहननवाले पुरुषके एकाग्र चिन्ताका रोध ही ध्यान है सो यह अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त ही रहता है इस प्रकार पूर्वाचार्योंने ध्यानका लक्षण कहा है ॥ १५ ॥

एकचिन्तानिरोधो यस्तद्ध्यानभावना परा ।
अनुप्रेक्षार्थचिन्ता वा तज्ज्ञैरभ्युपगम्यते ॥ १६ ॥

अर्थ—जो एक चिन्ताका निरोध है एक ज्ञेयमें ठहरा हुआ है वह तो ध्यान और इससे भिन्न है सो भावना है उसे ध्यानके और भावनाके जाननेवाले विद्वान् अनुप्रेक्षा अथवा अर्थचिन्ता भी कहते हैं ॥ १६ ॥

प्रशस्तेतरसंकल्पवशात्तद्भिद्यते द्विधा ।
इष्टानिष्टफलप्राप्तेर्बीजभूतं शरीरिणाम् ॥ १७ ॥

अर्थ—वह पूर्वोक्त ध्यान प्रशस्त और अप्रशस्त भेदसे दो प्रकारका है, सो जीवोंके इष्ट अनिष्ट रूप फलकी प्राप्तिका बीजभूत (कारण स्वरूप) है। भावार्थ—प्रशस्त ध्यानसे उत्तम फल होता है और अप्रशस्त ध्यानसे बुरा फल होता है ॥ १७ ॥

अस्तरागो मुनिर्यत्र वस्तुतत्त्वं विचिन्तयेत्।
तत्प्रशस्तं मतं ध्यानं सूरिभिः क्षीणकल्मषैः ॥ १८ ॥

अर्थ—जिस ध्यानमें मुनि अस्तराग (रागरहित) हो जाय और वस्तुस्वरूप चिन्तवन करै उसको निष्पाप आचार्योंने प्रशस्त ध्यान माना है ॥ १८ ॥

अज्ञातवस्तुतत्त्वस्य रागाद्युपहतात्मनः ।
स्वातन्त्र्यवृत्तिर्या जन्तोस्तदसद्ध्यानमुच्यते ॥ १९ ॥

अर्थ—जिसने वस्तुका यथार्थ स्वरूप नहीं जाना तथा जिसका आत्मा रागद्वेष मोहसे पीड़ित है ऐसे जीवकी स्वाधीन प्रवृत्तिको अप्रशस्त ध्यान कहा जाता है। भावार्थ—अप्रशस्त ध्यान जीवोंके विना उपदेशके स्वयमेव होता है क्योंकि यह अनादि वासना है ॥ १९ ॥

अब ध्यानके भेद कहते हैं,—

आर्त्तरौद्रविकल्पेन दुर्ध्यानं देहिनां द्विधा ।
द्विधा प्रशस्तमप्युक्तं धर्मशुक्लविकल्पतः ॥ २० ॥

अर्थ—जीवोंके अप्रशस्त ध्यान आर्त्तरौद्र भेदसे दो प्रकारका है तथा प्रशस्त ध्यान भी धर्म और शुक्ल भेदसे दो प्रकारका कहा गया है ॥ २० ॥

स्यातां तत्रार्त्तरौद्रे द्वे दुर्ध्याने ऽत्यन्तदुःखदे ।
धर्मशुक्ले ततोऽन्ये द्वे कर्मनिर्मूलनक्षमे ॥ २१ ॥

अर्थ—इन ध्यानोंमें आर्त रौद्र नामवाले दो जो अप्रशस्त ध्यान हैं वे तो अत्यन्त

ये दोनों हैं और दूसरे धर्म शुक्ल नामके दो प्रशस्त ध्यान हैं सो कर्मोंका निर्मूल करनेमें समर्थ हैं ॥ २१ ॥

प्रत्येकं च चतुर्भेदैश्चतुष्टयमिदं मतम् ।
अनेकवस्तुसाधर्म्यवैधर्म्यालम्बनं यतः ॥ २२ ॥

अर्थ—इन आर्त रौद्र धर्म शुक्ल ध्यानोंका चतुष्टय है सो प्रत्येक ध्यान भिन्न २ चार चार भेदोंवाला माना गया है क्योंकि, यह चतुष्टय अनेक वस्तुओंके साधर्म्य वैधर्म्य के अवलम्बन करनेवाला है अर्थात् परस्पर विलक्षण है ॥ २२ ॥

इनमेंसे प्रथम ही आर्तध्यानका स्वरूप और भेद कहते हैं,—

ऋते भवमथार्तं स्यादसद्ध्यानं शरीरिणाम् ।
दिग्मोहोन्मत्ततातुल्यमविद्यावासनावशात् ॥ २३ ॥

अर्थ—ऋत कहिये पीड़ा दुःखमें उपजै सो आर्तध्यान है, सो यह ध्यान अप्रशस्त है जैसे किसी प्राणीके दिशाओंके भूल जानेसे उन्मत्तता होती है उसके समान है और यह ध्यान अविद्या अर्थात् मिथ्याज्ञानकी वासनाके वशसे उत्पन्न होता है ॥ २३ ॥

अब इसके ४ भेद कहते हैं,—

अनिष्टयोगजन्माद्यं तथेष्टार्थात्ययात्परम् ।
रुक्प्रकोपात्तृतीयं स्यान्निदानात्तुर्यमङ्गिनाम् ॥ २४ ॥

अर्थ—पहिला आर्तध्यान तो जीवोंके अनिष्ट पदार्थोंके संयोगसे होता है, दूसरा आर्तध्यान इष्ट पदार्थके वियोगसे होता है तीसरा आर्तध्यान रोगके प्रकोपकी पीडासे होता है और चौथा आर्तध्यान निदान कहिये आगामी कालमें भोगोंकी वाञ्छाके होनेसे होता है, इस प्रकार ४ भेद आर्तध्यानके हैं ॥ २४ ॥

अब अनिष्ट संयोग नामा आर्तध्यानका स्वरूप कहते हैं,—

मालिनी ।

ज्वलनवनविषास्त्रव्यालशार्दूलदैत्यैः
स्थलजलबिलसत्त्वैर्दुर्जनारातिभूपैः ।
स्वजनधनशरीरध्वंसिभिस्तैरनिष्टै-
र्भवति यदिह योगादाद्यमार्त्तं तदेतत् ॥ २५ ॥

अर्थ—इस जगतमें अपना स्वजन धन शरीर इनके नाश करनेवाले अग्नि जल विष अस्त्र सर्प सिंह दैत्य तथा स्थलके जीव जलके जीव तथा दुर्जन वैरी राजा इत्यादि अनिष्ट पदार्थोंके संयोगसे जो हो सो पहिला आर्तध्यान है ॥ २५ ॥

फिर भी कहते हैं,—

तथा चरस्थिरैर्भावैरनेकैः समुपस्थितैः ।
अनिष्टैर्यन्मनः क्लिष्टं स्यादार्त्तं तत्प्रकीर्तितम् ॥ २६ ॥

अर्थ—तथा चर और स्थिर अनेक अनिष्ट पदार्थोंके प्राप्त होनेपर जो मन क्लेशरूप हो उसको भी आर्त्तध्यान कहा है ॥ २६ ॥

श्रुतैर्दृष्टैः स्मृतैर्ज्ञातैः प्रत्यासत्तिं च संश्रितैः ।
योऽनिष्टार्थैर्मनः क्लेशः पूर्वमार्त्तं तदिष्यते ॥ २७ ॥

अर्थ—तथा जो सुने देखे स्मरणमें आये जाने हुए तथा निकट प्राप्त हुए अनिष्ट पदार्थोंसे मनको क्लेश हो उसे पहिला आर्त्तध्यान कहते हैं ॥ २७ ॥

अशेषानिष्टसंयोगे तद्वियोगानुचिन्तनम् ।
यत्स्यात्तदपि तत्त्वज्ञैः पूर्वमार्त्तं प्रकीर्त्तितम् ॥ २८ ॥

अर्थ—जो समस्त प्रकारके अनिष्ट पदार्थोंके संयोग होनेपर उनके वियोग होनेका वारवार चिन्तवन हो उसे भी तत्त्वके जाननेवालोंने पहिला अनिष्ट संयोग नामा आर्त्त ध्यान कहा है ॥ २८ ॥

अब दूसरे-इष्टवियोग नामा आर्त्तध्यानका वर्णन करते हैं,—

शार्दूलविक्रीडितम् ।

राज्यैश्वर्यकलत्रबान्धवसुहृत्सौभाग्यभोगात्यये
चित्तप्रीतिकरप्रसन्नविषयप्रध्वंसभावेऽथवा ।
संत्रासभ्रमशोकमोहविवशैर्यत्खिद्यतेऽहर्निशम्
तत्स्यादिष्टवियोगजं तनुमतां ध्यानं कलङ्कास्पदम् ॥ २९ ॥

अर्थ—जो राज्य ऐश्वर्य स्त्री कुटुंब मित्र सौभाग्य भोगादिके नाश होनेपर तथा चित्तको प्रीति उत्पन्न करनेवाले सुन्दर इन्द्रियोंके विषयोंका प्रध्वंसभाव होते हुए संत्रास पीड़ा भ्रम शोक मोहके कारण निरन्तर खेदरूप होना सो जीवोंके इष्टवियोगजनित आर्त्तध्यान है और यह ध्यान पापका स्थान है ॥ २९ ॥

दृष्टश्रुतानुभूतैस्तैः पदार्थैश्चित्तरञ्जकैः ।
वियोगे यन्मनः खिन्नं स्यादार्त्तं तद्द्वितीयकम् ॥ ३० ॥

अर्थ—देखे सुने अनुभव किये मनको रञ्जायमान करनेवाले पूर्वोक्त पदार्थोंका वियोग होनेपर जो मनको खेद हो वह भी दूसरा आर्त्तध्यान है ॥ ३० ॥

मनोज्ञवस्तुविध्वंसे मनस्तत्सङ्गमार्थिभिः ।
क्लिश्यते यत्तदेतत्स्याद्द्वितीयार्त्तस्य लक्षणम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—अपने मनकी प्यारी वस्तुके विभ्रम होनेपर पुनः उसकी प्राप्तिके लिये जो क्लेशरूप होना सो दूसरे आर्त्तध्यानका लक्षण है। इस प्रकार दूसरा आर्त्तध्यान कहा ॥ ३१ ॥

अब तीसरे आर्त्तध्यानका वर्णन करते हैं,—

शार्दूलविक्रीडितम् ।

कासश्वासभगन्दरोदरजराकुष्ठातिसारज्वरैः
पित्तश्लेष्ममरुत्प्रकोपजनितैरोगैः शरीरान्तकैः ।
स्यात्सत्त्वप्रबलैः प्रतिक्षणभवैर्यद्व्याकुलत्वं नृणाम्
तद्रोगार्त्तमनिन्दितैः प्रकटितं दुर्वाररदुःखाकरम् ॥ ३२ ॥

अर्थ—वातपित्तकफके प्रकोपसे उत्पन्न हुए शरीरको नाश करनेवाले बीयसे प्रबल और क्षण २ में उत्पन्न होनेवाले कास श्वास भगन्दर जलोदर जरा कोढ अतिसार ज्वरादिक रोगोंसे मनुष्योंके जो व्याकुलता होती है उसे अनिंदित पुरुषोंने रोगपीडाचिन्तवननामा आर्त्तध्यान कहा है यह ध्यान दुर्निवार और दुःखोंका आकर है जो कि आगामी कालमें पापबंधका कारण है ॥ ३२ ॥

स्वल्पानामपि रोगाणां माभूत्स्वप्नेऽपि संभवः ।
ममेति या नृणां चिंता स्यादार्त्तं तत्तृतीयकम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—जीवोंके ऐसी चिंता हो कि मेरे किंचित् भी रोगकी उत्पत्ति स्वप्नमें भी न हो ऐसा चिंतवना सो तीसरा आर्त्तध्यान है ॥ ३३ ॥

अब चौथे आर्त्तध्यानको कहते हैं,—

स्रग्धरा ।

भोगा भोगीन्द्रसेव्यास्त्रिभुवनजयिनी रूपसाम्राज्यलक्ष्मी
राज्यं क्षीणारिचक्रं विजितसुरवधूलास्यलीलायुवत्यः ।
अन्यच्चानन्दभूतं कथमिह भवतीत्यादि चिन्तासुभाजाम्
यत्तद्भोगार्त्तमुक्तं परमगुणधरैर्जन्मसन्तानमूलं[1] ॥ ३४ ॥

अर्थ—धरणीन्द्रके सेवने योग्य तो भोग और तीन भुवनको जीतनेवाली रूप साम्राज्यकी लक्ष्मी, तथा क्षीण हो गये है शत्रुओंके समूह जिसमें ऐसा राज्य, और देवाङ्गनाओंके नृत्यकी लीलाको जीतनेवाली स्त्री इत्यादि और भी आनंदरूप वस्तुएँ मेरे कैसे हो, इस प्रकारसे चिंतवनको परम गुणोंको धारण करनेवालोंने भोगार्त्त नामा चौथा आर्त्तध्यान कहा है और यह ध्यान संसारकी परिपाटीसे हुआ है और संसारका मूल कारण भी है ॥ ३४ ॥

---

१ 'जन्मसन्तानमूल' इत्यपि पाठः ।

पुनः

पुण्यानुष्ठानजातैरभिलषति पदं यज्जिनेन्द्रामराणां
यद्वा तैरेव वाञ्छत्यहितकुलकुजच्छेदमत्यन्तकोपात्।
पूजासत्कारलाभप्रभृतिकमथवा याचते यद्विकल्पै:
स्यादार्तं तन्निदानप्रभवमिह नृणां दुःखदावोग्रधाम॥३५॥

अर्थ—जो प्राणी पुण्याचरणके समूहसे तीर्थङ्करके अथवा देवोंके पदकी वांछा करै अथवा उन ही पुण्यचरणोंसे अत्यन्त कोपके कारण शत्रुसमूहरूपी वृक्षोंके उच्छेदकी वांछा करै तथा उन विकल्पोंमे अपनी पूजा प्रतिष्ठालाभादिककी याचना करै उसको निदानजनित आर्तध्यान कहते है यह ध्यान भी जीवोंको दुःखरूपी अग्निका स्थान है ॥ ३५ ॥

इष्टभोगादिसिद्ध्यर्थं रिपुघातार्थमेव वा।
यन्निदानं मनुष्याणां स्यादार्तं तत्तुरीयकं ॥ ३६ ॥

अर्थ—मनुष्योंके इष्ट भोगादिककी सिद्धिके लिये तथा शत्रुके घातके लिये निदान है, सो चौथा आर्तध्यान है ॥ ३६ ॥

इन्द्रवज्रा।

इत्थं चतुर्भिः प्रथितैर्विकल्पै-
रार्तं समासादिह हि प्रणीतम्।
अनन्तजीवाशयभेदभिन्नं
ब्रूते समर्थो यदि वीरनाथः ॥ ३७ ॥

अर्थ—इस प्रकार [illegible] विकल्पोंसे इस शास्त्रमें आर्तध्यान [illegible] और [illegible] अनन्त जीवोंके आशयके भेदसे भेदरूप कहा जाय तो वीरनाथ भगवान् है [illegible] सामर्थ्य नहीं है ॥ ३७ ॥

अपथ्यमपि पर्यन्ते रम्यमप्यग्रिमक्षणे।
विद्ध्यसद्ध्यानमेतद्धि षड्गुणस्थानभूमिकम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—हे भगवन्! यह आर्तध्यान प्रारम्भ [illegible] रमणीक है तथापि [illegible] है [illegible] असद्ध्यान [illegible] और यह ध्यान छठे गुणस्थान [illegible] है ॥ ३८ ॥

संयतासंयतेष्वेतच्चतुर्भेदं प्रजायते।
प्रमत्तसंयतानां तु निदानरहितं त्रिधा ॥ ३९ ॥

अर्थ—[illegible] गुणस्थानों [illegible]

रहता है किन्तु छट्ठे प्रमत्तसंयत गुणस्थानमें निदानरहित तीन ही प्रकारका उत्पन्न होता है ॥ ३९ ॥

कृष्णनीलाद्यसल्लेश्याबलेन प्रविजृम्भते ।
इदं दुरितदावार्चिःप्रसूतेरिन्धनोपमम् ॥ ४० ॥

अर्थ—यह आर्तध्यान कृष्ण नील कापोत इन अशुभ लेश्याओंके बलसे प्रगट होता है सो पापरूपी दावाग्निके उत्पन्न करनेको ईंधनके समान है ॥ ४० ॥

एतद्विनापि यत्नेन स्वयमेव प्रसूयते ।
अनाद्यसत्समुद्भूतसंस्कारादेव देहिनाम् ॥ ४१ ॥

अर्थ—यह आर्तध्यान जीवोंके अनादि कालके अप्रशस्तरूप संस्कारसे विना यत्नके स्वयमेव उत्पन्न होता है अर्थात्—विना उपदेशके संस्कारवशात् अपने आप प्रगट होता है ॥ ४१ ॥

अनन्तदुःखसंकीर्णमस्य तिर्यग्गतेः फलम् ।
क्षायोपशमिको भावः कालश्चान्तर्मुहूर्त्तकः ॥ ४२ ॥

अर्थ—इस आर्तध्यानका फल अनन्त दुःखोंसे व्याप्त तिर्यग्गति है और यह भाव क्षायोपशमिक है और इसका काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है एक ज्ञेयपर अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त ही रहता है, तत्पश्चात् ज्ञेयान्तर होता है ॥ ४२ ॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

शङ्काशोकभयप्रमादकलहश्चित्तभ्रमोद्भ्रान्तयः
उन्मादो विषयोत्सुकत्वमसकृन्निद्राङ्गजाड्यश्रमाः ।
मूर्च्छादीनि शरीरिणामविरतं लिङ्गानि बाह्यान्यलं
मार्ताधिष्ठितचेतसा श्रुतधरैर्व्यावर्णितानि स्फुटम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—इस आर्तध्यानसे आश्रित चित्तवाले पुरुषोंके बाह्यचिह्न शास्त्रोंके पारगामी विद्वानोंने इस प्रकार कहे हैं कि—प्रथम तो शङ्का होती है अर्थात् हर बातमें संदेह होता है, फिर शोक होता है, भय होता है, प्रमाद होता है, सावधानी नहिं होती, कलह करता है, चित्तभ्रम हो जाता है, उद्भ्रान्ति हो जाती है, चित्त एक जगह नहिं ठहरता, विषयसेवनमें उत्कंठा रहती है, निरन्तर निद्रागमन होता है, अङ्गमें जडता (शिथिलता) होती है, खेद होता है, मूर्च्छा होती है इत्यादि चिह्न आर्त ध्यानीके प्रगट होते हैं ॥ ४३ ॥

इस प्रकार आर्तध्यानका वर्णन किया यह अप्रशस्त ध्यान स्वयमेव विना उपदेश व संस्कारके उत्पन्न होता है, सो त्यागने योग्य है ॥

१ 'चिन्ताभ्रमोद्भ्रान्तयः' इत्यपि पाठः ।

दोहा

दुखके कारण आवर्त्तें, दुःखरूप परिणाम ।
भोग चाहि यह ध्यान दुर, आर्त्त तजो अघधाम ॥ २५ ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे आर्त्तध्यान वर्णन नाम पञ्चत्रिंश प्रकरण समाप्त ॥ २५ ॥

अथ षड्विंश प्रकरण लिख्यते ।

आगे रौद्रध्यानका वर्णन करते है,—

रुद्राशयभव भीममपि रौद्र चतुर्विधम् ।
कीर्त्यमान विदन्त्वार्या. सर्वसत्त्वाभयप्रदा' ॥ १ ॥

अर्थ—हे समस्त जीवोंको अभयदान देनेवाले आर्य पुरुषो! रुद्र आशयसे उत्पन्न हुए भयानक रौद्रध्यान भी चार प्रकारका कहा है, उसे जानो ॥ १ ॥

रुद्र' क्रूराशयः प्राणी प्रणीतस्तत्त्वदर्शिभि. ।
रुद्रस्य कर्मभावो वा रौद्रमित्यभिधीयते ॥ २ ॥

अर्थ—तत्त्वदर्शी पुरुषोंने क्रूर आशयवाले प्राणीको रुद्र कहा है उस रुद्र प्राणीके कार्य अथवा उसके भावको (परिणामको) रौद्र कहते हैं ॥ २ ॥

हिंसानन्दान्मृपानन्दाचौर्यात्संरक्षणात्तथा ।
प्रभवत्यङ्गिना शश्वदपि रौद्र चतुर्विधम् ॥ ३ ॥

अर्थ—हिंसामें आनन्द माननेसे, तथा मृषाम (असत्य कहनेमें) आनन्द माननेसे, चोरीमें आनन्द माननेसे, और विषयोंकी रक्षा करनेमें आनन्द माननेसे जीवोंके रौद्र ध्यान भी निरन्तर चार प्रकारका होता है अर्थात् हिंसानद मृषानद चौर्यानद और संरक्षणानन्द ये ४ भेद रौद्रध्यानके हैं ॥ ३ ॥

प्रथम ही हिंसानन्दनामा रौद्रध्यानको कहते हैं,—

हते निष्पीडिते ध्वस्ते जन्तुजाते कदर्थिते ।
स्वेन चान्येन यो हर्षस्तद्धिसारौद्रमुच्यते ॥ ४ ॥

अर्थ—जीवोंके समूहको अपनेसे तथा अन्यके द्वारा मारे जानेपर तथा पीडित किये जानेपर तथा ध्वस करनेपर और घातनेके सम्बन्ध मिलाये जानेपर जो हर्ष माना, उसे हिंसानन्द नामा रौद्रध्यान कहते हैं ॥ ४ ॥

उपजाति ।

अनारतं निष्करुणस्वभावः स्वभावतः क्रोधकषायदीप्तः ।
मदोद्धतः पापमतिः कुशीलः स्यान्नास्तिको यः स हि रौद्रधामा ॥५॥

अर्थ—जो पुरुष निरंतर निर्दय स्वभाववाला हो, तथा स्वभावसे ही क्रोधकषायसे प्रज्वलित हो तथा मदसे उद्धत हो, जिसकी बुद्धि पापरूप हो, तथा कुशीली हो, व्यभिचारी हो, नास्तिक हो वह रौद्रध्यानका घर है अर्थात् ऐसे पुरुषमें यह रौद्रध्यान बसता है ॥ ५ ॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

हिंसाकर्मणि कौशलं निपुणता पापोपदेशे भृशम्
दाक्ष्यं नास्तिकशासने प्रतिदिनं प्राणातिपाते रतिः ।
संवासः सह निर्दयैरविरतं नैसर्गिकी क्रूरता
यत्स्याद्देहभृतां तदत्र गदितं रौद्रं प्रशान्ताशयैः ॥ ६ ॥

अर्थ—जीवोंके हिंसाकर्ममें प्रवीणता हो, पापोपदेशमें निपुणता हो, नास्तिक मतमें चातुर्य हो, जीवघातनेमें निरन्तर प्रीति हो तथा निर्दयी पुरुषोंकी निरन्तर संगति हो, स्वभावसे ही क्रूरता हो, दुष्टभाव हो, उसको प्रशान्तचित्तवाले महापुरुषोंने रौद्रध्यान कहा है ॥ ६ ॥

स्रग्धरा छन्दः ।

केनोपायेन घातो भवति तनुमतां कः प्रवीणोऽत्र हन्ता
हन्तुं कस्यानुरागः कतिभिरिह दिनैर्हन्यते जन्तुजातम् ।
हत्वा पूजां करिष्ये द्विजगुरुमरुतां कीर्तिशान्त्यर्थमित्थम्
यत्स्याद्धिंसाभिनन्दो जगति तनुभृतां तद्धि रौद्रं प्रणीतम् ॥७॥

अर्थ—इस जगत् जीवोंका घात किस उपायसे हो, यहां घात करनेमें कौन चतुर है, घात करनेमें किसके अनुराग है, यह जीवोंका समूह कितने दिनोंमें मारा जायगा, इन जीवोंको मारकर बलि देकर कीर्ति और शान्तिके लिये ब्राह्मण गुरु देवोंकी पूजा करूंगा, इत्यादि प्रकारसे जीवोंकी हिंसा करनेमें जो आनन्द हो, उसको निश्चय करके रौद्रध्यान कहते हैं ॥ ७ ॥

मालिनी ।

गगनवनधरित्रीचारिणां देहभाजाम्
दलनदहनबन्धच्छेदघातेषु यत्नम् ।
इतिनखकरनेत्रोत्पाटने कौतुकं यत्
तदिह गदितमुच्चैश्चेतसा रौद्रमित्थम् ॥ ८ ॥

अर्थ—नभचर पक्षी, जलचर मत्स्यादिक और थलचर पशु इन जीवोंका मर्दन करने दग्ध करने बांधने छेदन करने घातने आदि यत्न करना तथा इनके नख दन्त हाथ नेत्रादिकके नष्ट करने (उखाड़ने)में जो कौतूहलरूप (क्रीडारूप) परिणाम हो वही यहां रौद्रध्यान है, ऐसे ऊके जिनवाले पुरुषोंके वचन हैं ॥ ८ ॥

अस्य घातो जयोऽन्यस्य समरे जायतामिति ।
स्मरत्यङ्गी तदप्याहु रौद्रमध्यात्मवेदिनः ॥ ९ ॥

अर्थ—युद्धमें इसका घात हो और उसकी जीत हो इसप्रकार स्मरण करै (विचारै) उसे भी अध्यात्मके जाननेवालोंने रौद्रध्यान कहा है ॥ ९ ॥

श्रुते दृष्टे स्मृते जन्तुवधाद्युरुपराभवे ।
यो हर्षस्तद्धि विज्ञेयं रौद्रं दुःखानलेन्धनम् ॥ १० ॥

अर्थ—जीवोंके वध बधनादि तीव्र दुःख वा अपमानके सुनने देखने वा स्मरण करनेमें जो हर्ष होता है उसे भी दुःखरूपी अग्निको इंधनकी समान रौद्रध्यान जानना ॥ १० ॥

अहं कदा करिष्यामि पूर्ववैरस्य निष्क्रियम् ।
अस्य चित्रैर्वधैश्चेति चिन्ता रौद्राय कल्पिता ॥ ११ ॥

अर्थ—इस पूर्वकालके वैरीका अनेक प्रकारके घातसे मैं किस समय बदला दूंगा ऐसी चिन्ता भी रौद्रध्यानके लिये कही गई है ॥ ११ ॥

किं कुर्मः शक्तिवैकल्याज्जीवन्त्यद्यापि विद्विषः ।
तद्वधमुत्र हनिष्यामः प्राप्य कालं तथा बलम् ॥ १२ ॥

अर्थ—फिर ऐसा विचारै कि—हम क्या करैं? शक्ति न होनेके कारण शत्रु अभीतक जीते हैं नहीं तो कभीके मार डालते अस्तु, इस समय नहीं तो न सही परलोकमें शक्तिको प्राप्त होकर किसी समय अवश्य मारैंगे, इसप्रकार संकल्प करना भी रौद्र ध्यान है ॥ १२ ॥

मालिनी छन्द ।

अभिलषति नितान्तं यत्परस्यापकारं
व्यसनविशिखभिन्नं वीक्ष्य यत्तोषमेति ।
यदिह गुणगरिष्ठं द्वेष्टि दृष्ट्वान्यभूतिं
भवति हृदि सशल्यस्तद्धि रौद्रस्य लिङ्गम् ॥ १३ ॥

अर्थ—जो अन्यका बुरा चाहै तथा परको कष्ट आपदारूप बाणोंसे भेदा हुआ दुःखी देखकर सन्तुष्ट हो तथा गुणोंसे गरवा देख अथवा अन्यके सपदा देखकर द्वेषरूप हो अपने हृदयमें शल्यसहित हो सो निश्चय करके रौद्रध्यानका चिह्न है ॥ १३ ॥

हिंसानन्दोद्भव रौद्रं वक्तुं कस्यास्ति कौशलम् ।
जगज्जन्तुसमुद्भूतविकल्पशतसम्भवम् ॥ १४ ॥

अर्थ—इस हिंसानंदसे उत्पन्न हुए रौद्र ध्यानके कहनेको किसके कुशलता (विद्वत्ता) है? क्योंकि यह जगतके जीवोंके उत्पन्न हुए सैंकडों विकल्पोंसे उत्पन्न होता है इसके परिणाम अनेक प्राणियोंके अनेक प्रकारके हैं सो कहनेमें नहिं आ सकते ॥ १४ ॥

हिंसोपकरणादानं क्रूरसत्त्वेष्वनुग्रहः ।
निस्त्रिंशतादिलिङ्गानि रौद्रे बाह्यानि देहिनः ॥ १५ ॥

अर्थ—हिंसाके उपकरण शस्त्रादिकका संग्रह करना, क्रूर (दुष्ट) जीवोंपर अनुग्रह करना और निर्दयतादिक भाव रौद्र ध्यानके देहधारियोंके बाह्य चिह्न हैं ॥ १५ ॥

इस प्रकार हिंसानंदनामा प्रथम रौद्र ध्यानका वर्णन किया। अब दूसरे मृषानंदनामा रौद्रध्यानका वर्णन करते हैं,—

असत्यकल्पनाजालकश्मलीकृतमानसः ।
चेष्टते यज्जनस्तद्धि मृषारौद्रं प्रकीर्तितम् ॥ १६ ॥

अर्थ—जो मनुष्य असत्य झूटी कल्पनाओंके समूहसे पापरूपी मैलसे मलिनचित्त होकर जो कुछ चेष्टा करै उसे निश्चय करके मृषानंदनामा रौद्रध्यान कहा है ॥ १६ ॥

विधाय वञ्चकं शास्त्रं मार्गमुद्दिश्य निर्दयम् ।
प्रपात्य व्यसने लोकं भोक्ष्येऽहं वाञ्छितं सुखम् ॥ १७ ॥

उपजाति ।

असत्यचातुर्यबलेन लोकाद्वित्तं ग्रहीष्यामि बहुप्रकारम् ।
तथाश्वमातङ्गपुराकराणि कन्यादिरत्नानि च बन्धुराणि ॥ १८ ॥
असत्यवाग्वञ्चनया नितान्तं प्रवर्तयत्यत्र जनं वराकम् ।
सद्धर्ममार्गादतिवर्तनेन मदोद्धतो यः स हि रौद्रधामा ॥ १९ ॥

अर्थ—जो पुरुष इस जगतमें समीचीन सत्य धर्मके मार्गको छोडकर प्रवर्ते और मदसे उद्धत हो इस प्रकार चिन्तवन करै कि—ठगाईके शास्त्रोंको रचकर अन्य दया रहित मार्गको चलाकर जगतको उस मार्गमें तथा कष्टआपदाओंमें डालकर अपने मनोवांछित सुख मैं ही भोगूं तथा इस प्रकार विचारै कि—असत्य चतुराईके प्रभावसे लोगोंसे बहुत प्रकारसे धन ग्रहण करूंगा तथा घोडे हाथी नगर खानोंके समूह सुंदर कन्यादिक रत्न ग्रहण करूंगा। इस प्रकार जो सद्धर्ममार्गसे च्युत होकर असत्य वचनोंकी ठगाईसे अत्यन्त भोले जीवोंको प्रवर्तावै वह मदोद्धत पुरुष रौद्र ध्यानका मंदिर (घर) है अर्थात् उसमें मृषानंदनामा रौद्रध्यान रहता है ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥

आख्यानकी।

अमत्यसामर्थ्यवशादरातीन्
नृपेण वान्येन च घातयामि।
अदोषिणा दोषचयं विधाय
चिन्तेति रौद्राय मता मुनीन्द्रैः ॥ २० ॥

अर्थ—मैं अदोषियोंमें दोषसमूहको सिद्ध करके अपने असत्य सामर्थ्यके प्रभाव अपने दुश्मनोंको राजाके द्वारा या अन्य किसीके द्वारा घात करूंगा इसप्रकार चिन्त करनेको भी मुनींद्रोंने रौद्रध्यान माना है ॥ २० ॥

पातयामि जनं मूढं व्यसनेऽनर्थसंकटे।
वाक्कौशल्यप्रयोगेण वाञ्छितार्थप्रसिद्धये ॥ २१ ॥

अर्थ—तथा जो इसप्रकार विचार करै कि मैं वचनकी प्रवीणताके प्रयोगोंसे वांछि प्रयोजनकी सिद्धिके लिये मूढ जनोंको अनर्थके संकटमें डालदूं ऐसा चतुर हूं, इ प्रकारका विचार भी रौद्रध्यान है ॥ २१ ॥

वंशस्थम्।

इमान् जडान् बोधविचारविच्युतान्
प्रतारयाम्यत्र वचोभिरुन्नतैः।
अमी प्रवर्त्स्यन्ति मदीयकौशला-
दकार्यवर्येष्विति नात्र संशयः ॥ २२ ॥

अर्थ—फिर इस प्रकार विचार करै कि—ये ज्ञानरहित मूर्ख प्राणी हैं, इनको उन्नत चतुराईके वचनोंसे अभी ठग लेता हूं मैं ऐसा चतुर हूं। तथा ये प्राणी मेरी प्रवीणतासे अकार्योंमें प्रवर्तेंगा ही इसमें कुछ संदेह नहीं है, ऐसे विचारको भी रौद्रध्यान कहते हैं ॥ २२ ॥

अनेकासत्यसंकल्पैर्यः प्रमोदः प्रजायते।
मृषानन्दात्मकं रौद्रं तत्प्रणीतं पुरातनैः ॥ २३ ॥

अर्थ—इस प्रकार अन्य भी अनेक प्रकारके असत्य संकल्पोंसे जो प्रमोद (हर्ष) उत्पन्न हो उसे पुरातन पुरुषोंने रौद्रध्यान कहा है ॥ २३ ॥

इस प्रकार रौद्रध्यानके दूसरे भेद मृषानन्दका वर्णन किया। अब चौर्यानन्द नामक तीसरे भेदका वर्णन करते हैं,—

चौर्योपदेशबाहुल्यं चातुर्यं चौर्यकर्मणि।
यच्चौर्यैकपरं चेतस्तच्चौर्यानन्द इष्यते ॥ २४ ॥

अर्थ—जो चोरीके कार्योंके उपदेशकी अधिकता तथा चौर्यकर्ममें चतुरता तथा चोरीके कार्योंमें ही तत्परचित्त हो उसे चौर्यानंदनामा रौद्रध्यान माना है ॥ २४ ॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

यच्चौर्याय शरीरिणामहरहश्चिन्ता समुत्पद्यते
कृत्वा चौर्यमपि प्रमोदमतुलं कुर्वन्ति यत्सततम् ।
चौर्येणापि हृते परैः परधने यज्जायते संभ्रम-
स्तच्चौर्यप्रभवं वदन्ति निपुणा रौद्रं सुनिन्दास्पदम् ॥ २५ ॥

अर्थ—जीवोंके चौर्यकर्मके लिये निरंतर चिंता उत्पन्न हो तथा चोरीकर्म करके भी निरंतर अतुल हर्ष मानै आनंदित हो तथा अन्य कोई चोरीके द्वारा परधनको हरै उसमें हर्ष मानै उसे निपुण पुरुष चौर्य कर्मसे उत्पन्न हुआ रौद्रध्यान कहते हैं यह ध्यान अतिशय निंदाका धारण है ॥ २५ ॥

उपजाति ।

कृत्वा सहायं परवीरसैन्यं तथाभ्युपायांश्च बहुप्रकारान् ।
धनान्यलभ्यानि चिरार्जितानि सद्यो हरिष्यामि जनस्य धात्र्याम्॥२६॥

अर्थ—इस धरित्रीमें (पृथिवीमें) लोगोंके धन अलभ्य हैं तथा बहुत कालके संचित किये हुए हैं सो भी मैं बड़े २ सुभटोंकी सेनाकी सहायतासे तथा अनेक उपायोंसे तत्कालही हर लाउंगा ऐसा घोर है ॥ २६ ॥

आर्या ।

द्विपदचतुष्पदसारं धनधान्यवराङ्गनासमाकीर्णम् ।
वस्तु परकीयमपि मे स्वाधीनं चौर्यसामर्थ्यात् ॥ २७ ॥

उपजाति ।

इत्थं चुरायां विविधप्रकारः शरीरिभिर्यः क्रियतेऽभिलाषः ।
अपारदुःखार्णवहेतुभूतं रौद्रं तृतीयं तदिह प्रणीतम् ॥ २८ ॥

अर्थ—तथा परके द्विपद चौपदोंमें जो सार हैं अर्थात् उत्तम है तथा धन धान्य श्रेष्ठ स्त्री सहित अन्यकी जो वस्तुयें हैं सो मेरी चोरी कर्मकी सामर्थ्यसे मेरे ही स्वाधीन है ऐसा विचार करै ॥ २७ ॥ इस प्रकार चोरीमें जीवोंकरके जो अनेक प्रकारकी वांछा कीयी जाय सो रौद्र ध्यान है यह रौद्रध्यान अपार दुःखरूपी समुद्रमें पड़नेका कारणभूत है ॥ २८ ॥

इस प्रकार रौद्रध्यानके तीसरे भेद चौर्यानंदनामा ध्यानका वर्णन किया । आगे विषयसंरक्षण नामा रौद्रध्यानके चौथे भेदका वर्णन करते हैं,—

शार्दूलविक्रीडितम् ।

बह्वारम्भपरिग्रहेषु नियतं रक्षार्थ-
मभ्युद्यते यत्संकल्पपरम्परां वितनुते ।

यथालभ्य महत्त्वमुन्नतमना राजेत्यहं मन्यते
तत्तुर्यं प्रवदन्ति निर्मलधियो रौद्रं भवाशंसिनाम्॥ २९॥

अर्थ—यह प्राणी रौद्र (क्रूर) चित्त होकर बहुत आरंभ परिग्रहोंमें रक्षार्थ उद्यम करै और उसमें ही संकल्पकी परंपराको विस्तारै तथा रौद्रचित्त होकर ही महत्त्व अवलंबन करके उन्नतचित्त हो, ऐसा मानै कि मैं राजा हूं ऐसे परिणामको बुद्धिवाले महापुरुष संसारकी वांछा करनेवाले जीवोंके चौथा रौद्रध्यान कहते हैं॥२९॥

उपजाति।

आरोप्य चापं निशितैः शरौघैर्निकृत्य वैरिव्रजमुद्धताशम्।
दग्ध्वा पुरग्रामवराकराणि प्राप्स्येऽहमैश्वर्यमनन्यसाध्यम्॥३०॥

इन्द्रवज्रा।

[illegible] गृह्णन्ति धरा मदीया कन्यादिरत्नानि च दिव्यनारीः।
[illegible] वः सम्प्रति लुब्धचित्तास्तेषां करिष्ये कुलकक्षदाहम्॥ ३१॥

मालिनी।

सकलभुवनपूज्यं वीरवर्गोपसेव्यम्
स्वजनधनसमृद्धं रत्नरामाभिरामम्।
अमितविभवसारं विश्वभोगाधिपत्यम्
प्रबलरिपुकुलान्तं हन्त कृत्वा मयाप्तम्॥ ३२॥

उपजाति।

[illegible]वा भुवं जन्तुकुलानि हत्वा प्रविश्य दुर्गाण्युदधिं विलङ्घ्य।
[illegible] पदं मूर्ध्नि मदोद्धतानां मयाधिपत्यं कृतमत्युदारम्॥ ३३॥

[illegible] प्रणाधिप्रपञ्चैः।
[illegible] निःशेषम [illegible] प्रबलप्रतापः॥ ३४॥
[illegible] सरक्षणसं [illegible] मनुष्यैः।
[illegible] नन्दभव त [illegible] ॥
[illegible] को विस्त
[illegible] तीक्ष्ण
[illegible] तुपक
[illegible] आकर
[illegible] को प्राप्त होऊ
[illegible] वैरी इस समय
[illegible] लेते हैं उनके

तथा— अहो! देखो जो समस्त भुवनोंके जीवोंकरके पूजनीय, सुभटोंके समूहसे सेवने योग्य, स्वजन धनादिकसे पूर्ण, रत्न और स्त्रियोंसे सुंदर, अमयादिक विभवके सार ऐसे समस्त भोगोंका स्वामित्व अपने शत्रुओंके समूहको नाश करके मैंने पाया है ॥ ३२ ॥

तथा—पृथिवीको भेदकर जीवोंके समूहको मारकर दुर्ग (गर्तों)में प्रवेश करके, समुद्रको उल्लंघ करके बडे गर्वसे उद्धत शत्रुओंके मस्तकपर पांव देकर मैंने उदार स्वामीपना वा राज्य किया है ॥ ३३ ॥

तथा—जल अग्नि सर्प विषादिकके प्रयोगोंसे विश्वास दिलाना, भेद करना, दूतभेद करना इत्यादि प्रपंचोंसे शत्रुओंके समस्त समूहोंका नाश करके यह मेरा प्रबल प्रताप है सो स्फुरायमान है (प्रगट है) मैं ऐसा ही प्रतापी हूं ॥ ३४ ॥ इत्यादिक मनुष्योंके विषय सरंक्षणके संनिबंध कारणोंका जो चिंतवन करना उसको ही जिनेंद्र भगवानने चौथा रौद्र ध्यान कहा है ॥ ३५ ॥

इसप्रकार रौद्रध्यानका वर्णन किया । अब इसमें लेश्या तथा चिह्नादिकका वर्णन करते हैं—

कृष्णलेश्याबलोपेतं श्वभ्रपातफलाङ्कितम् ।
रौद्रमेतद्धि जीवानां स्यात्पञ्चगुणभूमिकम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—यह रौद्रध्यान कृष्ण लेश्याके बल कर तो संयुक्त है और नरकपातके फलसे चिह्नित है तथा पंचम गुणस्थानपर्यन्त कहा गया है ॥ ३६ ॥

प्रश्न—यहां कोई प्रश्न करै कि रौद्रध्यान पांचवें गुणस्थानमें कहा सो सिद्धान्तमें पांचवें गुणस्थानमें लेश्या तो शुभ कही है और नरक आयुका बंध भी नहीं है सो पंचम गुणस्थानमें रौद्रध्यान कैसे हो ?

उत्तर—यह रौद्रध्यानका कथन प्रधानतासे मिथ्यादृष्टीकी अपेक्षा है । पांचवें गुणस्थान सम्यक्त्वकी सामर्थ्यसे ऐसे रौद्र परिणाम नहिं होते । कुछ पूर्वबद्ध संस्कारसे किंचित् लेशमात्र होता है उसकी अपेक्षा कहा है सो यह नरकगतिका कारण नहीं है ॥

क्रूरता दण्डपारुष्यं वञ्चकत्वं कठोरता ।
निस्त्रिंशत्वं च लिङ्गानि रौद्रस्योक्तानि सूरिभिः ॥ ३७ ॥

अर्थ—तथा क्रूरता (दुष्टता), दण्डकी समान परुषता, वञ्चकता, कठोरता, निर्दयता ये रौद्रध्यानके चिह्न आचार्योंने कहे हैं ॥ ३७ ॥

विस्फुलिङ्गनिभे नेत्रे भ्रूवक्रा भीषणाकृतिः ।
कम्पः स्वेदादिलिङ्गानि रौद्रे बाह्यानि देहिनाम् ॥ ३८ ॥

यद्यालम्ब्य महत्वमुन्नतमना राजेत्यहं मन्यते
तच्चुर्यं प्रवदन्ति निर्मलधियो रौद्रं भवाशंसिनाम् ॥ २९ ॥

अर्थ—यह प्राणी रौद्र (क्रूर) चित्त होकर बहुत आरंभ परिग्रहोंमें रक्षाके लिये उद्यम करै और उसमें ही संकल्पकी परंपराको विस्तारै तथा रौद्रचित्त होकर ही महत्त्वका अवलंबन करके उन्नतचित्त हो, ऐसा मानै कि मैं राजा हूं ऐसे परिणामको निर्मल बुद्धिवाले महापुरुष संसारकी वांछा करनेवाले जीवोंके चौथा रौद्रध्यान कहते हैं ॥ २९ ॥

उपजाति ।

आरोप्य चापं निशितैः शरौघैर्निकृत्य वैरिव्रजमुद्धताशम् ।
दग्ध्वा पुरग्रामवराकराणि प्राप्स्येऽहमैश्वर्यमनन्यसाध्यम् ॥ ३० ॥

इन्द्रवज्रा ।

आच्छिद्य गृह्णन्ति धरां मदीयां कन्यादिरत्नानि च दिव्यनारीः ।
ये शत्रवः सम्प्रति लुब्धचित्तास्तेषां करिष्ये कुलकक्षदाहम् ॥ ३१ ॥

मालिनी ।

सकलभुवनपूज्यं वीरवर्गोपसेव्यम्
स्वजनधनसमृद्धं रत्नरामाभिरामम् ।
अमितविभवसारं विश्वभोगाधिपत्यम्
प्रबलरिपुकुलान्तं हन्त कृत्वा मयासम् ॥ ३२ ॥

उपजाति ।

भित्त्वा भुवं जन्तुकुलानि हत्वा प्रविश्य दुर्गाण्युदधिं विलङ्घ्य ।
कृत्वा पदं मूर्ध्नि मदोद्धतानामपाधिपत्यं कृतमत्युदारम् ॥ ३३ ॥

जलानलव्यालविषप्रयोगैर्विश्वासभेदप्रणधिप्रपञ्चैः ।
उत्सद्य निःशेषमरातिचक्रं स्फुरत्ययं मे प्रबलप्रतापः ॥ ३४ ॥

इत्यादिसंरक्षणसंनिबन्धं सञ्चिन्तनं परिक्रियते मनुष्यैः ।
संरक्षणानन्दभवं तदेतद्रौद्रं प्रणीतं जगदेकनाथैः ॥ ३५ ॥

अर्थ—जगत् अद्वितीय नाथ सर्वज्ञ देवने मनुष्योंके आगे लिखे विचारोंको विषयसंरक्षणके आनंदसे उत्पन्न हुआ रौद्र ध्यान कहा है। जैसे मनुष्य विचारे कि—मैं तीक्ष्ण बाणोंके समूहोंसे धनुषको आरोपण करके उद्धताशय वैरियोंके समूहको छेदकरके उनके पुरग्राम श्रेष्ठ आकर (खानि) आदिको दग्ध करके सामनेमें न आने ऐसे ऐश्वर्य निष्कंटक राज्य प्राप्त होऊंगा ॥ ३० ॥

तथा जो मेरी इस समय मेरी पृथिवी कन्या आदि रत्न और सुंदर स्त्रीको छुडाकर ग्रहण करते हैं उनके कुलरूपी वनको मैं दग्ध करूंगा ॥ ३१ ॥

तथा—अहो! देखो जो मेरा भुजोंके जीतनेरूपसे पूजनीय, सुभटोंके समूहसे सेवने योग्य, समस्त धनादिकसे पूर्ण, रूप और विद्यामें उदार, अणिमादिक विभवके सार ऐसे समस्त लोकोंका स्वामित्व अपने शत्रुओंके समूहको नाश करके मैंने पाया है ॥ ३२ ॥

तथा—पृथिवीको भेदकर जीवोंके समूहको मारकर दुर्ग (गढ़ों)में प्रवेश करके, समुद्रको उल्लंघन करके बड़े यत्नसे उद्धत शत्रुओंके मस्तकपर पांव देकर मैंने उदार स्वामीपना वा राज्य किया है ॥ ३३ ॥

तथा—जल अग्नि सर्प विषादिकके प्रयोगोंसे विश्वास दिलाना, भेद करना, दूतभेद करना इत्यादि प्रपंचोंसे शत्रुओंके समस्त समूहोंका नाश करके यह मेरा प्रबल प्रताप है सो स्फुरायमान है (प्रगट है) मैं ऐसा ही प्रतापी हूं ॥ ३४ ॥ इत्यादिक मनुष्योंके विषयसंरक्षणके संविधान कारणोंका जो चिंतवन करना उसको ही जिनेन्द्र भगवानने चौथा रौद्र ध्यान कहा है ॥ ३५ ॥

इसप्रकार रौद्रध्यानका वर्णन किया। अब इसमें लेश्या तथा चिह्नादिकका वर्णन करते हैं—

> कृष्णलेश्याबलोपेतं श्वभ्रपातफलाङ्कितम्।
> रौद्रमेतद्धि जीवानां स्यात्पञ्चगुणभूमिकम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—यह रौद्रध्यान कृष्ण लेश्याके बल कर तो संयुक्त है और नरकपातके फलसे चिह्नित है तथा पंचम गुणस्थानपर्यन्त कहा गया है ॥ ३६ ॥

प्रश्न—यहां कोई प्रश्न करे कि रौद्रध्यान पांचवें गुणस्थानमें कहा सो सिद्धान्तमें पांचवें गुणस्थानमें लेश्या तो शुभ कही है और नरक आयुका बंध भी नहीं है सो पंचम गुणस्थानमें रौद्रध्यान कैसे हो?

उत्तर—यह रौद्रध्यानका कथन प्रधानतासे मिथ्यात्वकी अपेक्षा है। पांचवें गुणस्थान सम्यक्त्वकी सामर्थ्यसे ऐसे रौद्र परिणाम नहिं होते। कुछ गृहकार्यके संस्कारसे किंचित् लेशमात्र होता है उसकी अपेक्षा कहा है सो यह नरकगतिका कारण नहीं है ॥

> क्रूरता दण्डपारुष्यं वञ्चकत्वं कठोरता।
> निस्त्रिंशत्वं च लिङ्गानि रौद्रस्योक्तानि सूरिभिः ॥ ३७ ॥

अर्थ—तथा क्रूरता (दुष्टता), दंडकी समान परुषता, वंचकता, कठोरता, निर्दयता ये रौद्रध्यानके चिह्न आचार्योंने कहे हैं ॥ ३७ ॥

> विस्फुलिङ्गनिभे नेत्रे भ्रूवक्रा भीषणाकृतिः।
> कम्पस्वेदादिलिङ्गानि रौद्रे बाह्यानि देहिनाम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—अग्निके फुलिंग समान लाल नेत्र हों, भौंह टेढी हों, भयानक आकृति हो, देहमें कंपन वा पसेवोंका होना इत्यादि रौद्रध्यानके बाह्य चिह्न हैं ॥ ३८ ॥

क्षायोपशमिको भावः कालश्चान्तर्मुहूर्त्तकः।
दुष्टाशयवशादेतदप्रशस्तावलम्बनम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—यह रौद्रध्यान क्षायोपशमिक भाव है, इसका काल अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त है और यह दुष्टाशयके वशसे अप्रशस्त वस्तुका अवलंबन करनेवाला है अर्थात् यह ध्या खोटी वस्तुपर ही होता है ॥ ३९ ॥

दहत्येव क्षणार्द्धेन देहिनामिदमुत्थितम्।
असद्ध्यानं त्रिलोकश्रीप्रसवं धर्मपादपम् ॥ ४० ॥

अर्थ—यह अप्रशस्त ध्यान जीवोंके होता है तब तीन लोककी लक्ष्मीके उत्प करनेवाले धर्मरूपी वृक्षको क्षणार्द्धमें जला देता है ॥ ४० ॥

अब आर्त्तरौद्र ध्यानोंका संक्षेप कहते हैं,—

उपजाति।

इत्यार्त्तरौद्रे गृहिणामजस्रं ध्याने सुनिन्द्ये भवतः स्वतोऽपि।
परिग्रहारम्भकषायदोषैः कलङ्कितेऽन्तःकरणे विशङ्कम् ॥ ४१ ॥

अर्थ—इस प्रकार ये आर्त्त और रौद्रध्यान गृहस्थियोंके परिग्रह आरंभ और कष यादि दोषोंसे मलिन अंतःकरणमें स्वयमेव निरन्तर होते हैं इसमें कुछ भी शंका नह है, ये दोनों ध्यान निन्दनीय हैं ॥ ४१ ॥

क्वचित्क्वचिदमी भावाः प्रवर्त्तन्ते मुनेरपि।
प्राक्कर्मगौरवाच्चित्रं प्रायः संसारकारणम् ॥ ४२ ॥

अर्थ—ये भाव किसी २ समय पूर्वकर्मके गौरवसे मुनिके भी होते हैं सो य पूर्वकर्मके उदयकी विचित्रता है, बाहुल्यसे ये संसारके कारण हैं ॥ ४२ ॥

स्वयमेव प्रजायन्ते विना यत्नेन देहिनाम्।
अनादिदृढसंस्काराद्दुर्ध्यानानि प्रतिक्षणम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—ये दुर्ध्यान हैं सो जीवोंके अनादि कालके संस्कारसे विना ही यत्नके स्वयमे निरंतर उत्पन्न होते हैं, कर्मका उदय प्रबल है ॥ ४३ ॥

मालिनी।

इति विगतकलङ्कैर्वर्णितं चित्ररूपं
दुरितविपिनबीजं निन्द्यदुर्ध्यानयुग्मम्।

१ वर्जितं इत्यपि पाठः।
२ इत्यपि पाठः।

कटुकतरफलाढ्यं सम्यगालोच्य धीर
त्यज सपदि यदि त्वं मोक्षमार्गे प्रवृत्त ॥ ४४ ॥

अर्थ—आचार्य उपदेश करते हैं कि हे धीर पुरुष ! जो तू मोक्षमार्गमें प्रवर्त्ता है तो उपर्युक्त प्रकार अनेकरूप निन्दनीय दुर्ध्यानका दुःखमय फलरूप जिनका दूर होगया ऐसे महापुरुषोंने वर्णन किया है उसको भले प्रकार विचार करके शीघ्र ही छोड क्योंकि यह दुर्ध्यानका गुम्म है सो पापरूपी वनका बीज है जितने पाप हैं वे इनसे ही उपजे हैं अतिशय कठिन फलसंयुक्त है तीव्र दुःख ही इसका फल है ॥ ४४ ॥

इस प्रकार आर्तरौद्र दोनों ध्यानका वर्णन किया यहां तात्पर्य यह है कि इन दोनों अप्रशस्त ध्यानोंको त्यागनेसे प्रशस्त ध्यान धर्म ध्यान शुक्लध्यानकी प्रवृत्ति होनी है ॥

दोहा ।

पंच पापमें हर्ष जो, रौद्रध्यान अघखानि ।
आर्त्त कह्यो दुखमगनता, दोऊ तज निजजानि ॥ २६ ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे आर्तरौद्र ध्याननाम षड्विंश प्रकरणं ॥ २६ ॥

अथ सप्तविंशं प्रकरणम् ।

आगे धर्मध्यानका स्वरूप कहते हैं,—

अथ प्रशममालम्ब्य विधाय स्ववशं मनः ।
विरज्य कामभोगेषु धर्मध्यानं निरूपय ॥ १ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! तू प्रशमताका (मन्द कषायरूप विशुद्ध भावोंका) अवलंबन करके अपने मनको अपने वश कर और कामभोगोंकी इच्छामें अर्थात् विषयसेवनादिकमें विरक्त होकर धर्म ध्यानको विचारपूर्वक देख ॥ १ ॥

तदेव प्रक्रमायातं सविकल्पं समासतः ।
आरम्भफलपर्यन्तं प्रोच्यमानं विबुध्यताम् ॥ २ ॥

अर्थ—यही धर्मध्यान आचार्योंकी परिपाटीसे (गुरुआम्नायसे) चला आया भेदों सहित संक्षेपसे कहा हुआ आरंभ फलपर्यन्त जानना चाहिये ॥ २ ॥

ज्ञानवैराग्यसंपन्नः संवृतात्मा स्थिराशयः ।
मुमुक्षुरुद्यमी शान्तो ध्याता धीरः प्रशस्यते ॥ ३ ॥

अर्थ—इस धर्मध्यानका करनेवाला ध्याता कैसा होना चाहिये सो कहते हैं ज्ञान और संसार वैराग्य

करके सहित हो, इन्द्रिय मन जिसके वश हो, स्थिरचित्त और मुक्तिका इच्छुक हो, तथा आलस्यरहित उद्यमी और शान्तपरिणामी हो, तथा धैर्यवान् हो, वह प्रशंसनीय है ॥ ३ ॥

चतस्रो भावना धन्या पुराणपुरुषाश्रिताः ।
मैत्र्यादयश्चिरं चित्ते ध्येया धर्मस्य सिद्धये ॥ ४ ॥

अर्थ—तथा मैत्री प्रमोद कारुण्य और माध्यस्थ इन चार भावनाओंको पुराणपुरुषोंने (तीर्थंकरादिकोंने) आश्रित किया है इस कारण धन्य हैं, (प्रशंसनीय हैं) सो धर्मध्यानकी सिद्धिके लिये इन चारों भावनाओंको चित्तमें ध्यावना चाहिये ॥ ४ ॥

अब प्रथम ही मैत्री भावनाको कहते हैं,—

क्षुद्रेतरविकल्पेषु चरस्थिरशरीरिषु ।
सुखदुःखाद्यवस्थासु संसृतेषु यथायथम् ॥ ५ ॥
नानायोनिगतेष्वेषु समत्वेनाविराधिका ।
साध्वी महत्त्वमापन्ना मतिर्मैत्रीति पठ्यते ॥ ६ ॥

अर्थ—क्षुद्र (सूक्ष्म) इतर बादर भेदरूप त्रस स्थावर प्राणी सुखदुःखादि अवस्थाओंमें जैसे तैसे तिष्ठे हों—तथा नानाभेदरूप योनियोंमें प्राप्त होनेवाले जीवोंमें समानतासे विराधनेवाली नहीं ऐसी महत्ताको प्राप्त हुई समीचीनबुद्धि मैत्री भावना कही जाती है ॥ ५ ॥ ६ ॥

जीवन्तु जन्तवः सर्वे क्लेशव्यसनवर्जिताः ।
प्राप्नुवन्तु सुखं त्यक्त्वा वैरं पापं पराभवम् ॥ ७ ॥

अर्थ—इस मैत्रीभावनामें ऐसी भावना रहे कि—ये सब जीव कष्ट आपदाओंसे वर्जित हो जीओ, तथा वैर पाप अपमानको छोड़कर सुखको प्राप्त होओ इसप्रकारकी भावनाको मैत्रीभावना कहते हैं ॥ ७ ॥

दैन्यशोकसमुत्त्रासे रोगपीडार्दितात्मसु ।
वधबन्धनरुद्धेषु याचमानेषु जीवितम् ॥ ८ ॥
क्षुत्तृट्श्रमाभिभूतेषु शीताद्यैर्व्यथितेषु च ।
अविरुद्धेषु निस्त्रिंशैर्यात्यमानेषु निर्दयम् ॥ ९ ॥
मरणार्तेषु जीवेषु यत्प्रतीकारवाञ्छया ।
अनुग्रहमतिः सेयं करुणेति प्रकीर्तिता ॥ १० ॥

अर्थ—जो जीव दीनतासे तथा शोक भय रोगादिककी पीड़ासे दुःखित हों, [illegible] हों तथा वध (घात) बंधन सहित रोके हुए हों, अथवा अपने जीवनकी वांछा करते हों [illegible]

दुःखि और रोगी दयाभो ग्ये दीन प्रार्थना करनेवाले हों, तथा क्षुधा तृषा खेद आदिकसे पीड़ित हों, तथा शीत उष्णतादिकसे पीड़ित हों तथा निर्दय पुरुषोंसे निर्दयतासे रोके गए (पीड़ित किये हुए) मरणके दुःखको प्राप्त हों, इस प्रकार दुःखी जीवोंको देखो पुनः उनके दुःख दूर करनेके उपाय करनेकी बुद्धि हो उसे करुणा नामकी भावना कहते हैं ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

अब प्रमोदभावनाको कहते हैं,—

तपःश्रुतयमोद्युक्तचेतसां ज्ञानचक्षुषाम् ।
विजिताक्षकषायाणां स्वतत्त्वाभ्यासशालिनाम् ॥ ११ ॥
जगत्त्रयचमत्कारिचरणाधिष्ठितात्मनाम् ।
तद्गुणेषु प्रमोदो यः सद्भिः सा मुदिता मता ॥ १२ ॥

अर्थ—जो पुरुष तप शास्त्राध्ययन और यम नियमादिकमें उद्यमयुक्त चित्तवाले हैं तथा ज्ञानही जिनके नेत्र हैं इन्द्रिय, मन और कषायोंको जीतनेवाले हैं तथा स्वतत्त्वाभ्यास करनेमें चतुर हैं जगतको चमत्कार करनेवाले चारित्रसे जिनका आत्मा अधिष्ठित (आश्रित) है ऐसे पुरुषोंके गुणोंमें प्रमोदका (हर्षका) होना सो मुदिता कहिये प्रमोद भावना है ॥ ११ ॥ १२ ॥

अब माध्यस्थ भावनाको कहते हैं,—

क्रोधविद्धेषु सत्त्वेषु निस्त्रिंशक्रूरकर्मसु ।
मधुमांससुरान्यस्त्रीलुब्धेष्वत्यन्तपापिषु ॥ १३ ॥
देवागमयतिव्रातनिन्दकेष्वात्मशंसिषु ।
नास्तिकेषु च माध्यस्थ्यं यत्सोपेक्षा प्रकीर्तिता ॥ १४ ॥

अर्थ—जो प्राणी क्रोधी हों, निर्दय व क्रूरकर्मी हों, तथा मधु मांस मद्य और परस्त्रीमें लुब्ध (लम्पट) तथा आसक्त व्यसनी हों, और अत्यंत पापी हों तथा देव शास्त्र गुरुओंके समूहकी निंदा करनेवाले और अपनी प्रशंसा करनेवाले हों तथा नास्तिक हों, ऐसे जीवोंमें रागद्वेषरहित मध्यस्थभाव होना सो उपेक्षा कही है । उपेक्षा नाम उदासीनता (वीतरागता) का है सो यही मध्यस्थभावना है ॥ १३ ॥ १४ ॥

एता मुनिजनानन्दसुधास्यन्दैकचन्द्रिका ।
ध्वस्तरागाद्युरुक्लेशा लोकाग्रपथदीपिका ॥ १५ ॥

अर्थ—इस प्रकार ये ४ भावनायें कहीं सो मुनिजनकि आनन्दरूप अमृतके झरनेको चन्द्रमाकी चान्दनीके समान हैं क्योंकि इनसे रागादिकका बड़ा क्लेश ध्वस्त हो जाता है अर्थात् जो इन भावनाओंसे युक्त हो उसके कषायरूप परिणाम नहिं होते तथा ये भावनायें लोकाग्रपथको (मोक्षमार्गको) प्रकाश करनेके लिये दीपिका (चिराग) हैं ॥ १५ ॥

एताभिरनिशं योगी क्रीडन्नत्यन्तनिर्भरम् ।
सुखमात्मोत्थमत्यक्षमिहैवास्कन्दति ध्रुवम् ॥ १६ ॥

अर्थ—इन भावनाओंमें रमता हुआ योगी अत्यंत सातिशय आत्मामें उत्पन्न हुए अतीन्द्रिय सुखको इसी लोकमें निश्चय करके प्राप्त होता है ॥ १६ ॥

भावनास्वासु संलीनः करोत्यध्यात्मनिश्चयम् ।
अवगम्य जगद्वृत्तं विषयेषु न मुह्यति ॥ १७ ॥

अर्थ—तथा इन भावनाओंमें लीन हुआ मुनि जगतके वृत्तांतको अध्यात्मका निश्चय करता है, जगतके प्रवर्त्तनमें तथा इन्द्रियोंके विषयोंमें मोहको प्राप्त नहिं होता अर्थात् स्वकीय स्वरूपके सन्मुख रहता है ॥ १७ ॥

योगनिद्रा स्थितिं धत्ते मोहनिद्रापसर्पति ।
आसु सम्यक्प्रणीतासु स्यान्मुनेस्तत्त्वनिश्चयः ॥ १८ ॥

अर्थ—इन भावनाओंको भले प्रकार गोचरीभूत (अभ्यस्त) करनेपर मुनिके मोह निद्रा तो नष्ट हो जाती है और योगकी (ध्यानकी) निद्रा स्थितिको धारण करती है और उसी मुनिके तत्त्वोंका निश्चय होता है ॥ १८ ॥

आभिर्यदानिशं विश्वं भावयत्यखिलं वशी ।
तदौदासीन्यमापन्नश्चरत्यत्रैव मुक्तवत् ॥ १९ ॥

अर्थ—जिस समय मुनि इन भावनाओंसे वशी होकर समस्त जगतको भावता है तब वह मुनि उदासीनताको प्राप्त होकर इसी लोकमें मुक्तके समान प्रवर्तता है अर्थात् मुक्तिकेसे सुखानुभवको प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

इस प्रकार शुभ ध्यानकी सामग्री स्वरूप चार भावनाओंका वर्णन किया, इनको भानेवालेके ध्यानकी सिद्धि होती है। अब ध्यानके योग्य स्थान तथा उसके अयोग्य स्थानका वर्णन करते हैं,—

रागादिवागुराजालं निकृत्याचिन्त्यविक्रमः ।
स्थानमाश्रयते धन्यो विविक्तं ध्यानसिद्धये ॥ २० ॥

अर्थ—जो मुनि धन्य है (महाभाग्य है) वह रागादिकरूप फासीके जालको काटकर अचिन्त्य पराक्रमवाला होकर ध्यानकी सिद्धिके लिये निर्जन (एकान्त) स्थानको आश्रय करता है क्योंकि एकान्त स्थानमें रहे विना ध्यानकी सिद्धि नहीं होती ॥ २० ॥

कानिचित्तत्र शस्यन्ते दूष्यन्ते कानिचित्पुनः ।
ध्यानाध्ययनसिद्ध्यर्थं स्थानानि मुनिसत्तमैः ॥ २१ ॥

अर्थ—ध्यानकी और शास्त्राध्ययनकी सिद्धिके लिये आचार्योंने कई स्थान सराहे हैं और कई स्थान दूषे भी हैं क्योंकि—॥ २१ ॥

विकीर्यते मनः सद्यः स्थानदोषेण देहिनाम् ।
तदेव स्वस्थतां धत्ते स्थानमासाद्य बन्धुरम् ॥ २२ ॥

अर्थ—जीवोंका चित्त स्थानके दोषसे तत्काल विकारताको प्राप्त होता है और वही मन मनोज्ञ स्थानको पाकर स्वस्थताको (निश्चलताको) प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

उन्हीं दूषित स्थानोंको कहते हैं,—

म्लेच्छाधमजनैर्जुष्टं दुष्टभूपालपालितम् ।
पापण्डिमण्डलाक्रान्तं महामिथ्यात्ववासितम् ॥ २३ ॥
कौलिकापालिकावासं रुद्रक्षुद्रादिमन्दिरम् ।
उद्भ्रान्तभूतवेतालं चण्डिकाभवनाजिरम् ॥ २४ ॥
पण्यस्त्रीकृतसंकेतं मन्दचारित्रमन्दिरम् ।
क्रूरकर्माभिचाराढ्यं कुशास्त्राभ्यासवञ्चितम् ॥ २५ ॥
क्षेत्रजातिकुलोत्पन्नशक्तिस्वीकारदर्पितम् ।
मिलितानेकदुःशीलकल्पिताचिन्त्यसाहसम् ॥ २६ ॥
द्यूतकारसुरापानविटवन्दिव्रजान्वितम् ।
पापिसत्त्वसमाक्रान्तं नास्तिकासारसेवितम् ॥ २७ ॥
क्रव्यादकामुकाकीर्णं व्याधविध्वस्तश्वापदं ।
शिल्पिकारुकविक्षिप्तमग्निजीवजनाश्रितम् ॥ २८ ॥
प्रतिपक्षशिरःशूले प्रत्यनीकावलम्बितम् ।
आत्रेयीखण्डितव्यङ्गसंसक्तं च परित्यजेत् ॥ ३० ॥

अर्थ—ध्यान करनेवाला मुनि आगे लिखे स्थानोंको छोड़े । म्लेच्छ पापी जनोंके रहनेका स्थान, दुष्ट राजाके (जमींदारके) अधिकारका स्थान, पाखंडी भेषियोंके समूहसे घिरा हुआ स्थान, तथा महामिथ्यात्वका स्थान, कुलदेवता योगिनीका स्थान, रुद्र नीच देवादिकका मंदिर जिसमें उद्धत भूत वेताल नाचते हों, तथा चंडिका देवीके भवनका प्रांगण (चौक) तथा व्यभिचारिणी स्त्रियोंके संकेत किये स्थान, कुचारित्री पाखंडियोंका मंदिर तथा क्रूर कर्म करनेवालोंका जिसमें संचार हो, जिसमें कुशास्त्रोंका अभ्यास होता हो ऐसा स्थान, तथा वर्णादिकी जाति और कुलसे उत्पन्न हुई शक्तिसे अधिकारमें आ जानेसे गर्वित अर्थात् यह हमारा निवास है अन्यको प्रवेश नहिं करने दें ऐसा स्थान, तथा जिसमें अनेक दुःशील खोटे पुरुषोंने मिलकर कोई अचिंत्य साहसिक कार्य रचा हो । अथवा द्यूतक्रीडाके जुआरी मद्यपायी, व्यभिचारी वंदीजन इत्यादिके समूह सहित स्थान, तथा पापी प्राणियोंसे घिरा हुआ, तथा नास्तिकों द्वारा सेवित हो,

तथा राक्षस कामी पुरुषोंसे व्याप्त, व्याध शिकारियोंने जहांपर जीववध किया हो, त शिल्पी, (शिलावट कारीगर) कारुक (मोची आदि) का निक्षिप्त स्थान (छोडा हुआ) हो, त अग्निजीवी (लुहार ठठेरे आदिक) से युक्त हो, तथा शत्रुके मस्तकपर शूलकी समान शत्रु सेनाका स्थान तथा रजस्वला भ्रष्ट चारित्री नपुंसक अंगहीनोंके रहनेका स्थान, इत्या स्थानोंको ध्यान करनेवाला छोडै अर्थात् इन स्थानोंसे बचकर अन्य योग्य स्थानमें ध्या करना चाहिये ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥

विद्रवन्ति जना पापाः सञ्चरन्त्यभिसारिकाः ।
क्षोभयन्तीङ्गिताकारैर्यत्र नार्योपशङ्किताः ॥ ३० ॥

अर्थ—तथा जहांपर पापीजन उपद्रव करते हों, जहां अभिसारिका स्त्रियें विच रती हों, तथा स्त्रियें निशङ्कित होकर जहां कटाक्ष इंगिताकारादिकसे क्षोभ उत्पन्न करती हों ऐसे स्थानको ध्यानी मुनि त्याग करे ॥ ३० ॥

अब कुछ विशेष कहते हैं—

किं च क्षोभाय मोहाय यद्विकाराय जायते ।
स्थानं तदपि मोक्तव्यं ध्यानविध्वंसशङ्कितैः ॥ ३१ ॥

अर्थ—जो मुनि ध्यानविध्वंसके भयसे भयभीत हैं उनको क्षोभकारक, मोहक तथा विकार करनेवाला स्थान भी छोड देना चाहिये ॥ ३१ ॥

तृणकण्टकवल्मीकविषमोपलकर्दमैः ।
भस्मोच्छिष्टास्थिरक्ताद्यैर्दूषितां सन्त्यजेद्भुवम् ॥ ३२ ॥

अर्थ—तथा जो जगह तृण, कंटक, वल्मीकि, (बांबी), विषम पाषाण, कर्दम, भस्म, उच्छिष्ट, हाड, रुधिरादिक निंद्य वस्तुओंसे दूषित हो उसको ध्यान करनेवाला छोडै ॥ ३२ ॥

काककौशिकमार्जारखरगोमायुमण्डलैः ।
अवघुष्टं हि विघ्नाय ध्यातुकामस्य योगिनः ॥ ३३ ॥

अर्थ—तथा जो स्थान काक उल्लू बिलाव गर्दभ शृगाल श्वानादिकसे अवघुष्ट हो अर्थात् जहां ये शब्द करते हों वह स्थान योगी मुनिगणोंके ध्यानको विघ्नकारक है ॥ ३३ ॥

ध्यानध्वंसनिमित्तानि तथान्यान्यपि भूतले ।
न हि स्वप्नेऽपि सेव्यानि स्थानानि मुनिसत्तमैः ॥ ३४ ॥

अर्थ—और जो पूर्वोक्त स्थान कहे उसी प्रकार अन्यप्रकार भी जो ध्यानके विध्वंसक हों वे सब ही स्थान ध्यानी मुनिगणोंको छोड देने चाहिये, ऐसा स्थान स्वप्नमें भी सेवने योग्य नहीं है ॥ ३४ ॥

इसप्रकार ध्यानके विघ्नके कारण स्थानोंका वर्णन किया—

दोहा

जहां क्षोभ मन ऊपजै तहां ध्यान नहिं होय ।
ऐसे थान विरुद्ध हैं ध्यानी त्यागै सोय ॥ २७ ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे शास्त्राय ध्यान विरुद्ध स्थानवर्णनं नाम सप्तविंशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ २७ ॥

अथ अष्टाविंश प्रकरण लिख्यते ।

अब ध्यानके योग्य स्थानोंको कहकर आसनका विधान कहते हैं तहां प्रथम ध्यानके योग्य स्थान कहते हैं,—

सिद्धक्षेत्रे महातीर्थे पुराणपुरुषाश्रिते ।
कल्याणकलिते पुण्ये ध्यानसिद्धिः प्रजायते ॥ १ ॥

अर्थ—सिद्धक्षेत्र, जहांसे बड़े २ प्रसिद्ध पुरुष ध्यान करके सिद्ध हुए हों। तथा पुराण पुरुष अर्थात् तीर्थंकरादिकोंने जिसका आश्रय लिया हो ऐसे महातीर्थ और जो कल्याणक स्थान हों ऐसे स्थानोंमें ध्यानकी सिद्धि होती है ॥ १ ॥

सागरान्ते वनान्ते वा शैलशृङ्गान्तरेऽथवा ।
पुलिने पद्मखण्डान्ते प्राकारे शालसङ्कटे ॥ २ ॥
सरितां सङ्गमे द्वीपे प्रशस्ते तरुकोटरे ।
जीर्णोद्याने श्मशाने वा गुहागर्भे विजन्तुके ॥ ३ ॥
सिद्धकूटे जिनागारे कृत्रिमेऽकृत्रिमेऽपि वा ।
महर्द्धिकमहाधीरयोगिसंसिद्धवाञ्छिते ॥ ४ ॥
मनःप्रीतिप्रदे शस्ते शङ्काकोलाहलच्युते ।
सर्वर्तुसुखदे रम्ये सर्वोपद्रववर्जिते ॥ ५ ॥
शून्यवेश्मन्यथ ग्रामे भूगर्भे कदलीगृहे ।
पुरोपवनवेद्यन्ते मण्डपे चैत्यपादपे ॥ ६ ॥
वर्षातपतुषारादिपवनासारवर्जिते ।
स्थाने जागर्त्यविश्रान्तं यमी जन्मार्तिशान्तये ॥ ७ ॥

---

१ गृहे इत्यपि पाठः ।

अर्थ—सयमी मुनि ससारकी पीडाको शान्त करनेके लिये आगे लिखे स्थानोंमें निरतर सावधान होकर रहे—समुद्रके किनारेपर-वनमे, पर्वतके शिखरपर नदीके किनारे, कमलवनमे, प्राकार (कोट), शालवृक्षोंके समूहमे, नदियोंका जहा सगम हुआ है, जलके मध्य जो द्वीप हो उसमे, प्रसन्न (उज्वल) वृक्षके कोटरमें, पुराने वनमे, श्मशानमें, पर्वतकी गुफामे, जीवरहित स्थानमे, सिद्धकूट तथा कृत्रिम अकृत्रिम चैत्यालयोंमें जो कि महाऋद्धिके धारक महाधीर वीर योगीश्वर सिद्धिकी वाछा करते हैं, मनको प्रीति करनेवाले प्रशसनीय, तथा जहापर शका कोलाहलशब्द न हो ऐसे स्थानमें, तथा समस्त ऋतुओंमें सुखके देनेवाले रमणीक सर्व उपद्रवरहित स्थानमे, तथा शून्यघर तथा सूने ग्राम पृथिवीके नीचे ऊँचे प्रदेशमें, तथा कदलीगृहमे (केलोंके कुजोंमे) तथा नगरकी उपवनकी (बागकी) वेदीके अतमे तथा वेदीपरके मडपमे वा चैत्यवृक्षके समीप, तथा वर्षा आताप हिम शीतादिक तथा प्रचड पवनादिसे वर्जित स्थानमे निरतर तिष्ठे ॥ २-३ ४ ५ ६ ७ ॥

यत्र रागादयो दोषा अजस्र यान्ति लाघवम् ।
तत्रैव वसति॰ साध्वी ध्यानकाले विशेषत ॥ ८ ॥

अर्थ—जिस स्थानमे रागादिक दोष निरन्तर लघुताको प्राप्त हो उसही स्थानमें मुनिको वसना चाहिये तथा ध्यानके कालमे तो अवश्य ही योग्य स्थानको ग्रहण करना चाहिये ॥ ८ ॥

अब आसनका विधान कहते हैं,—

दारुपट्टे शिलापट्टे भूमौ वा सिकतास्थले ।
समाधिसिद्धये धीरो विदध्यात्सुस्थिरासनम् ॥ ९ ॥

अर्थ—धीर वीर पुरुष समाधिकी सिद्धिके लिये काठके तख्तेपर तथा शिलापर अथवा भूमिपर वा बालूरेतके स्थानमे भले प्रकार स्थिर आसन करै ॥ ९ ॥

पर्यङ्कमर्द्धपर्यङ्क वज्र वीरासन तथा ।
सुखारविन्दपूर्वे च कायोत्सर्गश्च सम्मत ॥ १० ॥

अर्थ—पर्यंक आसन, अर्द्धपर्यंक आसन, वज्रासन, वीरासन, सुखासन, कमलासन और कायोत्सर्ग ये ध्यानके योग्य आसन माने गये हैं ॥ १० ॥

येन येन सुखासीना विदध्युर्निश्चल मन. ।
तत्तदेव विधेय स्यान्मुनिभिर्बन्धुरासनम् ॥ ११ ॥

अर्थ—जिस जिस आसनसे सुखरूप बैठकर मुनि अपने मनको निश्चल कर सकै वही सुन्दर आसन मुनियोंको स्वीकार करना चाहिये ॥ ११ ॥

कायोत्सर्गश्च पर्यङ्कः प्रशस्तं कैश्चिदीरितम् ।
देहिनां वीर्यवैकल्यात्कालदोषेण सम्प्रति ॥ १२ ॥

अर्थ—तथा इस समय कालदोषसे जीवोंके वीर्यकी विकलता है अर्थात् सामर्थ्यकी हीनता है इस कारण कई आचार्योंने पर्यङ्कासन (पद्मासन) और कायोत्सर्ग ये दो आसन ही प्रशस्त कहे हैं ॥ १२ ॥

वज्रकाया महासत्त्वा निःकम्पाः सुस्थिरासनाः ।
सर्वावस्थास्वलं ध्यात्वा गताः प्राग्योगिनः शिवम् ॥ १३ ॥

अर्थ—तथा जो वज्रकाय कहिये वज्रवृषभ संहननवाले बड़े पराक्रमी निःकम्प (धीर) स्थिर-आसन थे, वे ही योगी सर्वावस्थाओंमें ध्यान करके पूर्वकालमें मोक्षको प्राप्त हुए हैं ॥ १३ ॥

उपसर्गैरपि स्फीतैर्देवदैत्यारिकल्पितैः ।
स्वरूपालम्बितं येषां न चेतश्चाल्यते क्वचित् ॥ १४ ॥

अर्थ—जो पूर्वकालमें महापराक्रमी थे उनके स्वरूपमें अवलम्बित चित्त देवें दैत्य वैरीद्वारा बड़ेहुये उपसर्गोंसे कदापि चलायमान नहिं होता ॥ १४ ॥

श्रूयन्ते संवृतस्वान्ताः स्वतत्त्वकृतनिश्चयाः ।
विसह्योग्रोपसर्गाग्निं ध्यानसिद्धिं समाश्रिताः ॥ १५ ॥

अर्थ—जिन्होंने अपने मनको संवररूप किया तथा जिन्होंने स्वतत्त्वमें निश्चय किया है वे ही पूर्वपुरुष तीव्र उपसर्गरूप अग्निको सहकर ध्यानकी सिद्धिको आश्रित हुए सुने जाते हैं ॥ १५ ॥

स्रग्धरा ।

केचिज्ज्वालावलीढा हरिशरभगजव्यालविध्वस्तदेहाः
केचित्क्रूरादिदैत्यैरदयमतिहताश्चक्रशूलासिदण्डैः ।
भूकम्पोत्पातवातप्रबलपविघनव्रातरुद्धास्तथान्ये ।
कृत्वा स्थैर्यं समाधौ सपदि शिवपदं निःप्रपञ्चं प्रपन्नाः ॥ १६ ॥

अर्थ—फिर भी सुना जाता है कि पूर्वकालमें अनेक महामुनि तो अग्निकी ज्वालासे पचिसे जलकर समाधिमें दृढ रहनेसे तत्काल मोक्षको प्राप्त हुए, कितनेक मुनि सिंह अष्टापद हस्ती सर्पादिक द्वारा देहसे विध्वस्त हो समाधिमें स्थिरता धारण कर तत्काल मोक्षको गये, तथा कितनेक मुनि क्रूर वैरी दैत्यादिके द्वारा चक्र शूल तरवार दंडादिकसे निर्दयताके साथ हते हुए समाधिमें लीन रहनेसे तत्काल मोक्षको गये तथा कितने ही मुनि भूमि कंपनके उत्पात, प्रचंड पवन, प्रबल वज्रपात वा प्रबल मेघादिकके उपसर्गको जीतके

मोक्षको गये तथा अन्य भी अनेक मुनि नानाप्रकारके उपसर्गोंको सहकर समाधिमें (ध्यानमें) दृढ होकर प्रधानरहित शिवपदको प्राप्त हुए सो ऐसे उत्तम संहननवालेके आनन्द्य नियम नहीं है ॥ १६ ॥

तद्धैर्यं यमिना मन्ये न संप्रति पुरातनम् ।
अथ स्वप्नेऽपि नामास्था प्राचीना कर्तुमक्षमाः ॥ १७ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि पूर्वकालके मुनियोंका पुरातन धैर्य वा बलवत्व इस वर्तमानकालमें नहीं है इसी कारण पहिलेकीसी आस्था (स्थिरता) वर्तमानकालके मुनि स्वप्नमें भी करनेमें असमर्थ हैं और जो इस समय करते हैं वे धन्य हैं ॥ १७ ॥

निःशेषविषयोत्तीर्णो निर्विण्णो जन्मसंक्रमात् ।
आत्माधीनमनाः शश्वत्सर्वदा ध्यातुमर्हति ॥ १८ ॥

अर्थ—जो पुरुष इन्द्रियोंके समस्त विषयोंसे रहित है, संसारके परिभ्रमणसे विरक्त होगया है तथा अपने आधीन है मन जिसका, ऐसा निरन्तर हो वह पुरुष ही ध्यानके योग्य होता है। **भावार्थ**—यह साधारण ध्यानकी योग्यता है ॥ १८ ॥

अविक्षिप्तं यदा चेतः स्वतत्त्वाभिमुखं भवेत् ।
मुनेस्तदैव निर्विघ्ना ध्यानसिद्धिरुदाहृता ॥ १९ ॥

अर्थ—जिस समय मुनिका चित्त क्षोभरहित हो आत्मस्वरूपके सम्मुख होता है उस काल ही ध्यानकी सिद्धि निर्विघ्न होती है ॥ १९ ॥

स्थानासनविधानानि ध्यानसिद्धेर्निबन्धनम् ।
नैकं मुक्त्वा मुनेः साक्षाद्विक्षेपरहितं मनः ॥ २० ॥

अर्थ—ध्यानकी सिद्धिका कारण स्थान और आसनका विधान है सो इनमेंसे एक भी न हो तो मुनिका (ध्यानीका) चित्त विक्षेपरहित नहिं होता। **भावार्थ**—स्थान और आसन ध्यानके कारण हैं, इनमेंसे जो एक भी न हो तो मन नहिं थँमता अर्थात् दोनों ठीक होनेसे ही मन थँमता है ॥ २० ॥

संविग्नः संवृतो धीरः स्थिरात्मा निर्मलाशयः ।
सर्वावस्थासु सर्वत्र सर्वदा ध्यातुमर्हति ॥ २१ ॥

अर्थ—तथा जो मुनि संवेगवैराग्ययुक्त हो, संवररूप हो, धीर हो, जिसका आत्मा स्थिर हो, चित्त निर्मल हो वह मुनि सर्व अवस्था सर्व क्षेत्र और सर्व कालमें ध्यान करने योग्य है॥२१॥

विजने जनसंकीर्णे सुस्थिते दुःस्थितेऽपि वा ।
यदि धत्ते स्थिरं चित्तं न तदास्ति निषेधनम् ॥ २२ ॥

अर्थ—जनरहित क्षेत्र हो अथवा जनसहित प्रदेश हो, तथा सुस्थित हो अथवा

दु स्थित हो जिसकाल मुनिका चित्त स्थिर स्वरूपको धारै तब ही ध्यानकी योग्यता है, निषेध नहीं है। पहिले स्थान और आसनका विधान कहा उसके सिवाय जिस समय मुनिका चित्त स्थिरता धारै उस समय सब अवस्था सर्व क्षेत्रमें ध्यानकी योग्यता है, निषेध नहीं है ॥ २२ ॥

पूर्वाशाभिमुखः साक्षादुत्तराभिमुखोऽपि वा ।
प्रसन्नवदनो ध्याता ध्यानकाले प्रशस्यते ॥ २३ ॥

अर्थ—ध्यानी मुनि जो ध्यानके समय प्रसन्नमुख होकर साक्षात् पूर्व दिशाम मुख करके अथवा उत्तर दिशामें भी मुख करके ध्यान करै, सो प्रशसनीय कहा है ॥ २३ ॥

चरणज्ञानसम्पन्ना जिताक्षा वीतमत्सरा ।
प्रागनेकावस्थास्वत्र समासाद्य यमिनः शिवम् ॥ २४ ॥

अर्थ—तथा ऐसा भी है कि चारित्र और ज्ञानसे संयुक्त, जितेन्द्रिय, मत्सररहित जो मुनिगण पूर्वकालमें अनेक अवस्थाओंसे मोक्षको प्राप्त होगये हैं उनके दिशाकी सम्मुखताका कुछ नियम नहीं था ॥ २४ ॥

मुख्योपचारभेदेन द्वौ मुनी स्वामिनौ मतौ ।
अप्रमत्तप्रमत्ताख्यौ धर्मस्यैतौ यथायथम् ॥ २५ ॥

अर्थ—इस धर्मध्यानके यथायोग्य अधिकारी मुख्य और उपचारके भेदसे प्रमत्तगुणस्थानी और अप्रमत्तगुणस्थानी ये दो मुनि ही होते हैं ॥ २५॥

अप्रमत्तः सुसंस्थानो वज्रकायो वशी स्थिरः ।
पूर्ववित्संवृतो धीरो ध्याता सम्पूर्णलक्षणः ॥ २६ ॥

अर्थ—उक्त दोनों गुणस्थानियोंमें जो अप्रमत्तगुणस्थानी मुनि समचतुरस्रसंस्थान और वज्रवृषभनाराचसंहननवाला, तथा जितेन्द्रिय हो, स्थिर हो, पूर्वका ज्ञानी हो, संवरवान् और धीर हो अर्थात् परिषह और उपसर्गादिकसे चलित न हो, वही संपूर्ण लक्षणका धारक धर्मध्यानके ध्यावनेवाला होता है क्योंकि ऐसा मुनि ही किसी समय सातिशय अप्रमत्त होकर श्रेणीका आरम्भ करता है ॥ २६ ॥

तथा च—

श्रुतेन विकलेनापि स्वामी सूत्रे प्रकीर्तितः ।
अधःश्रेण्यां प्रवृत्तात्मा धर्मध्यानस्य सुश्रुतः ॥ २७ ॥

अर्थ—सिद्धांतमें नीचेकी श्रेणीमें प्रवृत्त है आत्मा जिसका ऐसा विकलश्रुत अर्थात् पूर्वज्ञानरहित भावश्रुतवान् भी धर्मध्यानका स्वामी कहा है ॥ २७ ॥

१ वीतविभ्रमः इत्यपि पाठः ।

किं च कैश्चिच्च धर्मस्य चत्वारः स्वामिनः स्मृताः ।
सद्दृष्ट्याद्यप्रमत्तान्ता यथायोग्येन हेतुना ॥ २८ ॥

अर्थ—तथा यह विशेष है कि कितनेही आचार्योंने धर्मध्यानके स्वामी (अधिकारी) चार भी कहे हैं वे सम्यग्दृष्टि अविरतसे लेकर देशविरत, प्रमत्त, अप्रमत्त पर्यन्त यथायोग्य हेतुसे कहे हैं ॥ २८ ॥

ध्यातारस्त्रिविधा ज्ञेयास्तेषां ध्यानान्यपि त्रिधा ।
लेश्याविशुद्धियोगेन फलसिद्धिरुदाहृता ॥ २९ ॥

अर्थ—इस धर्मध्यानके ध्याता तीन प्रकारके भी कहे हैं और उनके ध्यान भी तीन प्रकारके कहे हैं, क्योंकि लेश्याकी विशुद्धतासे फलसिद्धि कही है। भावार्थ—[illegible] अपेक्षा जघन्य मध्यम उत्कृष्ट भेदसे ध्याता तीन प्रकारके हैं, जहां जैसी विशुद्धता हो वैसा ही हीनाधिक ध्यानके भाव होते हैं वैसा ही हीनाधिक फल होता है ॥ २९ ॥

अब आसनके जीतनेका विधानका उपदेश करते हैं,—

अथासनजयं योगी करोतु विजितेन्द्रियः ।
मनागपि न खिद्यन्ते समाधौ सुस्थिरासनाः ॥ ३० ॥

अर्थ—अब यह कहते हैं कि जो योगी मुनि [illegible] जितेन्द्रिय हैं वे आसनका जय करो क्योंकि जिनका आसन भले प्रकार स्थिर है वे समाधिमें किंचिन्मात्र भी [illegible]। भावार्थ—आसनके जीतने तो समाधिमें (ध्यानमें) [illegible] ॥ ३० ॥

आसनाभ्यासवैकल्याद्वपुःस्थैर्यं न विद्यते ।
खिद्यते त्वङ्गवैकल्यात्समाधिसमये ध्रुवम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—आसनके अभ्यासकी [illegible] स्थिरता नहीं रहती और [illegible] समाधिके समय भी निश्चय करके खेदखिन्न होजाता है ॥ ३१ ॥

वातातपतुषाराद्यैर्जन्तुजातैरनेकधा ।
कृतासनजयो योगी खेदितोऽपि न खिद्यते ॥ ३२ ॥

अर्थ—[illegible] ॥ ३२ ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥ ३३ ॥

अर्थ—[illegible]

मग्न होकर उल्लसे हुआ है हर्ष आनन्दका रोमांच जिनके ऐसा श्रीमान् उत्तम मुनि पर्यङ्कासन (पद्मासन) करके ध्यान करें ॥ ३३ ॥

पर्यङ्कदेशमध्यस्थे प्रोत्ताने करकुड्मले।
करोत्युत्फुल्लराजीवसन्निभे च्युतचापले ॥ ३४ ॥

अर्थ—पर्यङ्क देशके मध्यभागमें स्थित उत्तान दोनों हाथ मुकुल (करकमल) विकसित कमलके सदृश चपलतारहित करें। भावार्थ—दोनों हाथ अपनी गोदीमें विकसित कमलसदृश कर निश्चल धारै ॥ ३४ ॥

नासाग्रदेशविन्यस्ते धत्ते नेत्रेऽतिनिश्चले।
प्रसन्ने सौम्यतापन्ने निष्पन्दे मन्दतारके ॥ ३५ ॥

अर्थ—अति निश्चल, सौम्यताके लिये स्पन्दरहित है मन्द तारे जिनके ऐसे दोनों नेत्रोंको नासिकाके अग्रभागपर धारण करें अर्थात् ठहरावें ॥ ३५ ॥

भ्रूवल्लीविक्रियाहीनं सुश्लिष्टाधरपल्लवम्।
सुप्तमत्स्यह्रदप्रायं विदध्यान्मुखपङ्कजम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—तथा मुखको इसप्रकार करै कि-भौंहें तो विकाररहित हों, अच्छीतरह मिलाए दोनों होठ न तो बहुत खुले और न अतिमिले हों ऐसे सोते हुए मत्स्यके हृदकी समान मुखकमलको करै ॥ ३६ ॥

अगाधकरुणाम्भोधौ मग्नः संविग्नमानसः।
ऋज्वायतं वपुर्धत्ते प्रशान्तं पुरुमूर्तिवत् ॥ ३७ ॥

अर्थ—योगी मुनिको चाहिये कि-अपने शरीरको अगाधकरुणासमुद्रमें मग्न होकर है संवेगसहित मन जिसका ऐसा सीधा और लंबा रक्खै, जैसे कि वीतराग जिनदेवकी प्रतिमा है उसप्रकार बनावै ॥ ३७ ॥

विवेकवार्धिकल्लोलैर्निर्मलीकृतमानसः।
ज्ञानमन्त्रीकृताशेषरागादिविषमग्रहः ॥ ३८ ॥
रत्नाकर इवागाधः सुराद्रिरिव निश्चलः।
प्रशान्तविश्वविस्पन्दप्रणष्टसकलभ्रमः ॥ ३९ ॥
किमयं लेप्यनिष्पन्नः किंवा पुस्तमयान्वितः।
समीपस्थैरपि प्राप्य शङ्क्यमानोऽतिनिश्चलः ॥ ४० ॥

अर्थ—मुनि जब ध्यानका आसन अंगीकार करै तब ऐसा होना चाहिये कि-उसका हो विवेक-भेदज्ञानरूप समुद्रकी कल्लोलोंसे निर्मल किया हुआ है मन जिसका ऐसा हो तथा ज्ञानरूप मंत्रसे निराकरण किये हैं रागादिरूप विषम ग्रह जिसने ऐसा हो तथा समुद्रके समान अगाध हो, सुमेरुपर्वतके समान निश्चल हो अर्थात् जिसका अंग

किसीप्रकार भी चलायमान न हो तथा जिसके वेगोंका सकल्प शान्त होगया हो, सब भ्रम जिसके नष्ट होगये हों, ऐसा निश्चल हो कि समीपस्थ प्राज्ञ पुरुष भी ऐसा भ्रम करने लगजायँ कि यह क्या पाषाणकी मूर्ति है वा चित्रामकी मूर्ति है इसप्रकार आसन जीतनेका विधान कहा ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ ४० ॥

दोहा

आसन दिढते ध्यानमें, मन लागै इकतान।
तातैं आसनयोगकू, मुनि कर धारै ध्यान ॥ २८ ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे आसनजयो नाम अष्टाविंश प्रकरण समाप्त ॥ २८ ॥

अथैकोनत्रिंशं प्रकरणम् ।

अब प्राणायामका वर्णन करते है—

सुनिर्णीतसुसिद्धान्तैः प्राणायामः प्रशस्यते ।
मुनिभिर्ध्यानसिद्ध्यर्थं स्थैर्यार्थं चान्तरात्मनः ॥ १ ॥

अर्थ—भलेप्रकार निर्णयरूप किया है सत्यार्थसिद्धान्त जिन्होंने ऐसे मुनियोंने ध्यानकी सिद्धिके तथा मनकी एकाग्रताके लिये प्राणायाम प्रशंसनीय कहा है। भावार्थ—अन्यमती भी प्राणायामका साधन करते हैं, किन्तु उनका प्रयोजन तथा स्वरूप यथार्थ नहीं है जैनाचार्योंने सर्वज्ञभाषित आगम तथा स्याद्वादन्यायरूप सिद्धान्तसे निर्णय करके सिद्धि और मनकी एकाग्रतासे आत्मस्वरूपमें ठहराना इन दोनों प्रयोजनोंके लिये प्राणायामको सराहा है—इसमें दृष्ट प्रयोजनकी सिद्धि होती है उसका वर्णन गौण किया है और ध्यानकी सिद्धिमें आत्मस्वरूपमें लीन होनेसे मुक्ति होती है ऐसा प्रयोजन प्रधान है ॥ १ ॥

अतः साक्षात्स विज्ञेयः पूर्वमेव मनीषिभिः ।
मनागप्यन्यथा शक्यो न कर्तुं चित्तनिर्जयः ॥ २ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि—ध्यानकी सिद्धिके लिये मनको एकाग्र करनेके लिये पूर्वाचार्योंने प्राणायामकी प्रशंसा की है इसकारण ध्यान करनेवाले बुद्धिमान् पुरुषोंको पहलेसे ही प्राणायामको भलीप्रकार से जानना चाहिये क्योंकि इसके जाने बिना किञ्चिन्मात्र भी मनका जीतना नहीं होसकता है। भावार्थ—प्राणायाम पवनका साधना है सो शरीरमें [illegible] है वह मुखनासिकादि द्वा

श्वासोच्छ्वास द्वारा प्रगट जाना जाता है इस पवनके कारण मन भी चंचल रहता है जब पवन वशीभूत होजाता है तब मन भी वशमें होजाता है ॥ २ ॥

अब इस पवनका स्तंभन कैसे होता है सोही कहते हैं।

त्रिधा लक्षणभेदेन संस्मृतः पूर्वसूरिभिः ।
पूरकः कुम्भकश्चैव रेचकस्तदनन्तरम् ॥ ३ ॥

अर्थ—पूर्वाचार्योंने इस पवनके स्तंभनस्वरूप प्राणायामको लक्षणभेदसे तीन प्रकारका कहा है, एकका नाम पूरक है दूसरेका कुम्भक और तीसरेका रेचक है ॥ ३ ॥

अब इन तीनोंका स्वरूप कहते हैं,—

द्वादशान्तात्समाकृष्य यः समीरः प्रपूर्यते ।
स पूरक इति ज्ञेयो वायुविज्ञानकोविदैः ॥ ४ ॥

अर्थ—द्वादशान्त कहिये तालुवेके छिद्रसे अथवा द्वादश अंगुलपर्यंतसे खेंचकर पवनको अपनी इच्छानुसार अपने शरीरमें पूरण करै उसको वायुविज्ञानी पंडितोंने पूरक पवन कहा है ॥ ४ ॥

निरुणद्धि स्थिरीकृत्य श्वसनं नाभिपङ्कजे ।
कुम्भवन्निर्भरः सोऽयं कुम्भकः परिकीर्तितः ॥ ५ ॥

अर्थ—तथा उस पूरक पवनको स्थिर करके नाभिकमलमें जैसे घडेको भरै तैसें रोकै (थांभे) नाभिसे अन्य जगह चलने न दे सो कुंभक कहा है ॥ ५ ॥

निःसार्यतेऽतियत्नेन यत्कोष्ठाच्छ्वसनं शनैः ।
स रेचक इति प्राज्ञैः प्रणीतः पवनागमे ॥ ६ ॥

अर्थ—जो अपने कोष्ठमे पवनको अतियत्नसे मंदमंद बाहर निकालै उसको पवनाभ्यासके शास्त्रोंमें विद्वानोंने रेचक ऐसा नाम कहा है ॥ ६ ॥

नाभिस्कन्धाद्विनिष्क्रान्तं हृत्पद्मोदरमध्यगम् ।
द्वादशान्ते सुविश्रान्तं तज्ज्ञेयं परमेश्वरम् ॥ ७ ॥

अर्थ—जो नाभिस्कन्धसे निकला हुआ तथा हृदयकमलमेंसे होकर द्वादशान्त (तालुआ)में विश्रान्त हुआ (ठहरा हुआ) पवन है उसे परमेश्वर जानो क्योंकि वह पवनका स्वामी है ॥ ७ ॥

तस्य चारं गतिं बुध्वा संस्थां चैवात्मनः सदा ।
चिन्तयेत्कालमायुश्च शुभाशुभफलोदयम् ॥ ८ ॥

अर्थ—पवन ईश्वर जो तालुआमें विश्रान्त हुआ उसका चार कहिये चलना अर्थात् भ्रमण और गति कहिये मन तथा आत्माकी (जीवकी) संस्था अर्थात् देहमें सदा रहन

इनको जानकर और कालका प्रमाण आयुबल शुभ तथा अशुभ फलके उदयका विचार करै ॥ ८ ॥

अत्राभ्यासः प्रयत्नेन प्रास्ततन्द्रः प्रतिक्षणम् ।
कुर्वन् योगी विजानाति यन्त्रनाथस्य चेष्टितम् ॥ ९ ॥

अर्थ—इस पवनका अभ्यास बडे यत्नसे निष्प्रमादी होकर निरंतर, करता हुआ योगी जीवकी समस्त चेष्टाओंको जानता है ॥ ९ ॥

उक्तं च श्लोकद्वयम् ।

समाकृष्य यदा प्राणधारणं स तु पूरकः ।
नाभिमध्ये स्थिरीकृत्य रोधनं स तु कुम्भकः ॥ १ ॥
यत्कोष्ठादतियत्नेन नासाब्रह्मपुरातनैः ।
बहिः प्रक्षेपणं वायोः स रेचक इति स्मृतः ॥ २ ॥

अर्थ—जिससमय पवनको तालुरन्ध्रसे ले खैंचकर प्राणको धारण करै, शरीरमें पूर्ण तया थाभै सो तो पूरक है और नाभिके मध्य स्थिर करके रोकै सो कुंभक है तथा जो पवनके कोठेमें बडे यत्नसे बाहर प्रक्षेपण करे सो रेचक है इस प्रकार नासिकाब्रह्मके जाननेवाले पुरातन पुरुषोंने कहा है ॥ १-२ ॥

शनैःशनैर्मनोऽजस्रं वितन्द्रः सह वायुना ।
प्रवेश्य हृदयाम्भोजकर्णिकायां नियन्त्रयेत् ॥ १० ॥

अर्थ—इस पवनका अभ्यास करनेवाला योगी निष्प्रमादी होकर बडे यत्नसे अपने मनको वायुके साथ मंदमंद निरन्तर हृदयकमलकी कर्णिकामें प्रवेश कराकर वहां ही नियन्त्रण करै (थाभै), उस जगहसे चलने न दे ॥ १० ॥

विकल्पा न प्रसूयन्ते विषयाशा निवर्त्तते ।
अन्तः स्फुरति विज्ञानं तत्र चित्ते स्थिरीकृते ॥ ११ ॥

अर्थ—उस हृदयकमलकी कर्णिकामें पवनके साथ चित्तको स्थिर करनेपर मनमें विकल्प नहि उठते और विषयोंकी आशा भी नष्ट होजाती है तथा अंतरंगमें विशेष ज्ञानका प्रकाश होता है इस पवनके साधनसे मनको वश करना ही फल है ॥ ११ ॥

एवं भावयतः स्वान्ते यात्यविद्याक्षयं क्षणात् ।
विमदी स्युस्तथाक्षाणि कषायरिपुभिः समम् ॥ १२ ॥

अर्थ—इसप्रकार मनको वश करके भावना करते हुए पुरुषके अविद्या तो क्षणमात्रमें क्षय होजाती है और इंद्रिय मदरहित होजाती हैं उनके साथ ही साथ कषाय भी क्षीण होजाते हैं। इस पवनको साधन करके मनको वश करनेका प्रयोजन है ॥ १२ ॥

पुत्र श्वसनविश्राम का नाड्य सक्रम कथम्।
का मण्डलगति' केय प्रवृत्तिरिति बुद्ध्यते ॥ १३ ॥

अर्थ—तथा इस पवनके साधनसे ऐसा जाना जाता है कि इस श्वासरूप पवनका कहाँ तो विश्राम है और नाडिय कितनी और कौन २ हैं, उन नाडियोंकी पलटना किस प्रकार होती है तथा इसकी मंडलगति कौनसी है इसकी प्रवृत्ति कहां है ॥ १३ ॥

स्थिरी भवन्ति चेतांसि प्राणायामावलम्बिनाम्।
जगद्वृत्त च नि शेष प्रत्यक्षमिव जायते ॥ १४ ॥

अर्थ—जो प्राणायामके अवलम्बन करनेवाले पुरुष हैं उनके चित्त स्थिर होजाते हैं, चित्तके स्थिर होनेसे ज्ञान विशेष होता है, उसके द्वारा जगतके समान वृत्तात (प्रवर्त्तन) प्रत्यक्षके समान जाने जाते हैं ॥ १४ ॥

य' प्राणायाममभ्यास्ते स मडलचतुष्टयम्।
निश्चिनोतु यत साध्वी ध्यानसिद्धि' प्रजायते ॥ १५ ॥

अर्थ—जो योगी प्राणायामको स्वाधीनताने करके रहता है अर्थात् इसका साधन करता है सो मुनि पवनमडलके चतुष्टयको निश्चय करो, जिससे समीचीन ध्यानकी सिद्धि होती है ॥ १५ ॥

इस मडलचतुष्टयका स्वरूप कहते हैं,—

घोणाविवरमध्यास्य स्थित पुरचतुष्टयम्।
पृथक पवनसवीत लक्ष्यलक्षणभेदत ॥ १६ ॥

अर्थ—नासिकाके छिद्रको आश्रित होकर चतुष्टय जो पृथ्वीमडल, अप्मडल, तेजोमडल और वायुमडल यह चतुष्टय है सो लक्ष्यलक्षणके भेदसे पवन भिन्न २ वेष्टित है इन मडलोंके पवनकी रीति लक्षणभेदसे भिन्न २ है ॥ १६ ॥

अचिन्त्यमतिदुर्लक्ष्य तन्मण्डलचतुष्टयम्।
स्वसवेद्य प्रजायेत महाभ्यासात्कथचन ॥ १७ ॥

अर्थ—यह मडलका चतुष्टय है सो अचिंत्य है अर्थात् चिंतवनमें नहि आता तथा दुर्लक्ष्य है अर्थात् देखनेमें नहि आता सो इस प्राणायामके बडे महान् अभ्याससे बडे कष्टसे कोई प्रकार स्वसवेद्य (अपने अनुभवगोचर) होता है ॥ १७ ॥

तत्रादौ पार्थिव ज्ञेय वारुण तदनन्तरम्।
मरुत्पुर तत' स्फीत पर्यन्ते वह्निमण्डलम् ॥ १८ ॥

अर्थ—इन चारोंमेंसे प्रथम तो पार्थिवको (पृथिवीमडलको) जानना तत्पश्चात् वरुणमडल (अप्मडल) जानना तत्पश्चात् पवनमडल जानना और अतमें बडे हुए वह्निमडलको जानना इस प्रकार चारोंके नाम और अनुक्रम है ॥ १८ ॥

अब इनका स्वरूप कहते हैं,—

क्षितिबीजसमाक्रान्तं द्रुतहेमसमप्रभम् ।
स्याद्वज्रलाञ्छनोपेतं चतुरस्रं धरापुरम् ॥ १९ ॥

अर्थ—क्षितिबीज जो पृथ्वी बीजाक्षरसहित गालेहुए सुवर्णकी समान पीतरक्त प्रभा जिसकी और वज्रके चिह्नसयुक्त चौकोर धरापुर है अर्थात् पृथिवीमडल है ॥ १९ ॥

अर्द्धचन्द्रसमाकारं वारुणाक्षरलक्षितम् ।
स्फुरत्सुधाम्बुसंसिक्तं चन्द्राभं वारुणं पुरम् ॥ २० ॥

अर्थ—आकार तो आधे चद्रमाके समान, वारुण बीजाक्षरसे चिह्नित और स्फुरायमान अमृतस्वरूप जलसे सींचा हुआ ऐसा चद्रमासरीखा शुक्लवर्ण वरुणपुर है। यह अपूमडलका स्वरूप कहा ॥ २० ॥

सुवृत्तं बिंदुसंकीर्णं नीलाञ्जनघनप्रभम् ।
चञ्चलं पवनोपेतं दुर्लक्ष्यं वायुमण्डलम् ॥ २१ ॥

अर्थ—सुवृत्त कहिये गोलाकार तथा बिंदुओंसहित नीलाञ्जन घनके समान है वर्ण जिसका, तथा चचल (वहताहुआ) पवन बीजाक्षरसहित दुर्लक्ष्य (देखनेमें न आवे) ऐसा वायुमडल है। यह पवनमडलका स्वरूप कहा ॥ २१ ॥

स्फुलिङ्गपिङ्गलं भीममूर्ध्वज्वालाशतार्चितम् ।
त्रिकोणं स्वस्तिकोपेतं तद्बीजं वह्निमण्डलम् ॥ २२ ॥

अर्थ—अग्निके फुलिंगा समान पिगलवर्ण भीम रौद्ररूप ऊर्ध्वगमनस्वरूप ज्वालाके सैकडोंसहित त्रिकोणाकार स्वस्तिक (साथिये) सहित, वह्निबीजसे मडित ऐसा वह्निमंडल है। यह अग्निमडलका स्वरूप कहा गया ॥ २२ ॥

ततस्तेषु क्रमाद्वायुः संचरत्यविलम्बितम् ।
स विज्ञेयो यथाकालं प्रणिधानपरैर्नरैः ॥ २३ ॥

अर्थ—उपर्युक्त चार मडलोंका स्वरूप निश्चय किया उसके अनन्तर लगता ही यह जानो कि उन मडलोंमे अनुक्रमसे निरन्तर पवन सचैरै है उसे यथाकाल अर्थात् जैसा काल है उसही कालमे प्रणिधान कहिये चितवनमे तत्पर ऐसे पुरुषोंको जानना चाहिये ॥ २३ ॥

अब इनमें पवन सचरता है उसके जाननेके लिये चिह्न कहते हैं,—

घोणाविवरमापूर्य किंचिदुष्णं पुरन्दरः ।
वहत्यष्टाङ्गुलः स्वस्थः पीतवर्णः शनैः शनैः ॥ २४ ॥

---

१ 'स्फुरत्सुधाम्बुसंसिक्त' इत्यपि पाठः

अर्थ—नासिकाके छिद्रको भले प्रकार भरके कुछ उष्णता लिये आठ अंगुल बाहर निकलता, स्वच्छ, चञ्चलतारहित, मंदमंद बहता, ऐसा पुरंदर कहिये इन्द्र जिसका स्वामी है ऐसे पृथिवीमंडलके पवनको (इन चिह्नोंसे) जानना ॥ २४ ॥

स्त्वरितः शीतलोऽधस्तात्सितरुक् द्वादशाङ्गुलः।
वरुणः पवनस्तज्ज्ञैरयमेनावसीयते ॥ २५ ॥

अर्थ—जो त्वरित कहिये शीघ्र बहनेवाला हो, कुछ निचाइ लिये बहता हो, शीतल हो, उज्ज्वल (शुक्ल) कांतिरूप हो, तथा बारह अंगुल बाहर आवै ऐसे पवनको पवनके जाननेवालोंने वरुण पवन निश्चय किया है। भावार्थ—इन चिह्नोंसे वरुण पवनको निश्चय करना २५

निर्यं चल्पविश्रान्तः पवनाख्यः षडङ्गुलः।
पवनः कृष्णवर्णोऽसौ उष्णः शीतश्च लक्ष्यते ॥ २६ ॥

अर्थ—जो पवन सब तरफ तिर्यक् बहता हो, विश्राम न लेकर निरंतर बहताही रहै तथा ६ अंगुल बाहर आवै, कृष्णवर्ण हो, उष्ण हो तथा शीत भी हो ऐसा पवनमंडलसंबंधी पवन पहचाना जाता है ॥ २६ ॥

बालार्कसमिभश्चोर्ध्वं सावर्त्तश्चतुरङ्गुलः।
अत्युष्णो ज्वलनाभिख्यः पवनः कीर्तितो बुधैः ॥ २७ ॥

अर्थ—जो उगते हुए सूर्यकी समान रक्तवर्ण हो तथा ऊंचा चलता हो, आवर्तों (चक्रों) सहित फिरता हुआ चले, चार अंगुल बाहर आवै और अति उष्ण हो ऐसा अग्नि मंडलका पवन पंडितोंने कहा है ॥ २७ ॥

अब इन चार प्रकारके पवनोंको कार्यविशेषमें शुभाशुभ भेद करके दिखाते हैं—

आर्या।

स्तम्भादिके महेन्द्रो वरुणः शस्तेषु सर्वकार्येषु।
चलमलिनेषु च वायुर्वश्यादौ वह्निरुद्देश्यः ॥ २८ ॥

अर्थ—पुरंदरको स्तम्भनादि कार्य करने हो तो महेन्द्र कहिये पृथिवीमंडलका पवन शुभ है, और वरुण कहिये अप्मंडलका पवन समस्त प्रकारके कार्योंमें शुभ है, और पवनमंडलका पवन चलकार्य तथा मलिन कार्योंमें श्रेष्ठ है तथा वश्य आदिकार्योंमें वह्नि मंडलका पवन उत्तम कहा है ॥ २८ ॥

छत्रगजतुरगचामररामाराज्यादिसकलकल्याणम्।
माहेन्द्रो वदति फलं मनोगतं सर्वकार्येषु ॥ २९ ॥

अर्थ— [illegible] चामर स्त्री राज्यादिक समस्त कल्याणोंको कहता

है और समस्त कार्योंमें मनोगत भावको प्रकट कहता है। **भावार्थ**—मनमें विचारे हुए कार्योंकी सिद्धि कहता है ॥ २९ ॥

अभिमतफलनिकुरम्बं विद्यावीर्यादिभूतिसङ्कीर्णम्।
सुतयुवतिवस्तुसारं वरुणो योजयति जन्तूनाम् ॥ ३० ॥

अर्थ—वरुण पवन जीवोंके विद्यावीर्यादि विभूतिसहित तथा पुत्रस्त्रीआदिके जो सारवस्तु मनोवाछित हों उन सबको जोडता है अर्थात् प्राप्त कराता है ॥ ३० ॥

भयशोकदुःखपीडा-विघ्नौघपरम्परां विनाशं च।
व्याचष्टे देहभृतां दहनो दाहस्वभावोऽयम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—यह अग्निमडलका पवन दाहस्वभावरूप है यह पवन जीवोंके भय शोक दुःख पीडा तथा विघ्नसमूहकी परपरा तथा विनाशिक कार्योंको प्रगट कहता है ॥ ३१ ॥

सिद्धमपि याति विलयं सेवा कृष्यादिकं समस्तमपि चैव।
मृत्युभयकलहवैरं पवने त्रासादिकं च स्यात् ॥ ३२ ॥

अर्थ—तथा पवनमडलके पवन वहनेपर सेवा कृषी आदिक समस्त कार्य सिद्ध हुये हों वे भी विलय हो जाते हैं (नष्ट होजाते ही हैं) तथा मृत्युभय कलह वैर तथा त्रासादिक होते हैं ॥ ३२ ॥

यह तो सामान्य कार्योंमें शुभाशुभ कहा अब इनके प्रवेश और निःसरणकालके विषयमें कहते हैं,—

सर्वे प्रवेशकाले कथयन्ति मनोगतं फलं पुंसाम्।
अहितमतिदुःखनिचितं त एव निःसरणवेलायाम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—ये चारों ही पवन प्रवेशकालमें अर्थात् नासिकाके बाहरसे आकर उल्टा प्रवेश करते हैं तो पुरुषोंके मनोगत फलको कहते हैं अर्थात् मनमें विचारै सो सिद्ध होता है परन्तु ये ही चारों पवन निकलनेके समय अतिशय दुःखसे भरे अहितको प्रकाश करते हैं ॥ ३३ ॥

सर्वेऽपि प्रविशन्तो रविशशिमार्गेण वायवः सततम्।
विदधति परां सुखास्थां निर्गच्छन्तो विपर्यस्ताम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—ये चारों ही पवन सूर्य चद्रमाके मार्गसे अर्थात् दहिने बायें निरतर प्रवेश करते हुये उत्कृष्ट सुखकी आस्थाको करते हैं और निकलते समय दुःखावस्थाको प्रगट करते हैं। **भावार्थ**—प्रवेश करते शुभ हैं निकलते हुये अशुभ हैं ॥ ३४ ॥

---

१ विभवसङ्कीर्णं इत्यपि पाठः। २ पुंसाम इत्यपि पाठः।

वामेन प्रविशन्तौ वरुणमाहेन्द्रौ समस्तसिद्धिकरौ ।
इतरेण नि सरन्तौ हुतभुक्पवनौ विनाशाय ॥ ३५ ॥

अर्थ—तथा वरुण और माहेन्द्र पवन (पृथ्वीपवन) वाईं तरफसे निकलते है तो सम स्तकार्योंके सिद्ध करनेवाले हैं तथा वह्निमण्डल और पवनमंडलके पवन दहिनी तरफ निकलतेहुये विनाशके अर्थ हैं ॥ ३५ ॥

अथ मण्डलेषु वायोः प्रवेशनि सरणकालमवगम्य ।
उपदिशति भुवनवस्तुषु विचेष्टितं सर्वथा सर्वम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—अथवा चारों मडलोंमे पवनके प्रवेश और नि सरणकालको निश्चय करके ध्यानी पुरुष जगत् भरमें जो पदार्थ हैं उन सबकी सर्व प्रकारकी चेष्टाओंका उपदेश करता है ॥ ३६ ॥

वामाया विचरन्तौ दहनसमीरौ तु मध्यमौ कथितौ ।
वरुणेन्द्रावितरस्या तथाविधावेव निर्दिष्टौ ॥ ३७ ॥

अर्थ—अग्निमडलका पवन और वायुमडलका पवन वायीं तरफसे बहता हुआ मध्यम फल करता है और वरुण तथा माहेन्द्र ये दोनों पवन दाहिनी तरफसे बहें तो मध्यम फल करते हैं ॥ ३७ ॥

उदये वामा शस्ता सितपक्षे दक्षिणा पुन कृष्णे ।
त्रीणि त्रीणि दिनानि तु शशिसूर्यस्योदय श्लाघ्य ॥ ३७ ॥

अर्थ—शुक्लपक्षमे सूर्योदयके समय नाडी बाईं तरफ बहती हुई प्रशस्त है उत्तम है। कृष्णपक्षमे उदयकालमे दहनी तरफ बहती हुई नाडी श्रेष्ठ है । इसप्रकार तीन तीन दिन चद्रमा और सूर्यका उदय सराहा है। भावार्थ—शुक्लपक्षकी प्रतिपदा द्वितीया तृतीया इन तीन प्रात कालही वामस्वर अच्छा है फिर तीन दिन दहिना फिर तीन दिन बाया इसी प्रकार पूर्णमापर्यंत स्वरोंका तीन तीन दिन चलना शुभ है। तथा कृष्णपक्षमे प्रतिपदा द्वितीया तृतीयाके दिन दहिना स्वर फिर तीन दिन बाया फिर तीन दिन दहिना इसीप्रकार अमावास्यापर्यन्त शुभस्वर जानने इनसे विरुद्ध स्वर चलने अशुभ है ॥ ३८॥

उदयश्चन्द्रेण हित सूर्येणास्त प्रशस्यते वायो ।
रविणोदये तु शशिना शिवमस्तमन सदा नृणाम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—तथा पवनका उदय चद्रमाके स्वरसे (वाय स्वरसे) शुभ है और अस्त सूर्यस्वर अर्थात् दहिने स्वरसे प्रशस्त कहा है और सूर्यसे (दहिनेसे) उदय हो तो शशि कहिये बायें स्वरसे अस्त होना जीवोंको सदा कल्याणकारी (शुभ) है ॥ ३९ ॥

सितपक्षे रव्युदये प्रतिपद्दिवसे समीक्ष्यत सम्यक् ।
शस्तेतरप्रचारौ वायोर्यत्नेन विज्ञानी ॥ ४० ॥

अर्थ—पवनका प्रचार (चलना) शुक्लपक्षमें सूर्यके उदयमें प्रतिपदाके दिन विचे सम्यक् प्रकार यत्नसे शुभ अशुभ दोनोंको विचारै देखै ॥ ४० ॥

जिस प्रकार विचारै सो कहते हैं,—

व्यस्तप्रथमे दिवसे चित्तोद्वेगाय जायते पवनः ।
धनहानिकृद्द्वितीये प्रवासदः स्यात्तृतीयेऽह्नि ॥ ४१ ॥
इष्टार्थनाशविभ्रमस्वपदभ्रंशास्तथा महायुद्धम् ।
दुःखं च पञ्च दिवसैः क्रमशः संजायते त्वपरैः ॥ ४२ ॥

अर्थ—पवन प्रथमदिनमें व्यस्त कहिये विपरीत बहै तो चित्तको उद्वेग होता और दूसरे दिन विपरीत बहै तो धनकी हानिको सूचन करता है, तीसरे दिन विपरीत चले तो परदेश गमन करावै ॥ ४१ ॥ और पाच दिनतक विपरीत चलै तो क्रमसे प्रयोजनका नाश, विभ्रम, अपने पदसे भ्रष्ट होना, महायुद्ध और दुःख ये पाच फल होते हैं तथा इसी प्रकार अगले पांच पाच दिनका फल विपरीत अर्थात् अशुभ जानना ॥ ४२ ॥

वामा सुधामयी ज्ञेया हिता शश्वच्छरीरिणाम् ।
संहर्त्री दक्षिणा नाडी समस्तानिष्टसूचिका ॥ ४३ ॥

अर्थ—जीवोंके बांई नाडी (चन्द्रसुर वा वाया स्वर) अमृतमयी सदा हितकारी जानो और दाहिनी नाडी (सूर्यनाडी) समस्त अहितकी कहनेवाली संहारस्वरूप जानो ॥ ४३ ॥

आर्या ।

अमृतमिव सर्वगात्रं प्रीणयति शरीरिणां ध्रुवं वामा ।
क्षपयति सदैव तद्वहमाना दक्षिणा नाडी ॥ ४४ ॥

अर्थ—बांई नाडी निरन्तर बहती हुई जीवोंके समस्त शरीरको अमृतकी समान तृप्त करती है और दाहिनी नाडी निरन्तर बहती हुई शरीरको क्षीण करती है ॥ ४४ ॥

संग्रामसुरतभोजनविरुद्धकार्येषु दक्षिणैष्टा स्यात् ।
अभ्युदयहृदयवाञ्छितसमस्तशस्तेषु वामैव ॥ ४५ ॥

अर्थ—संग्राम कामसेवन भोजन आदि विरुद्धकार्यमें तो दाहिनी नाडी इष्ट है (शुभ है) और अभ्युदय और मनोवाञ्छित समस्त शुभकार्योंमें बांई नाडी शुभ है ॥ ४५ ॥

नैष्टस्तने समर्थौ राहुग्रहकालचन्द्रसूर्यौ(?) ।
शिशिरकरौ स्वसृतगतौ समस्तकल्याणदौ ज्ञेयौ ॥ ४६ ॥

अर्थ—[illegible] और [illegible] ये दोनो पवन [illegible]

[illegible]

मार्गमें (बाएं नाडीमें) होवे तो प्रश्नकाल पञ्चमायुध आदिक है अर्थात् परनेमें समर्थ नहिं होवें व समसामान्यवाणकी (बाणकी) दोनों नाडी होती है ॥ ४६ ॥

पूर्णे पूर्वस्य जयो रिक्ते त्वितरस्य कथ्यते तज्ज्ञैः ।
उभयोर्युद्धनिमित्ते दूतेनाशंसिते प्रश्ने ॥ ४७ ॥

अर्थ—कोई दूत आकर युद्धके निमित्त भरे सुरमें प्रश्न करे तो (पहिले पूछनेवाले)की जीत हो और रिक्तस्वरमें (खाली स्वरमें) पूछे तो दूसरेकी जय हो और दोनों चल तो दोनोंकी जय हो ॥ ४७ ॥

ज्ञातुर्नाम प्रथमं पश्चाद्यद्यातुरस्य गृह्णाति ।
दूतस्तदेष्टसिद्धिस्तद्व्यस्ते स्याद्विपर्यस्ता ॥ ४८ ॥

अर्थ—कोई प्रश्न करता दूत यदि प्रथम ही ज्ञाताका नाम लेकर तत्पश्चात् आतुरका नाम ले तो इष्टकी सिद्धि होती है और इससे विपरीत रोगीका नाम पहिले और ज्ञाताका नाम पीछे ले तो इष्टकी सिद्धि नहीं है (विपरत है) ॥ ४८ ॥

जयति समाक्षरनामा वामावाहस्थितेन दूतेन ।
विषमाक्षरस्तु दक्षिणदिक्संस्थेनास्त्रसंपाते ॥ ४९ ॥

अर्थ—दूत आकर जिसके लिये पूछे उसके नामके अक्षर सम हों (दो चार छह इत्यादि हों) और बाईं नाडी बहती हुई की तरफ खडा होकर पूछे तो वह शस्त्रपातके होने हुए भी जीते और जिसके नामके विषमाक्षर हों अर्थात् एक तीन पांच इत्यादि हों और दाहिनी नाडी बहती हुईमें खडा रहकर पूछे तो उसकी भी जीत हो इस प्रकार जय पराजयके प्रश्नका उत्तर कहे ॥ ४९ ॥

भूतादिगृहीतानां रोगार्तानां च सर्पदष्टानां ।
पूर्वोक्तः क्रमः एव विधिर्बोद्धव्यो मान्त्रिकावश्यम् ॥ ५० ॥

अर्थ—जो कोई मन्त्रवादीको दूत आकर पूछे कि अमुक भूतादिकसे गृहीत है तथा अमुक रोगसे पीडित है अथवा सर्पने काटा है तो पूर्वोक्त विधि ही जाननी यह अवश्य है कि समअक्षरवालेका बांई नाडीके चलते हुए पूछना शुभ है और विषमाक्षरवालेका दहनी बहती हुई नाडीमें पूछना शुभ है ॥ ५० ॥

पूर्णे वरुणे प्रविशति यदि वामा जायते क्वचित्पुण्यैः ।
सिद्ध्यत्यचिन्तितान्यपि कार्याण्यारभ्यमाणानि ॥ ५१ ॥

अर्थ—वरुणमंडलका पवन पूर्ण होकर प्रवेश होते हुए यदि किसी पुण्योदयसे बांई नाडी चले तो अनचिन्ते कार्यके प्रारंभ करनेमें भी सिद्धि होती है अर्थात् शुभ है ॥ ५१ ॥

जयजीवितलाभाद्या येऽर्था पूर्व तु सूचिता शास्त्रे ।
स्युस्ते सर्वेऽप्यफला मृत्युस्थे मरुति लोकानाम् ॥ ५२ ॥

अर्थ—जो पदार्थ पहिले जय जीवित लाभादिक शास्त्रमें सूचित किये अथात् कहे हैं वे यदि मृत्युके समय (श्वास नष्ट हुआ तथा टूटता हुआ आदि) हो तो सब ही निष्फल हैं अर्थात् इसमें मरण ही निश्चय करना ऐसा तात्पर्य है ॥ ५२ ॥

अब जीवन मरनके निश्चय करनेका वर्णन करते हैं,—

अनिलमचतुष्टय सम्यक्पुष्प हस्तात्प्रपातयेज्ज्ञानी ।
मृतजीवितविज्ञाने ततः स्वय निश्चय कुरुते ॥ ५३ ॥

अर्थ—पवनको सम्यक् प्रकारसे निश्चय करके ज्ञानी पुरुष अपने हाथमें पुष्प डाले उससे मृतजीवितका विज्ञान स्वय निश्चय करता है ॥ ५३ ॥

वरुणे त्वरितो लाभश्चिरेण भौमे तदर्थिने वाच्यम् ।
तुच्छतर पवनाख्ये सिद्धोऽपि विनश्यते वह्नौ ॥ ५४ ॥

अर्थ—वरुण पवनके होनेपर त्वरित (शीघ्र)ही लाभ कहे और पृथिवी पवन हो तो बहुतकालसे लाभ कहे–और पवनमडलका पवन हो तो थोडा लाभ कहे और अग्निका पवन हो तो सिद्ध हुआ लाभ भी नाशको प्राप्त होता है ऐसे कहना ॥ ५४ ॥

आयाति गतो वरुणे भौमे तत्रैव तिष्ठति सुखेन ।
यात्यन्यत्र श्वसने मृत इति वह्नौ समादेश्यम् ॥ ५५ ॥

अर्थ—कोई परदेश गयेहुएका प्रश्न करे तो उसको इस प्रकार कहना—प्रश्न करनेवाला यदि वरुणपवनमें प्रश्न करे तो गया हुआ मनुष्य आता है ऐसा कहना और पृथिवी तत्त्वमें प्रश्न करे तो वहा ही रहता है और पवनतत्त्वमें पूछे तो जहा रहता था वहांसे कहीं अन्यत्र गया है और वह्नितत्त्वमें कहे कि मरणको प्राप्त हुआ ॥ ५५ ॥

घोरतर[1] सग्रामो हुताशने मरुति भङ्ग एव स्यात् ।
गगने सैन्यविनाश मृत्युर्वा युद्धपृच्छायाम् ॥ ५६ ॥

अर्थ—युद्धके प्रश्नमें अग्नितत्त्वमें तो तीव्रसग्राम तथा वायुतत्त्वमें भग होना कहे और आकाशतत्त्वमें सेनाका विनाश अथवा मृत्यु कहे ॥ ५६ ॥

ऐन्द्रे विजय समरे ततोऽधिको वाञ्छितश्च वरुणे स्यात् ।
सन्धिर्वा रिपुभङ्गात्स्वसिद्धिससूचनोपेत[1] ॥ ५७ ॥

अर्थ—तथा पृथिवीतत्त्वमें सग्राममें विजय कहे और वरुण पवनमें वांछितसे भी अधिक जय कहे अथवा सधि होना कहे तथा शत्रुके भग होनेसे अपनी सिद्धिकी सूचना सहित कहे ॥ ५७ ॥

---

(१) इस ग्रथमें पृथिवी अप तेज और वायु ये ४ ही तत्त्व माने हैं आकाश तत्त्वमाना ही नहीं तो फिर आकाशतत्त्वका फल क्यों कहा सो हमारी समझमें नहीं आया—(अनुवादक)।

अब मेह वर्षनेके प्रश्नका उत्तर कहते हैं,—

वर्षति भौमे मघवान्वरुणेऽभिमतो मतस्तथाजस्रम् ।
दुर्दिनघनाश्च पवने वह्नौ वृष्टिः कियन्मात्रा ॥ ५८ ॥

अर्थ—पृथिवी तत्त्वमें तो मेघ वर्षना कहै अप्तत्त्वमें मनोवांछित मेह निरन्तर बरसैगा ऐसा कहै। पवनतत्त्वमें दुर्दिन होगा बादल होगा, ऐसा कहै और वह्नितत्त्वमें किंचिन्मात्र वृष्टि होना कहै ॥ ५८ ॥

सस्यानां निष्पत्तिः स्याद्वरुणे पार्थिवे च सुश्लाघ्या ।
स्वल्पापि न चाग्नेये वाय्वाकाशे तु मध्यस्था ॥ ५९ ॥

अर्थ—कोई मनुष्य धान्य निष्पत्तिका (उत्पन्न होनेन होनेका) प्रश्न करै तो वरुणपवनमें और पृथिवी पवनमें तो धान्यकी उत्पत्ति अच्छी होगी ऐसा कहै और अग्नितत्त्वमें स्वल्प भी न हो ऐसा कहै और वायुतत्त्वमें अथवा शून्यमें (आकाशतत्त्वमें) मध्यम हो, ऐसा कहै ॥ ५९ ॥

नृपतिगुरुबन्धुवृद्धा अपरेऽप्यभिलषितसिद्धये लोकाः ।
पूर्णाङ्गे कर्त्तव्या विदुषा वीतप्रपञ्चेन ॥ ६० ॥

अर्थ—यहां वशीकरण प्रयोग है—सो राजा गुरु बन्धु वृद्धपुरुष तथा अन्य लोग भी अपने वांछितके लिये वश करने हों तो पूर्णाङ्ग कहिये भरे स्वरमें प्रपंचरहित पंडितपुरुषोंको चाहिये कि वशीकरणप्रयोग करै। भावार्थ—जिस समय भरा स्वर चलता हो उस समय उनसे वार्त्तालाप करनेसे वे अपने अनुकूल प्रवर्त्तते हैं ॥ ६० ॥

शयनासनेषु दक्षैः पूर्णाङ्गनिवेशितासु योषासु ।
ह्रियते चेतस्त्वरितं नातोऽन्यद्वश्यविज्ञानम् ॥ ६१ ॥

अर्थ—प्रवीण पुरुषोंके द्वारा भरे स्वरमें निवेशित की हुई स्त्रियोंके चित्त त्वरित ही हरे जाते हैं इससे अन्य वश करनेका कोई भी विधान उत्तम नहीं है ॥ ६१ ॥

अरिऋणिकचौरदुष्टा अपरेऽप्युपसर्गविग्रहाद्याश्च ।
रिक्ताङ्गे कर्त्तव्या जयलाभसुखार्थिभिः पुरुषैः ॥ ६२ ॥

अर्थ—तथा शत्रु, ऋणवाला चोर दुष्ट पुरुष तथा अन्य भी ऐसे लोक वश करने तथा उपसर्ग युद्ध इत्यादि कार्य जीतलाभसुखके अर्थियोंको रीते स्वरमें करने चाहिये ॥ ६२ ॥

रिपुशस्त्रसम्प्रहारे रक्षति यः पूर्णगात्रभूभागम् ।
बलिभिरपि वैरिवर्गैर्न भिद्यते तस्य सामर्थ्यम् ॥ ६३ ॥

अर्थ—शत्रुके शस्त्रप्रहार होतेसमय अपना जो स्वर भग हो उस तरफ यदि वैरी रहै तो उस पुरुषकी सामर्थ्य बलवान शत्रुसे भी भंग नहिं हो सकता। भावार्थ—वैरीके साथम लड़ाई होते वैरीकी तरफ अपना भरा स्वर हो वही रक्षकर्मे अच्छी होती है ॥ ६३ ॥

अब स्त्रीके गर्भसंबंधी प्रश्नके उत्तर देनेका वर्णन है,—

आर्या।

वरुणमहेन्द्रौ शस्तौ प्रश्ने गर्भस्य पुत्रदौ ज्ञेयौ।
इतरौ स्त्रीजन्मकरौ शून्य गर्भस्य नाशाय ॥ ६४ ॥

अर्थ—वरुण और महेन्द्र इन दोनों पवनोंमे प्रश्न हो तो पुत्र जन्मेगा और अग्नितत्त्व वायुतत्त्वमे प्रश्न हो तो कन्या होगी—और रीते स्वरमे प्रश्न हो तो गर्भ नष्ट हो जाता ऐसा कहै ॥ ६४ ॥

श्लोक।

नासाप्रवाहदिग्भागे गर्भार्थं यस्तु पृच्छति।
पुरुष पुत्रादेश शून्यभागे तथाङ्गना ॥ ६५ ॥

अर्थ—जिस तरफका स्वर चलता हो उसी तरफ होकर प्रश्न करै और वह प्रश्न करनेवाला पुरुष हो तो पुत्र होना कहै और शून्य भाग अर्थात् रीते स्वरकी तरफ होकर प्रश्न करै तो पुत्री होना कहै ॥ ६५ ॥

विज्ञेय सम्मुखे पण्ढ सुषुम्नायामुभौ शिशू।
गर्भहानिस्तु सङ्क्रान्तौ समे क्षेम विनिर्दिशेत् ॥ ६६ ॥

अर्थ—यदि सन्मुख होकर प्रश्न करे तो नपुसक सन्तान होगी ऐसा कहे तथा दोनों नासिका पूर्ण भरी हुईम पूछे तो दो बालक होना कहै पवनके सक्रमके (पलटनेके) समय पूछे तो गर्भकी हानि हो और दोनों तरफ पवन सम बहती हुईम पूछे तो क्षेम कुशल कहै ॥ ६६ ॥

आर्या।

ज्ञायेत यदि न सम्यग्मरुत्तदा बिन्दुभि स्तो निश्चेयः।
सितपीतारुणकृष्णैर्वरुणावनिपवनदहनोत्थैः ॥ ६७ ॥

अर्थ—जो कदाचित् पवन भलेप्रकार जाननेम नहिं आवै तो फिर श्वेत पीत रक्त कृष्ण बिंदुओंसे निश्चय करना। वे बिंदु वरुणसे उत्पन्न हुए तो सफेद होते हैं पृथिवीके उत्पन्न हुये पीत (पीले) होते हैं तथा अग्निसे रक्त, और पवनसे काले उत्पन्न होते हैं ॥ ६७ ॥

आगे बिंदुदेखनेका विधान कहते हैं,—

कर्णाक्षिनासिकापुटमङ्गुष्ठप्रथममध्यमाङ्गुलिभिः ।
रुध्वा च पिधाय मुखं करणेन हि दृश्यते बिन्दुः ॥ ६८ ॥

अर्थ—कान नेत्र नासिका इनको क्रमसे दोनों अँगूठे दोनों प्रथम अंगुली तथा दोनों मध्यमा अंगुलियोंसे बंद करके डक करके मुखको भी शेष दोनों अंगुलियोंसे बंद करले तत्पश्चात् मनमें देखनेपर चारों प्रकारकी पवनोंके बिंदुओंमेंसे जिस प्रकारका बिंदु दीखे वही पवन जानना ॥ ६८ ॥

श्लोक ।

दक्षिणामथवा वामां यो निषेद्धुं समीप्सति ।
तदङ्गं पीडयेदन्या नासानाडीं समाश्रयेत् ॥ ६९ ॥

अर्थ—दहनी अथवा बाईं नाडीका निषेध करना (बदलना) चाहे तो उस नाडीके अंगको पीडे तथा दूसरी नाडीका आश्रय करे अर्थात् दहनीसे बाईं हो जाय और बांईसे दहनी होजाय ॥ ६९ ॥

आर्या ।

अग्रे वामविभागे चन्द्रक्षेत्रं वदन्ति तत्त्वविदः ।
पृष्ठौ च दक्षिणाङ्गे रवेस्तदेवाहुराचार्याः ॥ ७० ॥

अर्थ—अग्र कहिये सन्मुख और बाई तरफका भाग तो चन्द्रमाका क्षेत्र है और पिछला और दहिना भाग सूर्यका क्षेत्र है इस प्रकार तत्त्वके जाननेवाले आचार्यगण कहते हैं ॥ ७० ॥

अथनिवनदहनमण्डलविचलनशीलस्य तावदनिलस्य ।
गतिरञ्जसैव मरुत्पुरविहारिणः सा तिरश्चीना ॥ ७१ ॥

अर्थ—पृथ्वीजल अग्निमण्डलमें विहार करनेवाली पवनकी गति तो सरल है और पवन मण्डलमें विहार करनेवाली गति तिरछी (वक्र) है ॥ ७१ ॥

पवनप्रवेशकाले जीव इति प्रोच्यते महामतिभिः ।
निष्क्रमणे निर्जीवं फलमपि च तयोस्तथा ज्ञेयम् ॥ ७२ ॥

अर्थ—किसी छिपी वस्तुके विषयमें प्रश्न करै तो पवनके प्रवेशकालमें तो जीव है ऐसा कहना चाहिये और पवनके निकलते हुए कालमें प्रश्न करै तो निर्जीव है ऐसा बडे बुद्धिमान् पुरुषोंने कहा है तथा इनका फल भी वैसा ही कहा जाता है ॥ ७२ ॥

जीवे जीवति विश्वं मृते मृतं सूरिभिः समुद्दिष्टम् ।
सुखदुःखजयपराजयलाभालाभादिमार्गोऽयम् ॥ ७३ ॥

१ तथा भूत इत्यपि पाठः ।

अर्थ—जो पवनके प्रवेशकालमे जीव कहा सो जीते हुये समस्त वस्तु भी जीव कहना और पवनके निकलते हुए मृतक कहा हो तो समस्त वस्तु निर्जीव ही कहना चाहिये तथा सुख दुःख जय पराजय लाभ अलाभ आदिका भी यही मार्ग है ॥ ७३ ॥

सचरति यदा वायुस्तत्त्वात्तत्त्वान्तर तदा ज्ञेयम् ।
यत्त्यजति तद्धि रिक्त तत्पूर्ण यत्र सक्रमति ॥ ७४ ॥

अर्थ—जिस समय पवन है सो एक तत्त्वसे अन्य तत्त्वमे सचरती हो उस समय जिसको छोडे सो तो रिक्तपवन कहा जाता है और जिसमे सचरे उसको पूर्ण कहा जाता है ॥ ७४ ॥

ग्रामपुरयुद्धजनपदगृहराजकुलप्रवेशनिःकाशे ।
पूर्णाङ्घ्रिपादमग्रे कृत्वा व्रजतोऽस्य सिद्धिः स्यात् ॥ ७५ ॥

अर्थ—ग्राम पुर युद्ध देश घर राजमदिरमे प्रवेश करना अथवा वहासे निकलना तो उस समय जिस तरफका स्वर भरा हुआ हो उस तरफका पाव पहिले रखकर चले तो उसके कार्यकी सिद्धि होती है ॥ ७५ ॥

उक्तं च गाथा ।

अमृते प्रवहति नूनं केचित्प्रवदन्ति सूरयोऽस्यर्थम् ।
जीवन्ति विषामरका म्रियते च तथान्यथामृते ॥ १ ॥

अर्थ—अमृत जो चन्द्रमाकी नाडी यदि चलती हो तो निश्चयसे विषसे मारा पुरुष भी जीता है और अन्य प्रकार जो सूर्यकी नाडी दहनी चले तो मरता है इस प्रकार पूर्वाचार्योंने अतिरतासे कहा है ॥ १ ॥

यस्मिन्नसति म्रियते जीवति सति भवति चेतनाकलितः ।
जीवस्तदेव तत्त्वं विरला जानन्ति तत्त्वविदः ॥ ७६ ॥

अर्थ—जीव है सो जिस पवनके न होने तो मरे और जिस पवनके होते हुए भी चेतना सहित रहे ऐसा तत्त्व कोई विरले ही तत्त्वज्ञानी जानते है ॥ ७६ ॥

सुखदुःखजयपराजयजीवितमरणानि विद्म इति केचित् ।
वायुप्रपञ्चरचनामवेदिनां कथमयं मानः ॥ ७७ ॥

अर्थ—कोई पुरुष इस प्रकार कहते हैं कि—हम सुख दुःख जय पराजय जीवित मरण इनको जानते हैं परन्तु ऐसा अभिमान पवनके प्रपंच (विस्तार) रचनाको नहीं जानने वालोंको कैसे हो सकता है । भावार्थ—पवनका प्रचार जाने बिना अभिमान करना वृथा है ॥ ७७ ॥

पुर्णीम पूरके वश्याकृष्टि कुम्भके तथा स्तम्भम् ।
उच्चाटन च योगी रेचकविज्ञानसामर्थ्यात् ॥ ७८ ॥

अर्थ—पवनको साधनेवाला योगी है सो पूरकके होते तो आकर्षण करता है और कुम्भकके होने स्तंभन करता है और रेचकके विज्ञानकी सामर्थ्यसे उच्चाटन करता है ॥ ७८ ॥

इदमखिलं श्वसनभव सामर्थ्यं स्यान्मुनेर्ध्रुवं तस्य ।
यो नाडिकाविशुद्धिं सम्यक् कर्तुं विजानाति ॥ ७९ ॥

अर्थ—यह सब पवनसे उत्पन्न हुआ सामर्थ्य है सो उस मुनिके ही होता है कि जो नाडिका कहिये पवनकी विशुद्धताके प्रचारका चलना नासिकाके द्वारसे निकलने प्रवेश करने आदिको भले प्रकार विशुद्ध करनेके लिये विशेषकर जानता है ॥ ७९ ॥

यहा नाडीकी सामर्थ्य कही, अब नाडिकाकी शुद्धताका विधान कहते हैं,—

यद्यपि समीरचारश्चपलतरो योगिभिः सुदुर्लक्ष्य ।
जानाति विगततन्द्रस्तथापि नाड्या कृताभ्यास ॥ ८० ॥

अर्थ—यद्यपि पवनका प्रचार है सो अतिशय चपल है योगीश्वरोंको भी दुर्लक्ष्य है अर्थात् लखनेमें नहिं आता, तथापि योगी निष्प्रमाद होकर अतियत्नसे नाडीमे अभ्यास करनेसे इसके प्रचारको (संचारको) जान सक्ता है ॥ ८० ॥

अब नाडीकी विशुद्धताका वर्णन करते हैं,—

सकलं बिन्दुसनाथं रेफाक्रान्तं हवर्णमनवद्यम् ।
चिन्तयति नाभिकमले सुधन्पुरं कर्णिकारूढम् ॥ ८१ ॥

अर्थ—चन्द्रकलासहित बिंदुयुक्त रेफसे व्याप्त ऐसा हकार अर्थात् हँ ऐसा अक्षर निष्पाप मनोज्ञ नाभिकमलकी कर्णिकामें आरूढ है ऐसा चिंतवन कर, तत्पश्चात्—

रेचयति ततः शनै पतङ्गमार्गेण भासुराकारम् ।
ज्वालाकलापकलितं स्फुलिङ्गमालाकराक्रान्तम् ॥ ८२ ॥
तरलतडिद्वेगं धूमशिखावर्त्तरुद्धदिक्चक्रम् ।
गच्छन्तं गगनतले दुर्द्धर्ष देवदैत्यानाम् ॥ ८३ ॥

अर्थ—भासुराकार देदीप्यमान ज्वालासमूहसे संयुक्त स्फुलिंगोंकी पंक्तिके किरणोंसे व्याप्त ऐसे सूर्यके मार्गसे अर्थात् दहनी नाडीसे रेचन करै अर्थात् बाहर निकालै,—तत्पश्चात् यह वर्ण चंचल बिजलीके वेगकी समान वेगवाला और धूमकी शिखाके आवर्तसे जिसने दिशाओंको रोका है, देव दैत्योंके द्वारा भी थामनेमें नहिं आवै ऐसे वेगसे आकाशमें गमन करता हुआ चिंतवन करै ॥ ८२ ॥ ८३ ॥

शरदिन्दुधामधवलं गगनतलान्मन्दमन्दमवतीर्णम् ।
क्षरदमृतमिव सुधांशोः पूरयति यथा पुनः पुरतः ॥ ८४ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् वही वर्ण शरदके चन्द्रमाकी कान्तिके समान धवल आकाशसे मंद मंद उतरताहुआ चन्द्रमाके मार्गमें अर्थात् वामस्वरमें जैसे अमृत झरै तैसे निरंतर नाभिकमलमें पूरण करै अर्थात् आकाशसे उतारकर नाभिकमलमें धारण करै ॥ ८४ ॥

तत्पश्चात् क्या करै सो कहते हैं,—

आनीय नाभिकमलं निवेश्य तस्मिन्पुनः पुनश्चैव ।
अनलसमनसा कार्यं प्रवेशनिःसरणमनवरतम्[1] ॥ ८५ ॥

अर्थ—नाभिकमलमें लानेके पश्चात् उस नाभिकमलमें ही स्थापन करके उसमें ही आलस्यरहित मनसे प्रवेश निःसरण निरंतर वारंवार करना इस कार्यके करनेमें मनमें प्रमाद न लाना सावधानी रखना ॥ ८५ ॥

तत्पश्चात् क्या करना सो कहते हैं,—

अथ नाभिपुण्डरीकाच्छनैः शनैर्हृदयकमलनालेन ।
निःसारयति समीरं पुनः प्रवेशयति सोद्योगम् ॥ ८६ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् नाभिकमलसे हृदयरूप कमलकी नालमें धीरे धीरे पवनको उद्यम सहित निकालै और प्रवेश करावै ॥ ८६ ॥

नाडीशुद्धिं कुरुते दहनपुरं दिनकरस्य मार्गेण ।
निष्क्रामदिशादिंदोः पुरमिनरेणेति केऽप्याहुः ॥ ८७ ॥

अर्थ—कोई कोई आचार्य इस प्रकार कहते हैं कि—अग्निमंडलकी पवन है सो सूर्यके मार्गसे (दहने स्वरसे) निकलती और वरुणमंडलसंबंधी पवन चन्द्रमाके मार्गसे (बांये स्वरमें) प्रवेश करती नाडीकी शुद्धताको करती है ॥ ८७ ॥

इति नाडिकाविशुद्धिपरिकलिताभ्यासकौशलो योगी ।
आत्मेच्छयैव घटयति पुटयोः पवनं क्षणार्द्धेन ॥ ८८ ॥

अर्थ—पूर्वोक्तप्रकारसे नाडीकी विशुद्धताके अनुसार अभ्यास करनेमें प्रवीण योगी पवनको नासिकाके छिद्रोंमें अपनी इच्छासे ही आधे क्षणमात्रमें घटा सके है नाडीके अभ्यास करनेसे पवनके प्रवेश निःसरण करनेमें योगी स्वाधीन हो जाता है अर्थात् सिद्ध हो जाता है ॥ ८८ ॥

एकस्यामयमास्ते कालं नाड्यां युगस्य सार्द्धम् ।
सामुत्क्रम्य ततोऽन्यामधितिष्ठति नाडिकामनिलः ॥ ८९ ॥

१ 'निष्क्रमणमनवरतम्' इत्यपि पाठः ।

अर्थ—यह पवन है सो एक नाडीमें नाडीद्वयमार्द्ध कहिये अढाइ घडीतक रहता है तत्पश्चात् उसे छोड अन्य नाडीमें रहता है यह पवनके ठहरनेके कालका परिमाण है ॥८९॥

षोडशप्रमितः कैश्चिन्निर्णीतो वायुसंक्रमः ।
अहोरात्रमिते काले द्वयोर्नाड्योर्यथा क्रमम् ॥ ९० ॥

अर्थ—किन्ही २ आचार्योंने दोनों नाडियोंमें एक अहोरात्र परिमाण कालमें पवनका संक्रम (पलटना) क्रमसे १६ बार होना निर्णय किया है ॥ ९० ॥

षट्शतान्यधिकान्याहुः सहस्राण्येकविंशतिम् ।
अहोरात्रे नरि स्वस्थे प्राणवायोर्गमागमौ ॥ ९१ ॥

अर्थ—स्वस्थ मनुष्यके शरीरमें प्राणवायु श्वासोच्छ्वासका गमनागमन एक दिन और रात्रिमें इक्कीस हजार ६ सौ बार होता है ॥ ९१ ॥

संक्रान्तिमपि नो वेत्ति यः समीरस्य मुग्धधीः ।
स तत्त्वनिर्णयं कर्तुं प्रवृत्तः किं न लज्जते ॥ ९२ ॥

अर्थ—जो मूर्खबुद्धि पुरुष इस पवनकी पलटनको नहिं जानता है और पवनका तत्त्व यथार्थरूप निर्णय करनेके लिये प्रवर्तै है सो क्या लज्जित भी नहीं होता। भावार्थ— पवनकी पलटनिको जाने विना पृथिवी आदिक तत्त्वोंका यथार्थ निर्णय नहिं होता जो करना चाहता है वह मूर्ख है ॥ ९२ ॥

आगे पवनके वेध करनेका विधान कहते हैं,--

अथ कौतूहलहेतोः करोति वेधं समाधिसामर्थ्यात् ।
सम्यग्विनीतपवनः शनैः शनैरर्कतूलेषु ॥ ९३ ॥

अर्थ—इसके पश्चात् यदि कोइ पवनाभ्यासी कौतूहलके लिये समाधि जो पवनके अभ्यासकी लय उसकी सामर्थ्यसे भलेप्रकार जाना है पवन जिसने ऐसा पुरुष आकके तूलमें (रूइमें) मंदमंदतासे वेध करै ॥ ९३ ॥

तत्र कृतनिश्चयोऽसौ जातीवकुलादिगन्धद्रव्येषु ।
स्थिरलक्ष्यतया शश्वत्करोति वेधं चिरं हृष्टात्मा ॥ ९४ ॥

अर्थ—फिर उस आककी रूइमें किया है वेध जिसने ऐसा होनी है सो निश्चलतारूप होकर जातीपुष्प बकुल मौलश्रीके पुष्प आदि सुगंध द्रव्योंमें वेध करता है ॥ ९४ ॥

कर्पूरकुङ्कुमागुरुमलयजकुष्ठादिगन्धद्रव्येषु ।
वरुणपवनेन वेधं करोति लक्ष्ये स्थिराभ्यासः[1] ॥ ९५ ॥

---

1 'कृताभ्यासः' इत्यपि पाठः ।

अर्थ—फिर जिसने लक्ष्यमें अभ्यास किया है ऐसा योगी कपूर केशर अगर तगर कूठ (कूड) आदि सुगन्धित द्रव्योंमें वरुण पवनसे वेध करता है ॥ ९५ ॥

एतेषु लब्धलक्ष्यस्ततोऽपि सूक्ष्मेषु पत्रिकाद्येषु ।
वेधं करोति वायुः प्रपञ्चसंयोजने चतुरः ॥ ९६ ॥

अर्थ—इन पूर्वोक्त वस्तुओंमें वेधका लक्ष प्राप्त होनेपर योगी पवनके प्रपञ्च करनेमें चतुर होता हुआ सूक्ष्म पत्रिकादिक जीवोंमें वेध करता है ॥ ९६ ॥

मधुकरपतङ्गपक्षिषु तथाण्डजेषु मृगशरीरेषु ।
सञ्चरति जातलक्ष्यस्त्वनन्यचेतो वशी धीरः ॥ ९७ ॥

अर्थ—उत्पन्न हुआ है लक्ष्य जिसके ऐसा योगी अनन्यचित्त और जितेन्द्रिय धीरवीर एकाग्रचित्त होकर भ्रमर पतङ्गादि पक्षियोंमें तथा अंडज पक्षियोंमें और मृगादिके शरीरमें संचार करता है ॥ ९७ ॥

नरतुरगकरिशरीरे क्रमेण सञ्चरति निःसरति च ।
पुस्तोपलरूपेषु च यदृच्छया संक्रमं कुर्यात् ॥ ९८ ॥

अर्थ—तथा इस परकायप्रवेश करनेवाला योगी क्रमसे मनुष्य घोड़े हस्तीके शरीरमें अपनी इच्छानुसार संचार करता (प्रवेश करता) वा निकलता रहता है इसीप्रकार पाषाणादिकमें इच्छानुसार संक्रमण करे ॥ ९८ ॥

इति परपुरप्रवेशाभ्यासोत्थसमाधिपरमसामर्थ्यात् ।
विचरति यदृच्छयासौ मुक्त इवात्यन्तनिर्लेपः ॥ ९९ ॥

अर्थ—इसप्रकार पूर्वोक्त रीतिसे परपुरमें प्रवेश करनेके अभ्याससे उत्पन्न हुई समाधिके परम सामर्थ्यसे योगी अपनी इच्छानुसार मुक्त आत्माकी समान [illegible] विचरता है ॥ ९९ ॥

तथा—

कौतुकमात्रफलोऽयं परपुरप्रवेशो महाप्रयासेन ।
सिद्ध्यति न वा कथंचिन्महतामपि कालयोगेन ॥ १०० ॥

अर्थ—[illegible] ॥ १०० ॥

स्मरगरलमनोविजयं समस्तरोगक्षयं वपुःस्थैर्यम् ।
पवनप्रचारचतुरः करोति योगी न सन्देहः ॥ १०१ ॥

अर्थ—तथा पवनके प्रचार करनेमें चतुर योगी कामरूपी विषयुक्त मनको जीतता है (वश करता है) अर्थात् उसकी कामवासना नष्ट होजाती है, समस्त रोगोंका क्षय करके शरीरमें स्थिरता (दृढता) करता है इसमें कुछ भी संदेह नहीं है ॥ १०१ ॥

जन्मशतजनितमुग्रं प्राणायामाद्विलीयते पापम् ।
नाडीयुगलस्यान्ते यतेर्जिताक्षस्य वीरस्य ॥ १०२ ॥

अर्थ—इस पवनके साधनरूप प्राणायामसे जीती हैं इन्द्रियें जिसने ऐसे धीर वीर यतिके सैकडों जन्मोंके संचित किये तीव्र पाप दो घडीके भीतर भीतर लय होजाते है ॥

यहां आशय ऐसा है कि प्राणायामसे जगतके शुभाशुभ व भूतभविष्यत जाने जाते हैं तथा परके शरीरमें प्रवेश करनेकी सामर्थ्य होती है सो ये तो लौकिक प्रयोजन है इनमें कुछ परमार्थ नहीं है और मनको वशीभूत करनेसे विषयवासना नष्ट हो जाती है और अपने निजस्वरूपमें ध्यान करके लय होनेसे अनेक जन्मके बांधे हुए कर्मोंका नाश करके मुक्तिको प्राप्त होना पारमार्थिक फल है इस कारण योगीश्वरोंको करना योग्य है। तथा यह पवनके अभ्याससे पृथिवी आदि मंडलोंका (तत्त्वोंका) नासिकाके द्वारा पवन निकलै उसके द्वारा निश्चय करना कहा और उन पृथिवी आदि तत्त्वोंका वर्ण, आकार आदिका स्वरूप कहा सो यह कल्पना है निमित्तज्ञानके शास्त्रोंमें वर्णन है कि शरीर पृथिवी जल अग्नि और वातमयी है, इसमें पवन सर्वत्र विचरता है इस पृथिवी आदि तत्त्वों की कल्पना करके निमित्तज्ञान सिद्ध किया है। और पूरक कुम्भक रेचक करनेके अभ्याससे इस पवनको अपने आधीन करके पीछे इसको नाडीकी शुद्धताके अभ्याससे नासिकासे बाहर निकालै वा प्रवेश करावै तब नाडी शुद्ध होनेपर फिर पवन बाहर निकलै उसकी रीति पृथिवी आदिमंडलस्वरूप जैसा वर्णन है वैसी ही पहिचानै और जब उसके निमित्तसे जगतके भूत भविष्यत शुभाशुभका ज्ञान होता है तब या तो अपना जानै अथवा लोक प्रश्न करै तो उसको कहै यह लौकिक प्रयोजन है और अन्यमतावलम्बियोंने भी यह कल्पना की है परन्तु उनके यहां वस्तुका स्वरूप यथार्थ नहि सधता इस कारण दैवयोगसे किंचिन्मात्र लौकिक प्रयोजन सधै तो सध सक्ता अथवा नहीं भी सधता इसका कुछ नियम नहीं है ॥ १०२ ॥

यहां इस प्राणायामके साधनेकी कठिनता दिखानेके लिये उक्तं च श्लोक है,—

जलबिन्दुं कुशाग्रेण मासे मासे तु यः पिबेत् ।
संवत्सरशतं साग्रं प्राणायामश्च तत्समः ॥ १ ॥

---

१ 'धीरस्य' इत्यपि पाठः।

अर्थ—जो कोई पुरुष कुशके अग्रभागमें जलका एक एक बिंदु लगाने हस अनन्तर सौ वर्षतक पीवै अन्य कुछ भी आहारादिक नहिं करै ऐसा करनेवाला हो तो उसके समान इस प्राणायामका करना कठिन है, परन्तु जो योगीश्वर ध्यानके प्रभावसे इसे साधते हैं वे धन्य हैं ॥ १ ॥

इस प्रकार ध्यानके योग्य स्थान और आसन तथा प्राणायामका वर्णन किया ॥

कवित्त।

आसन थान सवाँरि करै मुनि प्राणायाम समीरसँभार।
पूरक कुंभक रेचक साधन निज आधीन सुतत्त्वविचार॥
जगतरीत मन लखै शुभाशुभ अपने हानि वृद्धि निरधार।
मन रोकै परमातम ध्यावै तब यह सफल न या परकार॥ २९॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे स्थानासनपूर्वक प्राणायामवर्णन नाम एकोनत्रिंश प्रकरण समाप्तम् ॥ २९ ॥

अथ त्रिंश प्रकरण लिख्यते।

अब प्रत्याहार और धारणाका वर्णन करते हैं,—

समाकृष्येन्द्रियार्थेभ्य साक्ष चेत प्रशान्तधीः।
यत्र यत्रेच्छया धत्ते स प्रत्याहार उच्यते॥ १ ॥

अर्थ—जो प्रशान्तबुद्धि विशुद्धतायुक्त मुनि अपनी इन्द्रियें और मनको इन्द्रियोंके विषयोंसे खैंचकर जहां जहां अपनी इच्छा हो तहां तहां धारण करै सो प्रत्याहार कहा जाता है। **भावार्थ**—मुनिके इन्द्रिय मन वशमें होते हैं तब मुनि जहां अपना मन लगावै वहां लग सक्ता है, उसको प्रत्याहार कहते हैं ॥ १ ॥

निःसंगः संवृतस्वान्त कूर्मवत्संवृतेन्द्रिय ।
यमी समत्वमापन्नो ध्यानतन्त्रे स्थिरी भवेत् ॥ २ ॥

अर्थ—निःसंग (परिग्रहरहित) और संवररूप हुआ है मन जिसका और कछुवेके समान संकोचरूप हैं इन्द्रियें जिसकी ऐसा मुनि ही रागद्वेषरहित समभावको प्राप्त होकर ध्यानरूपी तन्त्र (प्रवृत्ति) स्थिररूप होता है। **भावार्थ**—ऐसा होकर प्रत्याहार करै ॥ २ ॥

मनको कहां २ लगावै सो कहते है,—

गोचरेभ्यो हृषीकाणि तेभ्यश्चित्तमनाकुलम्।
पृथक्कृत्य वशी धत्ते ललाटेऽत्यन्तनिश्चलम् ॥ ३ ॥

अर्थ—वशी मुनि विषयोंसे तो इन्द्रियोंको पृथक् करै और इन्द्रियोंसे मनको पृथक् करै तथा अपने मनको निराकुल करके अपने ललाटपर निश्चलतापूर्वक धारण करै, यह विधि प्रत्याहारमें कही गई है ॥ ३ ॥

सम्यक्समाधिसिद्ध्यर्थं प्रत्याहारः प्रशस्यते ।
प्राणायामेन विक्षिप्तं मनः स्वास्थ्यं न विन्दति ॥ ४ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त प्राणायाममें पवनके साधनसे विक्षिप्त (क्षोभरूप) हुआ मन स्वास्थ्यको नहीं प्राप्त होता इसकारण भलेप्रकार समाधिकी सिद्धिके लिये प्रत्याहार करना प्रशस्त है अर्थात् प्रशंसा किया जाता है। भावार्थ—इस प्रत्याहारके द्वारा मन ठहरानेसे समाधिकी सिद्धि होती है ॥ ४ ॥

प्रत्याहृतं पुनः स्वस्थं सर्वोपाधिविवर्जितम् ।
चेतः समत्वमापन्नं स्वस्मिन्नेव लयं व्रजेत् ॥ ५ ॥

अर्थ—प्रत्याहारसे ठहराहुआ मन समस्त उपाधि अर्थात् रागादिकरूप विकल्पोंसे रहित समभावको प्राप्त होकर आत्मामें ही लयको प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

वायोः संचारचातुर्यमणिमाद्यङ्गसाधनम् ।
प्रायः प्रत्यूहबीजं स्यान्मुनेर्मुक्तिमभीप्सतः ॥ ६ ॥

अर्थ—पवनसंचारका चातुर्य शरीरको सूक्ष्म स्थूलादि करनेरूप अंगका साधन है इसकारण मुक्तिकी वांछा करनेवाले मुनिके प्रायः विघ्नका कारण है। भावार्थ—मोक्षके साधनमें विघ्न करनेवाला है ॥ ६ ॥

किमनेन प्रपञ्चेन स्वसन्देहार्त्तहेतुना ।
सुविचार्यैव तज्ज्ञेयं यन्मुक्तेर्बीजमग्रिमम् ॥ ७ ॥

अर्थ—इस पवनसंचारकी चतुराईके प्रपंचसे क्या लाभ क्योंकि यह आत्मामें सन्देह और पीड़ाका (आर्त्तध्यानका) कारण है ऐसे भलेप्रकार विचार करके मुक्तिका प्रधान कारण होय सो जानना चाहिये ॥ ७ ॥

संविग्नस्य प्रशान्तस्य वीतरागस्य योगिनः ।
वशीकृताक्षवर्गस्य प्राणायामो न शस्यते ॥ ८ ॥

अर्थ—जो मुनि संसारदेहभोगोंसे विरक्त है, कषाय जिसके मन्द हैं विशुद्धभावयुक्त है, वीतराग है और जितेन्द्रिय है ऐसे योगीको प्राणायाम प्रशंसा करने योग्य नहीं है ॥ ८ ॥

---

१ 'उन्मना' इत्यपि पाठः ।

प्राणायामसे क्या हानि होती है सो बताते हैं,—

प्राणस्यायमने पीडा तस्यां स्यादार्त्तसम्भवः।
तेन प्रच्याव्यते नून ज्ञाततत्त्वोऽपि लक्षितः ॥ ९ ॥

अर्थ—प्राणायाममें प्राणोंका (श्वासोच्छ्वासरूप पवनका) आयमन करिये रोके (सकोचनेमें) पीडा होती है और उस पीडाके होने हुये आर्त्तध्यान उत्पन्न होता और उस आर्त्तध्यानसे तत्त्वज्ञानी मुनि भी अपने लक्ष्यसे (अपने समाधि स्वरूप शुद्धतासे) छुडाया जाता है। **भावार्थ**—आर्तध्यान समाधिसे भ्रष्ट करा देता है ॥ ९ ॥

पूरणे कुम्भके चैव तथा श्वसननिर्गमे।
व्यग्रीभवन्ति चेतांसि क्लिश्यमानानि वायुभिः ॥ १० ॥

अर्थ—पवनके (श्वासोच्छ्वासके) पूरक करने तथा कुम्भक करने तथा पवनके रेचक होनेमें चित्त व्यग्ररूप होता है (खेदखिन्न होता है) क्योंकि पवनसे क्लेशित होनेसे ऐसा पाता है इसकारण प्राणायामका यत्न गौण किया है ॥ १० ॥

नातिरिक्तं फलं सूत्रे प्राणायामात्प्रकीर्तितम्।
अतस्तदर्थमस्माभिर्नातिरिक्तः कृतः श्रमः ॥ ११ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि इस प्राणायामसे सिद्धान्तमें कुछ भी अधिक फल नहीं कहा है इसकारण इस प्राणायामके लिये हमने अधिक खेद नहीं किया है ॥ ११ ॥

क्या करना चाहिये सो कहते हैं,—

निरुद्ध्य करणग्रामं समत्वमवलम्ब्य च।
ललाटदेशसंलीनं विदध्यान्निश्चलं मनः ॥ १२ ॥

अर्थ—इन्द्रियोंके विषयोंको रोककर और रागद्वेषको दूर कर समता अवलम्बन कर अपने मनको ललाटदेशमें संलीन करना चाहिये इसप्रकार करनेसे समाधिकी सिद्धि होती है ॥ १२ ॥

अब ध्यानके स्थान ललाटके सिवाय अन्य भी कहते हैं उनमें अपने मनको थामना कहते हैं,—

मन्दाक्रान्ता।

नेत्रद्वन्द्वे श्रवणयुगले नासिकाग्रे ललाटे
वक्त्रे नाभौ शिरसि हृदये तालुनि भ्रूयुगान्ते।
ध्यानस्थानान्यमलमतिभिः कीर्तितान्यत्र देहे
तेष्वेकस्मिन्विगतविषयं चित्तमालम्बनीयम् ॥ १३ ॥

अर्थ—निर्मलबुद्धि आचार्योंने ध्यान करनेके लिये नेत्रयुगल, दोनों कान, नासिकाका अग्रभाग, ललाट, मुख, नाभि, मस्तक, हृदय, तालु, दोनों भौंहोंका मध्यभाग इन दश स्थानोंमेंसे किसी एक स्थानमें अपने मनको विषयोंसे रहित करके आलम्बित करना अर्थात् इन स्थानोंमेंसे किसी एक स्थानपर ठहराकर ध्यानमें लीन करना कहा है ॥ १३ ॥

स्थानेष्वेतेषु विश्रान्तमुनेर्लक्ष्यं वितन्वतः ।
उत्पद्यन्ते स्वसंवित्तेर्बहवो ध्यानप्रत्ययाः ॥ १४ ॥

अर्थ—इन पूर्वोक्त स्थानोंमें विश्रामरूप ठहराये हुए लक्ष्यको (चिंतवने योग्य ध्येय वस्तुको) विस्तारते हुए मुनिके स्वसंवेदनरूप ध्यानके कारण बहुत ही उत्पन्न होते हैं। भावार्थ—जिसका ध्यान किया चाहै उसकी ही सिद्धि होती है ॥ १४ ॥

इसप्रकार प्रत्याहारधारणाका वर्णन किया ॥

दोहा।

आल्भादि दश थानमैं, ध्येय थापि मन लाय।
प्रत्याहार रु धारणा यहै ध्यानविस्तार ॥ ३० ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे प्रत्याहार धारणावर्णनं नाम त्रिंशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ३० ॥

अथैकत्रिंशं प्रकरणम् ।

आगे वीर्यसहित ध्यान करनेका वर्णन है, उसमें प्रथम ही ध्यान करनेकी प्रतिज्ञा करनेका विधान कहते हैं,—

अनन्तगुणराजीवबन्धुरप्यत्र वञ्चितः ।
अहो भवमहाकक्षे प्रागहं कर्मवैरिभिः ॥ १ ॥

अर्थ—ध्यान करनेका उद्यमी प्रथम ही ऐसा विचार करै कि—अहो देखो ! यह बड़ा खेद है जो मैं अनन्तगुण रूप कमलोंका बंधु विकाश करनेवाले सूर्यसमान हूं तथापि इस संसाररूप वनमें कर्मरूप शत्रुओंके द्वारा पूर्वकालमें ठगा गया हूं ॥ १ ॥

स्वविभ्रमसमुद्भूतैरागाद्यतुलबन्धनैः ।
बद्धो विडम्बितः कालमनन्तं जन्मदुर्गमे ॥ २ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् फिर विचारै कि—मैंने अपने ही विभ्रमसे उत्पन्न हुए रागादिक अतुल्य बंधनोंसे बंधे हुए अनन्तकाल पर्यन्त संसाररूप दुर्गम मार्गमें विडंबना रूप होकर विपरीताचरण किया ॥ २ ॥

अथ रागज्वरो जीर्णो मोहनिद्राद्य निर्गता ।
ततः कर्मरिपुं हन्मि ध्याननिस्त्रिंशधारया ॥ ३ ॥

अर्थ—फिर ऐसे विचारे कि इससमय मेरे रागरूपी ज्वर तो जीर्ण होगया और मोहरूपी निद्रा निकल गई है इसकारण ध्यानरूपी खड्गकी धारासे कर्मरूपी वैरीको मारता हूं ॥ ३ ॥

आत्मानमेव पश्यामि निर्धूयाज्ञानजं तमः ।
प्लोषयामि तथात्युग्रं कर्मेन्धनसमुत्करम् ॥ ४ ॥

अर्थ—तथा अज्ञानसे उत्पन्न हुए अन्धकारको दूर करके आत्माहीको अवलोकन करूं तथा अति तीव्र कर्मरूपी इंधनके समूहको दग्ध करता हूं ॥ ४ ॥

प्रबलध्यानवज्रेण दुरितद्रुमसंक्षयम् ।
तथा कुर्मो यथा दत्ते न पुनर्भवसंभवम् ॥ ५ ॥

अर्थ—तथा प्रबलध्यानरूपी वज्रसे पापरूप वृक्षोंका क्षय (नाश) ऐसा करूं कि जिससे फिर संसारमें उत्पन्न होने रूप फल न दे ॥ ५ ॥

जन्मज्वरसमुद्भूतमहामूर्च्छान्धचक्षुषा ।
स्वविज्ञानोद्भवः साक्षान्मोक्षमार्गो न वीक्षितः ॥ ६ ॥

अर्थ—फिर ऐसा विचारे कि संसाररूपी ज्वरसे उत्पन्न हुई मूर्छासे अंध होगये हैं नेत्र जिसके ऐसा जो मैं उसने अपने भेदविज्ञानसे उत्पन्न हुए साक्षात् मोक्षमार्गको नहीं देखा ॥ ६ ॥

ममात्मापि न विज्ञातो विश्वलोकैकलोचनः ।
अविद्याविषमग्राहदन्तचर्वितचेतसा ॥ ७ ॥

अर्थ—अहो मेरा आत्मा समस्त लोकको देखनेके लिये एक अद्वितीय नेत्र है सो ऐसेको भी अविद्या (मिथ्याज्ञान) रूपी ग्राहके दांतोंसे चर्वित किया है चित्त जिसका ऐसा इसको मैंने नहीं जाना ॥ ७ ॥

फिर इसप्रकार विचारे कि—

परमात्मा परंज्योतिर्जगज्ज्येष्ठोऽपि वञ्चितः ।
आपातमात्ररम्यैस्तैर्विषयैरन्तनीरसैः ॥ ८ ॥

अर्थ—मेरा आत्मा परमात्मा है, परमज्योतिस्वरूप है, जगतमें ज्येष्ठ है, महान् है तो भी मैं वर्तमान आपातमात्र रमणीक और अन्तमें नीरस ऐसे इन्द्रियोंके विषयोंसे ठगा गया हूं ॥ ८ ॥

---

१ 'स्फुट' इत्यपि पाठः ।

अहं च परमात्मा च द्वावेतौ ज्ञानलोचनौ ।
अतस्तं ज्ञातुमिच्छामि तत्स्वरूपोपलब्धये ॥ ९ ॥

अर्थ—मैं और परमात्मा दोनों ही ज्ञाननेत्रवाले हैं इसकारण अपने आत्माको उस परमात्माके स्वरूपकी प्राप्तिके लिये जाननेकी इच्छा करता हूं इसप्रकार विचारै ॥ ९ ॥

मम शक्त्या गुणग्रामो व्यक्त्या च परमेष्ठिनः ।
एतावानावयोर्भेदः शक्तिव्यक्तिस्वभावतः ॥ १० ॥

अर्थ—अनन्तचतुष्टयादि गुणोंका समूह मेरे तो शक्तिकी अपेक्षा विद्यमान है और परमेष्ठी अरहन्त सिद्धोंके व्यक्तिसे प्रगट है, हम दोनोंमें यह शक्ति और व्यक्तिके स्वभावसे ही भेद है वास्तवमें शक्तिकी अपेक्षा अभेद है ॥ १० ॥

उक्तं च ।

नासत्पूर्वाश्च पूर्वा नो निर्विशेषविकारजाः ।
स्वाभाविकविशेषा ह्यभूतपूर्वाश्च तद्गुणाः ॥ १ ॥

अर्थ—तद्गुण कहिये जो आत्माके गुण हैं वे जिनके विशेष नहीं हैं और विकारसे उत्पन्न हुए मतिज्ञानादिक हैं वे संसारी जीवोंके साधारण हैं सो ये गुण तो असत्पूर्व कहिये अपूर्व नहीं हैं विद्यमान हैं तथा पूर्वमें नहीं भी थे, नवीन भी उत्पन्न होते हैं और स्वाभाविक हैं वे विशेष अनंत ज्ञानादिक हैं सो ये अभूतपूर्व हैं पूर्वमें कभी प्रगट नहीं हुए ऐसे नवीन हैं। भावार्थ—द्रव्य अनादिनिधन हैं उनमें जो पर्याय हैं वे क्षणक्षणमें उत्पन्न होते और विनशते हैं उनमें त्रिकालवर्ती पर्याय हैं वे शक्तिकी अपेक्षा सद्रूप एकही कालमें कहे जाते हैं और व्यक्तिकी अपेक्षा जिस काल जो पर्याय होता है वही सद्रूप कहा जाता है तथा भूत भविष्यत्के पर्याय असद्रूप कहे जाते हैं इसप्रकार शक्तिकी अपेक्षा सत्का उत्पन्न होना, व्यक्तिकी अपेक्षा असत्का उत्पन्न होना कहा जाता है इसीप्रकार द्रव्यकी अपेक्षा सत्का उत्पाद और पर्यायकी अपेक्षा असत्का उत्पाद कहा जाता है यही इस श्लोकका आशय है। इसप्रकार आत्मद्रव्यमें भी सामान्यतासे मति ज्ञानादिक गुण भूतपूर्व कहे जाते हैं तथा अभूतपूर्व भी कहे जाते हैं किन्तु वास्तवमें अनन्तचतुष्टयादिककी अभूतपूर्व कहे जाते हैं ऐसे नयविभागसे वस्तुका स्वरूप जानना।

तावन्मां पीडयत्येव महादाहो भवोद्भवः ।
यावज्ज्ञानसुधाम्भोधौ नावगाहः प्रवर्तते ॥ ११ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् ऐसा विचार करै कि—जबतक ज्ञानरूपी समुद्रमें मेरा अवगाह (स्नान करना) नहीं होता तबतक ही मुझे संसारसे उत्पन्न हुआ दाह पीडित करता है ॥ ११ ॥

अहं न नारको नाम न तिर्यग्नापि मानुषः ।
न देवः किन्तु सिद्धात्मा सर्वोऽयं कर्मविक्रमः ॥ १२ ॥

अर्थ—यदि शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे देखता हूं तब न तो मैं नारकी हूं न तिर्यंच हूं न मनुष्य वा देवही हूं किन्तु सिद्धस्वरूप हूं । ये नारकादिक अवस्थायें हैं सो सब कर्मका विक्रम (पराक्रम) है इसप्रकार भावना करै ॥ १२ ॥

अनन्तवीर्यविज्ञानदृगानन्दात्मकोऽप्यहम् ।
किं न प्रोन्मूलयाम्यद्य प्रतिपक्षविषद्रुमम् ॥ १३ ॥

अर्थ—[illegible] इसप्रकार भावना करै कि मैं अनन्तवीर्य, अनन्त विज्ञान, अनन्त दर्शन अनन्तसुखरूप भी हूं इस कारण [illegible] प्रतिपक्षी शत्रु कर्म हैं वेही [illegible] वृक्ष, समान हैं सो उन्हें क्या अभी जडमूलसे न उखाडूं? अवश्य ही उखाडूंगा ॥ १३ ॥

अद्यात्मात्मस्वसामर्थ्यं प्रविश्यानन्दमन्दिरम् ।
न स्वरूपाच्च्यविष्येऽहं बाह्यार्थेषु गतस्पृहः ॥ १४ ॥

अर्थ—[illegible] इसप्रकार भावना करै कि—मैं अपने सामर्थ्यसे इसी समय [illegible] आनन्दमन्दिरमें प्रवेश करके अपने स्वरूपसे कदापि च्युत नहीं होऊंगा क्योंकि [illegible] ऐसा होकर जब स्वरूपमें स्थिर होता है [illegible] अपनी [illegible] नहीं रहती फिर उस स्वरूपसे क्यों डिगे? ॥ १४ ॥

यथार्थेन विनिश्चेयं स्वस्वरूपं हि यस्तु [illegible] ।
[illegible] ॥ १५ ॥

अर्थ—[illegible] अपना आत्मा (परमात्मा) [illegible] ॥ १५ ॥

[illegible] करता है [illegible]

[illegible]

[illegible] ॥ १६ ॥

अर्थ—[illegible]

इस प्रकार [illegible] अब ध्येय वस्तुका वर्णन करते हैं,—

शार्दूलविक्रीडितम्।

लोके वस्तु यदस्ति निर्मलधिय[illegible]चेतनम्
स्थित्युत्पत्तिविनाश[illegible]गतं मूर्तेतरं च क्रमात्।
[illegible]र्निर्गतमेवमेव देवस्य मुक्तेर्वरः
सर्वज्ञः सकलं [illegible] स भगवान् [illegible] परो निष्कलः ॥१७॥

अर्थ—[illegible] पुरुष [illegible] वस्तुको ध्यान करते हैं [illegible] देखते हैं। यह सब वस्तु चेतन अचेतन दो प्रकारकी है। चेतन तो [illegible] है और अचेतन पुद्गलादिक पांच द्रव्य हैं। ये सब द्रव्य (वस्तु) स्थिति, उत्पत्ति और विनाश [illegible] हैं [illegible] नहीं है अर्थात् उत्पादव्यय-ध्रौव्यसहित हैं तथा मूर्तीक अमूर्तीक भी हैं, पुद्गल मूर्तीक है, जीवादिक अमूर्तीक हैं [illegible] जिसका ऐसा मुक्तिका [illegible] अर्थात् [illegible] भगवान् है, और [illegible] रहित सिद्ध भगवान् है ॥ १७ ॥

अमी जीवादयो भावाश्चिदचिल्लक्षणलाञ्छिताः।
तत्स्वरूपाविरोधेन ध्येया धर्मे मनीषिभिः ॥ १८ ॥

अर्थ—ये जीवादिक छह द्रव्य चेतन अचेतन लक्षणसे लक्षित हैं सो धर्मध्यानमें बुद्धिमान् पुरुषोंको इनके स्वरूपका अविरोध करके यथार्थ स्वरूपको ध्यान करना चाहिये ॥ १८ ॥

ध्याने ह्युपरते धीमान् मनः कुर्यात्समाहितम्।
निर्वेदपदमापन्नं मग्नं वा करुणाम्बुधौ ॥ १९ ॥

अर्थ—ध्यानके पूर्ण होनेपर धीमान् पुरुष मनको सावधानरूप वैराग्यपदको प्राप्त करै अथवा करुणारूपी समुद्रमें मग्न करै ॥ १९ ॥

अथ लोकत्रयीनाथममूर्त्तं परमेश्वरम्।
ध्यातुं प्रक्रमते साक्षात्परमात्मानमव्ययम् ॥ २० ॥

अर्थ—अथवा तीन लोकके नाथ अमूर्तीक परमेश्वर परमात्मा अविनाशीका ही साक्षात् ध्यान करनेका प्रारंभ करै ॥ २० ॥

त्रिकालविषयं साक्षाच्छक्तिव्यक्तिविवक्षया।
सामान्येन नयेनैकं परमात्मानमामनेत् ॥ २१ ॥

---

१ [illegible] इत्यपि पाठः।

अर्थ—शक्ति और व्यक्तिकी विवक्षामें तीन कालके गोचर साक्षात् सामान्य नयसे (द्रव्यार्थिकनयमें) एक परमात्माका ही ध्यान करै, अभ्यास करै **भावार्थ**—यद्यपि संसार मुक्तकी अपेक्षासे आत्मामें भेदनयसे भेद है तथापि शक्ति व्यक्तिके सामान्य नयकी (द्रव्यार्थिक नयकी) विवक्षामें त्रिकालवर्त्ती आत्मा एक ही है, संसारी मुक्तका भेद नहीं करना अर्थात् संसारअवस्थामें तो शक्तिरूप परमात्मा है, और मुक्त अवस्थामें व्यक्तरूप परमात्मा है अभेदनयकी अपेक्षा आत्मामें भेद नहीं है इसप्रकार संसार अवस्थामें भी आत्माको सिद्धसमान ध्यावै ॥ २१ ॥

साकारं निर्गताकारं निष्क्रियं परमाक्षरम् ।
निर्विकल्पं च निष्कम्पं नित्यमानन्दमन्दिरम् ॥ २२ ॥
विश्वरूपमविज्ञातस्वरूपं सर्वदोदितम् ।
कृतकृत्यं शिवं शान्तं निष्कलं करणच्युतम् ॥ २३ ॥
निःशेषभवसम्भूतक्लेशद्रुमहुताशनम् ।
शुद्धमत्यन्तनिर्लेपं ज्ञानराज्यप्रतिष्ठितम् ॥ २४ ॥
विशुद्धादर्शसंक्रान्तप्रतिबिम्बसमप्रभम् ।
ज्योतिर्मयं महावीर्यं परिपूर्णं पुरातनम् ॥ २५ ॥
विशुद्धाष्टगुणोपेतं निर्द्वन्द्वं निर्गतामयम् ।
अप्रमेयं परिच्छिन्नं विश्वतत्त्वव्यवस्थितम् ॥ २६ ॥
यदग्राह्यं बहिर्भावैर्ग्राह्यं चान्तर्मुखैः क्षणात् ।
तत्स्वभावात्मकं साक्षात्स्वरूपं परमात्मनः ॥ २७ ॥

अर्थ—परमात्मा कैसा है, उसका स्वरूप कहते हैं प्रथम तो साकार है (आकार सहित है अर्थात् शरीराकार मूर्तीक है) तथा निर्गताकार कहिये निराकार भी है पुद्गलके आकारकी समान उसका आकार नहीं है निष्क्रिय है (क्रियासे रहित है), परमाक्षरस्वरूप है, विकल्परहित है, निष्कम्प है, नित्य है, आनन्दका घर है ॥ २२ ॥ तथा *विश्वरूप है, समस्त ज्ञेयोंके (पदार्थोंके) आकार जिसमें प्रतिबिंबित हैं,* तथा अविज्ञात स्वरूप है, अर्थात् जिसका स्वरूप मिथ्या दृष्टियोंने नहिं जाना ऐसा है, तथा सदा काल उदयरूप है, कृतकृत्य है, (जिसको कुछ भी करना नहीं रहा है), तथा शिव है, कल्याणरूप है, शान्त है (क्षोभरहित है), निष्कल कहिये शरीररहित है, तथा करणच्युत कहिये शोकरहित है, अथवा करणच्युत कहिये इन्द्रियरहित है ॥ २३ ॥ तथा समस्त भवोंसे (जन्ममरणोंसे) उत्पन्न हुए क्लेशरूप वृक्षोंको दग्ध करनेके लिये अग्निके समान

है तथा शुद्ध है, कर्मरहित है, और अत्यंत निर्लेप है अर्थात् जिसके कोई कर्मरूपी लेप नहीं लगता, तथा ज्ञानरूपी राज्यमें अर्थात् सर्वज्ञतामें स्थित है ॥ २४ ॥ तथा निर्मल दर्पणमें प्राप्त हुए प्रतिबिम्बकी समान प्रभावाला है तथा ज्योतिर्मय है अर्थात् जिसका ज्ञान प्रकाशरूप है, तथा अनन्त वीर्ययुक्त है, तथा परिपूर्ण है जिसके कुछ भी अवयव (अंग) घटते नहीं, तथा पुरातन है, अर्थात् किसीने नया नहीं बनाया ऐसा है ॥२५॥ तथा निर्मल सम्यक्त्वादि अष्ट गुणसहित है निर्द्वंद्व है रागादिकसे रहित है, रोगरहित है, अप्रमेय है, अर्थात् जिसका प्रमाण नहीं किया जा सकता, तथा परिज्ञात है अर्थात् भेदज्ञानी पुरुषोंके द्वारा जाना हुआ है, तथा समस्त तत्त्वोंसे व्यवस्थित है अर्थात् निश्चयरूप है ॥२६॥ तथा बाह्यभावोंसे तो ग्रहण करने योग्य नहीं है, और अन्तरंगभावोंसे क्षणमात्रमें ग्रहण करने योग्य है इसप्रकार परमात्माका स्वरूप है सो यह स्वरूप संसार अवस्थामें तो शक्तिरूप है और मुक्त अवस्थामें व्यक्तरूप है, ऐसा जानकर ध्यानगोचर करना चाहिये ॥ २७ ॥

तथा फिर भी कहते हैं,—

अणोरपि च यः सूक्ष्मो महानाकाशतोऽपि च ।
जगद्वन्द्यः स सिद्धात्मा निष्पन्नोऽत्यन्तनिर्वृतः ॥ २८ ॥

अर्थ—जो सिद्धस्वरूप परमाणुसे तो सूक्ष्मस्वरूप है, और आकाशसे भी महान् है, वह सिद्धात्मा जगतसे वंदने योग्य है, निष्पन्न है, अत्यन्त सुखमय है ॥ २८ ॥

यस्याणुध्यानमात्रेण शीर्यन्ते जन्मजा रुजः ।
नान्यथा जन्मिनां सोऽयं जगतां प्रभुरच्युतः ॥ २९ ॥

अर्थ—जिसके ध्यानमात्रसे जीवोंके संसारसे उत्पन्न हुए रोग नष्ट हो जाते हैं अन्य प्रकार नष्ट नहीं होते वही यह त्रिभुवनका नाथ अविनाशी परमात्मा है ॥ २९ ॥

विज्ञातमपि निःशेषं यदज्ञानादपार्थकम् ।
यस्मिंश्च विदिते विश्वं ज्ञातमेव न संशयः ॥ ३० ॥

अर्थ—जिस परमात्माके जाने बिना अन्य समस्त जाने हुए पदार्थ भी निरर्थक और इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिसका स्वरूप जाननेसे समस्त विश्व जाना जाता है ॥ ३० ॥

यत्स्वरूपापरिज्ञानान्नात्मनस्त्वे स्थितिर्भवेत् ।
यज्ज्ञात्वा मुनिभिः साक्षात्प्राप्तं तस्यैव वैभवम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—जिस परमात्माके स्वरूपके जाने बिना आत्मतत्त्वमें स्थिति नहीं होती है और जिसको जान करके मुनिगणोंने उसके ही वैभवको (परमात्माके स्वरूपको) साक्षात् प्राप्त किया है ॥ ३१ ॥

स एव नियत ध्येयः स विज्ञेयो मुमुक्षुभिः ।
अनन्यशरणीभूय तद्गतेनान्तरात्मना ॥ ३२ ॥

अर्थ—मुक्तिकी इच्छा करनेवाले मुनिजनोंको वह परमात्मा ही नियमसे ध्यान करने योग्य है अतएव अन्य समस्त शरण छोडकर उसमें ही अपने अन्तरात्माको प्राप्त करके जानना चाहिये ॥ ३२ ॥

अवाग्गोचरमव्यक्तमनन्तं शब्दवर्जितम् ।
अजं जन्मभ्रमातीतं निर्विकल्पं विचिन्तयेत् ॥ ३३ ॥

अर्थ—जो वचनके गोचर नहीं, पुद्गलके समान इन्द्रियगोचर नहीं ऐसा अव्यक्त है, जिसका अन्त नहीं है, जो शब्दसे वर्जित है अर्थात् जिसके शब्द नहीं, जिसके जन्म नहीं ऐसा अज है, तथा भवभ्रमणसे रहित है, ऐसे परमात्माको जिसप्रकार निर्विकल्प हो, उस प्रकार ही चिंतवन करै ॥ ३३ ॥

यद्बोधानन्तभागेऽपि द्रव्यपर्यायसंभृतम् ।
लोकालोकं स्थितिं धत्ते स स्याल्लोकत्रयीगुरुः ॥ ३४ ॥

अर्थ—जिस परमात्माके ज्ञानके अनन्तवें भागमें द्रव्य पर्यायोंसे भरा हुआ यह लोक स्थित है, वही परमात्मा तीन लोकका गुरु है भावार्थ—त्रिकालवर्ती अनन्त द्रव्य पर्यायोंसहित यह लोकालोक जिस ज्ञानमें एक कालपरमाणुके समान प्रतिभासता है ऐसा केवलज्ञान जिस परमात्माके है वही तीन लोकका स्वामी है॥ ३४ ॥

तत्स्वरूपाहितस्वान्तस्तद्गुणग्रामरञ्जितः ।
यो जयत्यात्मनात्मानं तस्मिंस्तद्रूपसिद्धये ॥ ३५ ॥

अर्थ—ध्यानी मुनि उस परमात्माके स्वरूपमें मन लगाकर उसके ही गुणग्रामोंसे रंजायमान हो उसमें ही अपने आत्माको आपहीसे उस स्वरूपकी सिद्धिके लिये जोडता है अर्थात् तल्लीन होता है ॥ ३५ ॥

इत्यजस्रं स्मरन्योगी तत्स्वरूपावलम्बितः ।
तन्मयत्वमवाप्नोति ग्राह्यग्राहकवर्जितम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—इसप्रकार निरन्तर स्मरण करता हुआ योगी (मुनि) उस परमात्माके स्वरूपके अवलम्बनसे युक्त होकर उसके तन्मयत्वको प्राप्त होता है वैसा होता है कि,—यह परमात्माका रूप है, सो तो मेरे ग्रहण करने योग्य है और मैं इसका ग्रहण करनेवाला हूं ऐसे ग्राह्यग्राहकभावसे वर्जित (रहित) होता है, अर्थात् द्वैतभाव नहीं रहता ॥ ३६ ॥

अनन्यशरणीभूय स तस्मिँल्लीयते तथा ।

अर्थ—यह ध्यान करनेवाला मुनि अन्य सबका शरण छोड़कर उस परमात्मस्वरूपमें ऐसा लीन होता है कि—ध्याता और ध्यान इन दोनोंके भेदका अभाव होकर ध्येयस्वरूपसे एकताको प्राप्त हो जाता है। भावार्थ—ध्याता ध्यान ध्येयका भेद न रहे ऐसे लीन होता है ॥ ३७ ॥

सोऽयं समरसीभावस्तदेकीकरणं स्मृतम्।
अपृथक्त्वेन यत्रात्मा लीयते परमात्मनि ॥ ३८ ॥

अर्थ—जिस भावमें आत्मा अभिन्नतासे परमात्मामें लीन होता है, वह समरसीभाव आत्मा और परमात्माका समानतास्वरूप भाव है सो उस परमात्मा और आत्माको एक करनेका स्वरूप कहा गया है। भावार्थ—इस समरसीभावसे ही आत्मा परमात्मा होता है ॥ ३८ ॥

अनन्यशरणस्तद्धि तत्संलीनैकमानसः।
तद्गुणस्तत्स्वभावात्मा स तादात्म्याच्च संवसन् ॥ ३९ ॥

अर्थ—जब आत्मा परमात्माके ध्यानमें लीन होता है तब एकीकरण कहा है, सो यह एकीकरण अनन्यशरण है। परमात्माके सिवाय अन्य आश्रय नहीं है। उसमें ही जिसका मन लीन है ऐसा तथा तद्गुण कहिये उस परमात्माके ही अनन्त ज्ञानादि गुण जिसमें हैं ऐसा है, तथा उसका शुद्ध स्वरूप आत्मा ही है, और तत्स्वरूपतासे वह परमात्मा ही है। इसप्रकार परमात्माके ध्यानमें आत्मा परमात्मा होता है ॥ ३९ ॥

घटस्य कर्त्ताहमिति संबन्धः स्याद्द्वयोर्द्वयोः।
ध्यानं ध्येयं यदात्मैव संबन्धः कीदृशस्तदा ॥ ४० ॥

अर्थ—जो कोई ऐसा कहे कि मैं घट कहिये घड़ा अथवा कपड़े आदिका कर्त्ता हूं तो उस पुरुष और घटका कर्त्ता कर्म संबन्ध कहा जाता है और ध्यान तथा ध्येय जब एक आत्मा ही हो तब दोनों भावोंमें क्या संबन्ध कहा जाय? अर्थात् कुछ भी संबन्ध नहीं है क्योंकि संबन्ध तो दो वस्तुओंमें होता है, एक ही पदार्थमें संबन्धसंबन्धीभाव नहीं होता ॥ ४० ॥

शिखरिणी।

यदज्ञानाज्जन्मी भ्रमति नियतं जन्मगहने
विदित्वा यं सद्यस्त्रिदशगुरुतो याति गुरुताम्।
स विज्ञेयः साक्षात्सकलभुवनानन्दनिलयः
परं ज्योतिर्ज्ञाता परमपुरुषोऽचिन्त्यचरितः ॥ ४१ ॥

अर्थ—जिस परमात्माके ज्ञान विना यह प्राणी संसाररूप गहन वनमें नियमसे भ्रमण

करता है तथा जिन परमात्माको जाननेसे जीव तत्काल इन्द्रसे भी अधिक महा-मान्य होता है, उसे ही साक्षात् परमात्मा जानना वही समस्त लोकको आधार [illegible] निवासस्थान है वही परम ज्योति (उत्कृष्ट ज्ञानरूप प्रकाशसहित) है, और आत्मा ([illegible]) है परम पुरुष है, अचिन्त्यचरित है अर्थात् जिसका चरित कि चिन्तवन नहीं आता ऐसा है ॥ ४१ ॥

इत्थं यत्रानवच्छिन्नभावनाभिर्भवच्युतम् ।
भावयत्यनिशं ध्यानी तत्सवीर्यं प्रकीर्तितम् ॥ ४२ ॥

अर्थ—इस पूर्वोक्त प्रकारसे जो ध्यानी (मुनि) संसाररहित परमात्माको भावना [illegible] करता है, उसे सवीर्य ध्यान कहा गया है भावार्थ—आगे पु[illegible] यह [illegible] ऐसा परमात्माकी भावना करता ही रहे क्योंकि, जबतक ध्यानमें थि[illegible] रता है तबतक ही ध्यान होता है, और भावना सदा रहती है ॥ ४२ ॥

दोहा।

परमातम ध्यावै मुनी शुद्ध आतमा जोय।
कर्मरहित परगुणसहित, तब तैसा ही होय ॥ ३१ ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे सवीर्य ध्यान-वर्णनं नाम एकत्रिंशं प्रकरणम् ॥ ३१ ॥

अथ द्वात्रिंशं प्रकरणम्।

[illegible] शुद्धोपयोगका [illegible]
[illegible] —

[illegible] परमात्मा न [illegible] ।
[illegible] ॥ १ ॥

अर्थ—[illegible]

[illegible] ।
[illegible] ॥ २ ॥

अर्थ—[illegible]

पुरुषके आत्माका निश्चय ठहरना नहीं होता और अन्तरङ्ग शरीर और आत्माको भिन्न २ करने व समझनेमें मोहको प्राप्त होकर भूल जाता है कि,–इस देहमें द्रव्यइन्द्रिय, भावइन्द्रिय, द्रव्यमन, भावमन, दर्शन, ज्ञान, सुख, दुःख, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, अज्ञान आदि जो अनेक भाव दीखते हैं, इनमेंसे आत्मा कौनसा है इसप्रकार भ्रम उत्पन्न होता है इस कारण, पहिले आत्माका निश्चय करना चाहिये ॥ २ ॥

तयोर्भेदापरिज्ञानान्नात्मलाभः प्रजायते ।
तदभावात्स्वविज्ञानसूतिः स्वप्नेऽपि दुर्घटा ॥ ३ ॥

अर्थ—उस देह और आत्माके भेदविज्ञान विना आत्माका लाभ (प्राप्ति) नहीं होता, और आत्माके लाभ विना भेदविज्ञानकी उत्पत्ति स्वप्नमें भी दुर्घट है, अर्थात् दुर्लभ है ॥ ३ ॥

अतः प्रागेव निश्चेयः सम्यगात्मा मुमुक्षुभिः ।
अशेषपरपर्यायकल्पनाजालवर्जितः ॥ ४ ॥

अर्थ—इस कारण प्रथम ही मोक्षाभिलाषियोंको समस्त परद्रव्योंकी पर्यायकल्पनाओंसे रहित आत्माका ही निश्चय करना चाहिये ॥ ४ ॥

त्रिप्रकारं स भूतेषु सर्वेष्वात्मा व्यवस्थितः ।
बहिरन्तः परश्चेति विकल्पैर्वक्ष्यमाणकैः ॥ ५ ॥

अर्थ—वह आत्मा समस्त देहधारियोंमें बहिरात्मा, अन्तरात्मा व परमात्माके भेदसे तीन प्रकारसे व्यवस्थित (अवस्थारूप) है सो आगे कहे भेदोंसे जानना ॥ ५ ॥

आत्मबुद्धिः शरीरादौ यस्य स्यादात्मविभ्रमात् ।
बहिरात्मा स विज्ञेयो मोहनिद्रास्तचेतनः ॥ ६ ॥

अर्थ—जिस जीवके शरीरादि परपदार्थोंमें आत्माके भ्रमसे आत्मबुद्धि हो कि यह मैं ही हूं अन्य अर्थात् पर नहीं है सो मोहरूपी निद्रासे अस्त हो गई है चेतना जिसकी ऐसा बहिरात्मा है ॥ ६ ॥

बहिर्भावानतिक्रम्य यस्यात्मन्यात्मनिश्चयः ।
सोऽन्तरात्मा मतस्तज्ज्ञैर्विभ्रमध्वान्तभास्करः ॥ ७ ॥

अर्थ—तथा जिस पुरुषके बाह्य भावोंको उल्लंघन करके आत्मामें ही आत्माका निश्चय हो सो विभ्रमरूप अंधकारको दूर करनेको सूर्यके समान ऐसा आत्माके जाननेवाले पुरुषोंने अन्तरात्मा कहा है ॥ ७ ॥

निर्लेपो निष्कलः शुद्धो निष्पन्नोऽत्यन्तनिर्वृतः ।
निर्विकल्पश्च शुद्धात्मा परमात्मेति वर्णितः ॥ ८ ॥

अर्थ—और जो निर्लेप है अर्थात् जिसके कर्मोंका लेप नहीं, निष्कल कहिये शरीररहित है, शुद्ध है, जिसके रागादिक विकार नहीं है, तथा जो निष्पन्न है अर्थात् सिद्धरूप है (जिसको कुछ करना नहीं,) और अत्यन्त निर्वृत्त है अर्थात् अविनाशी सुखरूप है तथा निर्विकल्प है अर्थात् जिसमें भेद नहीं है ऐसे शुद्धात्माको परमात्मा कहा गया है ॥ ८ ॥

कथं तर्हि पृथक् कृत्वा देहाद्यर्थकदम्बकात् ।
आत्मानमभ्यसेद्योगी निर्विकल्पमतीन्द्रियम् ॥ ९ ॥

अर्थ—यहां प्रश्न है कि यदि आत्मा ऐसा है तो आत्माको देहादिक पदार्थोंके समूहसे पृथक् करके निर्विकल्प अतीन्द्रिय ऐसा किस प्रकार ध्यान करैं? उसका उत्तर कहते हैं,—

अपास्य बहिरात्मानं सुस्थिरेणान्तरात्मना ।
ध्यायेद्विशुद्धमत्यन्तं परमात्मानमव्ययम् ॥ १० ॥

अर्थ—योगी मुनि बहिरात्माको छोडकर भलेप्रकार स्थिर अन्तरात्मा होकर अत्यन्त विशुद्ध अविनाशी परमात्माका ध्यान करैं ॥ १० ॥ सो ही कहते हैं,—

संयोजयति देहेन चिदात्मानं विमूढधीः ।
बहिरात्मा ततो ज्ञानी पृथक् पश्यति देहिनम् ॥ ११ ॥

अर्थ—जो बहिरात्मा है सो चैतन्यस्वरूप आत्माको देहके साथ संयोजन करता है (जोडता है) अर्थात् एक समझता है और जो ज्ञानी है (अन्तरात्मा है) सो देहसे देहीको (चैतन्यस्वरूप आत्माको) पृथक् ही देखता है यही बहिरात्मा और अन्तरात्माके ज्ञानका भेद है ॥ ११ ॥

अक्षद्वारैरविश्रान्तं स्वतत्त्वविमुखैर्भृशम् ।
व्यापृतो बहिरात्मायं वपुरात्मेति मन्यते ॥ १२ ॥

अर्थ—यह बहिरात्मा आत्मस्वरूपसे अतिशयकरके निरंतर विमुख इन्द्रियोंके द्वारा व्यापाररूप हुए शरीरको ही आत्मा मानता है ॥ १२ ॥

सुरं त्रिदशपर्यायैर्नृपर्यायैस्तथा नरम् ।
तिर्यञ्चं च तदङ्गस्थं नारकाङ्गस्थं नारकम् ॥ १३ ॥
वेत्त्यविद्यापरिश्रान्तो मूढस्तन्न पुनस्तथा ।
किन्त्वमूर्तं स्वसंवेद्यं तद्रूपं परिकीर्तितम् ॥ १४ ॥

अर्थ—अविद्यासे (मिथ्याज्ञानसे) परिश्रान्त (खेदखिन्न) हुए बहिरात्मा देवपर्यायोंसहित आत्माको तो देव मानता है और मनुष्यपर्यायसहित आत्माको मनुष्य मानता है तथा तिर्यंच शरीरमें रहने हुएको तिर्यंच और नारकीके शरीरमें रहने हुएको नारकी

मानता है सो भ्रम है क्योंकि, पर्यायका रूप आत्माका रूप नहीं है आत्माका रूप तो अमूर्तीक है, स्वसंवेद्य है, अर्थात् अपनेही द्वारा अपनेको जाननेयोग्य है ॥ १३-१४ ॥

स्वशरीरमिवान्विष्य पराङ्ग च्युतचेतनम् ।
परमात्मानमज्ञानी परबुद्ध्याऽध्यवस्यति ॥ १५ ॥

अर्थ—तथा वही बहिरात्मा अज्ञानी जिसप्रकार अपने शरीरको आत्मा जानता है उसीप्रकार परके अचेतन देहको देखकर परका आत्मा मानता है अर्थात् उसको परकी बुद्धिसे निश्चय करता है ॥ १५ ॥

स्वात्मेतरविकल्पैस्तै शरीरेष्ववलम्बितम् ।
प्रवृत्तैर्वञ्चित विभ्रमनात्मन्यात्मदर्शिभि ॥ १६ ॥

अर्थ—अपने शरीरमें तो अपना आत्मा जाने और परके शरीरमे परका आत्मा जाने इसप्रकार शरीरोंमे अवलम्बनस्वरूप प्रवर्त्ते हुए विकल्पोंसे अनात्मामें आत्माके देखने वाले अज्ञानी जनोंने इस लोकको ठग लिया ॥ १६ ॥

तत सोऽत्यन्तभिन्नेषु पशुपुत्राङ्गनादिषु ।
आत्मत्व मनुते शश्वदविद्याज्वरजिह्मित ॥ १७ ॥

अर्थ—इस कारणसे मिथ्याज्ञानरूपी ज्वरसे निरतर पीडित होकर वह बहिरात्मा अज्ञानी अपनेसे अत्यन्त भिन्न पशु पुत्र स्त्री आदिकमें भी आत्मपना मानता है॥ १७ ॥

साक्षात्स्वानेव निश्चित्य पदार्थांश्चेतनेतरान् ।
स्वस्यैव मन्यते मूढस्तन्नाशोपचयादिकम् ॥ १८ ॥

अर्थ—यह मूढ बहिरात्मा अपनेसे भिन्न चेतन अचेतन पदार्थोंको साक्षात् अपने ही निश्चय करके उनके नाश होने और सचय होनेमे अपना ही नाश और संचय होना मानता है ॥ १८ ॥

अनादिसभव' सोऽयमविद्याविषमग्रह' ।
शरीरादीनि पश्यन्ति येन स्वमिति देहिन' ॥ १९ ॥

अर्थ—यह पूर्वोक्त अनादिसे उत्पन्न हुआ अविद्यारूपी विषम आग्रह है जिसके द्वारा यह मूढ प्राणी शरीरादिकको अपना मानता है अर्थात् यह शरीर है सो मैंही हू इसप्रकार देखता है ॥ १९ ॥

वपुष्यात्मेति विज्ञान वपुषा घटयत्यमून् ।
स्वस्मिन्नात्मेति बोधस्तु भिनत्त्यङ्ग शरीरिणाम् ॥ २० ॥

अर्थ—शरीरमे यह आत्मा है ऐसा ज्ञान तो जीवोंको शरीरसहित करता है और आपमे ही आप है, अर्थात् आत्मामे ही आत्मा है इसप्रकारका विज्ञान जीवोंको शरीरसे भिन्न करता है ॥ २० ॥

वपुष्यात्ममतिः सूते बन्धुवित्तादिकल्पनम् ।
स्वस्य संपदमेतेन मन्वानं मुषितं जगत् ॥ २१ ॥

अर्थ—शरीरमें जो आत्मबुद्धि है सो बन्धु धन इत्यादिककी कल्पना उत्पन्न कराती है तथा इस कल्पनासे ही जगत् अपने सम्पदा मानता हुआ ठगा गया है ॥ २१ ॥

तनावात्मेति यो भावः स स्याद्बीजं भवस्थितेः ।
बहिर्वीताक्षविक्षेपस्तत्त्यक्त्वान्तर्विशेत्ततः ॥ २२ ॥

अर्थ—शरीरमें ऐसे भाव हैं कि—'यह मैं आत्माही हूं' ऐसा भाव संसारकी स्थितिका बीज है इसकारण, बाह्यमें नष्ट हो गया है इन्द्रियोंका विक्षेप जिसके ऐसा पुरुष उस भावरूप संसारके बीजको छोडकर अन्तरंगमें प्रवेश करो, ऐसा उपदेश है ॥ २२ ॥

अक्षद्वारैस्ततश्च्युत्वा निमग्नो गोचरेष्वहम् ।
तानासाद्याहमित्येतन्न हि सम्यगवेदिषम् ॥ २३ ॥

अर्थ—ज्ञानी इसप्रकार विचार करता है कि इन्द्रियोंके द्वारोंसे मैं आत्मस्वरूपसे छूटकर विषयोंमें मग्न होगया तथा उन विषयोंको प्राप्त होकर यह अहंपदसे जाना जाय ऐसे आत्मस्वरूपको भलेप्रकार नहीं जाना ॥ २३ ॥

बाह्यात्मानमपास्यैवमन्तरात्मा ततस्त्यजेत् ।
प्रकाशयत्ययं योगः स्वरूपं परमेष्ठिनः ॥ २४ ॥

अर्थ—इस पूर्वोक्तप्रकारसे बाह्यशरीरादिकमें आत्मबुद्धिको छोडकर अन्तरात्मा होता हुआ इन्द्रियोंके विषयादिकमें भी आत्मबुद्धिको छोडै इसप्रकार यह योग परमेष्ठीके स्वरूपको प्रकाश करता है ॥ २४ ॥

अब इन्द्रियोंके विषयोंमें आत्मबुद्धि किसप्रकार छोडै सो कहते हैं,—

यद्यद्दृश्यमिदं रूपं तत्तदन्यच्च चान्यथा ।
ज्ञानवच्च व्यतीताक्षमतः केनाऽत्र वच्म्यहम् ॥ २५ ॥

अर्थ—जो जो देखनेयोग्य यह रूप है सो सो अन्य है और ज्ञानवान् रूप है सो अन्यप्रकार नहीं है (अन्यरूप सदृश नहीं है) यह व्यतीताक्ष है (इन्द्रियज्ञानसे अतीत है) इसकारण मैं किसके साथ वचनालाप करूं? । **भावार्थ**—मूर्तीक पदार्थ इन्द्रियोंसे ग्रहण करनेयोग्य होता है सो वह तो जड है कुछ भी जानता नहीं है और मैं ज्ञानमूर्ति हूं पुद्गलमूर्तिसे रहित हूं इन्द्रियें मुझे ग्रहण नहीं करतीं अर्थात् इन्द्रिय मेरा ग्रहण नहीं कर सकतीं इसकारण परस्पर वार्तालाप किससे करूं? इसप्रकार विचार कर निर्विकल्प अन्तर्दृष्टि होवै ॥ २५ ॥

यज्जनैरपि बोध्योऽहं यज्जनान्बोधयाम्यहम् ।
तद्विभ्रमपदं यस्मादहं विधुतकल्मषः ॥ २६ ॥

अर्थ—जो 'लोगोंद्वारा मैं संबोधनेयोग्य हूं तथा जो मैं लोगोंको संबोधता हूं' ऐसा भाव है यह भी विभ्रमका स्थान है । क्योंकि, मैं तो पापसे रहित हूं अर्थात् आत्मा तो निष्कलंक है इसे कौन संबोधे ? और यह किसको संबोधे ? ॥ २६ ॥

यः स्वमेव समादत्ते नादत्ते यः स्वतोऽपरम् ।
निर्विकल्पः स विज्ञानी स्वसंवेद्योऽस्मि केवलम् ॥ २७ ॥

अर्थ—जो आत्मा आपको ही ग्रहण करता है तथा आपसे पर है उसको नहीं ग्रहण करता है सो यह विज्ञानी (भेदज्ञानी) विकल्परहित होकर, इसप्रकार भावना करता है कि—मैं एक अपने ही जाननेयोग्य हूं इसप्रकार विचार कर परसे परस्पर देने लेनेका व्यवहार छोड देता है ॥ २७ ॥

जातसर्पमतेर्यद्वच्छृङ्खलायां क्रियाभ्रमः ।
तथैव मे क्रियाः पूर्वास्तन्वादौ स्वमिति भ्रमात् ॥ २८ ॥

अर्थ—जिसकी सांकलमें सर्पकी बुद्धि है ऐसे पुरुषके जैसे क्रियाका भ्रम होता है, उसी प्रकार मेरे भी शरीरादिकमें आत्मबुद्धिरूप भ्रमसे भेदज्ञान होनेसे पहिले भ्रमरूप क्रियाएं अनेक हुईं ॥ २८ ॥

शृङ्खलायां यथा वृत्तिर्विनष्टे भुजगभ्रमे ।
तन्वादौ मे तथा वृत्तिर्नष्टात्मविभ्रमस्य वै ॥ २९ ॥

अर्थ—तथा जब सांकलमें सर्पका भ्रम था सो नष्ट हो जानेपर सांकलमें जिसप्रकार यथावत् प्रवृत्ति होती है उसीप्रकार मेरे शरीरादिकमें आत्माका भ्रम नष्ट होजानेपर मैं भ्रमसे रहित हो गया तब मेरे शरीरादिकमें यथावत् प्रवृत्ति होगई । उनको परद्रव्य जानै तब ऐसी भावनासे परद्रव्यका ममत्व छोडे ॥ २९ ॥

एतद्द्वयेकः एकः द्वे बह्नीति धियः पदम् ।
नाहं यथात्मनात्मानं वेद्म्यात्मनि तदस्म्यहम् ॥ ३० ॥

अर्थ—तथा इसप्रकार विचार करै कि—यह तो नपुंसक है, यह स्त्री है और यह पुरुष है तथा यह एक है, दो है, बहुत है ऐसे लिंग और संख्यारूप बुद्धिका स्थान मैं नहीं हूं। क्योंकि मैं तो अपनेद्वारा अपनेको अपनेहीमें जाननेवाला हूं। इसप्रकार विकल्पोंका निरास भी होता है ॥ ३० ॥

यदबोधे मया सुप्तं यद्बोधे पुनरुत्थितम् ।
तद्रूपमप्रत्यक्षं स्वसंवेद्यमहं किल ॥ ३१ ॥

अर्थ—जिसका ज्ञान नहीं होते तो मैं सोया और जिसके ज्ञान होते हुए मैं जगा (जगा) वह रूपभी मेरे जाननेयोग्य प्रत्यक्ष है वहही मैं हू। इसप्रकार विचार करे॥३१॥

ज्योतिर्मयं ममात्मानं पश्यतोऽत्रैव यान्त्यमी।
क्षयं रागादयस्तेन नाऽरिः कोऽपि प्रियो न मे॥ ३२॥

अर्थ—फिर यह विचारे कि—मै अपनेको ज्योतिर्मय ज्ञानप्रकाशरूप देखता हूं, मेरे रागादिक इसीमें क्षयको प्राप्त होते हैं इसकारण मेरे न तो कोइ शत्रु है और न कोइ मित्र है॥ ३२॥

अदृष्टमत्स्वरूपोऽयं जनो नारिर्न मे प्रियः।
साक्षात्सुदृष्टरूपोऽपि जनो नारिः सुहृन्न मे॥ ३३॥

अर्थ—नहीं देखा है मेरा स्वरूप जिसने ऐसा लोक न तो मेरा शत्रु है न मित्र है और जिसने साक्षात् मेरा स्वरूप देखा वह लोक भी मेरा न शत्रु है और न मित्र ही है इसप्रकार विचार करे॥ ३३॥

अतःप्रभृति निःशेषं पूर्वं पूर्वं विचेष्टितम्।
ममाद्यज्ञाततत्त्वस्य भाति स्वप्नेन्द्रजालवत्॥ ३४॥

अर्थ—यहांसे लगाकर, तत्त्वस्वरूपके जाननेसे पहिले पहिले जो मैने सर्व प्रकारकी चेष्टायें करीं, अब स्वरूप जाननेसे मुझे वे सब स्वप्नसदृश अथवा इन्द्रजालवत् प्रतिभासती हैं॥ ३४॥

यो विशुद्धः प्रसिद्धात्मा परं ज्योतिः सनातनः।
सोऽहं तस्मात्प्रपश्यामि स्वस्मिन्नात्मानमच्युतम्॥ ३५॥

अर्थ—विशुद्ध है (निर्मल) और प्रसिद्ध है आत्मस्वरूप जिसका ऐसा परमज्योति सनातन जो सुननेमें आता है सो मैं ही हूं इसकारण अपनेमेंही अविनाशी परमात्माको मैं प्रकटतया देखता हूं इसप्रकार अपनेको ही परमात्मस्वरूप देखे॥ ३५॥

बाह्यात्मानमपि त्यक्त्वा प्रसन्नेनान्तरात्मना।
विधूतकल्पनाजालं परमात्मानमामनेत्॥ ३६॥

अर्थ—फिर बाह्य आत्माको भी छोड़कर प्रसन्नरूप अन्तरात्माके द्वारा किया है कल्पनाके जाल (समूह) जिसने ऐसे परमात्माको अभ्यासगोचर करे॥ ३६॥

बन्धमोक्षावुभावेतौ भ्रमेतरनिबन्धनौ।
बन्धश्च परसम्बन्धाद्भेदाभ्यासात्ततः शिवम्॥ ३७॥

अर्थ—बन्ध और मोक्ष ये दोनों भ्रम और निर्भ्रम है कारण जिनका ऐसे हैं परके सम्बन्धसे तो बन्ध है और परद्रव्यसे भेदके अभ्याससे मोक्ष है॥ ३७॥

अलौकिकमहो वृत्तं ज्ञानिनः केन वर्ण्यते ।
अज्ञानी बध्यते यत्र ज्ञानी तत्रैव मुच्यते ॥ ३८ ॥

अर्थ—अहो ! देखो, ज्ञानीपुरुषका यह बडा अलौकिक चरित्र किससे वर्णन किया जाय ? क्योंकि, जिस आचरणमें अज्ञानी कर्मसे बँध जाता है उसी आचरणमें ज्ञानी बन्धसे छूट जाता है यह आश्चर्यकी बात है ॥ ३८ ॥

यज्जन्मगहने खिन्नं प्राञ्मया दुःखसंकुले ।
तदात्मेतरयोर्नूनमभेदेनावधारणात् ॥ ३९ ॥

अर्थ—फिर ऐसा विचार करै कि मैं दुःखसे भरे हुए इस संसाररूप गहन वनमें जो खेद खिन्न हुआ सो आत्मा और अनात्माके अभेदके द्वारा अवधारणासे हुए भेदविज्ञानके बिना ही संसारमें दुःखी हुआ हूं ऐसा निश्चय करै ॥ ३९ ॥

मयि सत्यपि विज्ञानप्रदीपे विश्वदर्शिनि ।
किं निमज्जत्ययं लोको वराको जन्मकर्दमे ॥ ४० ॥

अर्थ—मुझ समस्तको दिखानेवाले ज्ञानस्वरूप दीपकके होते हुए भी यह वराक लोक संसाररूपी कर्दममें क्यों डूबता है अर्थात् आत्माकी ओर क्यों नहीं देखता ? जिससे संसाररूपी कर्दममें न डूबे इसप्रकार देखै ॥ ४० ॥

आत्मन्येवात्मनात्माऽयं स्वयमेवानुभूयते ।
अतोऽन्यत्रैव मा ज्ञातुं प्रयासः कार्यनिष्फलः ॥ ४१ ॥

अर्थ—यह आत्मा आत्मामें ही आत्माके द्वारा स्वयमेव अनुभव किया जाता है इससे अन्यत्र आत्माके जाननेका जो खेद है सो कार्यनिष्फल है अर्थात् उसका फल कुछ नहीं है इसप्रकार जानै ॥ ४१ ॥

स एवाहं स एवाहमित्यभ्यस्यन्ननारतम् ।
वासनां दृढयन्नेव प्राप्नोत्यात्मन्यवस्थितिम् ॥ ४२ ॥

अर्थ—'वही मैं हूं, वही मैं हूं' इसप्रकार निरन्तर अभ्यास करता हुआ पुरुष उस वासनाको दृढ करता हुआ आत्मामें अवस्थितिको प्राप्त होता है अर्थात् ठहर जाता है ॥ ४२ ॥

फिर भी विचार करता है,—

स्वाधयत्प्रीतयेऽज्ञस्य तत्तदेवापदास्पदम् ।
बिभेत्ययं पुनर्यस्मिंस्तदेवानन्दमन्दिरम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—अज्ञानी पुरुषके जो जो विषयादिक वस्तु प्रीतिके अर्थ है वह वह ज्ञानीके आपदाका स्थान है तथा अज्ञानी जिन तपश्चरणादिकोंसे भय करता है वही ज्ञानीके आनन्दका धाम है। क्योंकि, अज्ञानीको अज्ञानके कारण विषय भासता है ॥ ४३ ॥

सुसंवृतेन्द्रियग्रामे प्रसन्ने चान्तरात्मनि ।
क्षणं स्फुरति यत्तत्त्वं तद्रूपं परमेष्ठिनः ॥ ४४ ॥

अर्थ—भले प्रकार संवररूप किये है इंद्रियोंके स्थान जिसने और अंतरंगमें प्रसन्न (विशुद्ध परिणामस्वरूप) अन्तरात्माके होनेपर जो उस समय तत्वका स्फुरण होता है वही परमेष्ठीका रूप है। भावार्थ—शुद्ध नयके द्वारा क्षणमात्र भी अनुभव करनेपर जो शुद्धात्माका स्वरूप प्रतिभासता है वही परमेष्ठी अरहंतसिद्धका स्वरूप है ॥ ४४ ॥

यः सिद्धात्मा परः सोऽहं योऽहं स परमेश्वरः ।
मदन्यो न मयोपास्यो मदन्येन न चाप्यहम् ॥ ४५ ॥

अर्थ—जो सिद्धका आत्मस्वरूप है वही परमात्मा परमेश्वरस्वरूप मै हूं मेरे मुझसे अन्य कोई उपासना करने योग्य नहीं है तथा मुझसे अन्यकरके मैं उपासना करने योग्य नहीं हूं इसप्रकार अहंभावना करै ॥ ४५ ॥

आकृष्य गोचरव्याघ्रमुखादात्मानमात्मना ।
स्वस्मिन्नहं स्थिरीभूतश्चिदानन्दमये स्वयम् ॥ ४६ ॥

अर्थ—फिर इसप्रकार भावना करै कि— मैं अपने आत्माको इन्द्रियोंके विषयरूपी [illegible] मुखसे [illegible] (खींचकर), आत्माके द्वारा ही मैं चिदानन्दमय अपने आत्मामें [illegible] हुआ हूं इसप्रकार चैतन्य और आनन्दरूप [illegible] होऊं ॥ ४६ ॥

[illegible] न तो [illegible] यस्य [illegible]विभ्रमः ।
कुर्वन्नपि [illegible] न स मुच्येत बन्धनैः ॥ ४७ ॥

अर्थ—[illegible] जो मुनि इसप्रकार आत्माको देखे बिना ही [illegible] [illegible] करता हुआ भी [illegible] नहीं छूटता ॥ ४७ ॥

स्वपरान्तरविज्ञानसुधास्यन्दाभिनन्दितः ।
खिद्यते न तपः कुर्वन्नपि क्लेशैः शारीरजैः ॥ ४८ ॥

अर्थ—[illegible] आत्मा और परके [illegible] विज्ञानरूप अमृतके [illegible] हुआ [illegible] करता हुआ भी [illegible] (खेद नहीं ?) [illegible] होता है ॥ ४८ ॥

[illegible] निर्ममः ।
[illegible] ॥ ४९ ॥

अर्थ—[illegible] ॥ ४९ ॥

निर्विकल्प मनस्तत्त्वं न विकल्पैरभिद्रुतम् ।
निर्विकल्पमतः कार्य सम्यक्तत्त्वस्य सिद्धये॥ ५० ॥

अर्थ—निर्विकल्पमन तो तत्त्वस्वरूप है और जो मन विकल्पोंसे पीडित है वह तत्त्वस्वरूप नहीं है, इसकारण सम्यक्प्रकार तत्त्वकी सिद्धिके लिये मनको विकल्प रहित करना यह उपदेश है ॥ ५० ॥

अज्ञानविप्लुतं येन स्वतत्त्वादपवर्त्तते ।
विज्ञानवासितं तद्धि पश्यत्यन्तः पुरं प्रभुम्॥ ५१ ॥

अर्थ—जो मन अज्ञानसे विगडा हुआ है (पीडित है) वह तो निजस्वरूपसे छूट जाता है और जो मन विज्ञान कहिये सम्यग्ज्ञानसे वासित है वह अपने अंतरंगमें प्रभु भगवान् परमात्माको देखता है, यह विधि है इसकारण अज्ञानको दूर करना चाहिये ॥ ५१ ॥

मुनेर्यदि मनो मोहाद्रागाद्यैरभिभूयते ।
तन्नियोज्यात्मनस्तत्त्वे तान्येव क्षिप्यते क्षणात्॥ ५२ ॥

अर्थ—मुनिका मन यदि मोहके उदयसे रागादिकसे पीडित हो तो मुनि उस मनको आत्मस्वरूपमें लगाकर, उन रागादिकोंको क्षणमात्रमें क्षेपण करता है अर्थात् दूर करता है ॥ ५२ ॥

यत्राज्ञानारतः काये तस्माद्व्यावर्त्तितो धिया ।
चिदानन्दमये रूपे योजितः प्रीतिमुत्सृजेत्॥ ५३ ॥

अर्थ—जिस कायमें अज्ञानी आत्मा रत (रागी) हुआ है उस कायसे बुद्धिपूर्वक भिन्न किये हुए चिदानंद स्वरूपमें लगाया हुआ मन उस कायमें प्रीति छोड देता है॥५३॥

स्वविभ्रमोद्भवं दुःखं स्वज्ञानेनैव हीयते ।
तपसापि न तच्छेद्यमात्मविज्ञानवर्जितैः ॥ ५४ ॥

अर्थ—अपने विभ्रमसे उत्पन्न हुआ दुःख अपनेही ज्ञानसे दूर होता है और जो आत्माके विज्ञानसे रहित पुरुष हैं वे तपके द्वारा भी उस दुःखको दूर नहीं कर सकते। भावार्थ—आत्मज्ञानके विना केवल तप करने मात्रसे दुःख नहीं मिटता ॥ ५४ ॥

रूपायुर्बलवित्तादि-सम्पत्तिं स्वस्य वाञ्छति ।
बहिरात्मा विज्ञानी साक्षात्तेभ्योऽपि विच्युतिम्॥५५ ॥

अर्थ—जो बहिरात्मा है वह तो अपने लिये सुंदररूप, आयु, बल, धन इत्यादिक चाहता है और जो भेद विज्ञानी पुरुष है वह अपनेमें, रूपादिक विद्यमान हों उनसे भी विच्युति कहिये छूटना चाहता है ॥ ५५ ॥

१ 'सम्यक्तत्त्वप्रसिद्धये' इत्यपि पाठः ।

कृत्वाहमतिमन्यत्र बध्नाति स्व स्वतश्च्युतः।
आत्मन्यात्ममतिं कृत्वा तस्माद् ज्ञानी विमुच्यते ॥ ५६ ॥

अर्थ—अपने आत्मस्वभावसे च्युत हुआ बहिरात्मा अन्य पदार्थोंमें अहंबुद्धि करके अपने आपको बाधता है अर्थात् कर्मबन्ध करता है और ज्ञानी पुरुष आत्मामें ही आत्मबुद्धि करके उस पर पदार्थसे छूट जाता है ॥ ५६ ॥

आत्मान वेत्त्यविज्ञानी त्रिलिङ्गी सगत वपु ।
सम्यग्वेदी पुनस्तत्त्व लिङ्गसगतिवर्जितम् ॥ ५७ ॥

अर्थ—भेदविज्ञानरहित बहिरात्मा तीन लिंगोंसे चिह्नित शरीरको आत्मा जानता है और सम्यग्ज्ञानी पुरुष आत्मतत्त्वको इन लिंगोंकी सगतिसे रहित जानता है ॥ ५७ ॥

समभ्यस्त सुविज्ञात निर्णीतमपि तत्त्वतः।
अनादिविभ्रमात्तत्त्व प्रस्खलत्येव योगिन. ॥ ५८ ॥

अर्थ—फिर ऐसी भावना करता है कि योगी मुनिका तत्त्व कहिये आत्माका यथार्थ स्वरूप भलेप्रकार अभ्यास रूप किया (परमार्थसे निर्णय किया) हुआ भी अनादि विभ्रमके कारण डिग जाता है। भावार्थ—विभ्रमका सस्कार ऐसा तीव्र होता है कि जाना हुआ आत्मस्वरूप भी छूट जाता है, इस कारण ऐसा विचार करे कि—

अचिद्दृश्यमिद रूप न चिद्दृश्य ततो वृथा।
मम रागादयोऽर्थेषु स्वरूप सश्रयाम्यहम् ॥ ५९ ॥

अर्थ—यह रूप (मूर्ति) अचेतन है और दृश्य अर्थात् इन्द्रियग्राह्य है और यह चेतन दृश्य (इन्द्रियग्राह्य) नहीं है, इसकारण मेरे रूपादिक परपदार्थोंमें जो रागादिक हैं वे सब वृथा (निष्फल) हैं मैं अपने स्वरूपको आश्रय करता हूं। इसप्रकार विचारे ॥ ५९ ॥

करोत्यसौ ग्रहत्यागौ बहिरन्तस्तु तत्त्ववित्।
शुद्धात्मा न यदियाँन्स्तौ विदग्यात्कथयन ॥ ६० ॥

अर्थ—अज्ञानी बाह्य त्याग ग्रहण करता है और तत्त्वज्ञानी अतरग त्याग ग्रहण करता है और जो शुद्धात्मा है सो बाह्य और अतरगके दोनों ही त्याग ग्रहण नहीं करता है ॥ ६० ॥

वाक्कायाभ्यां पृथक् कृत्वा मनसात्मानमभ्यसेत्।
वाक्तनुभ्यां प्रकुर्वीत कार्यमन्यत्र चेतसा ॥ ६१ ॥

अर्थ—यदि आत्माको वचन और कायसे भिन्न करो मनसे अभ्यास करो

तथा अन्य कार्योंको वचन और कायसे करै, चित्तसे नहीं करै, चित्तसे तो आत्माका ही अभ्यास करै ॥ ६१ ॥

विश्वासानन्दयो' स्थान स्याज्जगदज्ञचेतसाम् ।
क्वानन्द क्व च विश्वास' स्वस्मिन्नेवात्मवेदिनाम् ॥ ६२ ॥

अर्थ—अज्ञानी जीवोंके तो यह जगत् विश्वास और आनन्दका स्थान है और अपने आत्मामें आनन्दके जाननेवालोंके कहां तो आनंद और कहां विश्वास? अर्थात् कहीं भी नहीं, अपनेमें ही आनन्दरूप हैं ॥ ६२ ॥

स्वबोधादपर किंचिन्न स्वान्ते विभृयात्क्षणम् ।
कुर्यात्कार्यवशात्किंचिद्वाक्कायाभ्यामनादृत' ॥ ६३ ॥

अर्थ—आत्मज्ञानी मुनि ज्ञानके सिवाय किसी कार्यको मनमें क्षणमात्र भी नहीं धारण करता यदि अन्य कार्योंको किसी कारणवश करता भी है तो वचन और कायसे विना आदरके करता है उनमें तो ज्ञानकी ही वासना निरन्तर रहती है ॥ ६३ ॥

यदक्षविषय रूप मद्रूपात्तद्विलक्षणम् ।
आनन्दनिर्भर रूपमन्तर्ज्योतिर्मय मम ॥ ६४ ॥

अर्थ—आत्मज्ञानी मुनि यह विचारता है कि जो इन्द्रियोंके विषयरूप मूर्त है सो तो मेरे आत्मस्वरूपसे विलक्षण है मेरा रूप तो आनन्दसे भरा अन्तरंग ज्योतिमयी (ज्ञान प्रकाशमय) है ॥ ६४ ॥

अन्तर्दुःख बहि' सौख्य योगाभ्यासोद्यतात्मनाम्।
सुप्रतिष्ठितयोगाना विपर्यस्तमिद पुन ॥ ६५ ॥

अर्थ—योगके अभ्यासमें उद्यमरूप है आत्मा जिनका ऐसे साधक मुनियोंके अन्तरंगमें दुःख और बाहरमें सुख है और जिनका योग सुप्रतिष्ठित है, उनके इससे विपर्यस्त है अर्थात् अन्तरंगमें तो सुख है और बाहरमें दुःख है, भावार्थ—योगी साधक अवस्थामें तो योगाभ्यासको सुखरूप जान, उद्यम करता है, परन्तु साधन करते समय कुछ पीड़ा होती है और जब अभ्यास सिद्ध हो जाता है तब परके देखनेमें तो दुःख दीखता है किन्तु अन्तरंगमें सुखी होता है ॥ ६५ ॥

तद्विज्ञेय सदाश्राव्य तद्वक्तव्य चिन्त्यमेव वा ।
येन भ्रान्तिमपास्यैव स्यादात्मन्यात्मन' स्थिति' ॥ ६६ ॥

अर्थ—मुनिजनोंको यह करना योग्य है कि जिससे भ्रान्तिको छोड़कर, आत्माकी स्थिति आत्मामें ही हो और यही विषय जानना चाहिये तथा इसको ही वचनसे कहना व सुनना तथा इसको ही विचारना चाहिये ॥ ६६ ॥

विषयेषु न तत्किञ्चित्स्याद्धितं यच्छरीरिणाम्।
तथाप्येष्वेव कुर्वन्ति प्रीतिमज्ञा न योगिनः ॥ ६७ ॥

अर्थ—यद्यपि इन इन्द्रियोंके विषयोंमें ऐसा कुछ भी नहीं है जो जीवोंका हित हो तथापि ये अज्ञानको जोडनेवाले मूर्ख प्राणी उन विषयोंमें ही प्रीति करते हैं सो यह अज्ञानकी चेष्टा है ॥ ६७ ॥

अनाख्यातमिवाख्यातमपि न प्रतिपद्यते।
आत्मानं जडधीस्तेन वन्ध्यस्तत्र ममोद्यमः ॥ ६८ ॥

अर्थ—जडधी (मूर्ख) कहते हुए भी विना कहेकी समान आत्माको प्र[illegible] नहीं होता सो यहां मेरे कहनेका उद्यम वृथा (निष्फल) है इस प्रकार विचार करे ॥ ६८

तस्माद् यन्मया किञ्चित्प्रज्ञापयितुमिष्यते।
योऽहं न स परग्राह्यस्तन्मुधा बोधनोद्यमः ॥ ६९ ॥

अर्थ—जो कुछ मैं परको जनाना चाहता हूं सो मैं वह आत्मा नहीं हूं और [illegible] मैं आत्मा हूं वह आत्मा परके ग्रहण करने योग्य नहीं है, इसकारण मेरे परके सम्बोध[illegible] नका जो उद्यम है, सो वृथा है क्योंकि, आत्मा आपहीसे जाना जाता है परका कहन[illegible] सुनना निमित्तमात्र है इसकारण इसमें आग्रह करना वृथा है ॥ ६९ ॥

निरुद्धज्योतिरज्ञोऽन्तः स्वतोऽन्यत्रैव तुष्यति।
तुष्यत्यात्मनि विज्ञानी बहिर्विगतविभ्रमः ॥ ७० ॥

अर्थ—अज्ञानी तो अपनेसे भिन्न पर वस्तुमें ही सन्तुष्ट होता है, क्योंकि, उसकी अन्तर्ज्योति रुद्ध होगई है और ज्ञानी पुरुष आत्मामें ही सन्तुष्ट होता है, क्योंकि उसके बाह्य विभ्रम नष्ट हो गया है ॥ ७० ॥

यावदात्मेच्छया दत्ते वाक्चित्तवपुषां व्रजम्।
जन्म तावदमीषां तु भेदज्ञानाद्भवच्युतिः ॥ ७१ ॥

अर्थ—यह प्राणी जबतक वचन मन कायके समूहको आत्माकी इच्छासे ग्रहण करता है तबतक इसके संसार है तथा इनका जब भेदज्ञान होता है तब इससे संसारका अभाव होता है ॥ ७१ ॥

जीर्णे रक्ते घने ध्वस्ते नात्मा जीर्णादिकः पटे।
एवं वपुषि जीर्णादौ नात्मा जीर्णादिकस्तथा ॥ ७२ ॥

अर्थ—जिसप्रकार वस्त्रके जीर्ण होते, रक्त होने, दृढ होने वा नष्ट होने आत्मा व[illegible] शरीर जीर्ण रक्तादिक स्वरूप नहीं होता, उसी प्रकार शरीरके जीर्ण वा नष्ट होते हुए आत्मा जीर्णादिरूप नहिं होता यह दृष्टान्त दार्ष्टान्त जानना ॥ ७२ ॥

चलमप्यचलप्रख्य जगद्यस्यावभासते ।
ज्ञानयोगक्रियाहीनं स एवास्कन्दति ध्रुवम् ॥ ७३ ॥

अर्थ—जिस योगी मुनिको चलस्वरूप भी यह जगत् अचलकी समान दीखता है, वही मुनि इन्द्रिय ज्ञानकी और योगकी क्रियासे हीन ऐसे शिवको (निर्वाणको) प्राप्त होता है भावार्थ—जब अपने परिणाम स्थिरीभूत होते हैं तब समस्त पदार्थ ज्ञानमें निश्चल प्रतिबिंब स्वरूप ही भासते है और तब ही मुक्त होता है ॥ ७३ ॥

तनुत्रयावृतो देही ज्योतिर्मयवपु स्वयम् ।
न वेत्ति यावदात्मान क तावद्बन्धविच्युति ॥ ७४ ॥

अर्थ—यह आत्मा स्वय तो ज्ञानज्योति प्रकाशमय है और देहसहित देही औदारिक तैजस और कार्माण इन तीन शरीरोंसे ढका हुआ है सो यह आत्मा जबतक अपने ज्ञानमय आत्माको नहीं जानता तबतक बधका अभाव कहांसे हो अर्थात् न होता है ॥ ७४ ॥

गलन्मिलदणुव्रातसनिवेशात्मक वपु ।
वेत्ति मूढस्तदात्मानमनाद्युत्पन्नविभ्रमात् ॥ ७५ ॥

अर्थ—क्षरते मिलते पुद्गल परमाणुओंके स्कन्धोंके निवेशसे रचा हुआ जो यह शरीर है, उसको यह मूढ बहिरात्मा अनादिसे उत्पन्न हुए विभ्रमसे आत्मा जानता है यही संसारका बीज है ॥ ७५ ॥

मुक्तिरेव मुनेस्तस्य यस्यात्मन्यचला स्थितिः ।
न तस्यास्ति ध्रुव मुक्तिर्न यस्यात्मन्यवस्थिति ॥ ७६ ॥

अर्थ—जिस मुनिकी आत्मामें अचलस्थिति है उसीको मुक्ति होती है और जिसकी आत्मामें अवस्थिति नहीं है उसको नियमसे मुक्ति नहीं होती क्योंकि आत्मामें जो अव स्थिति है वही सम्यग्दर्शन ज्ञानपूर्वक चारित्र है और उसीसे मुक्ति है शास्य नैयायिकादि मतावलबी ज्ञानमात्रसे मुक्ति मानते हैं, सो नहीं है ॥ ७६ ॥

दृढ स्थूल स्थिरो दीर्घो जीर्ण शीर्णो लघुर्गुरु ।
वपुषैवमसबध्नन्स्व विन्द्याद्वेदनात्मकम् ॥ ७७ ॥

अर्थ—शरीरसहित मै दृढ हू, स्थूल (मोटा) हू, स्थिर हू, लम्बा हू, जीर्ण हू, शीर्ण (अति कृश) हू, हलका हू और भारी हू इस प्रकार आत्माको शरीरसहित संबंध रूप नहीं करता हुआ पुरुष ही आत्माको ज्ञानस्वरूप जानता है अर्थात् अनुभव करता है ॥७७॥

जनससर्गे वाक्चित्तपरिस्पन्दमनोभ्रमा ।
उत्तरोत्तरबीजानि ज्ञानी जनस्ततस्त्यजेत् ॥ ७८ ॥

अर्थ—लोकका समा होनेसे वचन और चित्तका चलना और मनको भ्रम होता है ये उत्तरोत्तर बीज मन्त्र हैं अर्थात् लोकके संसर्गसे तो परस्पर वचनालाप होता है और उस वचनालापसे चित्त चलायमान होता है और चित्त चलनेसे मनमें भ्रम होता है इस कारण, ज्ञानी मुनि लोकके संसर्गको छोड़े। भावार्थ—लौकिक जनसे संगति न करै [illegible]

नगग्रामादिषु स्वस्य निवासं वेत्त्यनात्मवित्।
सर्वावस्थासु विज्ञानी स्वस्मिन्नेवात्मविभ्रम ॥ ७९ ॥

अर्थ—जो अनात्मवित् हैं अर्थात् आत्माको नहीं जानते वे नगर ग्राम आदिमें अपना निवास मानते हैं और जो अनात्मविभ्रम (ज्ञानी) हैं वे समस्त अवस्थाओंमें अपने आपमें [illegible] निवास मानते हैं । भावार्थ—परमात्माके घरमें आत्मा अपना घर [illegible] नहीं मानते ॥ ७९ ॥

आत्मेति वपुषि ज्ञानं कारणं कायसन्ततेः।
स्वस्मिन्नात्ममिति विज्ञानं स्याच्छरीरान्तरच्युतेः ॥ ८० ॥

अर्थ—[illegible] शरीर ही आत्मा है इस प्रकार जानना कायकी सन्तान [illegible] शरीरोंका कारण है और अपने आपमें ही आत्मा है ऐसा ज्ञान इस शरीर [illegible] अभावका कारण है ॥ ८० ॥

आत्माऽऽत्मना भवं मोक्षमात्मनः कुरुते यतः।
अतो रिपुर्गुरुश्चायमात्मैव स्फुटमात्मनः ॥ ८१ ॥

अर्थ—[illegible] आत्मा आप ही द्वारा अपने संसारको करता है और अपने द्वारा अपने [illegible] मोक्ष करता है, इस कारण आप ही अपना शत्रु है और आप ही अपना गुरु है [illegible] ॥ ८१ ॥

पृथक् कृत्वात्मनः कायं कायादात्मानमात्मवित्।
तथा [illegible] यथा वस्त्रं तृणात्मकम् ॥ ८२ ॥

अर्थ—[illegible] आत्मा [illegible] तथा आत्माको [illegible] ([illegible]) [illegible] है । [illegible]

[illegible] ॥ ८३ ॥

अर्थ—[illegible] ॥ ८३ ॥

मन्येऽप्रगदुन्मत्तं प्रागुत्पन्नात्मनिश्चयः ।
पश्चाल्लोष्टमिवाचष्टे तद्दृढाभ्यासवासितः ॥ ८४ ॥

अर्थ—जिसको आत्माका निश्चय होगया है ऐसा ज्ञानी प्रथम तो इस जगतको उन्मत्तवत् विचारता है, तत्पश्चात् आत्माका दृढ अभ्यास करके पाषाणके समान देखता है। भावार्थ—जब ज्ञान उत्पन्न होता है उस समय यह जगत् पागलसा दीखता है, तत्पश्चात् जब ज्ञानाभ्यास दृढ हो जाता है, तब वस्तु स्वभावके विचारसे जैसा है वैसा ही दीखता है अर्थात् उसमें इष्ट अनिष्ट भाव नहीं होता ॥ ८४ ॥

शरीराद्भिन्नमात्मानं शृण्वन्नपि वदन्नपि ।
तावन्न मुच्यते यावन्न भेदाभ्यासनिष्ठितः ॥ ८५ ॥

अर्थ—यह पुरुष आत्माको शरीरसे भिन्न सुनता हुआ भी तथा कहता हुआ भी जबतक इसके भेदाभ्यासमें निष्ठित (परिपक्व) नहीं होता, तबतक इनसे छूटता नहीं क्योंकि निरन्तर भेदज्ञानके अभ्याससे ही इसका ममत्व छूटता है ॥ ८५ ॥

व्यतिरिक्तं तनोस्तद्वद्भाव्य आत्माऽऽत्मनाऽऽत्मनि ।
स्वप्नेऽप्यय यथाऽभ्येति पुनर्नाङ्गेन सङ्गतिम् ॥ ८६ ॥

अर्थ—आत्माको आत्माहीके द्वारा आत्मामें ही शरीरसे भिन्न ऐसा विचारना कि जिससे फिर यह आत्मा स्वप्नमें भी शरीरकी संगतिको प्राप्त न हो अर्थात् मैं शरीर हूं ऐसी बुद्धि स्वप्नमें भी न हो, ऐसा निश्चय करना चाहिये ॥ ८६ ॥

यतो व्रताव्रते पुंसां शुभाशुभनिबन्धने ।
तदभावात्पुनर्मोक्षो मुमुक्षुस्ते ततस्त्यजेत् ॥ ८७ ॥

अर्थ—तथा व्रत और अव्रत शुभ और अशुभ दो प्रकारके यथोक्त कारण है और शुभाशुभ कर्मके अभावसे मोक्ष होता है, इसकारण मुक्तिका इच्छुक मुनि इन व्रत और अव्रत दोनोंको ही त्यागता है अर्थात् इनमें करने न करनेका अभिमान नहीं करता ॥ ८७ ॥

प्रागसंयममुत्सृज्य संयमैकरतो भवेत् ।
ततोऽपि विरमेत्प्राप्य सम्यगात्मन्यवस्थितिम् ॥ ८८ ॥

अर्थ—व्रत अव्रतका त्यागना कहा है सो इसप्रकार त्यागै कि प्रथम तो असंयमको छोड, संयममें रक्त हो, तत्पश्चात् सम्यक्प्रकारसे आत्मामें अवस्थितिको प्राप्त होकर, उस संयमसे भी विरक्त हो जावे अर्थात् संयमका ममत्व वा अभिमान न रक्खे ॥ ८८ ॥

जातिलिङ्गमिति द्वन्द्वमङ्गमाश्रित्य वर्त्तते ।
अङ्गात्मकश्च संसारस्तस्मात्तद्द्वितयं त्यजेत् ॥ ८९ ॥

अर्थ—जाति (क्षत्रियादिक) और लिंग मुनि श्रावकादिकका वेष ये दोनों ही देहके आश्रित है। तथा इस देहस्वरूप संसार है इससे जो मुनि इन जाति लिंग दोनोंको ही त्यागता है, अर्थात् इनका अभिमान नहीं रखता ॥ ८९ ॥

अभेदविद्यथापङ्गोर्वेत्ति चक्षुरचक्षुषि ।
अङ्गेऽपि च तथा वेत्ति सयोगाद्दृश्यमात्मन ॥ ९० ॥

अर्थ—जिसप्रकार अंधेके कन्धेपर पांगुला चढ़कर चलता है, उनका भेद न जाननेवाला कोई पुरुष पंगुके नेत्रोंको अंधेके नेत्र जानता है, उसी प्रकार आत्मा और देहका संयोग है सो इनका भेद नहिं जाननेवाला अज्ञानी आत्माके दृश्यको अंगका ही दृश्य (देखने योग्य) जानता है ॥ ९० ॥

भेदविन्न यथा वेत्ति पङ्गोश्चक्षुरचक्षुषि ।
विज्ञातात्मा तथा वेत्ति न काये दृश्यमात्मन ॥ ९१ ॥

अर्थ—जिस प्रकार पंगु और अंधेका भेद जाननेवाला पुरुष पंगुके नेत्रोंको अंधेके नेत्र नहीं जानता, उसीप्रकार आत्मा और देहके भेदको जाननेवाला पुरुष आत्माके दृश्य (देखने योग्य) को देहका नहीं जानता। क्योंकि आत्मा चैतन्य ज्ञानवान् है। परन्तु देहके बिना चल नहीं सकता इस कारण यह पंगुके समान, और देह अचेतन (जड़) है, इस कारण वह अंधेके समान है इस भेदको जो जानता है, वह देहमें न जाकर, आत्मामें ही आत्माको जानता है ॥ ९१ ॥

मत्तोन्मत्तादिचेष्टासु यथाज्ञस्य स्वविभ्रम ।
तथा सर्वास्ववस्थासु न कश्चित्तत्त्वदर्शिन ॥ ९२ ॥

अर्थ—जिस प्रकार अज्ञानीके मत्त उन्मत्त आदि चेष्टाओंमें आत्माका विभ्रम होता है अर्थात् अज्ञानी आत्माको भूल जाता है और जब चेत करता है तब आत्माको जानता है, उसी प्रकार तत्त्वदर्शीके सब ही अवस्थाओंमें विभ्रम नहीं है अर्थात् सदा ही सब अवस्थाओंमें आत्मा जानता है, भूलता कभी नहीं है **भावार्थ**—आत्मज्ञानीके [illegible] [illegible] अवस्थाओंमें कर्मोंकी निर्जरा होती है ॥ ९२ ॥

देहात्मदृग्न मुच्येत जाग्रदपि पठन्नपि ।
सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्येत स्वस्मिन्नुत्पन्ननिश्चय ॥ ९३ ॥

अर्थ—जिसकी देहमें ही आत्मदृष्टि है ऐसा मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा यदि जागता है तथा पढ़ता है (वचन उच्चारण करता है) तो भी वह कर्मोंसे नहीं छूटता ॥ ९३ ॥

आत्मानं सिद्धमाराध्य प्राप्नोत्यात्मापि सिद्धताम् ।
वर्ति प्रदीपमासाद्य यथाभ्येति प्रदीपताम् ॥ ९४ ॥

अर्थ—जैसे बात्तका (बत्ती) दीपको प्राप्त होकर, दीपक हो जाती है, उसी प्रकार यह आत्मा अपनेको सिद्धस्वरूप अनुभव करके, सिद्धपनको प्राप्त हो जाता है ॥ ९४ ॥

आराध्यात्मानमेवात्मा परमात्मत्वमश्नुते ।
यथा भवति वृक्षः स्वं स्वेनोद्घृष्य हुताशनः ॥ ९५ ॥

अर्थ—आत्मा आत्माको ही आराध्य कर, परमात्मपनको प्राप्त होता है, जैसे वृक्ष अपनेको आपहीसे घिसकर, अग्नि हो जाता है। भावार्थ—जैसे बाँसोंके परस्पर घिस नेसे उनमें अग्नि उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा, आत्माका आराधन करनेसे परमात्मा हो जाता है ॥ ९५ ॥

इत्थं वाग्गोचरातीतं भावयन्परमेष्ठिनम् ।
आसादयति तत्स्थानं भूयो विनिवर्तते ॥ ९६ ॥

अर्थ—यह आत्मा पूर्वोक्त प्रकार वचनके अगोचर परमेष्ठीको भावता हुआ उस पदको पाता है कि जिस पदसे फिर निवृत्त (लौटना) न हो अर्थात् जो छूटे नहीं, ऐसे सिद्ध पदको प्राप्त होता है ॥ ९६ ॥

अयत्नजनितं मन्ये ज्ञानिनां परमं पदम् ।
यदात्मन्यात्मविज्ञानमात्रमेव समीहते ॥ ९७ ॥

अर्थ—जो यह आत्मा आत्मामें ही विज्ञान मात्रको सम्यक्प्रकार चाहता है, तो जानना चाहिये कि ज्ञानियोंके परमपद विना यत्नके ही हो गया 'मैं ऐसा मानता हूं' इस प्रकार आचार्य महाराजने सभावना की है ॥ ९७ ॥

स्वप्ने दृष्टविनाशोऽपि यथात्मा न विनश्यति ।
जागरेऽपि तथा भ्रान्तेरुभयत्राविशेषतः ॥ ९८ ॥

अर्थ—जैसे स्वप्नमें अपनेको नष्ट हुआ देख लेनेसे आत्मा नष्ट नहीं होता—उसी प्रकार जागते हुए भी विनाश नहीं है, किन्तु दोनों जगह विनाशके भ्रमका अविशेष है। भावार्थ—स्वप्नमें अपनेको मरा हुआ माने, उसी प्रकार जागनेपर भी मरा हुआ माने सो यह भ्रम ही है आत्मा सदा अमर है आत्माका मरण मानना भ्रम है ॥ ९८ ॥

अतीन्द्रियमनिर्देश्यममूर्तं कल्पनाच्युतम् ।
चिदानन्दमयं विद्धि स्वस्मिन्नात्मानमात्मना ॥ ९९ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! तू आत्माको आत्माहीमें आत्मासे ऐसा जान कि, मैं अतीन्द्रिय हूं अर्थात् मेरे इन्द्रियें नहीं अथवा मैं इन्द्रियोंके गोचर नहीं हूं। अथवा इन्द्रियोंके स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, और शब्द विषय मुझ (आत्मा)में नहीं हैं इस कारण अतीन्द्रिय हूं, तथा अनिर्देश्य हूं—(वचनोंके द्वारा कहनेमें नहीं आता) ऐसा हूं,

तथा अमूर्तीक है अर्थात् स्पर्शादिकसे रहित है, तथा कलातीत है और चैतन्य तथा आनदमय है, इत्यादि ॥ ९९ ॥

मुच्येताधीतशास्त्रोऽपि नात्मेति कल्पयन्वपुः ।
आत्मन्यात्मानमन्विष्यन् श्रुतशून्योऽपि मुच्यते ॥ १०० ॥

अर्थ—शरीरमें यह शरीर ही आत्मा है, इस प्रकार अभ्यास करता हुआ वा जानता हुआ पुरुष यदि अधीतशास्त्र (पढे हैं शास्त्र जिसने ऐसा) है, तथापि कर्मसे नहीं छूटता है अर्थात् मुक्त नहीं हो सकता है । तथा शास्त्रसे शून्य है और आत्मामें ही आत्माको जानता वा मानता है, तो कर्मसे छूटकर, मुक्त हो जाता है । **भावार्थ**—शास्त्रज्ञान भी आत्मज्ञानके लिये है जो आत्मज्ञान नहीं हुआ तो शास्त्र पढनेसे क्या फल? अर्थात् व्यर्थही है ॥ १०० ॥

पराधीनसुखास्वादनिर्वेदविशदस्य ते ।
आत्मैवामृतता गच्छन्नविच्छिन्नः स्वमीक्षते ॥ १०१ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! पराधीन इन्द्रियजनित सुखके आस्वादमें वैराग्य है स्पष्ट जिसके ऐसा जो तू तिसका आत्मा ही अमृतपनको प्राप्त होता हुआ अविच्छेदरूप अपनेको देखता है । **भावार्थ**—इन्द्रिय सुखका आस्वाद छोडनेपर ऐसा न जान कि अब सुख नहीं है किन्तु यह तेरा आत्मा ही अमृतमय हो जाता है और उस अमृतके आस्वादसे जन्म मरणसे रहित अमर होता है ॥ १०१ ॥

यदभ्यस्तं सुखाद् ज्ञानं तद्दुःखेनापसर्पति ।
दुःखैकशरणस्तस्माद्योगी तत्त्वं निरूपयेत् ॥ १०२ ॥

अर्थ—जो ज्ञान सुखसे अभ्यास किया है, वह ज्ञान प्राय दुःख आनेपर चला जाता है, इस कारण योगी दुःखको ही अंगीकार करके तत्त्वका अनुभव करता है। **भावार्थ**—जो तीव्र तप आचरण करता है, वह परीषह आ जानेपर डिगता नही, अर्थात् दुःख आने तो भी अपने ज्ञानाभ्यासको नहीं छोडता ॥ १०२ ॥

मालिनी ।

निखिलभुवनतत्त्वोद्भासनैकप्रदीपं
निरुपधिमधिरूढं निर्भरानन्दकाष्ठाम् ।
परममुनिमनीषोद्भेदपर्यन्तभूतं
परिकलय विशुद्धं स्वात्मनात्मानमेव ॥ १०३ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! तू अपने आत्माको अपने आत्मासे ही इस प्रकार विशुद्ध (निर्मल) अनुभव कर कि—यह आत्मा समस्त लोकके यथार्थ स्वरूपको प्रगट करनेवाला अद्वि

गोचर अतीन्द्रिय है तथा अनित्य आत्माकी सीमासे उपाधिरहित प्राप्त हुआ है–तथा परम शुद्धिकी वृद्धिसे प्रकट उत्कृष्टता पवन है स्वरूप जिसका ऐसा है–इस प्रकार आत्माका अनुभव करै ऐसा उपदेश है ॥ १०३ ॥

इति साधारण ध्येय ध्यानयोर्धर्मशुक्लयो ।
विशुद्धि स्वामिभेदेन भेद सूत्रे निरूपित ॥ १०४ ॥

अर्थ—इस (उक्त) प्रकार धर्मध्यान व शुक्लध्यानका ध्येय (ध्यान करने योग्य) पदार्थ साधारणतया कहा गया और इन दोनोंकी विशुद्धता और ध्यान करनेवाले (ध्याता आदि)का भेद सूत्रमें निरूपण किया है ॥ १०४ ॥

इस प्रकार धर्म शुक्ल ध्यानके कारण आत्माको जाननेके लिये बहिरात्मा, अंतरात्मा तथा परमात्माका स्वरूप कहकर, तत्पश्चात् बहिरात्माको छोड, अन्तरात्मा होकर, परमात्माका ध्यान करना वर्णन किया गया ।

इस अध्यायका संक्षेप यह है कि, जो देह, इन्द्रिय, धन, स्त्र्यादिक बाह्य वस्तुओंमें आत्मबुद्धि करै, वह तो बहिरात्मा (मिथ्या दृष्टि) है । और जो अंतरंग विशुद्धदर्शन ज्ञानमयी चेतनामें आत्मबुद्धि करता है और चेतनाके विकार रागादिक भावोंको कर्मजनित हेय जानता है वह अंतरात्मा है और वही सम्यग्दृष्टि है । और जो समस्त कर्मोंसे रहित केवल ज्ञानादिक गुणसहित हो सो परमात्मा है । उस परमात्माका ध्यान अन्तरात्मा होकर, करै । उसमें जो निश्चयनय (शुद्ध द्रव्यार्थिक नय)से अपने आत्माको ही अनन्तज्ञानादि गुणोंकी शक्तिसहित जानकर, नयके द्वारा युगपत् शक्ति व्यक्तिरूप परोक्षको अपने अनुभवमें साक्षात् आरोपण करके तद्रूप अपने रूपको ध्यावै और जब वह उसमें लय हो जाय तब समस्त कर्मोंका नाश कर, वैसा ही व्यक्तरूप परमात्मा स्वयं (आप) हो जाता है ॥

यह ध्यान अप्रमत्त सातवें गुणस्थानवर्ती मुनिके परिपूर्ण होता है । उसमें धर्मध्यानकी उत्कृष्टता है । ध्यानसे सातिशय अप्रमत्तगुणस्थान श्रेणीको चढता है । उसीसे शुक्लध्यानको प्राप्त होकर, कर्मोंका नाश कर, केवल ज्ञान उत्पन्न करता है । इस प्रकार धर्मध्यान व शुक्लध्यानका एक ही ध्येय कहा गया है, किन्तु दोनोंमें विशुद्धताका भेद अवश्य है, अर्थात् धर्मध्यानकी विशुद्धतासे शुक्लध्यानकी विशुद्धता अधिक है । और स्वामीका भेद गुणस्थानोंके भेदसे जानना ॥

छप्पय ।

जड चेतन मिलि हैं, अनादिके एकरूप जिमि ।
मूढभेद नहिं लखै प्रगनि मिथ्यात्व उदै इमि ॥
जिन आगमतैं चिह्न, भेद जानै लहि अवसर ।
अनुभव करि चिद्रूप, आप अरु अन्य सकल पर ॥

जब अन्तर आतम होय करि, करै शुद्ध उपयोग मुनि।
तब शुद्ध आतमा ध्याय करि, लहै मोक्ष सुखमय अवनि ॥ ३१ ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारस्वरूपे ज्ञानार्णवे शुद्धोपयोग *वर्णन नाम द्वात्रिंश प्रकरण समाप्तम् ॥ ३२ ॥*

अथ त्रयस्त्रिंश प्रकरणम् ।

आगे धर्मध्यानके भेदोंका वर्णन करते हैं—उसमेंसे प्रथम ही भेदोंकी उत्पत्तिके [सामान्यतासे कहते हैं,—

अनादिविभ्रमान्मोहादनभ्यासादसंग्रहात् ।
ज्ञातमप्यात्मनस्तत्त्वं प्रस्खलत्येव योगिनः ॥ १ ॥

अर्थ—योगी (मुनि) आत्माके स्वरूपको यथार्थ जानता हुआ भी अनादि विभ्र वासनासे, तथा मोहके उदयसे, तथा विना अभ्याससे और उस तत्त्वके संग्रहके अभा मार्गसे च्युत हो जाता है अर्थात् मुनि भी तत्त्वस्वरूपसे चलायमान हो जाता है ॥ १

फिर भी कहते हैं,—

अविद्यावासनावेशविशेषविवशात्मनाम् ।
योज्यमानमपि स्वस्मिन् न चेतः कुरुते स्थितिम् ॥ २ ॥

अर्थ—तथा आत्माके स्वरूपको यथार्थ जानकर, अपनेमें जोड़ता हुआ भी अप ध्यानसे एकाग्र लगाता हुआ भी अविद्यारूपी वासनासे—वेगसे विशेषतया विवश है आ जिनका उनका चित्त स्थिरताको नहीं धारण करता ॥ २ ॥

साक्षात्कर्तुमतः क्षिप्रं विश्वतत्त्वं यथास्थितम् ।
विशुद्धिं चात्मनः शश्वद्वस्तुधर्मे स्थिरीभवेत् ॥ ३ ॥

अर्थ—इस प्रकार पूर्वोक्त ध्यानके विघ्नके कारण दूर करनेके लिये तथा सम वस्तुओंके स्वरूपको यथास्थित तत्काल साक्षात् करनेके लिये तथा आत्माकी विशुद्ध करनेके लिये निरंतर वस्तुके धर्ममें स्थिरीभूत होवे । **भावार्थ**—ध्येयमें एक मनका लगना ध्यान है । उसमें विघ्नके पूर्वोक्त कारण हैं । इनको दूर करनेके लि समस्त वस्तुका यथार्थ स्वरूप निश्चय करके क्षयादिकरहित वस्तुके धर्ममें रहो । धर्मध्यानकी सिद्धिका उपाय है, सो विशेषतासे कहते हैं ॥ ३ ॥

अलक्ष्यं लक्ष्यसम्बन्धात् स्थूलात्सूक्ष्मं विचिन्तयेत् ।
सालम्बाच्च निरालम्बं तत्त्ववित्तत्त्वमञ्जसा ॥ ४ ॥

अर्थ—तत्त्वज्ञानी इस प्रकार तत्त्वको प्रकटतया चिंतवन करे कि—लक्ष्यके (जो अपने लखनेमें आवे उसके) सम्बन्धसे तो अलक्ष्यको (जो अनुभवगोचर नहीं उसको) चिंतवन करै और स्थूल इन्द्रियगोचर पदार्थसे सूक्ष्म इन्द्रियोंके अगोचर पदार्थोंको चिंतवन करै इसी प्रकार—सालम्ब कहिये किसी ध्येयका आलंबन लेकर, उसमें निरालम्ब वस्तु स्वरूपमें तन्मय होना चाहिये । **भावार्थ**—दृष्ट पदार्थके सम्बन्धसे अदृष्टका ध्यान करना कहा गया है यहां प्रकरणमें परमात्माका ध्यान है और परमात्मा जो अर्हन्त सिद्ध परमेष्ठी हैं वे छद्मस्थ करके (अल्प ज्ञानीके) दृष्ट नहीं है तथा उनकी प्रमाण अपना स्वरूप निश्चय करने कहा है वह भी शक्तिरूप है, सो वह भी छद्मस्थके ज्ञानगोचर नहीं है (अदृष्ट है) इस कारण छद्मस्थके अपने क्षयोपशम ज्ञानका उपयोग दृष्ट है सो इसीके सम्बन्धसे सर्वज्ञके आगमसे परमात्माका स्वरूप निश्चय कर श्रुतज्ञानके भेदरूप शुद्ध नयके द्वारा परमात्माका ध्यान करना चाहिये इसीसे परमात्मपदकी प्राप्ति होती है ॥ ४ ॥

अब धर्मध्यानके भेदोंको कहते हैं,—

आज्ञापायविपाकानां क्रमशः संस्थितेस्तथा ।
विचयो यः पृथक् तद्धि धर्मध्यानं चतुर्विधम् ॥ ५ ॥

अर्थ—आज्ञा, अपाय, विपाक तथा संस्थान इनका भिन्न भिन्न विचय (विचार) अनुक्रमसे करना ही धर्मध्यानके चार प्रकार हैं । यहां विचय नाम विचार करने अर्थात् चिंतवन करनेका है तथा इन चारों प्रकारोंके नाम इस प्रकार कहने चाहिये—आज्ञाविचय १, अपायविचय २, विपाकविचय ३, और संस्थानविचय ४ ॥ ५ ॥

अब प्रथम आज्ञाविचय नामा धर्मध्यानका वर्णन करते हैं,—

वस्तुतत्त्वं स्वसिद्धान्तप्रसिद्धं यत्र चिन्तयेत् ।
सर्वज्ञाज्ञाभियोगेन तदाज्ञाविचयो मतः ॥ ६ ॥

अर्थ—जिस धर्मध्यानमें अपने जैनसिद्धान्तमें प्रसिद्ध वस्तुस्वरूपको सर्वज्ञ भगवानकी आज्ञाकी प्रधानतासे चिंतवन करै सो आज्ञाविचयनामा धर्मध्यानका प्रथम भेद है ॥ ६ ॥

अनन्तगुणपर्यायसंयुतं तत्त्रयात्मकम् ।
त्रिकालविषयं साक्षाज्जिनाज्ञासिद्धमामनेत् ॥ ७ ॥

अर्थ—आज्ञाविचय धर्मध्यानमें तत्त्व अनन्त गुणपर्यायसहित त्रयात्मक त्रिकालगोचर साक्षात् जिनेन्द्र भगवानकी आज्ञासे सिद्ध हुआ चिंतवन करै (माने) ॥ ७ ॥

उक्तं च ।

"सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते ।
आज्ञासिद्धं च तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः ॥ १ ॥

अर्थ—जिनेन्द्र सर्वज्ञ देवके उपयोग करते हुए सूक्ष्म तत्त्व हेतुसे बाधा नहीं है ऐसे तत्त्व आज्ञासेही ग्रहण करने (मानने) चाहिये, क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् वीतराग हैं वे अन्यथावादी नहीं होते। यदि सर्वज्ञ न हो तो बिना जाने अन्यथा कहै, अथवा वीतराग न हो तो रागद्वेषके कारण अन्यथा कहै और जो सर्वज्ञ और वीतराग हो वह कदापि अन्यथा नहीं कहैगा ॥ ७ ॥

प्रमाणनयनिक्षेपैर्निर्णीतं तत्त्वमञ्जसा ।
स्थित्युत्पत्तिव्ययोपेतं चिदचिल्लक्षणं स्मरेत् ॥ ८ ॥

अर्थ—आज्ञाविचय ध्यानमें प्रमाण नय निक्षेपोंसे निर्णय किये हुए, स्थिति उत्पाद और व्ययसंयुत अर्थात् उपजै विनशै स्थिर रहै ऐसा और चेतन अचेतनरूप है लक्षण जिसका ऐसे तत्त्वसमूहका चिन्तवन करै ॥ ८ ॥

श्रीमत्सर्वज्ञदेवोक्तं श्रुतज्ञानं च निर्मलम् ।
शब्दार्थनिचितं चित्रमत्र चिन्त्यमविप्लुतम् ॥ ९ ॥

अर्थ—तथा इस आज्ञाविचय ध्यानमें श्रीमत्सर्वज्ञ देवके कहे हुए निर्मल और शब्द तथा अर्थसे परिपूर्ण, नाना प्रकारके निर्बाध श्रुतज्ञानका चिन्तवन करना चाहिये ॥ ९ ॥

अब श्रुतज्ञानका वर्णन करते हैं,—

परिस्फुरति यत्रैतद्विश्वविद्याकदम्बकम् ।
द्रव्यभावभिदा तद्धि शब्दार्थज्योतिरग्रिमम् ॥ १० ॥

अर्थ—शब्द और अर्थका प्रकाश है मुख्य जिसमें ऐसा तथा जो समस्त प्रकारकी विद्याओंका समूह है अर्थात् आचार आदि अंग, पूर्व अंग, बाह्य प्रकीर्णक रूप विद्याका समूह है तथा द्रव्य श्रुत (शब्दरूप) और भावश्रुत (ज्ञानरूप) ये दो हैं भेद जिसके ऐसा सर्वज्ञ भगवानका कहा हुआ श्रुतज्ञान है ॥ १० ॥

अपारमतिगम्भीरं पुण्यतीर्थं पुरातनम् ।
पूर्वापरविरोधादिकलङ्कपरिवर्जितम् ॥ ११ ॥

अर्थ—फिर कैसा है श्रुतज्ञान कि—अपार है क्योंकि, जिसके शब्दोंका पार कोई अल्पज्ञानी नहीं पा सकता तथा गंभीर है क्योंकि जिसके अर्थकी थाह हर कोई नहीं पा सकता तथा पुण्यतीर्थ है क्योंकि, जिसमें पापका लेश भी नहीं है अर्थात् निष्पाप है इसी कारण जीवोंको तारनेवाला है तथा पुरातन है अर्थात् अनादिकालसे चला आया है और पूर्वापरविरोध आदि कलंकोंसे रहित है ॥ ११ ॥

नयोपनयसंपातगहनं गणिभिः स्तुतम् ।
विचित्रमपि चित्रार्थसंकीर्णं विश्वलोचनम् ॥ १२ ॥

अर्थ—फिर कैसा है श्रुतज्ञान कि—[illegible] पर्यायार्थिक नय और सद्भूत, असद्भूत [illegible] कहलाता है तथा गणधरादिकों करके स्तुति करने [illegible] विविध कांति [illegible] करते हैं तथापि जिस कहिये अनेक प्रकारसे [illegible] हुआ है—तथा समस्त [illegible] दिखानेके लिये नेत्रके समान है ॥ १२ ॥

अनेकपदविन्यासैर्पूर्वैः प्रकीर्णकैः ।
प्रसृतं यद्विभात्युच्चैः रत्नाकर इवापरः ॥ १३ ॥

अर्थ—फिर कैसा है श्रुतज्ञान कि—अनेक पदोंका विन्यास (स्थान) है जिसमें [illegible] तथा [illegible] आदि पूर्व और सामायिकादि प्रकीर्णकोंसे विस्तार रूप है सो यह श्रुतज्ञान [illegible] रत्नाकर (समुद्र) शोभता है उसी प्रकार शोभता है ॥ १३ ॥

मदमत्तोद्धतक्षुद्रशासनाशीविषान्तकम् ।
दुरन्तघनमिथ्यात्वध्वान्तघर्मांशुमण्डलम् ॥ १४ ॥

अर्थ—फिर कैसा है श्रुतज्ञान कि—[illegible] माते उद्धत, क्षुद्र (नीच) सर्वथा एकान्त वादियोंका शासन (मत) रूपी आशीविष कहिये सर्पका अन्तक है अर्थात् नष्ट करनेवाला है तथा दुरन्त कहिये जिसका अन्त बहुत दूर है, ऐसे [illegible] मिथ्यात्वरूपी अंधकारके दूर करनेको सूर्यमंडलके समान है ॥ १४ ॥

यत्पवित्रं जगत्यस्मिन्विशुद्ध्यति जगत्त्रयी ।
येन तद्धि सतां सेव्यं श्रुतज्ञानं चतुर्विधम् ॥ १५ ॥

अर्थ—फिर कैसा है यह श्रुतज्ञान कि इस जगतमें पवित्र है, क्योंकि, जिसके द्वारा [illegible] पवित्र होते हैं, इसी कारण ही यह श्रुतज्ञान सत्पुरुषोंके सेवने योग्य है। यह श्रुतज्ञान प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग भेदसे चार प्रकारका है ॥ १५ ॥

स्थित्युत्पत्तिव्ययोपेतं तृतीयं योगिलोचनम् ।
नयद्वयसमावेशात्साद्यनादि व्यवस्थितम् ॥ १६ ॥

अर्थ—फिर कैसा है श्रुतज्ञान—उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य करके संयुक्त है तथा योगीश्वरोंका तीसरा नेत्र है तथा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो नयोंके कारण सादि अनादि अवस्था रूप है द्रव्य नयसे संतानकी अपेक्षा अनादि है और पर्यायनयकी अपेक्षा तीर्थंकरोंकी दिव्य ध्वनिसे प्रगट होता है, इस कारण सादि है ॥ १६ ॥

निःशेषनयनिक्षेपनिकषग्रावसन्निभम् ।
स्याद्वादपविनिर्घातभग्नान्यमतभूधरम् ॥ १७ ॥

अर्थ—फिर यह श्रुतज्ञान समस्त नय निक्षेपोंमें वस्तुके स्वरूपकी परीक्षा करनेके लिये कसौटीकी समान है तथा स्याद्वाद कहिये कथंचित् वचनरूपी वज्रके निपातसे नष्ट किये हैं अन्यमतरूपी पर्वत जिसने ऐसा है ॥ १७ ॥

इत्यादिगुणसंदर्भनिर्भरं भव्यशुद्धिदम् ।
ध्यायन्तु धीमता श्रेष्ठा श्रुतज्ञानमहार्णवम् ॥ १८ ॥

अर्थ—इत्यादि पूर्वोक्त गुणोंकी रचनासे भरा हुआ, भव्य जीवोंको शुद्धिका देनेवाला श्रुतज्ञानरूप महासमुद्र है सो इसको बुद्धिमानोंमें जो श्रेष्ठ हैं वे ध्यावो (चिंतवन करो) यह प्रेरणारूप उपदेश है ॥ १८ ॥

अब ऐसे श्रुतज्ञानकी महिमा कहते हैं,—

शार्दूलविक्रीडितम् ।

यज्जन्मज्वरघातकं त्रिभुवनाधीशैर्यदभ्यर्चितम्
यत्स्याद्वादमहाध्वजं नयशताकीर्णं च यत्पठ्यते ।
उत्पादस्थितिभङ्गलाञ्छनयुता यस्मिन्पदार्था स्थिता
स्तच्छ्रीवीरमुखारविन्दगदितं दद्याच्छ्रुतं च शिवम् ॥ १९ ॥

अर्थ—जो श्रुतज्ञान संसाररूपी ज्वरका तो घातक है और तीन भुवनके इंद्र इंद्रोंसे पूजित है तथा जो स्याद्वादरूपी बडी ध्वजावाला है और सैकडों नयोंसे पूर्ण है, ऐसा कहा जाता है तथा जिसमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य लांछन युक्त पदार्थ रहते हैं ऐसा श्रीवर्द्धमान स्वामीके मुखकमलसे कहा हुआ श्रुतज्ञान तुम श्रोता जनोंको कल्याणरूप हो ऐसा आशीर्वचन है ॥ १९ ॥

वाग्देव्याः कुलमन्दिरं बुधजनानन्दैकचन्द्रोदयं
मुक्तेर्मङ्गलमग्रिमं शिवपथप्रस्थानदिव्यानकम् ।
तत्त्वाभासकुरङ्गपञ्चवदनं भव्यान्विनेतुं क्षमं
तच्छ्रोत्राञ्जलिभिः पिबन्तु गुणिनः सिद्धान्तवार्द्धेः पयः ॥ २० ॥

अर्थ—जो वाग्देवी (सरस्वती)के रहनेको कुलगृह है तथा विद्वानोंके आनन्द उत्पन्न करनेके लिये अद्वितीय चन्द्रमाका उदय है, मुक्तिका मुख्य मंगल व मोक्षमार्गमें गमन करनेके लिये दिव्य आनक कहिये पटह नामका बाजा है और तत्त्वाभास (मिथ्यातत्त्व) रूपी हिरण नाश करनेको सिंह समान है तथा भव्य जीवोंको मोक्षमार्गमें लगानेके लिये समर्थ है ऐसे इस सिद्धान्तरूपी समुद्रका जलरूपी है गुणी जनो ! कर्णरूप अंजलिसे [illegible] ॥ २० ॥

येनैते निपतन्ति वादिगिरयस्तुष्यन्ति योगीश्वरा
भव्या येन विदन्ति निर्वृतिपदं मुञ्चन्ति मोहं बुधाः ।
यद्बन्धुर्यमिनां यदक्षयसुखस्याधारभूतं नृणाम्
तल्लोकद्वयशुद्धिदं जिनवचः पुष्याद्विवेकश्रियम् ॥ २१ ॥

अर्थ—जिसके द्वारा प्रसिद्ध वादीरूप पर्वत गिरते हैं अर्थात् खडखड हो जाते हैं तथा जिसके द्वारा योगीश्वर प्रसन्न होते हैं और जिसके द्वारा भव्य जीव मोक्षपदको जानते हैं अर्थात् प्राप्त होते हैं तथा जिसको पढकर, पंडितजन समारके मोहको छोड देते हैं तथा जो वचन संयमी मुनियोंका बंधु (हित करनेवाला) है तथा जो पुरुषोंके अविनाशी सुखका आधारभूत है इसप्रकार दोनों लोकोंकी शुद्धताका देनेवाला जिनेन्द्र भगवानका वचन भव्य जीवोंकी विवेकरूपी श्री पुष्ट करे इसप्रकार यह आशीर्वाद है ॥ २१ ॥

सर्वज्ञाज्ञां पुरस्कृत्य सम्यगर्थान् विचिन्तयेत् ।
यत्र तद्ध्यानमाम्नातमाज्ञाख्यं योगिपुङ्गवैः ॥ २२ ॥

अर्थ—जिस ध्यानमें सर्वज्ञकी आज्ञाको अग्रेसर (प्रधान) करके पदार्थोंको सम्यक्प्रकार चिंतवन करे (विचारे) सो मुनीश्वरोंने आज्ञाविचय नाम धर्मध्यान कहा है ॥२२॥

इसप्रकार आज्ञाविचयनामक धर्मध्यानका प्रथम भेद कहा ।

दोहा ।

श्रीजिन-आज्ञामें कहो वस्तुस्वरूप जु मानि ।
चित्त लगावै तासुमें आज्ञाविचय सु जानि ॥ ३२ ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे आज्ञाविचयवर्णनं नाम त्रयस्त्रिंशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ३३ ॥

अथ चतुस्त्रिंशं प्रकरणम् ।

आगे अपायविचय नामा धर्मध्यानके दूसरे भेदका वर्णन करते हैं —

अपायविचयं ध्यानं तद्वदन्ति मनीषिणः ।
अपायः कर्मणां यत्र सोपायः स्मर्यते बुधैः ॥ १ ॥

अर्थ—जिस ध्यानमें कर्मोंका अपाय (नाश) हो, तथा सोपाय कहिये पण्डितजनों करके चिन्तवन किया जाय कि इन कर्मोंका नाश किस उपायसे होगा ? इसप्रकार जिसमें चिंतन करै उस ध्यानको बुद्धिमान् पुरुषोंने अपायविचय कहा है ॥ १ ॥

श्रीमत्सर्वज्ञनिर्दिष्टं मार्गं रत्नत्रयात्मकम् ।
अनासाद्य भवारण्ये चिरं नष्टाः शरीरिणः ॥ २ ॥

मज्जनोन्मज्जनं शश्वत्कुर्वन्ति भवसागरे ।
वराकाः प्राणिनोऽप्राप्य यानपात्रं जिनेश्वरम् ॥ ३ ॥

अर्थ—इस ध्यानमें ऐसा चिंतवन होता है कि ये प्राणी श्रीमत्सर्वज्ञजिनेन्द्रके उपदेश किये हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्ररूप मार्गको न पाकर, संसाररूप वनमें बहुत काल पर्यंत नष्ट होते हुए अर्थात् जन्ममरण और उपार्जन किये कर्मोंके नाश करनेका उपाय जो रत्नत्रय सो उन्होंने नहीं पाया ॥ २ ॥ तथा ये रंक प्राणी जिनेश्वररूपी जहाजको न पाकर, संसाररूप समुद्रमें निरंतर मज्जन उन्मज्जन करते हैं अर्थात् निरंतर जन्म मरण पाते रहते हैं और दुःख भोगते हैं इसप्रकार चिंतन करै ॥ ३ ॥

महाव्यसनसंकीर्णे प्रदीप्ते जन्मकानने ।
भ्रमताद्य मया प्राप्तं सम्यग्ज्ञानाम्बुधेस्तटम् ॥ ४ ॥

अर्थ—फिर ऐसा चिंतन करै कि— महान् कष्टरूपी अग्निमें प्रज्वलित इस संसाररूपी वनमें भ्रमण करता हुआ मैं इस समय सम्यग्ज्ञानरूपी समुद्रका तट (किनारा) पागया ॥ ४ ॥

अद्यापि यदि निर्वेदविवेकाद्रीन्द्रमस्तकात् ।
स्खलत्यहो पतत्येव जन्मान्ध-कूपपातोऽनिवारितः ॥ ५ ॥

अर्थ—फिर इसप्रकार चिंता करै कि मैंने इस समय सम्यग्ज्ञान पाया है, सो यदि अब भी वैराग्य और भेदज्ञानरूप पर्वतके शिखरसे पड़ूं तो संसाररूप अंधकूपमें अवश्य पड़ना होगा ॥ ५ ॥

अनादिविभ्रमोद्भूतं कथं निर्वार्यते मया ।
मिथ्यात्वाविरतिप्रायं कर्मबन्धनिबन्धनम् ॥ ६ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् इसप्रकार चिंता करै कि—अनादि अविद्यासे उत्पन्न हुए तथा जिनमें मिथ्यात्व व अविरतिकी बहुलता है ऐसे कर्मबंध होनेके कारण मुझसे किस प्रकार निवारण किये जायगे ॥ ६ ॥

सोऽहं सिद्धः प्रसिद्धात्मा दृग्बोधविमलेक्षणः ।
जन्मपङ्के चिरं खिन्नः मज्जमानः स्वकर्मणा ॥ ७ ॥

अर्थ—फिर ऐसा चिंतन करै कि— प्रसिद्ध है आत्मा जिसका ऐसा मैं सिद्ध हूं, दर्शन ज्ञान ही हैं निर्मल नेत्र जिसके ऐसा हूं तथापि संसाररूपी कीचमें अपने कर्मोंसे डूबता हुआ चिरकाल खेदखिन्न हुआ हूं ॥ ७ ॥

एकतः कर्मणा सैन्यमहमेकस्ततोऽन्यतः ।
स्थातव्यमप्रमत्तेन मयास्मिन्नरिसंकटे ॥ ८ ॥

अर्थ—इस संसारमें एक ओर तो कर्मोंकी सेना है और एक तरफ मैं अकेला हूं, इसकारण इस शत्रुसमूहमें मुझको अप्रमत्त (सावधान) होकर, रहना चाहिये असावधान रहूंगा तो कर्मरूप वैरी बहुत हैं, इससे वे मुझे बिगाड देंगे ॥ ८ ॥

निर्धूय कर्मसंघातं प्रबलध्यानवह्निना ।
कदा स्वं शोधयिष्यामि धातुस्थमिव काञ्चनम् ॥ ९ ॥

अर्थ—फिर ऐसा विचारै कि जिसप्रकार अन्य धातु (पाषाण)में मिला हुआ कंचन अग्निमें शोधकर शुद्ध किया जाता है उसी प्रकार मैं प्रबल ध्यानरूप अग्निके द्वारा कर्मोंके समूहको नष्ट करके, आत्माको कब शुद्ध करूंगा? इसप्रकार विचार करै ॥ ९ ॥

किमुपेयो ममात्मायं किंवा विज्ञानदर्शने ।
चरणं वापवर्गाय त्रिभिः सार्द्धं स एव वा ॥ १० ॥

अर्थ—फिर ऐसा विचार करै कि— मोक्षके लिये मेरे यह आत्मा उपादेय है, अथवा ज्ञानदर्शन उपादेय है, अथवा चारित्र उपादेय है, अथवा ज्ञानदर्शन चारित्र इन तीनों सहित आत्मा ही उपादेय है ॥ १० ॥

कोऽहं ममास्रवः कस्मात्कथं बन्धः क्व निर्जरा ।
का मुक्तिः किं विमुक्तस्य स्वरूपं च निगद्यते ॥ ११ ॥

अर्थ—फिर ऐसा विचारै कि मैं कौन हूं और मेरे कर्मोंका आस्रव क्या होता है? तथा कर्मोंका बंध क्यों होता है? और किस कारणसे निर्जरा होती है? और मुक्ति क्या वस्तु है? एवं मुक्त होनेपर आत्माका क्या स्वरूप कहा जाता है? ॥ ११ ॥

जन्मनः प्रतिपक्षस्य मोक्षस्यात्यन्तिकं सुखम् ।
अव्याबाधं स्वभावोत्थं केनोपायेन लभ्यते ॥ १२ ॥

अर्थ—फिर ऐसा विचारै कि— संसारका प्रतिपक्षी जो मोक्ष है उसका अविनाशी, अनन्त, अव्याबाध (बाधारहित), स्वभावसे ही उत्पन्न हुआ (स्वाधीन) सुख किस उपायसे प्राप्त हो? ॥ १२ ॥

मय्येव विदिते साक्षाद्विज्ञातं भुवनत्रयम् ।
यतोऽहमेव सर्वज्ञः सर्वदर्शी निरञ्जनः ॥ १३ ॥

अर्थ—फिर ऐसा ध्यान करै कि मेरे स्वरूपको जाननेसे मैंने तीनों भुवन जान लिये क्योंकि, मैं ही सर्वज्ञ, सबका देखनेवाला, निरंजन और समस्त कर्मकालिमासे रहित हूं ॥ १३ ॥

उक्तं च ।

"एको भावः सर्वभावस्वभावः सर्वे भावा एकभावस्वभावाः ।
एको भावस्तत्त्वतो येन बुद्धः सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन बुद्धाः ॥ १ ॥

अर्थ—एक भाव सर्व भावोंके स्वभावस्वरूप है और सब भाव एक भावके स्वभावस्वरूप हैं, इसकारण जिसने तत्त्वसे (यथार्थपनेसे) एक भावको जाना उसने समस्त भावोंको यथार्थतया जाना । **भावार्थ**—आत्माका एक ज्ञानभाव ऐसा है कि जिसमें समस्त भाव (पदार्थ) प्रतिबिम्बित होते हैं उन पदार्थोंके आकारस्वरूप आप होता है तथा वे भाव सब ज्ञेय हैं उनके जितने आकार हैं वे एक ज्ञानके आकार होते हैं इसकारण, जो इसप्रकारसे ज्ञानके स्वरूपको यथार्थ जानता है, उसने सबही पदार्थ जाने अर्थात् ज्ञान ज्ञेयाकार हुआ इसकारण ज्ञानको जाना तब सब ही जाना । क्योंकि ज्ञान ही आत्मा है इसकारण ऐसा कहा है ॥ १ ॥'

यावद्यावच्च सम्बन्धो मम स्याद्बाह्यवस्तुभिः ।
तावत्तावत्स्वयं स्वस्मिन्स्थितिः स्वप्नेऽपि दुर्घटा ॥ १४ ॥

अर्थ—फिर ऐसा ध्यान करे कि— जब २ मेरे बाह्य वस्तुओंसे सम्बन्ध होते हैं तब २ मेरी आपहीमें अपनेसे स्थिति होना स्वप्नमें भी दुर्घट है ॥ १४ ॥

तथैवैतेऽनुभूयन्ते पदार्थाः सूत्रसूचिताः ।
अतो मार्गोऽत्र लब्धोऽयं प्राप्त एव शिवास्पदम् ॥ १५ ॥

अर्थ—फिर ऐसा विचारे कि जिनसूत्रमें जो पदार्थ कहे हैं वे वैसे ही अनुभव किये जाते हैं और जैसे कहे हैं वैसे ही दीखते हैं इसकारण इस सूत्रसे मार्ग पाया है इसकारण मोक्षस्थान मैं पाया हुआ ही मानता हूं क्योंकि, जब मार्ग पाया और उस मार्गमें चला तो अवश्य ठिकाना प्राप्त हुआ ही कहा जाता है ॥ १५ ॥

इत्युपायो विनिश्चेयो मार्गाच्यवनलक्षणः ।
कर्मणां च तथापाय उपायश्चात्मसिद्धये ॥ १६ ॥

अर्थ—इसप्रकार पूर्वोक्त मोक्षमार्गसे नहीं छूटना है लक्षण जिसका ऐसा ही उपाय निश्चय करना तथा वैसे ही कर्मोंका अपाय (नाश) निश्चय करना, इसप्रकार अपाय और उपाय दोनोंका आत्माकी सिद्धिके लिये निश्चय करना चाहिये ॥ १६ ॥

मालिनी ।

इति नयसमसीमामन्वितं निर्दूतदोषं
च्युतसकलकलङ्कं कीर्तितं ध्यानमेतत् ।
अविरममनुपूर्वं ध्यायतोऽस्तप्रमादं
स्फुरति हृदि विशुद्धे ज्ञानसाम्यप्रकाशः ॥ १७ ॥

अर्थ—यह पूर्वोक्त प्रकारका अपायविचयनामा ध्यान सैकडों नयोंसे अवलम्बन करनेवाला है तथा दूर किये हैं समस्त दोष जिसने ऐसे समस्त कलंकरहित सर्वज्ञदेवने कहा है सो जो कोई पुरुष इसको अनुक्रमसे निरंतर प्रमादरहित होकर, ध्याता है, उसके हृदयमें निर्मल ज्ञानरूप सूर्यका प्रकाश स्फुरायमान होता है ॥ १७ ॥

इसप्रकार अपायविचय नामक धर्मध्यानके दूसरे भेदका वर्णन किया ।

दोहा।

मोक्षमार्गमें विघ्नको मिटै कौन विधि सोय ।

इमि चिंतै ज्ञानी जबै, विचय अपाय सु होय ॥ ३४ ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे अपायविचयवर्णनं नाम चतुस्त्रिंशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ३४ ॥

अथ पञ्चत्रिंशं प्रकरणम् ।

आगे विपाकविचयनामा धर्मध्यानके तीसरे भेदका वर्णन करते हैं—

स विपाक इति ज्ञेयो यः स्वकर्मफलोदयः ।

प्रतिक्षणसमुद्भूतश्चित्ररूपः शरीरिणाम् ॥ १ ॥

अर्थ—प्राणियोंके अपने उपार्जन किये हुए कर्मके फलका जो उदय होता है वह विपाक नामसे कहा है सो वह कर्मोदय क्षण क्षणप्रति उदय होता है और ज्ञानावरणादि अनेक रूप है ॥ १ ॥

कर्मजातं फलं दत्ते विचित्रमिह देहिनाम् ।

आसाद्य नियतं नाम द्रव्यादिकचतुष्टयम् ॥ २ ॥

अर्थ—जीवोंके कर्मोंका समूह निश्चित द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप चतुष्टयको पाकर, इस लोकमें अनेक प्रकारसे अपने नामानुसार फलको (आगे कहते हैं उसप्रकार) देता है ॥ २ ॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

स्रक्शय्यासनयानवस्त्रवनितावादित्रमित्राङ्गजान्

कर्पूरागुरुचन्द्रचन्दनवनक्रीडाद्रिसौधध्वजान् ।

मातङ्गाश्वविहङ्गचामरपुरीभक्ष्यान्नपानानि वा

छत्रादीनुपलभ्य वस्तुनिचयान्सौख्यं श्रयन्तेऽङ्गिनः ॥ ३ ॥

अर्थ—ये प्राणी पुष्पमाला, सुंदर शय्या, आसन, यान, वस्त्र, स्त्री, बाजे, मित्र, पुत्रादिको तथा कपूर, अगुरु, चन्द्रमा, चंदन, वनक्रीडा, पर्वत, महल, ध्वजादिकको तथा

हस्ती, घोड़े, पक्षी, चमर, नगरी और खाने योग्य अन्नपानादिकको तथा छत्रादिक बड़े समूहको पाकर, सुखका आश्रय करते है अर्थात् भोगते हैं ॥ ३ ॥

तथा—

क्षेत्राणि रमणीयानि सर्वर्त्तुसुखदानि च ।
कामभोगास्पदान्युच्चैः प्राप्य सौख्यं निषेव्यते ॥ ४ ॥

अर्थ—सर्व ऋतुओंमें सुख देनेवाले, रमणीय और काम भोगके स्थान ऐसे क्षेत्रोंके प्राप्त होकर, अतिशय सुखका अनुभव करते हैं ॥ ४ ॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

प्रासासिक्षुरयन्त्रपन्नगगरव्यालानलोग्रग्रहान्
शीर्णाङ्गान्क्रिमिकीटकण्टकरजःक्षारास्थिपङ्कोपलान् ।
काराशृङ्खलशङ्कुकाण्डनिगडक्रूरारिवैरास्तथा
द्रव्याण्याप्य भजन्ति दुःखमखिलं जीवा भवाध्वस्थिता ॥५॥

अर्थ—संसाररूप मार्गमें रहते हुए जीव सेल, तरवार, छूरा, यन्त्र, बन्दूक आदि शस्त्र और सर्प, विष, दुष्ट हस्ती, अग्नि, तीव्र खोटे ग्रहादिकको तथा दुर्गन्धित सड़े हुए अंग, लट, कीड़े, कांटे, रज, क्षार, अस्थि, कीच, पाषाणादिको तथा बंदीखाना (जेलखाना), सांकल, कीला, कांड, बेड़ी, क्रूर (दुष्ट), वैरी, वैर इत्यादि द्रव्योंको प्राप्त होकर, समस्त दुःखोंको भोगते है ॥ ५ ॥

निसर्गेणातिरौद्राणि भयक्लेशास्पदानि च ।
दुःखमेवाप्नुवन्त्युच्चैः क्षेत्राण्यासाद्य जन्तवः ॥ ६ ॥

अर्थ—ये प्राणी स्वभावसे ही रौद्र, भय और क्लेशके ठिकाने, ऐसे क्षेत्रोंको प्राप्त होकर, अतिशय दुःखोंको ही पाते है ॥ ६ ॥

अरिष्टोत्पातनिर्मुक्तो वातवर्षादिवर्जितः ।
शीतोष्णरहितः कालः स्यात्सुखाय शरीरिणाम् ॥ ७ ॥

अर्थ—अरिष्ट (दुःख देनेवाले) उत्पातसे रहित तथा पवन वर्षाआदिसे वर्जित और शीत उष्णता रहित काल जीवोंको सुखके लिये है ॥ ७ ॥

वर्षातपतुषाराढ्य ईत्युत्पातादिसंकुलः ।
कालः सदैव सत्वानां दुःखानलनिबन्धनम् ॥ ८ ॥

अर्थ—वर्षा, आतप, हिम (बर्फ) सहित तथा इति कहिये स्वचक्र परचक्रादिकोंके उत्पात आदि सहित काल जीवोंको निरंतर दुःखरूप अग्निका कारण है ॥ ८ ॥

इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, कालके संबन्धसे जो कर्मोंका उदय होता है, उसके निमित्तसे सुख, दुःख होनेका वर्णन किया ।

अब जो भावसे सुख, दुःख होता है उसका वर्णन करते हैं।

प्रशमादिसमुद्भूतो भावः सौख्याय देहिनाम् ।
कर्मगौरवजः सोऽयं महाव्यसनमन्दिरम् ॥ ९ ॥

अर्थ—जो कर्मके उपशमादिकसे उत्पन्न हुआ भाव है, वह तो जीवोंको सुखके अर्थ है, और जो कर्मके तीव्र गुरुतासे उत्पन्न हुआ भाव है, सो महान् कष्टका घर है ॥ ९ ॥

मूलप्रकृतयस्तत्र कर्मणामष्ट कीर्तिताः ।
ज्ञानावरणपूर्वास्ता जन्मिनां बन्धहेतवः ॥ १० ॥

अर्थ—कर्मकी मूल प्रकृति (भेद) आठ कहीं है। ज्ञानावरणादिक ये जीवोंके बंधनका कारण है ॥ १० ॥

ज्ञानावृतिकरं कर्म पञ्चभेदं प्रपञ्चितम् ।
निरुद्धं येन जीवानां मतिज्ञानादिपञ्चकम् ॥ ११ ॥

अर्थ—उन आठ कर्म प्रकृतियोंमेंसे प्रथम ज्ञानको आवरण करनेवाला ज्ञानावरणीय कर्म पांच भेदरूप कहा गया है। इन पांचो ज्ञानावरण कर्मोंने जीवोंके मतिज्ञानादिक (मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल) पांचों ज्ञानोंको रोक रक्खा है अर्थात् ढक रक्खा है ॥ ११ ॥

नवभेदं मतं कर्म दृगावरणसंज्ञकम् ।
रुध्यते येन जन्तूनां शश्वद्दिष्टार्थदर्शनम् ॥ १२ ॥

अर्थ—दूसरा दर्शनावरण नामका कर्म वह नव प्रकारका है, जिसने जीवोंके निरन्तर इष्ट वस्तुके दर्शनको रोक रक्खा है अर्थात् ढक रक्खा है ॥ १२ ॥

वेदनीयं विदुः प्राज्ञा द्विधा कर्म शरीरिणाम् ।
यन्मधूच्छिष्टतद्व्यक्त-शस्त्रधारासमप्रभम् ॥ १३ ॥

अर्थ—इसके पश्चात् तीसरा वेदनीय कर्म दो प्रकारका है, एक साता वेदनीय और दूसरा असातावेदनीय। सो यह कर्म जीवोंको सहत लिपटी तरवारकी धारके समान किंचित् सुखदायक है ॥ १३ ॥

---

१ ज्ञानावरणीय १ दर्शनावरणीय २ मोहनीय ३ अन्तराय ४ वेदनीय ५ आयु ६ नाम ७ और गोत्र ८ ये आठ मूल प्रकृति हैं।

२ मतिज्ञानावरणीय १ श्रुतज्ञानावरणीय २ अवधिज्ञानावरणीय ३ मनःपर्यय ज्ञानावरणीय ४ और केवल ज्ञानावरणीय।

३ निद्रा १ निद्रानिद्रा २ प्रचला ३ प्रचलाप्रचला ४ स्त्यानगृद्धि ५ चक्षुर्दर्शनावरणीय ६ अचक्षुर्दर्शनावरणीय ७ अवधिदर्शनावरणीय ८ और केवलदर्शनावरणीय।

सुरोरगनराधीशसेवितं श्रयते सुखम् ।
सातोदयवशात्प्राणी सङ्कल्पानन्तरोद्भवम् ॥ १४ ॥

असातोदयात्तीव्र शारीर मानस द्विधा ।
जीवो निसह्यते दुःख श्वभ्रश्वभ्रादिभूमिषु ॥ १५ ॥

अर्थ—यह प्राणी सातावेदनीयके उदयके वशसे तो देवेन्द्र, नागेन्द्र, धर्णीन्द्र व चक्रवर्तियोंसे सेवित तथा मनके सङ्कल्प करते ही प्राप्त होनेवाले सुखको प्राप्त होता है और असाता वेदनीयके उदयसे शरीरसवधी और मनसवधी दो प्रकारके तीव्र दुख नरकादिक पृथिवियोंमें भोगता है ॥ १४—१५ ॥

दृष्टिमोहप्रकोपेन दृष्टि' साध्वी विलुप्यते ।
तद्विलोपान्निमज्जन्ति प्राणिन. श्वभ्रसागरे ॥ १६ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् चौथा मोहनीय कर्म है उसके दो मूल भेद हैं—एक दर्शनमोहनीय और दूसरा चारित्रमोहनीय इनमेसे दर्शनमोहनीय नामक कर्मके प्रकोपसे (उदयसे) जीवोंका सम्यग्दर्शन लोपा जाता है सम्यग्दर्शनके लोपसे जीव नरकरूपी समुद्रमें डूबता है, इस दर्शनमोहनीयकी मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व ऐसे तीन प्रकृतिय हैं ॥ १६ ॥

चारित्रमोहपाकेन नाङ्गिभिर्लभ्यते क्षणम् ।
भावशुद्ध्या स्वसात्कर्तुं चरणस्वान्तशुद्धिदम् ॥ १७ ॥

अर्थ—दूसरा चारित्रमोह कर्म है उसके उदयसे यह प्राणी मनकी शुद्धि देने वाले चारित्रको भावकी शुद्धतासे अगीकार करनेके लिये क्षणमात्र भी समर्थ नहीं होता ॥ १७ ॥

लब्ध्वापि यत्प्रमाद्यन्ति यत्स्खलन्त्यथ सयमात् ।
सोऽपि चारित्रमोहस्य विपाकः परिकीर्त्तित. ॥ १८ ॥

अर्थ—जो सयम (चारित्र)को ग्रहण करके भी जीव प्रमादरूप होता है अर्थात् सयमसे भ्रष्ट हो जाता है उसका कारण भी चारित्र मोहका उदय कहा है। **भावार्थ**—पहिले श्लोकमें तो चारित्रमोहके उदयसे सयमको ग्रहणही न कर सके ऐसा कहा है और यहा ऐसा कहा है कि कदाचित् चारित्रमोहके क्षयोपशमसे चारित्र (सयम) ग्रहण कर ले तो उसमें भी प्रमाद होता है अथवा तीव्र उदय होता है तो सयमसे भ्रष्ट भी हो जाता है। इस चारित्रमोहकी प्रकृति जो क्रोध मान माया लोभादिक २५ कषाय हैं, उनका वर्णन अन्यग्रथोंसे जानना ॥ १८ ॥

अब आयु कर्मके विपाकको कहते हैं,

उपजाति ।

सुरायुरारम्भककर्मपाकात्सभूय नाके प्रथितप्रभावैः ।
समर्प्यते देहिभिरायुरग्र्यं सुखामृतस्वादनलोलचित्तैः ॥ १९ ॥

अर्थ—पाचवाँ आयुकर्म है उसके ४ भेद हैं- देवायु मनुष्यायु तिर्यगायु ३ और नारकायु सो इनमेंसे देवायु उत्पन्न करनेवाले कर्मके उदयसे प्राणी स्वर्गमें उत्पन्न होकर, विख्यात है प्रभाव जिसका और सुखामृतके आस्वादनमें आसक्त है चित्त जिसका ऐसा देव हो, स्वर्गके सुख भोगता है ॥ १९ ॥

उपेन्द्रवज्रा ।

नरायुषः कर्मविपाकयोगान्नरत्वमासाद्य शरीरभाजः ।
सुखासुखाक्रान्तधियो नितान्तं नयन्ति कालं बहुभिः प्रपञ्चैः ॥२०॥

अर्थ—तथा प्राणी मनुष्यायु नामा कर्मके उदययोगसे मनुष्यत्वको पाकर कुछ सुख, कुछ दुःखसे व्याप्त है बुद्धि जिनकी ऐसे हो, नानाप्रकारके प्रपंचोंसे (कार्योंसे) काल यापन करते हैं ॥ २० ॥

चरस्थिरविकल्पासु तिर्यग्गतिषु जन्तुभिः ।
तिर्यगायुःप्रकोपेन दुःखमेवानुभूयते ॥ २१ ॥

अर्थ—तथा प्राणी तिर्यंच आयु के उदयसे त्रस स्थावर दो भेदरूप तिर्यग्गतियोंमें उत्पन्न होकर, केवल दुःख ही दुःख भोगते हैं ॥ २१ ॥

नारकायुःप्रकोपेन नरकेऽचिन्त्यवेदने ।
निपतन्त्यङ्गिनस्तूर्णं कृतार्त्तकरुणस्वनाः ॥ २२ ॥

अर्थ—तथा नारकायु कर्मके उदयसे प्राणी अचिन्त्यवेदनावाले नरकोंके बिलोंमें जिनके सुननेसे करुणा हो आवे ऐसे शब्द करते हुए उत्पन्न होते हैं और पांचप्रकारके दुःख भोगते हैं ॥ २२ ॥

नामकर्मोदयः साक्षाद्धत्ते चित्राण्यनेकधा ।
नामानि गतिजात्यादिविकल्पानीह देहिनाम् ॥ २३ ॥

अर्थ—तथा जीवोंको नामकर्मका उदय अनेकप्रकारके गति जाति आदि ९३ भेदवाले नामोंको साक्षात् धारण कराता है । नामकर्मकी ९३ प्रकृतियोंका नाम लक्षणादि विशेष भेद गोमटसार ग्रंथसे जानना ॥ २३ ॥

गोत्राख्यं जन्तुजातस्य कर्म दत्ते स्वकं फलम् ।
शस्ताशस्तेषु गोत्रेषु जन्म निष्पाद्य सर्वथा ॥ २४ ॥

अर्थ—तथा गोत्रनाम कर्म जीवोंके समूहको ऊंच नीच गोत्रमे उत्पन्न कराकर, सर्व प्रकारसे अपना फल देता है ॥ २४ ॥

निरुणद्धि स्वसामर्थ्याद्दानलाभादिपञ्चकम् ।
विघ्नसन्ततिविन्यासैर्विघ्नकृत्कर्म देहिनाम् ॥ २५ ॥

अर्थ—आठवा कर्म अन्तराय है सो विघ्न करनेवाला है। वह अपनी सामर्थ्यसे (उ[illegible]यसे) जीवोंके प्राप्त होनेवाले शक्ति दान लाभ भोग उपभोगोंमे विघ्नसन्ततिकी रच[illegible] करता है अर्थात् दानभोगादिकमे अन्तराय डालकर, उनको रोकता है ॥ २५ ॥

मन्दवीर्याणि जायन्ते कर्माण्यतिबलान्यपि ।
अपक्वपाचनायोगात्फलानीव वनस्पतेः ॥ २६ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त अष्ट कर्म अतिशय बलिष्ठ है तथापि जिसप्रकार वनस्पतिके फल बिन पके भी पवनके निमित्तसे (पाल आदिसे) पक जाते है उसी प्रकार इन कर्मोंकी स्थिति पूरी होनेसे पहिले भी तपश्चरणादिकसे मन्दवीर्य (अल्पफल देनेवाले) हो जाते हैं ॥ २६ ॥

उपेन्द्रवज्रा ।

अपक्वपाकः क्रियतेऽस्ततन्द्रैस्तपोभिरुग्रैर्वरशुद्धियुक्तैः ।
क्रमाद्गुणश्रेणिसमाश्रयेण सुसंवृतान्तःकरणैर्मुनीन्द्रैः ॥ २७ ॥

अर्थ—नष्ट हुआ है प्रमाद जिनका और सम्यक्प्रकारसे संवररूप हुआ है चित्त जिनका ऐसे मुनीन्द्र उत्कृष्ट विशुद्धतासहित तपोंसे अनुक्रमसे गुणश्रेणी निर्जराका आश्रय करके बिना पके कर्मोंको भी पकाकर स्थिति पूर्ण हुए बिना ही निर्जरा करते हैं ॥ २७ ॥

द्रव्यादुत्कृष्टसामग्रीमासाद्योग्रतपोबलात् ।
कर्माणि घातयन्त्युच्चैस्तुर्यध्यानेन योगिनः ॥ २८ ॥

अर्थ—योगीश्वर द्रव्यक्षेत्रकालभावकी उत्कृष्ट सामग्रीको प्राप्त होकर, तीव्र तपके बलसे इस विचार विचय नामा ध्यानके पश्चात् चौथे संस्थानविचय नामा ध्यानसे कर्मोंको अतिशयताके साथ नष्ट करते हैं ॥ २८ ॥

विलीनाशेषकर्माणं स्फुरन्तमतिनिर्मलम् ।
स्वं ततः पुरुषाकारं स्वाङ्गगर्भगतं स्मरेत् ॥ २९ ॥

अर्थ—उक्त विधानसे कर्मोंकी निर्जरासे विलय हुए हैं समस्त कर्म जिसके ऐसा स्फुरायमान निर्मल पुरुषाकारस्वरूप अपने अंगमें ही प्राप्त हुए आत्माको स्मरण करता है अर्थात् चिन्तवन (ध्यान) करता है ॥ २९ ॥

मालिनी ।

इति विविधविकल्पं कर्म चित्रस्वरूपम्
प्रतिसमयमुदीर्णं जन्मवर्त्मस्थभाजाम् ।
स्थिरचरविषयाणां भावयन्नस्ततन्द्रो
दहति दुरितकक्षं संयमी शान्तमोहः ॥ ३० ॥

अर्थ—पूर्वोक्तप्रकार अनेक हैं भेद (विकल्प) जिसमें ऐसे कर्मका स्वरूप संसारमें वसनेवाले प्राणी स्थावर जंगमोंके समय समयप्रति उदयरूप है उसको शान्तमोह संयमी मुनि प्रमादरहित होकर, विचारता हुआ पापरूपी वनको दग्ध करता है ॥ ३० ॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

इत्थं कर्मकटुप्रपाककलिताः संसारघोरार्णवे
जीवा दुर्गतिदुःखवाडवशिखासन्तानसंतापिताः ।
मृत्यूत्पत्तिमहोर्मिजालनिचिता मिथ्यात्ववातेरिताः
क्लिश्यन्ते तदिदं स्मरन्तु नियतं धन्याः स्वसिद्ध्यर्थिनः ॥३१॥

अर्थ—इसप्रकार भयानक संसाररूप समुद्रमें जो जीव हैं वे ज्ञानावरणादिक कर्मोंके कटुपाकसे (तीव्रोदयसे) संयुक्त हैं वे दुर्गतिके दुःखरूपी वडवानलकी ज्वालाके संतानसे संतापित हैं तथा मरण जन्मरूपी बडी लहरके समूहसे परिपूर्ण भरे हैं तथा मिथ्यात्वरूप पवनके प्रेरे हुये क्लेश भोगते हैं सो जो धन्य पुरुष हैं वे अपनी मुक्तिकी सिद्धिके लिये इस विपाकविचयध्यानको स्मरण करें (ध्यावें) ॥ ३१ ॥

इसप्रकार विपाकविचय ध्यानका वर्णन किया । इसका संक्षेप यह है कि ज्ञानावरणादिक कर्म जीवोंके अपने तथा परके निरन्तर उदयमें आते हैं सो यह विपाक है इसको चिन्तवन करनेसे परिणाम विशुद्ध हो जानेपर कर्मोंके नाश करनेका उपाय करै तब मुक्त होता है ॥

दोहा ।

दुख सुख आय आपके, कर्मविपाक विचार ।
है नीको यह ध्यानभवि करो दुःखहरतार ॥ ३५ ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे विपाकविचय वर्णनं नाम पञ्चत्रिंशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ३५ ॥

अथ षट्त्रिंश प्रकरणम्।

आगे संस्थानविचय नामक धर्म्यध्यानके चौथे भेदका वर्णन करते हैं इस ध्यानमें लोकका स्वरूप विचारा जाता है, इसकारण लोकका वर्णन किया जाता है,—

अनन्तानन्तमाकाशं सर्वतः स्वप्रतिष्ठितम्।
तन्मध्येऽयं स्थितो लोकः श्रीमत्सर्वज्ञवर्णितः॥ १॥

अर्थ—प्रथम तो सबतरफ (चारों ओर) अनन्तानन्त प्रदेशरूप आकाश है सो वह स्वप्रतिष्ठित है अर्थात् आपही अपने आधारपर है, क्योंकि उससे बड़ा अन्य कोई द्रव्य नहीं है जो उसका आधार हो। उस आकाशके मध्य (बीच) में यह लोक स्थित है, जो श्रीमत्सर्वज्ञ देवने वर्णन किया है इसकारण प्रमाणभूत है क्योंकि, असत्य कल्पना करके अन्य किसीने नहीं कहा सर्वज्ञ भगवानने प्रत्यक्ष देखकर, जैसा है वैसा ही वर्णन किया है॥ १॥

स्थित्युत्पत्तिव्ययोपेतैः पदार्थैश्चेतनेतरैः।
सम्पूर्णोऽनादिसंसिद्धः कर्तृव्यापारवर्जितः॥ २॥

अर्थ—यह लोक ध्रौव्य, उत्पाद और व्यय (क्षय) करके संयुक्त चेतन अचेतन पदार्थोंसे सम्पूर्णतया भरा हुआ है, और अनादिसंसिद्ध है कर्ताके व्यापारसे वर्जित है अर्थात् कोई अन्यमती इस लोकका कर्त्ता हर्त्ता ईश्वर आदिको कहते हैं तथा कच्छप वा शेष नागके ऊपर स्थित है इत्यादि बुद्धिकल्पित असत्यार्थ कल्पना करके कहते हैं सो वैसा नहीं है सर्वज्ञने जैसा कहा है वैसाही सत्य है॥ २॥

ऊर्ध्वाधोमध्यभागैर्यो बिभर्ति भुवनत्रयम्।
अतः स एव सूत्रज्ञैस्त्रैलोक्याधार इष्यते॥ ३॥

अर्थ—तथा यह लोक ऊर्ध्व, मध्य, अधोभागसे तीन भुवनोंको धारण करता है इसकारण सूत्रके जाननेवाले तीन लोकका (तीन जगत्का) आधार इस लोकको कहते हैं॥ ३॥

उपर्युपरि संक्रान्तैः सर्वतोऽपि निरन्तरैः।
त्रिभिर्वायुभिराकीर्णो महावेगैर्महाबलैः॥ ४॥

अर्थ—तथा यह लोक उपरि उपरि (एकके उपरि एक) सब तरफसे अन्तररहित महावेगवान् महाबलवाले तीन पवनोंसे वेष्टित हुआ है॥ ४॥

घनाब्धिः प्रथमस्तेषां ततोऽन्यो घनमारुतः।
तनुवातस्तृतीयोऽन्ते विज्ञेया वायवः क्रमात्॥ ५॥

अर्थ—उन तीन पवनोंमेसे प्रथम तो यह लोक घनोदधि नाम पवनसे बेढा हुआ है, उसके ऊपर घनवात नामका पवन बेढा हुआ है और उसके ऊपर अन्तमें तनुवात नामका पवन है इस प्रकार तीन पवनोंसे बेढा हुआ है, इसी कारण इधर उधर हट नहीं सकता किन्तु आकाशके मध्यभागमें स्थित है ॥ ५ ॥

उद्धृत्य सकलं लोकं स्वशक्त्यैव व्यवस्थिताः ।
पर्यन्तरहिते व्योम्नि मरुतः प्रांशुविग्रहाः ॥ ६ ॥

अर्थ—और ये तीनों पवन तीन लोकोंको धारण करके अपनी शक्तिसे ही इस अंत रहित आकाशमें अपने शरीरको विस्तृत किये हुए स्थित हैं ॥ ६ ॥

घनाब्धिवलये लोकः सेचनान्ते व्यवस्थितः ।
तनुवातान्तरे सोऽपि सचाकाशे स्थितः स्वयम् ॥ ७ ॥

अर्थ—यह लोक तो घनोदधि नामके वातवलयमें स्थित है और घनोदधि वातवलय घनवात वलयके मध्यमें है अर्थात् घनोदधि वातवलयके चारों ओर घनवातवलय घिरा हुआ है और घनवातवलयके चारों तरफ तनुवातवलय घिरा हुआ है और तनुवातवलय आकाशमें स्वयमेव स्थित है इसमें किसीका कोई कर्तव्य नहीं है अनादिकालसे इसी प्रकारकी व्यवस्था है ॥ ७ ॥

अधो वेत्रासनाकारो मध्ये स्याज्झल्लरीनिभः ।
मृदङ्गाभस्ततोऽप्यूर्ध्वं स त्रिधेति व्यवस्थितः ॥ ८ ॥

अर्थ—यह लोक नीचेसे तो वेत्रासन (मोढे) के आकार है अर्थात् नीचेसे चौड़ा है फिर घटता २ मध्यलोक पर्यन्त सँकड़ा है फिर मध्यलोक झल्लरीके आकार है और उसके ऊपर ऊर्ध्वलोक मृदङ्गके आकार है अर्थात् बीचमें कुछ चौड़ा और दोनों तरफ सँकड़ा है ऐसे तीन प्रकारके लोककी व्यवस्था है ॥ ८ ॥

अस्य प्रमाणमुन्नत्या सप्तसप्त च रज्जवः ।
सप्तैका पञ्च चैका च मूलमध्यान्तविस्तरे ॥ ९ ॥

अर्थ—इस लोककी ऊँचाई तो सातसात राजू है अर्थात् नीचेसे लगाकर मध्य लोकपर्यन्त सात राजू है और उससे ऊपर सात राजू है इसप्रकार चौदह राजू ऊंचा है और मूलमें चौड़ा सात राजू है सो घटता घटता मध्यलोकमें एक राजू चौड़ा है और उसके ऊपर बीचमें पांच राजू चौड़ा है और अन्तमें और आदिमें मध्यलोकसे लेकर एक एक राजू चौड़ा है ॥ ९ ॥

---

१ 'मृदङ्गसदृशाकारो' इत्यपि पाठः

४५

अब अधोलोकमें जो नारकियोंकी निवासभूमि है उनका वर्णन करते हैं—

तत्राधोभागमासाद्य संस्थिताः सप्तभूमयः ।
यासु नारकषण्डानां निवासाः सन्ति भीषणाः ॥ १० ॥

अर्थ—इस लोकके अधोभागमें सात पृथिवी हैं, जिनमें नारकी नपुंसक जीवोंके बड़े भयकारी निवासस्थान हैं ॥ १० ॥

काश्चिद्वज्रानलप्रख्याः काश्चिच्छीतोष्णसंकुलाः ।
तुषारबहुलाः काश्चिद्भूमयोऽत्यन्तभीतिदाः ॥ ११ ॥

अर्थ—उन सात नरककी पृथिवियोंमें कई तो वज्राग्निके समान उष्ण हैं, कई शीत उष्णतासे व्याप्त हैं और कई अत्यन्त हिमवाली हैं इसप्रकार अतिशय भयकारी हैं ॥ ११ ॥

उदीर्णानलदीप्तासु निसर्गोष्णासु भूमिषु ।
मेरुमात्रोऽप्ययःपिण्डः क्षिप्तः सद्यो विलीयते ॥ १२ ॥

अर्थ—उदयरूप है अग्नि जिनमें ऐसे स्वाभाविक उष्णरूप भूमियोंमें यदि मेरुपर्वतके समान लोहेका पिंड डाला जाय तो तत्काल गलकर भस्म हो जाय ऐसी उन भूमियोंमें उष्णता है ॥ १२ ॥

शीतभूमिष्वपि प्राप्तो मेरुमात्रोऽपि शीर्यते ।
शतधासावयःपिण्डः प्राप्य भूमिं क्षणान्तरे ॥ १३ ॥

अर्थ—जिसप्रकार उष्णभूमियोंमें मेरु समान लोहेका पिंड गल जाता है उसी प्रकार शीतप्रधान भूमियोंमें भी मेरुके समान लोहेका पिंड डाला जाय तो शीतके कारण क्षणमात्रमें खंड २ होकर बिखर जायगा ॥ १३ ॥

हिंसास्तेयानृताब्रह्मबह्वारम्भादिपातकैः ।
विशन्ति नरकं घोरं प्राणिनोऽत्यन्तनिर्दयाः ॥ १४ ॥

अर्थ—उन घोर नरकोंमें हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील (अब्रह्मचर्य) और बहुत आरम्भ परिग्रहादिपापोंके करनेसे ही अत्यन्त निर्दयी जीव प्रवेश करते हैं। **भावार्थ**—हिंसादि पांच पाप अथवा सात व्यसनोंके सेवी जीव ही इन घोर नरकोंमें जाकर दुःख भोगते हैं ॥ १४ ॥

मिथ्यात्वाविरतिक्रोधरौद्रध्यानपरायणाः ।
पतन्ति जन्मिनः श्वभ्रे कृष्णलेश्यावशं गताः ॥ १५ ॥

अर्थ—तथा मिथ्यात्व, अविरति, क्रोध, रौद्रध्यानमें तत्पर तथा कृष्ण लेश्याके वश हुए प्राणी नरकमें पड़ते हैं ॥ १५ ॥

असिपत्रवनाकीर्णे शस्त्रशूलासिसंकुले।
नरकेऽत्यन्तदुर्गन्धे वसासृक्कृमिकर्दमे ॥ १६ ॥
शिवाश्वव्याघ्रकङ्काढ्ये मांसाशिविहगान्विते।
वज्रकण्टकसंकीर्णे शूलशाल्मलिदुर्गमे ॥ १७ ॥
संभूय कोष्ठिकामध्ये ऊर्ध्वपादा अधोमुखाः।
ततः पतन्ति साक्रन्दं वज्रज्वलनभूतले ॥ १८ ॥

अर्थ—नरक कैसे हैं, कि असिपत्र (तरवार) सरीखे हैं पत्र जिनके ऐसे वृक्षोंसे तथा शूल तलवार आदि शस्त्रोंसे व्याप्त हैं, अत्यन्त दुर्गन्धयुक्त हैं, वसा (अपक्वमांस), रुधिर और कीटोंसे भरा हुआ कर्दम है जिनमें ऐसे हैं, तथा सियाल, श्वान, व्याघ्रादिकसे तथा मांसभक्षी पक्षियोंसे भरे हुए हैं तथा वज्रमय कांटोंसे और शूलशूली आदिसे दुर्गम हैं अर्थात् जिनमें गमन करना दुःखदायक हैं, ऐसे नरकोंमें बिलोंके संपुटमें उत्पन्न होकर वे नारकी जीव ऊंचे पांव और नीचे मुख चिल्लाते हुए उन संपुटोंसे (उत्पत्ति स्थानोंसे) वज्राग्निमय पृथिवीमें गिरते हैं ॥ १६-१७-१८ ॥

अथ कण्टककीर्णासु द्रुतलोहाग्निवीथिषु।
छिन्नभिन्नविदीर्णाङ्गा उत्पतन्ति पतन्ति च ॥ १९ ॥

अर्थ—उस नरकभूमिमें वे नारकी जीव छिन्नभिन्न खंड खंड होकर बिखरे हुए अंगसे पड़कर बारंबार उछल२ के गिरते हैं सो कैसी भूमिमें गिरते हैं कि जहांपर लोहेके कांटे बिखरे हुए हैं और जिनमें लोहा गल जाता है ॥ १९ ॥

दुःसहा निष्प्रतीकारा ये रोगाः सन्ति केचन।
साकल्येनैव गात्रेषु नारकाणां भवन्ति ते ॥ २० ॥

अर्थ—जो रोग असह्य है, जिनका कोई उपाय (चिकित्सा) नहीं है ऐसे समस्त प्रकारके रोग नरकोंमें रहनेवाले नारकी जीवोंके शरीरमें रोमरोमप्रति होते हैं ॥ २० ॥

अदृष्टपूर्वमालोक्य तस्य रौद्रं भयास्पदम्।
दिशः सर्वाः समीक्षन्ते वराकाः शरणार्थिनः ॥ २१ ॥

अर्थ—फिर वे नारकी जीव उस नरकभूमिको अपूर्व और रौद्र (भयानक) देखकर किसीकी शरण लेनेकी इच्छासे चारों तरफ देखते हैं, परन्तु वहीं कोई सुखका कारण नहीं दीखता और न कोई शरणही प्रतीत होता है ॥ २१ ॥

न तत्र सुजनः कोऽपि न मित्रं न च बान्धवाः।
सर्वे ते निर्दयाः पापाः क्रूरा भीमोग्रविग्रहाः ॥ २२ ॥

अर्थ—उस नरकभूमिमें कोई सुजन वा मित्र वा बांधव नहीं है सभी निर्दय, पापी, क्रूर और भयानक प्रचण्ड शरीरवाले हैं ॥ २२ ॥

सर्वे च हुण्डसंस्थानाः स्फुलिङ्गसदृशेक्षणाः ।
विवर्द्धिताशुभध्याना प्रचण्डाश्चण्डशासना ॥ २३ ॥

अर्थ – वे सभी नारकी जीव हुंडक संस्थानवाले हैं अर्थात् जिनके शरीरका [illegible] अति भयानक, बेडोल है और अग्निके स्फुलिंगके समान जिनके नेत्र हैं, [illegible] प्रचंड, आर्त, रौद्रध्यानको बढाये हुए हैं तथा क्रोधी हैं और जिनका शासन भी प्रचंड है ॥ २३ ॥

तत्राक्रन्दरवैः सार्द्धं श्रूयन्ते कर्कशाः स्वनाः ।
दृश्यन्ते गृध्रगोमायुसर्पशार्दूलमण्डलाः ॥ २४ ॥

अर्थ—उस नरकभूमिमें चारों ओरसे पुकारनेके शब्द बडे कर्कश सुने जाते हैं [illegible] [illegible] सियाल, सर्प, सिंह, कुत्ते, ये सब जीव बडे भयानक दीखते हैं ॥ २४ ॥

घ्रायन्ते पूतयो गन्धाः स्पृश्यन्ते वज्रकण्टकाः ।
जलानि पूतिगन्धीनि नखोऽऽक्रमांसकर्दमाः ॥ २५ ॥

अर्थ—उस नरकभूमिमें दुर्गंध सूंघनी पडती है और वज्रमय कांटोंका स्पर्श [illegible] है और जल [illegible] दुर्गंधमय हैं और रुधिरमांसका है कादा जिसमें ऐसी नदियें हैं ॥ २५ ॥

निरूपयन्ति तदालोक्य रौद्रमत्यन्तशङ्किताः ।
केयं भूमि वयं चानीताः के वयं केन कर्मणा ॥ २६ ॥

अर्थ—उस स्थानको रौद्र (भयानक) देखकर वे नारकी गण (जो वहां उत्पन्न हुए हैं) [illegible] होकर विचारते हैं कि यह भूमि कौनसी है और हम कौन हैं, [illegible] [illegible] यहां लाकर पटका है ॥ २६ ॥

ततो विदन्ति विज्ञानं पतिताः श्वभ्रसागरे ।
कर्मणात्यन्तरौद्रेण हिंसाद्यारम्भजन्मना ॥ २७ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् विभंगावधि (कुअवधिज्ञान) से जानते हैं कि हिंसादिक [illegible] [illegible] हुए अत्यन्त रौद्र (घोर) कर्मसे हम नरकरूपी समुद्रमें पडे हैं ॥ २७ ॥

ततः प्रादुर्भवत्युच्चैः पश्चात्तापोऽतिदुःसहः ।
दहन्नविरतं मर्म वज्राग्निरिव निर्दयः ॥ २८ ॥

अर्थ—[illegible]

[illegible] ।
[illegible] ॥ २९ ॥

विषयाशामपाकृत्य विध्याप्य मदनानलम् ।
अप्रमत्तैस्तपश्चीर्णं धन्यैर्जन्मार्तिशान्तये ॥ ३० ॥
उपसर्गाग्निपातेऽपि धैर्यमालम्ब्य चोन्नतम् ।
तैः कृतं तदनुष्ठानं येन सिद्धं समीहितम् ॥ ३१ ॥
प्रमादमदमुत्सृज्य भावशुद्ध्या मनीषिभिः ।
केनाप्यचिन्त्यवृत्तेन स्वर्गो मोक्षश्च साधितः ॥ ३२ ॥
शिवाभ्युदयदं मार्गं दिशन्तोऽप्यतिवत्सलाः ।
मयावधीरिताः सन्तो निर्भर्त्स्य कटुकाक्षरैः ॥ ३३ ॥

अर्थ—जितनेक बडे पुरुषोंने मनुष्यत्व पाकर वैराग्यसहित हो मोक्षके लिये पूजनीय पवित्राचरण किया ॥ २९ ॥ और उन महाभाग्य मुनियोंने विषयोंकी आशाको दूर करके कामरूप अग्निको बुझाकर निष्प्रमादी हो, संसारपीडाकी शान्तिके लिये तपका संचय किया ॥ ३० ॥ तत्पश्चात् उन उत्तमपुरुषोंने उपसर्गरूपी अग्निके आनेपर बडे धैर्यका आलंबन कर, वह आचरण किया कि जिससे वांछित कार्य सिद्ध हुआ ॥ ३१ ॥ तथा उन बुद्धिमान् पुरुषोंने प्रमाद और मदको छोडकर भावकी शुद्धतासे किसी अचिन्त्य आचरणसे स्वर्ग तथा मोक्ष साधा ॥ ३२ ॥ उन सत्पुरुषोंने वात्सल्य भावसे युक्त हो, मुझे मोक्ष और स्वर्ग आदिके मार्गका उपदेश किया, परन्तु मैंने बडे कटु अक्षरोंसे उनका तिरस्कार करके निंदा की, उनका उपदेश अंगीकार नहीं किया, इत्यादि पश्चात्ताप करते हैं ॥ ३३ ॥

तस्मिन्नपि मनुष्यत्वे परलोकैकशुद्धिदे ।
मया तत्संचितं कर्म यज्जातं श्वभ्रशम्बलम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—फिर भी नारकी पश्चात्ताप करता है कि परलोककी अद्वितीय शुद्धता देनेवाले उस मनुष्यजन्ममें भी मैंने वह कर्म संचय किया कि जिससे नरकका शम्बल (पाथेय-राहखर्च) हुआ अर्थात् उस कर्मसे सहजमें ही नरकमें आ पटका ॥ ३४ ॥

अविद्याक्रान्तचित्तेन विषयान्धीकृतात्मना ।
चरस्थिराङ्गिसंघातो निर्दोषोऽपि हतो मया ॥ ३५ ॥

अर्थ—फिर नारकी विचारता है कि अविद्यासे आक्रान्त है चित्त जिसका तथा विषयोंसे अन्धा होकर, मैंने निर्दोष त्रस स्थावरोंके समूहको मारा ॥ ३५ ॥

परवित्तामिषासक्तः परस्त्रीसंगलालसः ।
पञ्चव्यसनविध्वस्तो रौद्रध्यानपरायणः ॥ ३६ ॥
यत्स्थितः प्राक् चिरं कालं तस्यैतत्फलमागतम् ।
अनन्तयातनासारे दुरन्ते नरकार्णवे ॥ ३७ ॥

सर्वे च हुण्डसंस्थाना स्फुलिङ्गसदृशेक्षणाः।
विवर्द्धिताशुभध्याना प्रचण्डाश्चण्डशासना ॥ २३ ॥

अर्थ—वे सभी नारकी जीव हुडक संस्थानवाले हैं अर्थात् जिनके शरीरका प्रत्येक अंग अति भयानक, बेडौल है और अग्निके स्फुलिंगके समान जिनके नेत्र हैं, तथा प्रचण्ड, आर्त्त, रौद्रध्यानको बढाये हुए हैं तथा क्रोधी हैं और जिनका शासन भी प्रचण्ड है ॥ २३ ॥

तत्राक्रन्दरवैः सार्द्धं श्रूयन्ते कर्कशाः स्वनाः।
दृश्यन्ते गृध्रगोमायुसर्पशार्दूलमण्डलाः ॥ २४ ॥

अर्थ—उस नरकभूमिमें चारों ओरसे पुकारनेके शब्द बडे कर्कश सुने जाते हैं तथा गृध्रपक्षी, सियाल, सर्प, सिंह, कुत्ते, ये सब जीव बडे भयानक दीखते हैं ॥ २४ ॥

घ्रायन्ते पूतयो गन्धाः स्पर्श्यन्ते वज्रकण्टकाः।
जलानि पूतिगन्धीनि नद्योऽसृग्मांसकर्दमाः ॥ २५ ॥

अर्थ—जिस नरकभूमिमें दुर्गंध सूंघनी पडती है और वज्रमय कांटोंसे छिदना पडता है और जल जहां दुर्गंधमय हैं और रुधिरमांसका है कादा जिनमें ऐसी नदियें हैं ॥२५॥

चिन्तयन्ति तदालोक्य रौद्रमत्यन्तशङ्किताः।
केयं भूमिः क चानीताः के वयं केन कर्मणा ॥ २६ ॥

अर्थ—उस स्थानको रौद्र (भयानक) देखकर वे नारकी गण (जो नवीन उत्पन्न हुए हैं) अत्यन्त शंकित होकर विचारते हैं कि यह भूमि कौनसी है और हम कौन हैं, कौनसे भयानक कर्मोंने हमें यहां लाकर पटका है ॥ २६ ॥

ततो विदुर्विभङ्गात्ते पतितं श्वभ्रसागरे।
कर्मणात्यन्तरौद्रेण हिंसाद्यारम्भजन्मना ॥ २७ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् विभङ्गावधिसे (कुअवधिज्ञानसे) जानते हैं कि हिंसादिक आरंभोंसे उत्पन्न हुए अत्यन्त रौद्र (खोटे) कर्मसे हम नरकरूपी समुद्रमें पडे हैं ॥ २७ ॥

ततः प्रादुर्भवत्युच्चैः पश्चात्तापोऽति दुःसहः।
दहन्नविरतं चेतो वज्राग्निरिव निर्दयः ॥ २८ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् नारकी जीवोंके दुःसह पश्चात्ताप अतिशय करके प्रगट होता है वह दुःसह पश्चात्ताप वज्राग्निके समान निर्दय हो, चित्तको दहन करता हुआ प्रगट होता है ॥ २८ ॥

मनुष्यत्वं समासाद्य मया कैश्चिन्महात्मभिः।
अपवर्गाय यच्चीर्णं कर्म पूर्वमनुष्ठितम् ॥ २९ ॥

विषयग्राममपाकृत्य विध्याप्य मदनानलम् ।
शमसंतानपर्णीणं यत्तैर्जन्मार्तिशान्तये ॥ ३० ॥
उपसर्गाग्निपातेऽपि धैर्यमालम्ब्य चोत्तमम् ।
तैः कृतं तदनुष्ठानं येन सिद्धं समीहितम् ॥ ३१ ॥
प्रमादमदमुत्सृज्य भावशुद्ध्या मनीषिभिः ।
येनाप्यचिन्त्यवृत्तेन स्वर्गो मोक्षश्च साधितः ॥ ३२ ॥
शिवाभ्युदयदं मार्गं दिशन्तोऽप्यतिवत्सलाः ।
मयावधीरिताः सन्तो निर्भर्त्स्य कटुकाक्षरैः ॥ ३३ ॥

अर्थ—कितने ही पुरुषोंने मनुष्यत्व पाकर वैराग्यसहित हो मोक्षके लिये पूजनीय तपश्चरण किया ॥ २९ ॥ और उन महाभाग मुनियोंने विषयोंकी आशाको दूर करके कामरूप अग्निको बुझाकर निष्प्रमादी हो, संसारपीडाकी शान्तिके लिये तपका संचय किया ॥ ३० ॥ तत्पश्चात् उन उत्तमपुरुषोंने उपसर्गरूपी अग्निके आनेपर बडे धैर्यका आलंबन कर वह आचरण किया कि जिससे वांछित कार्य सिद्ध हुआ ॥ ३१ ॥ तथा उन बुद्धिमान् पुरुषोंने प्रमाद और मदको छोडकर भावकी शुद्धतासे किसी अचिन्त्य आचरणसे स्वर्ग तथा मोक्ष साधा ॥ ३२ ॥ उन सत्पुरुषोंने वात्सल्य भावसे युक्त हो, मुझे मोक्ष और स्वर्ग आदिके मार्गका उपदेश किया, परन्तु मैंने बडे कटु अक्षरोंसे उनका तिरस्कार करके निंदा की, उनका उपदेश अंगीकार नहीं किया, इत्यादि पश्चात्ताप करते हैं ॥ ३३ ॥

तस्मिन्नपि मनुष्यत्वे परलोकैकशुद्धिदे ।
मया तत्संचितं कर्म यज्जातं श्वभ्रशम्बलम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—फिर भी नारकी पश्चात्ताप करता है कि परलोककी अद्वितीय शुद्धता देनेवाले उस मनुष्यभवमें भी मैंने वह कर्म संचय किया कि जिससे नरकका संबल (पाथेय-राहखर्च) हुआ अर्थात् उस कर्मने सहजमें ही नरकमें ला पटका ॥ ३४ ॥

अविद्याक्रान्तचित्तेन विषयान्धीकृतात्मना ।
चरस्थिराङ्गिसंघातो निर्दोषोऽपि हतो मया ॥ ३५ ॥

अर्थ—फिर नारकी विचारता है कि अविद्यासे आक्रान्त है चित्त जिसका तथा विषयोंसे अंधा होकर, मैंने निर्दोष त्रस स्थावरोंके समूहको मारा ॥ ३५ ॥

परवित्तामिषासक्तः परस्त्रीसंगलालसः ।
सप्तव्यसनविध्वस्तो रौद्रध्यानपरायणः ॥ ३६ ॥
यत्स्थितः प्राक् चिरं कालं तस्यैतत्फलमागतम् ।
अनन्तयातनागारे दुरन्ते नरकार्णवे ॥ ३७ ॥

अर्थ—नारकी फिर पश्चात्ताप करता है कि मैं परके धनमें और मानमें अथवा धनरूपी मांसमें आसक्त होकर, परस्त्रीसंगम करनेमें लुब्ध हुआ तथा बहुत प्रकारके ध्यानोंसे पीडित होकर, रौद्रध्यानी हुआ ॥ ३६ ॥ पूर्वजन्ममें मैं इसप्रकार रहा, इसका उसका यह अनन्त पीडासे अपार अपार नरकरूपी समुद्र फल आया है ॥ ३७ ॥

यन्मया वञ्चितो लोको वराको मूढमानसः ।
उपायैर्बहुभिः पापैः स्वाक्षसन्तर्पणार्थिना ॥ ३८ ॥
कृतः पराभवो येषां धनभूस्त्रीकृते मया ।
घातश्च तेऽत्र संप्राप्ताः कर्तुं तस्याद्य निष्क्रियाम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—फिर विचारता है कि मैंने भोले रंक जनोंको अति अन्यायरूप उपायोंसे इन्द्रियोंको पोषनेके लिये ठगा ॥ ३८ ॥ तथा परका धन, परकी भूमि वा स्त्रीके लिये जिनका अपमान किया तथा घात किया वे लोग यहां नरकभूमिमें उसका दंड देनेके लिये आकर प्राप्त हुए हैं ॥ ३९ ॥

ये तदा शशकप्राया मया बलवता हताः ।
तेऽद्य जाता मृगेन्द्राभा मां हन्तुं विविधैर्वधैः ॥ ४० ॥

अर्थ—उस मनुष्यभवमें जब मैं था तब तो वे शशक (खरगोश) के समान थे और मैं बलवान् था सो मैंने मारा किन्तु वे आज यहां पर सिंहके समान होकर, अनेक प्रकारके घातोंसे मुझे मारनेके लिये उद्यत हैं ॥ ४० ॥

मानुष्येऽपि स्वतन्त्रेण यत्कृतं नात्मनो हितम् ।
तदद्य किं करिष्यामि दैवपौरुषवर्जितः ॥ ४१ ॥

अर्थ—फिर विचारता है कि जब मनुष्यभवमें मैं स्वाधीन था, तबहीं मैंने अपना हित साधन नहीं किया तो अब यहां दैव और पौरुष दोनोंसे रहित होकर, क्या कर सकता हूं ? यहां कुछ भी हितसाधन नहिं हो सकता ॥ ४१ ॥

मदान्धेनापि पापेन निस्त्रिंशेनास्तबुद्धिना ।
विराध्याराध्यसन्तानं कृतं कर्मातिनिन्दितम् ॥ ४२ ॥

अर्थ—फिर विचारता है कि मदसे अन्धे, पापी, निर्दय, नष्टबुद्धि मैंने आराधने योग्य जो भले मार्गमें प्रवर्त्तनेवाले उन पूज्य पुरुषोंके सन्तानको विराधकर, निंदनीय कर्म किया ॥ ४२ ॥

यत्पुरग्रामविन्ध्येषु मया क्षिप्तो हुताशनः ।
जलस्थलबिलाकाशचारिणो जन्तवो हताः ॥ ४३ ॥
कृन्तन्ति मम मर्माणि स्मर्यमाणान्यनारतम् ।
प्राचीनान्यद्य कर्माणि क्रकचानीव निर्दयम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—फिर विचारता है कि मैंने पूर्वजन्ममें पुर, ग्राम ग्रामोंमें अग्नि डालकर दाह लगाई और जलचर थलचर, आकाशचर तथा बिलोंमें रहनेवाले अनेक जीवोंको मारा ये पूर्व पातकमें इस समय स्मरण आनेसे निरन्तर मेरे मर्मस्थानोंको दयारहित कीलोंके समान भेदते हैं ॥ ४१-४४ ॥

किं करोमि क्व गच्छामि कर्मजाले पुरः स्थिते।
शरणं कं प्रपद्यामि वराको दैववञ्चितः ॥ ४५ ॥

अर्थ—फिर विचारता है कि ऐसे नरकोंके दुःखमें भी कर्मोंका समूह मेरे सामने है उदय होते हुए मैं क्या करूं? कहां जाऊं? किसकी शरण ग्रहूं? मैं रंक दैवसे ठगा हुआ हूं मुझे कुछ भी सुलभ उपाय नहीं दीखता ॥ ४५ ॥

यन्निमेषमपि स्मर्तुं द्रष्टुं श्रोतुं न शक्यते।
तद्दुःखमत्र सोढव्यं वर्द्धमानं कथं मया ॥ ४६ ॥

अर्थ—फिर विचारता है कि एक निमेषमात्र भी जिसके स्मरण करने वा सुननेकी समर्थता नहीं, प्रतिक्षण बढ़ता हुआ वह दुःख मैं कैसे सहूंगा? ॥ ४६ ॥

एतान्यदृष्टपूर्वाणि बिलानि च कुलानि च।
यातनाश्च महाघोरा नारकाणां मयेक्षिताः ॥ ४७ ॥

अर्थ—फिर विचारता है कि—ये नरकोंके बिल तथा नारकियोंके कुल (समूह) तथा नारकियोंकी महाघोर वेदनायें सहना आदि सब मैंने अदृष्ट पूर्व देखा अर्थात् अन्यत्र नहीं देखा ऐसा यहीं पर देखा ॥ ४७ ॥

विषज्वलनसंकीर्णं वर्द्धमानं प्रतिक्षणम्।
मम मूर्ध्नि विनिक्षिप्तं दुःखं दैवेन निर्दयम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—फिर विचारता है कि विष तथा अग्निसे व्याप्त क्षण क्षणमें बढ़नेवाले ये सब दुःख दैव (कर्म) ने दयारहित होकर, मेरे ही माथेपर डाले हैं ॥ ४८ ॥

न दृश्यन्तेऽत्र ते भृत्या न पुत्रा न च बान्धवाः।
येषां कृते मया कर्म कृतं स्वस्यैव घातकम् ॥ ४९ ॥
न कलत्राणि मित्राणि न पापप्रेरको जनः।
पदमप्येकमायातो मया सार्द्धं गतत्रपः ॥ ५० ॥

अर्थ—फिर ऐसा विचारता है कि जिनके लिये मैंने अपने घातक पापकर्म पूर्व जन्ममें किये इस समय न तो वे चाकर, न पुत्र, कलत्र, मित्र, व न पापमें प्रेरणा करनेवाले बांधव कोई देखनेमें आते हैं, वे ऐसे निर्लज्ज हो गये कि एक पैंड भी मेरे साथ नहीं आये ॥ ४९-५० ॥

[illegible] मया [illegible] पश्चिम [illegible] ।
[illegible] पुनर्गन्ति [illegible] मे [illegible] मया ॥ ५१ ॥

[illegible] है कि [illegible] तो [illegible] है [illegible] हो जाता है तब [illegible] कोई [illegible] नहीं आता ॥ ५१ ॥

[illegible] कर्माणि [illegible] ।
[illegible] ॥ ५२ ॥

[illegible] है कि जो [illegible] करते हो कि [illegible] है [illegible] जाते हैं [illegible] कोई [illegible] नहीं [illegible] ॥ ५२ ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥ ५३ ॥

[illegible] है कि [illegible] ॥ ५३ ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥ ५४ ॥

[illegible] ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥ ५५ ॥

[illegible]

[illegible] ।
[illegible] ॥ ५६ ॥

[illegible]

[illegible] ।
[illegible] ॥ ५७ ॥

अर्थ—फिर विचारता है कि यह धर्मरूप बंधु (हितू) ऐसा है कि साथ जाता है और जहां जाता है वहीं रक्षा करता है और यह मित्र नियमसे हित ही करता है, दुःखका नाश करके सुख देता है ऐसे धर्मरूपी मित्रको मैंने पोषा ही नहीं और जिनको मित्र समझके पोषा उनमेंसे कोई एक भी साथ नहीं आया ॥ ५७ ॥

परिग्रहमहाग्राहग्रस्तेनार्तेनचेतसा ।
न दृष्टा यमशार्दूलचपेटा जीवनाशिनी ॥ ५८ ॥

अर्थ—फिर विचारता है कि परिग्रहरूपी महाग्राहसे पकडे हुए पीडितचित्त होकर मैंने जीवको नाश करनेवाली यमरूपी शार्दूलकी चपेट नहीं देखी अर्थात् परिग्रहमें आसक्त होकर, निरंतर पाप ही करता रहा ॥ ५८ ॥

पातयित्वा महाघोरे मां श्वभ्रेऽचिन्त्यवेदने ।
क गतास्तेऽधुना पापा मद्वित्तफलभोगिनः ॥ ५९ ॥

अर्थ—फिर विचारता है कि जो कुटुंबादिक मेरे उपार्जन किये हुए धनके फल भोगनेवाले थे वे पापी मुझे अचिन्त्य वेदनामय इस घोर नरकमें डालकर अब कहां चले गये? यहां दुःखमें कोई साथी न हुआ ॥ ५९ ॥

इत्यजस्रं सुदुःखार्त्ता विलापमुखराननाः ।
शोचन्ते पापकर्माणि वसन्ति नरकालये ॥ ६० ॥

अर्थ—इस पूर्वोक्त प्रकारसे नारकी जीव निरन्तर महादुःखसे पीडित हुए, मुखसे पुकारते हुए, विलाप करते हुए अपने पापकार्योंको स्मरण करकरके, शोच करते हैं और नरकमंदिरमें वसते हैं ॥ ६० ॥

इति चिन्तानलेनोच्चैर्दह्यमानस्य ते तदा ।
धावन्ति शरशूलासिकराः क्रोधाग्निदीपिताः ॥ ६१ ॥
वैरं पराभवं पापं स्मारयित्वा पुरातनम् ।
निर्भर्त्स्य कटुकालापैः पीडयन्त्यतिनिर्दयम् ॥ ६२ ॥

अर्थ—इस पूर्वोक्तप्रकारकी चिन्तारूप अग्निसे अतिशय जलते हुए नारकीके ऊपर उसी समय अन्य पुराने नारकी बाण, शूल, तलवार लिये हुए, क्रोधरूपी अग्निसे जलते हुए दौडते हैं और पूर्वके पाप तथा वैरको याद कराते हुए कटु वचनोंसे तिरस्कार करके, उसे अतिनिर्दयतासे जिसप्रकार बनता दुःख देते हैं ॥ ६१-६२ ॥

उत्पाटयन्ति नेत्राणि चूर्णयन्त्यस्थिसंचयम् ।
दारयन्त्युदरं क्रुद्धास्त्रोटयन्त्यन्त्रमालिकाम् ॥ ६३ ॥

अर्थ—वे पुराने नारकी उस विलाप करते हुए नये नारकीके नेत्रोंको उखाडते हैं,

हड्डियोंको चूर्ण कर डालते हैं, उदरको फाडते हैं और क्रोधी होकर, उसकी आंतोंको तोड डालते हैं ॥ ६३ ॥

> निष्पीडयन्ति यन्त्रेषु दलन्ति विषमोपलैः ।
> शाल्मलीषु निघर्षन्ति कुम्भीषु क्वाथयन्ति च ॥ ६४ ॥

अर्थ—तथा वे नारकी उसे घानीमें डालकर पीलते हैं और कठिन पाषाणोंसे दलते हैं, लोहेके कांटेवाले वृक्षोंसे घिसते (रगडते) हैं तथा कुंभियोंमें (कलशियोंमें) रख कर, क्वाथ करते (उबालते) हैं ॥ ६४ ॥

> असह्यदुःखसन्तानदानदक्षाः कलिप्रियाः ।
> तीक्ष्णदंष्ट्राः करालास्या भिन्नाञ्जनसमप्रभाः ॥ ६५ ॥
> कृष्णलेश्योद्धताः पापा रौद्रध्यानैकभाविताः ।
> भवन्ति क्षेत्रदोषेण सर्वे ते नारकाः खलाः ॥ ६६ ॥

अर्थ—तथा वे नारकी कैसे हैं कि—असह्य दुःखोंकी निरन्तरता देनेमें चतुर हैं, कलह करना है जिनको प्रिय है, तीक्ष्ण दांतोंसे भयानक मुखवाले हैं, मिले हुए काजलके समान जिनके शरीरकी कान्ति प्रभा है। तथा कृष्णलेश्याके कारण उद्धत हैं, पापरूप हैं और एक रौद्रध्यानके भावनेवाले हैं एव क्षेत्रके दोषसे वे सभी नारकी दुष्ट होते हैं ॥ ६५–६६ ॥

> वैक्रियिकशरीरत्वाद्विक्रियन्ते यदृच्छया ।
> गृध्राग्निव्यालदाद्यैस्ते घ्नन्तु चित्रैर्वधैः परान् ॥ ६७ ॥

अर्थ—उन नारकियोंका वैक्रियिक शरीर होनेके कारण अपनी इच्छानुसार अग्नि हिंसकजन्तु गिद्धादिकका रूप बनाकर, अनेकप्रकारसे परस्पर मारनेके लिये विक्रिया करते हैं ॥ ६७ ॥

> न तत्र बान्धवः स्वामी मित्रभृत्याङ्गनाङ्गजाः ।
> अनन्तयातनासारे नरकेऽत्यन्तभीषणे ॥ ६८ ॥

अर्थ—इस अत्यन्त भयानक नरकमें न तो कोई बांधव है, न कोई स्वामी है, न कोई मित्र है, न कोई सेवक है, न स्त्री है, न पुत्र है, केवल अनन्त यातनाका भयानक दुःखमात्र है ॥ ६८ ॥

> यत्र मातृभुजा पुत्रा स्नेहबद्धाश्च बान्धवाः ।
> दारयन्त्येव मर्माणि नखुनिर्दयैः [illegible] ॥ ६९ ॥

अर्थ—[illegible] फिर इस नरकमें [illegible] पुत्र हैं और [illegible] स्नेहवाले बान्धव हैं, वे [illegible] तथा [illegible] उनकी [illegible] विदारते हैं ॥ ६९ ॥

कृमय प्रमिकुण्डेपु वज्रसूचीसमानना ।
भित्वा चर्मास्थिमांसानि पिबन्त्यापूष्य लोहितम् ॥ ७० ॥

अर्थ—तथा उस नरकमें पीवके कुंडोंमें वज्रकी सूईसमान है मुख जिनके ऐसे कीड़े वा जोंक नारकी जीवोंके चमड़े और हाडमांसको विदार कर, रक्त (खून) को पीती हैं ॥ ७० ॥

यैराविदार्य मदर्गर्वदन क्षिप्यते क्षणात् ।
विलीन प्रज्वलत्ताम्र यैः पीत मद्यमुद्धतैः ॥ ७१ ॥

अर्थ—तथा जिन पापियोंने मनुष्यजन्ममें उद्धत होकर, मद्यपान किया है, उनके मुखको संडासीसे फाड़ २ कर, तुरतके पिघलाये हुए तांबेको पिलाते हैं ॥ ७१ ॥

परमांसानि यैः पापैर्भक्षितान्यतिनिर्दयैः ।
शूलापक्वानि मांसानि तेषां खादन्ति नारकाः ॥ ७२ ॥

अर्थ—और जिन पापियोंने मनुष्यभवमें निर्दय होकर, अन्य जीवोंका मांस भक्षण किया है, उनके मांसके टुकड़े पका २ कर नारकी जीव खाते हैं ॥ ७२ ॥

यैः मातृपरकलत्राणि सेवितान्यात्मवञ्चकैः ।
योज्यन्ते प्रज्वलन्तीभिः स्त्रीभिस्ते ताम्रजन्मभिः ॥ ७३ ॥

अर्थ—तथा जिन आत्मवंचक पापी जनोंने पूर्वभवमें परस्त्री सेवन की हैं, उनको तांबेकी लाल की हुई स्त्रियोंसे संगम कराया जाता है ॥ ७३ ॥

न सौख्य चक्षुरुन्मेषमात्रमप्युपलभ्यते ।
नरके नारकैर्दीनैर्हन्यमानैः परस्परम् ॥ ७४ ॥

अर्थ—नरकमें नारकी जीव परस्पर एक दूसरेको मारता है, सो वे दीन एक पलक मात्र भी सुखको नहीं पाते ॥ ७४ ॥

किमत्र बहुनोक्तेन जन्मकोटिशतैरपि ।
केनापि शक्यते वक्तु न दुःख नरकोद्भवम् ॥ ७५ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि—बहुत कहां तक कहें? क्योंकि, उस नरकमें उत्पन्न हुए दुःखको कोटि जन्म लेकर भी कोई कहनेको समर्थ नहीं है तो हम क्या कह सकते हैं ॥ ७५ ॥

विस्मृत यदि केनापि कारणेन क्षणान्तरे ।
स्मारयन्ति तदाभ्येत्य पूर्ववैर सुराधमाः ॥ ७६ ॥

अर्थ—यदि ये नारकी किसी कारणसे क्षणमात्रके लिये भूल जाते हैं तो उसी समय नीच असुर देव आकर, उन्हे पूर्ववैर याद करा देते हैं जिससे फिर वे परस्पर मार पीट करके अपनेको महादुःखी कर लेते हैं ॥ ७६ ॥

बुभुक्षा जायतेऽत्यर्थं नरके तत्र देहिनाम् ।
यां न शमयितुं शक्तः पुद्गलप्रचयोऽखिलः ॥ ७७ ॥

अर्थ—तथा उस नरकमें नारकी जीवोंको भूख ऐसी लगती है कि समस्त पुद्गलोंका समूह भी उसको शमन करनेमें असमर्थ है ॥ ७७ ॥

तृष्णा भवति या तेषु वाडवाग्निरिवोल्वणा ।
न सा शाम्यति निःशेषपीतैरप्यम्बुराशिभिः ॥ ७८ ॥

अर्थ—तथा नरकमें नारकी जीवोंके जो तृषा वडवाग्निकी समान अति उत्कट (तीव्र) होती है सो समस्त समुद्रोंका जल पी लें तौ भी नहीं मिटती ॥ ७८ ॥

बिन्दुमात्रं न तैर्वारि प्राप्यते पातुमातुरैः ।
तिलमात्रोऽपि नाहारो ग्रसितुं लभ्यते क्वचित् ॥ ७९ ॥

अर्थ—यद्यपि नरकोंमें उपर्युक्त भूखप्यासकी तीव्रता है, परन्तु न तो किसी कालमें तिलमात्र किसीको भोजन मिलता है और न एक बिंदु पानी ही कहीं मिलता है इस प्रकार आतुर होकर, निरंतर भूख प्यास सहते हैं ॥ ७९ ॥

तिलादप्यतिसूक्ष्माणि कृतखण्डानि निर्दयैः ।
वपुर्मिलति वेगेन पुनस्तेषां विधेर्वशात् ॥ ८० ॥

अर्थ—तथा उन नारकियोंके शरीर निर्दय नारकियोंके द्वारा तिलतिलमात्र खण्ड किये जाते हैं परंतु मृत्यु नहीं आती, तत्काल मिलकर शरीर बन जाता है इनके ऐसा ही कर्मोदय है, जो मरण नहीं होता सागरोंकी आयु पूर्ण होनेपर ही मरण होता है अकाल मृत्यु कभी नहीं होती ॥ ८० ॥

यातनाक्रूरशरीरायुर्लेश्यादुःखभयादिकम् ।
वर्द्धमानं विनिश्चेयमधोऽधः श्वभ्रभूमिषु ॥ ८१ ॥

अर्थ—उन नरककी भूमियोंमें पीडा, रोग, शरीर, आयु, लेश्या, दुःख, भय इत्यादि नीचे नीचे बढता हुआ है अर्थात् पहिले नरकसे (पृथिवीसे) दूसरे नरकमें अधिक है, दूसरेसे तीसरेमें और तीसरेसे चौथेमें और चौथेसे पांचवेंमें और पांचवेंमे छठेमें और छटेमे सातवेंमें इस क्रमसे अधिक २ हैं यह अधोलोकका वर्णन हुआ ॥ ८१ ॥

अब मध्यलोकका वर्णन करते हैं,—

मध्यभागस्ततो मध्ये तत्रास्ते झल्लरीनिभः ।
यत्र द्वीपसमुद्राणां व्यवस्था वलयाकृतिः ॥ ८२ ॥

अर्थ—उस अधोलोकके ऊपर झालरके समान (घंटा बजानेकी घण्टालीके समान) गोलाकार मध्यलोकका मध्य भाग है उसमें गोल २ वलयों (कडों) के समान अवस्थान द्वीप समुद्र हैं ॥ ८२ ॥

जम्बूद्वीपादयो द्वीपा लवणोदादयोऽर्णवाः ।
स्वयम्भूरमणान्तास्ते प्रत्येकं द्वीपसागराः ॥ ८३ ॥

अर्थ—उस मध्यलोकमें जम्बूद्वीपादिक तो द्वीप हैं और लवणसमुद्रादिक समुद्र हैं सो अन्तके स्वयंभूरमण पर्यन्त भिन्न २ हैं। भावार्थ—सबके बीच एक लाख योजन चौड़ा थाली गोल जम्बूद्वीप है और उसके चारों ओर दो लाख योजनके व्यासका खाईकी समान लवणसमुद्र है इसीप्रकार समुद्रके चारों ओर द्वीप और द्वीपोंके चारों ओर समुद्र, इसप्रकार स्वयंभूरमण समुद्रपर्यन्त द्वीपसमुद्रोंकी स्थिति है ॥ ८३ ॥

द्विगुणा द्विगुणा भोगाः प्राकारान्योन्यमाश्रिताः ।
सर्वे ते शुभनामानो वल्याकारधारिणः ॥ ८४ ॥

अर्थ—तथा वे द्वीप और समुद्र दूने २ विस्तारवाले हैं तथा परस्पर एक दूसरेको घेरे हुए हैं। गोलाकार कड़ेके आकार हैं और उनके नाम भी जम्बूद्वीप, धातकीद्वीप, पुष्करद्वीप, लवणसमुद्र, कालोदधि, आदि उत्तमोत्तम हैं ॥ ८४ ॥

मानुषोत्तरशैलेन्द्रमध्यस्थमतिसुन्दरम् ।
नरक्षेत्रं सरिच्छैलसुराचलविराजितम् ॥ ८५ ॥

अर्थ—तथा मानुषोत्तर पर्वतके मध्यस्थ नदीपर्वत मेरुपर्वतसे अतिसुन्दर मनुष्यक्षेत्र है। भावार्थ—सबसे बीचमें एक लाखयोजन व्यासका जंबूद्वीप है जम्बूद्वीपके चारों ओर दो लाख योजनका लवणसमुद्र है लवणसमुद्रके चारों तरफ चार लाखयोजन धातुकीखण्डद्वीप है और धातुकीखण्डद्वीपके चारों ओर आठ लाख योजनका कालोदधि समुद्र और कालोदधि समुद्रके चारों तरफ १६ लाख योजन चौड़ा पुष्करद्वीप है पुष्करद्वीपके उत्तरार्द्धमें अर्थात् अगले आधे भागमें ८ लाख योजन चौड़ा मानुषोत्तर नामका दीवारके समान पर्वत पड़ा हुआ है, इसकारण इस द्वीपको पुष्करार्द्ध द्वीप कहते हैं और इन अढाई द्वीपोंमें ही मनुष्य रहते हैं अगले द्वीपोंमें मनुष्य नहीं हैं और न उससे आगे मनुष्य जा ही सकते हैं, इसी कारण उस पर्वतका नाम मानुषोत्तर पर्वत है ॥ ८५ ॥

तत्रार्यम्लेच्छखण्डानि भूरिभेदानि तेष्वमी ।
आर्या म्लेच्छा नराः सन्ति तत्क्षेत्रजनितैर्गुणैः ॥ ८६ ॥

अर्थ—उस मनुष्यक्षेत्रमें अर्थात् अढाई द्वीपोंमें अनेक आर्यखंड और म्लेच्छखंड हैं और आर्यक्षेत्रोंमें आर्यपुरुष और म्लेच्छक्षेत्रोंमें म्लेच्छ रहते हैं उन क्षेत्रोंके अनुसार ही उनके गुण आचारादिक हैं। अर्थात् आर्योंके उत्तम आचार, उत्तम गुण हैं और म्लेच्छोंके निकृष्ट आचार और धर्मशून्यतादि निकृष्ट गुण हैं ॥ ८६ ॥

क्वचित्कुमानुषोपेतं क्वचिद्व्यन्तरसंभृतम् ।
क्वचिद्भोगधराकीर्णं नरक्षेत्रं निरन्तरम् ॥ ८७ ॥

अर्थ—यह मनुष्यक्षेत्र निरंतर कहीं तो कुमानुष, कुभोगभूमिसहित है, कहीं व देवोंसे भरा है, कहीं उत्तम भोगभूमि सहित है, इसप्रकार संक्षेपसे मध्यलोकका वर्णन किया ॥ ८७ ॥

आगे ऊर्ध्वलोकका वर्णन करते हैं,—

ततो नभसि तिष्ठन्ति विमानानि दिवौकसाम् ।
चरस्थिरविकल्पानि ज्योतिष्काणां यथाक्रमम् ॥ ८८ ॥

अर्थ—उस मध्यलोकके ऊपर आकाशमें ज्योतिषी देवोंके विमान रहते हैं वे चर स्थिर भेदसे दो प्रकारके हैं अर्थात् कई विमान तो निरन्तर गमन करते रहते हैं और कई विमान स्थिर रहते हैं ॥ ८८ ॥

तदूर्ध्वं सन्ति देवेशकल्पाः सौधर्मपूर्वकाः ।
ते षोडशाच्युतस्वर्गपर्यन्ता नभसि स्थिताः ॥ ८९ ॥

अर्थ—ज्योतिषी देवोंके विमानोंके ऊपर कल्पवासी देवोंके कल्प (विमान) हैं जिनके सौधर्म स्वर्ग, ईशानस्वर्ग आदि नाम हैं वे अच्युतस्वर्ग पर्यन्त सोलह हैं और आकाशमें स्थित हैं ॥ ८९ ॥

उपर्युपरि देवेशनिवासयुगलं क्रमात् ।
अच्युतान्तं ततोऽप्यूर्ध्वमेकैकत्रिदशास्पदम् ॥ ९० ॥

अर्थ—वे देवोंके निवास (स्वर्ग) आकाशमें दो दो स्वर्गके ऊपर दो स्वर्ग फिर उन दोके ऊपर फिर दो स्वर्ग, इसप्रकार दो दोके आठ युगल हैं और उनके ऊपर एक एक विमान करके नव ग्रैवेयक विमान हैं तथा एक अनुदिश और एक अनुत्तर विमान भी है ॥ ९० ॥

निशादिनविभागोऽयं न तत्र त्रिदशास्पदे ।
रत्नालोकः स्फुरत्युच्चैः सततं नेत्रसौख्यदः ॥ ९१ ॥

अर्थ—उन देवोंके निवासोंमें रात्रिदिनका विभाग नहीं है क्योंकि, वहांपर सूर्यचन्द्रमा नहीं हैं किन्तु नेत्रोंको सुख देनेवाला रत्नोंका उत्तम प्रकाश निरन्तर स्फुरायमान रहता है ॥ ९१ ॥

वर्षातपतुषारादिसमयैः परिवर्जितः ।
सुखदः सर्वदा सौम्यस्तत्र कालः प्रवर्त्तते ॥ ९२ ॥

अर्थ—उन स्वर्गों (ग्रैवेयकोंमें) वर्षा, शीत, आतप आदिक समय वा ऋतुओंसे रहित सदाकाल सुख देनेवाला सौम्य मध्यस्थ काल (वसन्तऋतु) रहता है ॥ ९२ ॥

उत्पातभयसन्तापभङ्गचौरारिविड्वराः ।
न हि स्वप्नेऽपि दृश्यन्ते क्षुद्रसत्त्वाश्च दुर्जनाः ॥ ९३ ॥

अर्थ—तथा उन स्वर्गोंमें उत्पात, भय, सन्ताप, भंग, चौर, शत्रु, वञ्चक तथा क्षुद्र जीव, दुर्जन ये स्वप्नमें भी नहीं दीखते ॥ ९३ ॥

चन्द्रकान्तशिलानद्धा प्रवालदलदन्तुरा।
वज्रेन्द्रनीलनिर्माणा विचित्रास्तत्र भूमयः ॥ ९४ ॥

अर्थ—उन देवोंके निवासोंमें पृथिवी चन्द्रकान्त मणियोंसे बँधी हुई है तथा मूंगेके पत्रकी समान रची हुई है तथा कहीं २ हीरा इन्द्रनीलमणि आदि नाना प्रकारके रत्नोंमें बनी हुई है ॥ ९४ ॥

माणिक्यरोचिषा यत्र कर्बुरीकृतदिग्मुखाः।
वाप्यः स्वर्णाम्बुजच्छन्ना रत्नसोपानराजिताः ॥ ९५ ॥

अर्थ—तथा स्वर्गोंमें वापिकाएं माणिक्यकी किरणोंके समूहोंसे दशों दिशाओंको अनेक वर्णमय कर रही हैं तथा सुवर्णमय कमलोंसे आच्छादित और रत्नमय सीढियोंसे सुशोभित हैं ॥ ९५ ॥

सरांस्यमलवारीणि हंसकारण्डमण्डलैः।
वाचालैः रुद्धतीर्थानि दिव्यनारीजनेन च ॥ ९६ ॥

अर्थ—स्वर्गमें सरोवर भी अतिस्वच्छ निर्मल जलवाले हैं, हंस वा कारंड आदिके पक्षियोंके समूहसे तथा देवांगना वा (अप्सराओं) से रुके हुए हैं तट जिनके ऐसे हैं ॥ ९६ ॥

गावः कामदुघाः सर्वाः कल्पवृक्षाश्च पादपाः।
चिन्तारत्नानि रत्नानि स्वर्गलोके स्वभावतः ॥ ९७ ॥

अर्थ—तथा उस स्वर्गमें गौ हैं वे तो कामधेनु हैं, वृक्ष हैं सो कल्पवृक्ष हैं और रत्न हैं सो चिन्तामणि रत्न हैं ये सब क्षेत्रके स्वभावसे निरन्तर रहते हैं ॥ ९७ ॥

ध्वजचामरछत्राढ्यैर्विमानैर्घनमालसन्निभैः।
सञ्चरन्ति सुरासारैः सेव्यमानाः सुरेश्वराः ॥ ९८ ॥

अर्थ—उन स्वर्गोंके अधिपती इन्द्र ध्वजा चामर, छत्रोंसे चिह्नित हुए विमानोंके द्वारा अनेक देवांगनाओंसहित यत्र तत्र विचरते हैं उनकी अनेक देव सेवा करते हैं ॥ ९८ ॥

यक्षकिन्नरनारीभिर्मन्दारवनवीथिषु।
कान्ताश्लिष्टाभिरानन्दं गीयन्ते त्रिदशेश्वराः ॥ ९९ ॥

अर्थ—तथा वहांके इन्द्र, मन्दारवृक्षोंकी गलियोंमें यक्ष और किन्नर जातिके देवोंकी देवांगना अपने पतिसहित आलिंगित आनंदसे भरी गाती हैं, उनके गीत सुनते हैं ॥ ९९ ॥

क्रीडागिरिनिकुञ्जेषु पुष्पशय्यागृहेषु वा ।
रमन्ते त्रिदशा यत्र वरस्त्रीवृन्दवेष्टिता ॥ १०० ॥

अर्थ—तथा उन स्वर्गोंके देव क्रीडापर्वतोंकी कुञ्जोंमें, पुष्परचितमण्डित घरोंमें पुष्पोंकी शय्यामें सुन्दर देवांगनाओंके समूहके साथ वेष्टित होकर नाना प्रकारकी आन क्रीडा करते हैं ॥ १०० ॥

मन्दारचम्पकाशोकमालतीरेणुरञ्जिताः ।
भ्रमन्ति यत्र गन्धाढ्या गन्धवाहाः शनैः शनैः ॥ १०१ ॥

अर्थ—उन स्वर्गोंमें मंदार, चम्पक, अशोक, मालतीके पुष्पोंकी रजसे रंजित भ्रम सहित मन्दमन्द सुगन्ध पवन बहता है ॥ १०१ ॥

लीलावनविहारैश्च पुष्पावचयकौतुकैः ।
जलक्रीडादिविज्ञानैर्विलासास्तत्र योषिताम् ॥ १०२ ॥

अर्थ—तथा उन स्वर्गोंमें देवांगनाओंके विलास, क्रीडावनके विहारोंसे तथा पुष्प चुननेके कौतुकसे तथा जलक्रीडाके विज्ञानोंसे (चतुराइयोंसे) बडी शोभा है ॥ १०२

वीणामादाय रत्यन्ते कलं गायन्ति योषितः ।
ध्वनन्ति मुरजा धीरं दिवि देवाङ्गनाहताः ॥ १०३ ॥

अर्थ—तथा उन स्वर्गोंमें देवांगनायें संभोगके अन्तमें वीणा लेकर सुन्दर गान करती हैं तथा उनके बजायेहुए मृदंग धीरे २ बजते हैं ॥ १०३ ॥

कोकिलाः कल्पवृक्षेषु चैत्यागारेषु योषितः ।
विबोधयन्ति देवेशाल्ललितैर्गीतनिःस्वनैः ॥ १०४ ॥

अर्थ—तथा उन स्वर्गोंमें कल्पवृक्षोंपर तो कोकिलायें और चैत्यमन्दिरोंमें देवांगनायें सुन्दर गीत और शब्दोंसे इन्द्रोंको आनन्द प्रदान करती हैं ॥ १०४ ॥

नित्योत्सवयुतं रम्यं सर्वाभ्युदयमन्दिरम् ।
सुखसंपद्गुणाधारं कैः स्वर्गमुपमीयते ॥ १०५ ॥

अर्थ—प्रत्येक स्वर्ग नित्यही उत्सवोंसहित है, रमणीक है, समस्त अभ्युदयोंके भोगोंका निवास है तथा सुख, संपद् और गुणोंका आधार है सो उसको किसकी उपमा दी जाय? ॥ १०५ ॥

पञ्चवर्णमहारत्ननिर्माणाः सप्तभूमिकाः ।
प्रासादाः पुष्करिण्यश्च चन्द्रशाला वनान्तरे ॥ १०६ ॥

अर्थ—तथा उन स्वर्गोंके बागोंमें पांच वर्णोंके रत्नोंसे बने हुए सात सात खनके महल हैं और वापिका तथा चन्द्रशाला (शिरोगृह—अटे) हैं ॥ १०६ ॥

प्राकारपरिखावप्रगोपुरोत्तुङ्गतोरणैः ।
चैत्यद्रुमसुरागारैर्नगर्यो रत्नराजिता ॥ १०७ ॥

अर्थ—तथा उन स्वर्गोंमें जो नगरी हैं वे कोट खाई बड़े दरवाजों और ऊंचे तोरणोंमें तथा चैत्य, वृक्ष, और देवोंके मन्दिर आदिकसे रत्नमयी शोभती हैं ॥ १०७ ॥

इन्द्रायुधश्रियं धत्ते यत्र नित्यं नभस्तलम् ।
हर्म्याग्रलग्नमाणिक्यमयूखैः कर्बुरीकृतम् ॥ १०८ ॥

अर्थ—तथा स्वर्गोंमें आकाश महलोंके अग्रभागमें लगे हुए रत्नोंकी किरणोंसे चित्रित वर्णका होकर इन्द्रधनुषकीसी शोभाको धारण किये हुए होता है ॥ १०८ ॥

सप्तभिस्त्रिदशानीकैर्विमानैरङ्गनान्वितैः ।
कल्पद्रुमगिरीन्द्रेषु रमन्ते विबुधेश्वराः ॥ १०९ ॥

अर्थ—स्वर्गोंके इन्द्र सात प्रकारकी देवसेनाओंमें तथा देवांगनासहित विमानोंके द्वारा कल्पवृक्षों तथा क्रीडापर्वतोंमें रमते हैं (आनन्द करते हैं) ॥ १०९ ॥

हस्त्यश्वरथपादातवृषगन्धर्वनर्त्तकि ।
सप्तानीकानि सन्त्यस्य प्रत्येकं च महत्तरम् ॥ ११० ॥

अर्थ—हस्ती, घोड़े, रथ, पयादे बैल, गन्धर्व, नर्त्तकी इसप्रकार सात प्रकारकी सेना इन्द्रकी होती है सो प्रत्येक सेनामें एक महत्तर है ॥ ११० ॥

शृङ्गारसारसर्वस्वा लावण्यवनदीर्घिका ।
पीनस्तनभराक्रान्ता पूर्णचन्द्रनिभानना ॥ १११ ॥
विनीता कामरूपिण्यो महर्द्धिमहिमान्विता ।
हावभावविलासाढ्या नितम्बभरमन्थरा ॥ ११२ ॥
मन्ये शृङ्गारसर्वस्वमेकीकृत्य विनिर्मिता ।
स्वर्गवासविलासिन्यः सन्ति मूर्ता इव श्रियः ॥ ११३ ॥

अर्थ—उन स्वर्गोंमें विलासिनी देवांगनायें शृंगारका सार है जिनके ऐसी लावण्यरूपी जलकी वापिकाएं हैं तथा पीन कुचोंके भारसहित हैं जिनके मुख पूर्णमासीके चन्द्रमाके समान हैं विनीत हैं, चतुर हैं, महाऋद्धिकी शोभासहित हैं, सुन्दर हाव भाव चित्तविकार विलास, भ्रूविकार आदिसे भरी हुई हैं, नितम्बोंके भारसे धीरगतिवाली हैं आचार्य महाराज उत्प्रेक्षा करते हैं कि—ये देवांगनायें मानो शृंगारका सर्वस्व एकत्र करकेही बनाई गई हैं, जिनसे मूर्तिमान् लक्ष्मीसमान ही शोभती हैं ॥ १११–११२–११३ ॥

गीतवादित्रविद्यासु शृङ्गाररसभूमिषु ।
परिरम्भादिसर्वेषु स्त्रीणां दाक्ष्यं स्वभावतः ॥ ११४ ॥

अर्थ—स्वर्गोंमें शृङ्गाररसकी भूमि ऐसी गीत व बाजेकी क्रियाओंमें तथा आलिंगनादि समस्त क्रियाओंमें स्त्रियोंकी स्वभावसेही प्रवीणता होती है ॥ ११४ ॥

सर्वावयवसम्पूर्णा दिव्यलक्षणलक्षिताः ।
अनङ्गप्रतिमा धीरा' प्रसन्नप्रांशुविग्रहाः ॥ ११५ ॥
हारकुण्डलकेयूरकिरीटाङ्गदभूषिताः ।
मन्दारमालतीगन्धा अणिमादिगुणान्विताः ॥ ११६ ॥
प्रसन्नामलपूर्णेन्दुकान्ताः कान्ताजनप्रियाः ।
शक्तित्रयगुणोपेता सत्त्वशीलावलम्बिनः ॥ ११७ ॥
विज्ञानविनयोद्दामप्रीतिप्रसरसम्भृताः ।
निसर्गसुभगा' सर्वे भवन्ति त्रिदिवौकसः ॥ ११८ ॥

अर्थ—उन स्वर्गोंमें देव कैसे हैं कि—शरीरके समस्त अवयव जिनके सम्पूर्ण सुडौल हैं, दिव्य मनोहर लक्षणों सहित हैं, कामदेवके समान सुन्दर हैं, धीर हैं (क्षोभरहित हैं), प्रसन्न वा विस्तीर्ण है शरीर जिनका ऐसे हैं ॥ ११५ ॥ तथा हार कुंडल केयूर-(भुजबन्ध) किरीट-(मुकुट) अंगद (कटक आदि) इन आभूषणोंसे भूषित हैं, मन्दार मालतीके पुष्पोंकी समान जिनके अंगमें सुगन्धि है अणिमा महिमादि अष्टऋद्धिसहित हैं ॥ ११६ ॥ प्रसन्न निर्मल पूर्ण चन्द्रमासमान मनोहर हैं, और कान्ताओं कहिये स्त्रियोंको अतिशय प्रिय लगनेवाले हैं, तीन शक्ति कहिये प्रभुत्व, मन्त्र, उत्साह इन गुणोंमण्डित हैं, तथा सत्त्व, पराक्रम और शील कहिये सुस्वभावके आलम्बन करनेवाले हैं ॥ ११७ ॥ तथा विज्ञान, प्रवीणता और विनय वा उत्तम प्रीतिके प्रसर कहिये बहाव से हैं, (स्वर्गोंमें समस्त देव इसीप्रकार स्वभावसे सुन्दर होते हैं) ॥ ११८ ॥

न तत्र दुःखितो दीनो वृद्धो रोगी गुणच्युतः ।
विकलाङ्गो गतश्रीकः स्वर्गलोके विलोक्यते ॥ ११९ ॥

अर्थ—तथा उन स्वर्गोंमें कोई ऐसा नहीं देखा जाता जो दुःखी, दीन, वृद्ध, गुणरहित, विकल-अंग अथवा कांतिहीन हो ॥ ११९ ॥

सभ्यसामानिकामात्यलोकपालप्रकीर्णकाः ।
मित्रामात्यविमन्नमोपा पार्श्ववर्ती परिग्रहः ॥ १२० ॥

अर्थ—स्वर्गोंमें सभाके देव, सामानिकदेव, अमात्यादिकदेव, लोकपालदेव, प्रकीर्णकदेव ये देव हैं तथा मित्र आदिक सबही उन इन्द्रोंके पार्श्ववर्ती परिवार उनके अतिशय (शोभाके करनेवाले) हैं ॥ १२० ॥

वन्दिगायनसैरन्ध्रीस्याद्वरक्षा पदातयः ।
नर्तकीविश्रिक्षिन्गनिस्य सुगाना सेवका जनः ॥ १२१ ॥

अर्थ—तथा स्वर्गोंमें उन देवोंकी सेवा करनेवाले देव हैं, वंदीजन हैं, गानेवाले हैं, दंड धरनेवाले हैं, तथा नाचनेवाली विलासिनी अप्सराये हैं ॥ १२१ ॥

तथातिरम्यताधारे विमाने कुन्दकोमले ।
उपपादिशिलागर्भे संभवन्ति स्वयं सुराः ॥ १२२ ॥

अर्थ—स्वर्गोंमें अतिमनोज्ञताका आधार ऐसे विमानमें कुन्दके पुष्पसमान कोमल ऐसी उपपादि शिलाके मध्यमें देव स्वयमेव उत्पन्न होते हैं । भावार्थ—देवोंके उत्पन्न होनेकी उपपादि शय्या है उसपर जन्म लेते हैं जिसप्रकार कोई सोया हुआ आदमी उठता है इसीप्रकार जिसका स्वर्गमें जन्म होता है वह जीव पूर्णांग उस उपपाद शय्या पर उठता है ॥ १२२ ॥

सर्वाक्षसुखदे रम्ये नित्योत्सवविराजिते ।
गीतवादित्रलीलाढ्ये जयजीवस्वनाकुले ॥ १२३ ॥
दिव्याकृतिसुसंस्थाना सप्तधातुविवर्जिता ।
कायकान्तिपयःपूरैः प्रसादितदिगन्तरा ॥ १२४ ॥
शिरीषसुकुमाराङ्गा पुण्यलक्षणलक्षिता ।
अणिमादिगुणोपेता ज्ञानविज्ञानपारगा ॥ १२५ ॥
मृगाङ्कमूर्त्तिसंकाशा शान्तदोषा शुभाशया ।
अचिन्त्यमहिमोपेता भयक्लेशार्त्तिवर्जिता ॥ १२६ ॥
वर्द्धमानमहोत्साहा वज्रकाया महाबला ।
अचिन्त्यपुण्ययोगेन गृह्णन्ति वपुरूर्जितम् ॥ १२७ ॥

अर्थ—उस उपपाद शय्याका स्थान कैसा है कि—समस्त इन्द्रियोंको सुख देनेवाला है रमणीक है नित्यही उत्सवसहित विराजता है गीत वादित्रादि लीलाओंसहित है तथा "जयवन्त होओ चिरजीवी होओ" ऐसे शब्दोंसे व्याप्त है ॥ १२३ ॥ ऐसे स्थानपर जो देव उत्पन्न होते हैं वे कैसे हैं कि—दिव्य सुन्दराकार है संस्थान जिनका और जिनका सप्तधातुरहित शरीर है जो शरीरकी प्रभारूपी जलके प्रवाहोंसे समस्त दिशाओंको प्रसन्न करनेवाले हैं ॥ १२४ ॥ जिनका शरीर शिरीषपुष्पके समान कोमल है, पवित्र लक्षणोंसहित हैं अणिमा महिमादि गुणोंसे युक्त हैं अवधिज्ञानादि विज्ञान चतुरताओंके पारगामी हैं ॥ १२५ ॥ तथा चन्द्रमाकी मूर्तिसमान हैं, जिनमें सब दोष शान्त होगये हैं, जिनका चित्त शुभ है, अचिन्त्य महिमासहित हैं, भय क्लेशपीडासे रहित हैं— ॥ १२६ ॥ जिनका उत्साह बढ़ताही रहता है, वज्रके समान दृढ शरीर है, बडे पराक्रमी हैं, इसप्रकारके देव अचिन्त्य पुण्यके योगसे उस उपपादस्थानमें शरीरको धारण करते हैं ॥ १२७ ॥

सुग्गामृतमहाम्भोधेर्मध्यादिव विनिर्गताः ।
भवन्ति त्रिदशा मन्य. क्षणेन नवयौवना ॥ १२८ ॥

अर्थ—उस उपपादशय्याम वे देव उत्पन्न होते है सो जिसप्रकार समुद्रमेंसे कोई मनुष्य निकले उसीप्रकार वे देव सुधारूपी महासमुद्रमेंसे तत्काल नव यौवनरूप होकर उत्पन्न होते है ॥ १२८ ॥

कि च पुष्पफलाक्रान्तै प्रवालदलदन्तुरै ।
तेषा कोकिलवाचालैर्द्रुमैर्जन्म निगद्यते ॥ १२९ ॥

अर्थ—फूल फलोंमे भरपूर, कोमल पत्तोमे अकुरित और कोकिलाओसे शब्दायमान वृक्षों करके उनके जन्मकी सूचना की जाती है १२९ ॥

गीतवादित्रनिर्घोषैर्जयमङ्गलपाठकै ।
विबोध्यन्ते शुभै शब्दै सुखनिद्रात्यये यथा ॥ १३० ॥

अर्थ—तथा वे देव उस उपपादशय्याम ऐसे उत्पन्न होते हैं कि जैसे कोई राजकुमार सोता हो और वह गीत वादित्रोंके शब्दोंसे, 'जय जय' इत्यादि मगलके पाठोंसे तथा उत्तमोत्तम शब्दोंसे सुखनिद्राका अभाव होनेपर जगाया जाता है, उसीप्रकार देव भी उस उपपादशिलामे (शय्याम) उठकर सावधान होते है ॥ १३० ॥

किञ्चिद्भ्रममपाकृत्य वीक्षते स शनै. शनै ।
यावदाशा मुहु स्निग्धैस्तदाकर्णान्तलोचनै ॥ १३१ ॥

अर्थ—तथा उस उपपाद शय्यामे सावधान होकर कुछ भ्रमको दूर करके उस समय कर्णान्त पर्यन्त नेत्रोंको उघाडकर दृष्टि फेरफेर चारों ओर देखता है ॥ १३१ ॥

तत्पश्चात् क्या करता है सो कहते हैं,—

इन्द्रजालमथ स्वप्न किं नु मायाभ्रमोऽनु किम् ।
दृश्यमानमिद चित्र मम नायाति निश्चयम् ॥ १३२ ॥

अर्थ—फिर सावधान होकर वह देव ऐसा विचारता है कि अहो ! यह क्या इन्द्र जाल है ? अथवा मुझे क्या स्वप्न आ रहा है ? अथवा यह मायामय कोई भ्रम है यह तो बड़ा आश्चर्य देखनेमे आता है निश्चय नहीं कि यह क्या है ? इसप्रकार सन्देहरूप होता है ॥ १३२ ॥

इद रम्यमिद सेव्यमिद श्लाघ्यमिद हितम् ।
इद प्रियमिद भव्यमिद चित्तप्रसत्तिदम् ॥ १३३ ॥
एतत्कन्दलितानन्दमेतत्कल्याणमन्दिरम् ।
एतन्नित्योत्सवाकीर्णमेतदत्यन्तसुन्दरम् ॥ १३४ ॥

सर्वर्द्धिमहिमोपेतं महर्द्धिकसुरार्चितम् ।
ससानीकान्वितं भाति त्रिदशेन्द्रसभाजिरम् ॥ १३५ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् वह देव विचार करता है—कि यह वस्तु रमणीय है, यह सेवनीय है, यह सराहने योग्य है, यह हितरूप है, यह प्रिय है, यह सुन्दर है, यह चित्तको प्रसन्नता देनेवाली है ॥ १३३ ॥ तथा—यह आनन्दको उत्पन्न करनेवाला कल्याणका मंदिर निरन्तर उत्सवरूप तथा अत्यन्त सुन्दर है इत्यादि विचार करता है ॥ १३४ ॥ तथा यह स्थान समस्त ऋद्धि और महिमा सहित महाऋद्धिके धारक देवोंसे पूजनीय सात प्रकारकी सेनासहित देवेन्द्रके स्थानके समान दीखता है ॥ १३५ ॥

फिर भी कुछ विशेष है,—

मामेवोद्दिश्य सानन्दः प्रवृत्तः किमयं जनः ।
पुण्यमूर्त्तिः प्रियः श्लाघ्यो विनीतोऽत्यन्तवत्सलः ॥ १३६ ॥
त्रैलोक्यनाथसंसेव्यः कोऽयं देशः सुखाकरः ।
अनन्तमहिमाधारो विश्वलोकाभिनन्दितः ॥ १३७ ॥
इदं पुरमतिस्फीतं वनोपवनराजितम् ।
अभिभूय जगल्लक्ष्मीं वर्त्तीव ध्वजांशुकैः ॥ १३८ ॥

अर्थ—फिर वह देव विचारता है कि—ये सामने जो लोग खड़े हैं वे मुझे ही देखकर आनन्दसहित प्रवृत्त हैं, ये पवित्र हैं, उज्वल है मूर्ति जिनकी ऐसे हैं तथा ये सब बहुत प्रिय हैं, प्रशंसनीय हैं, विनीत हैं, चतुर हैं, अत्यन्त प्रीति युक्त हैं ॥ १३६ ॥ तथा फिर विचारता है कि यह सुखकी खानि तीन लोकके स्वामी द्वारा सेवने योग्य कौनसा देश है ? यह देश अनन्त महिमाका आधार है, सबको वाछनीय है ॥ १३७ ॥ तथा यह नगर भी अति विस्तीर्ण है, वन उपवनोंसे शोभित है, सपताक द्वारा समस्त जगतको जीतकर ध्वजाओंके वस्त्रोंके हिलनेसे मानो दौड़ता है, नृत्यही करता है, इत्यादि विचारता है ॥ १३८ ॥

आकलय्य तदाकूतं सचिवा दिव्यचक्षुषः ।
नतिपूर्वं प्रवर्त्तन्ते वक्तुं कालोचितं तदा ॥ १३९ ॥
प्रसादः क्रियतां देव नतानां स्वेच्छया दृशा ।
श्रूयतां च वचोऽस्माकं पौर्वापर्यप्रकाशकम् ॥ १४० ॥

अर्थ—तत्पश्चात् उसी समय वहांके मंत्री देव दिव्यनेत्रोंसे उस उत्पन्न हुए देवेन्द्रके अभिप्रायको समझकर नमस्कार करके कहते हैं कि—हे देव! हम सेवकोंपर प्रसन्न हूजिये, निर्मल दृष्टिसे देखिये और हमारे पूर्वापर परिपाटीके प्रकाश करनेवाले वचनोंको सुनिये ॥ १३९–१४० ॥

अत्र नाथ वयं धन्या' सफलं चात्र जीवितम् ।
अस्माकं यत्त्वया स्वर्गं सम्भवेन पवित्रितः ॥ १४१ ॥
प्रसीद जय जीव त्वं देव पुण्यस्तवोद्भव ।
भव प्रभुः समग्रस्य स्वर्गलोकस्य सम्प्रति ॥ १४२ ॥
सौधर्मोऽयं महाकल्पः सर्वामरशतार्चितः ।
नित्याभिनवकल्याणवार्द्धिवर्द्धनचन्द्रमा' ॥ १४३ ॥
कल्पः सौधर्मनामायमीशानप्रमुखाः सुराः ।
इहोत्पन्नस्य शक्रस्य कुर्वन्ति परमोत्सवम् ॥ १४४ ॥
अत्र संकल्पिताः कामा नवं नित्यं च यौवनम् ।
अत्राविनश्वरा लक्ष्मीः सुखं चात्र निरन्तरम् ॥ १४५ ॥
स्वर्विमानमिदं रम्यं कामगं कान्तदर्शनम् ।
पादाम्बुजनता चेयं तव त्रिदशमण्डली ॥ १४६ ॥
एते दिव्याङ्गनाकीर्णाश्चन्द्रकान्ता मनोहराः ।
प्रासादा रम्यवाप्यश्च क्रीडानद्यश्च भूधराः ॥ १४७ ॥
सभाभवनमेतत्ते नतामरशतार्चितम् ।
रत्नदीपकृतालोकं पुष्पप्रकरशोभितम् ॥ १४८ ॥
विनीतवेषधारिण्यः कामरूपा वराप्सरः ।
तवादेशं प्रतीक्षन्ते लास्यलीलारसोत्सुकाः ॥ १४९ ॥
आतपत्रमिदं पूज्यमिदं च हरिविष्टरम् ।
एतच्च चामरद्वन्द्वमेते विजयकेतवः ॥ १५० ॥
एता अग्रे महादेव्यो वराप्सरोवृन्दवन्दिताः ।
तृणीकृतसुराधीशलावण्यैश्वर्यसम्पदः ॥ १५१ ॥
शृङ्गारचेष्टितैर्लीलाविलासोल्लासितभ्रुवः ।
शीलालङ्कारसम्पूर्णास्तव नाथ समर्पिताः ॥ १५२ ॥
सर्वावयवनिर्माणश्रीरासां नोपमास्पदम् ।
यासां श्यामासमस्निग्धपुण्यपाणुप्रभवं वपुः ॥ १५३ ॥
अयमैरावणो नाम देवदन्ती महामनाः ।
स्वेन गुणाष्टकैश्वर्याञ्चित विश्वानिशासिनाम् ॥ १५४ ॥
इदं सप्तगजानीकमितोऽश्वीयं मनोजवम् ।
एते सर्वाङ्गसम्पूर्णा रथा दिव्यास्तवामराः ॥ १५५ ॥

एतानि मम मैत्यानि पाल्तिमा पमरेश्वरं ।
नमन्ति ते पदद्वन्द्व नतिविज्ञप्तिपूर्वकम् ॥ १५६ ॥
समग्र स्वर्गसाम्राज्य दिव्यभूत्योपलक्षितम् ।
पुण्यैस्ते सम्मुखीभूत गृहाण प्रणतामरम् ॥ १५७ ॥
इति पादिनि सुनिर्गन्धे सचिवेऽत्यन्तवत्सले ।
अपधिज्ञानमासाद्य पौर्वापर्य स बुद्ध्यति ॥ १५८ ॥

अर्थ—यदि कोई मनुष्य सौधम स्वर्गमें इन्द्र उत्पन्न होता है तो उसका मन्त्री सब ही तरफसे इस प्रकार कहता है कि हे नाथ! आपने यहा उत्पन्न होकर इस स्वर्गको पवित्र किया सो आज हम धन्य हुए, हमारा जीवन भी आज सफल हुआ ॥ १४१ ॥ हे नाथ! आप प्रसन्न हूजिये, चिरजीव रहिये, हे देव! आपका उत्पन्न होना पुण्यरूप है, पवित्र है, आप इस स्वर्गलोकके स्वामी हूजिये ॥ १४२ ॥ यह सौधम नामा महास्वर्ग है, सैकड़ों देवोंसे पूजित है यह स्वर्ग समस्त कल्याणरूप समुद्रको बढानेके लिये चन्द्रमाके समान है ॥ १४३ ॥ यह सौधम नामा स्वर्ग ऐसा है कि—इसमें जो इन्द्र उत्पन्न होता है उसका इशान इन्द्र आदि समस्त देव परमोत्सव करते हैं ॥ १४४ ॥ इस स्वर्गमें वाछित पदार्थ भोगने योग्य है, यहा नित्यताया यौवन है, अविनश्वर लक्ष्मी है, निरन्तर सुखही सुख है ॥ १४५ ॥ तथा यह स्वर्गीय विमान जहा जाना चाहे वहीं जा सकता है इसका दर्शन अति मनोहर है यह देवाकी मडली (सभा) आपके चरणकमलोंमे नम्रीभूत है ॥ १४६ ॥ ये मनोहर अप्सराओंसे भरे हुए चन्द्रकान्तके समान मनोहर आपके महल है य रत्नमयी वापिकायें है ये क्रीडानदिय तथा पर्वत हैं ॥ १४७ ॥ यह सभाभवन है सो नम्रीभूत देवोके द्वारा सेवा करने योग्य है, पूजित है यह रत्नमयी दीपकोंसे प्रकाशमान पुष्पसमूहोंसे शोभित है ॥ १४८ ॥ और विनीत चतुर वेशकी धरनेवाली कामरूपिणी सुन्दर स्त्रिय नृत्य सगीतादि रसमे उत्सुक होकर आपके सामने नृत्य करनेके लिये आपकी आज्ञाकी प्रतीक्षा कर रही हैं ॥ १४९ ॥ तथा यह आपका छत्र है यह आपका पूजनीय सिंहासन है यह चामरोंका समूह है ये विजयकी ध्वजायें हैं॥१५०॥ और य सब आपकी अग्रमहिषी अर्थात् पट्टदेविय हैं ये श्रेष्ठ देवागनाओंद्वारा वदन योग्य हैं तथा इन्द्रके ऐश्वर्यको तृणके समान समझनेवाली हैं ॥ १५१ ॥ तथा शृगाररूपी समुद्रकी लहरोंके समान चचल है विलासके कारण जिनकी भौंह प्रफुल्लित हैं और लीला रूपी अलङ्कारसे पूरित हैं सो हे नाथ! य आपके चरणोंमे समर्पित हैं ॥ १५२ ॥ इन पट्टदेवियोंके शरीरकी शोभा अनुपम है क्योंकि, इनका शरीर योग्य निमल स्निग्ध पवित्र परमाणुओंके द्वारा बना हुआ है ॥ १५३ ॥ हे नाथ! यह आपका महामनवाला ऐरावत नामा हस्ती है यह अणिमा महिमादि आठ गुणोंके ऐश्वर्यसे समस्त प्रकारकी विक्रियारूप

लक्ष्मीको धरनेवाला है ॥ १५४ ॥ और यह आपकी मनोमत्त हस्तियोंकी सेना है, यह घोड़ोंकी सेना है, इसका वेग मनके समान है । यह सुवर्णमयी ऊंचे ऊंचे रथोंकी सेना है और ये पयादे हैं ॥ १५५ ॥ तथा यह आपकी सात प्रकारकी सेना है पूर्वोक्त इन्द्रों द्वारा पालित है यह आपके चरणकमलोंको प्रार्थनापूर्वक नमस्कार करती है ॥ १५६ ॥ यह समस्त स्वर्गीय राज्य दिव्य सम्पदाओंसे शोभित है, सो आपके पुण्यके प्रतापसे आपके सन्मुख हुआ है नम्रीभूत है इस जिसमें ऐसा है सो आप ग्रहण कीजिये ॥ १५७ ॥ इस प्रकार अति स्नेहयुक्त अत्यन्त प्रीतिपूर्वक कहता है, उसी समय इन्द्र अवधिज्ञानको प्राप्त होकर पूर्व जन्मसम्बन्धी समस्त वृत्तान्तको जान जाता है ॥ १५८ ॥

अहो तपः पुरा चीर्णं मयान्यजनदुश्चरम् ।
वितीर्णं चाभयं दानं प्राणिनां जीवितार्थिनाम् ॥ १५९ ॥
आराधितं मनःशुद्ध्या दृग्बोधादिचतुष्टयम् ।
देवश्च जगतां नाथः सर्वज्ञः परमेश्वरः ॥ १६० ॥
निर्दग्धं विषयारण्यं स्मरवैरी निपातितः ।
कषायतरवश्छिन्ना रागशत्रुर्नियन्त्रितः ॥ १६१ ॥
सर्वस्तस्य प्रभावोऽयमहं येनाद्य दुर्गतेः ।
उद्धृत्य स्थापितः स्वर्गराज्ये त्रिदशवन्दिते ॥ १६२ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् वह इन्द्र अवधिज्ञानसे सब जानकर मन ही मनमें कहता है कि-अहो ! देखो, मैंने पूर्व भवमें अन्यसे आचरण करनेमें नहीं आवे ऐसे तपको धारण किया तथा अनेक जीवोंको मैंने अभयदान दिया ॥ १५९ ॥ तथा दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, इन चारों आराधनाओंसे त्रैलोक्यके नाथ सर्वज्ञ परमेश्वर देवाधिदेवका आराधन किया था ॥ १६० ॥ तथा मैंने पूर्वभवमें इन्द्रियोंके विषयरूप वनको दग्ध किया था, कामरूप शत्रुका नाश किया था, कषायरूप वृक्षोंको काट दिया था और रागरूपी शत्रुको पीड़ित किया था ॥ १६१ ॥ उसीका यह प्रभाव है उक्त आचरणोंने ही इस समय मुझे दुर्गतिसे बचाकर इस देवोंके वन्दनीय स्वर्ग राज्यमें स्थापन किया है ॥ १६२ ॥

रागादिदहनज्वाला न प्रशाम्यन्ति देहिनाम् ।
सद्वृत्तार्णवसिक्ता क्वचिज्जन्मशतैरपि ॥ १६३ ॥
तस्मात्र सुलभं मन्ये नरत्वं कुत्रमोऽधुना वयम् ।
सुगणाः स्वर्गलोकेऽस्मिन्दर्शनस्यैव योग्यता ॥ १६४ ॥
अतस्तत्त्वार्थश्रद्धा मे श्रेयसी स्वार्थसिद्धये ।
अर्हत्पदद्वन्द्वे भक्तिश्चायन्ननिश्चला ॥ १६५ ॥

यान्यत्र प्रतिबिम्बानि स्वर्गलोके जिनेशिनाम् ।
विमानचैत्यवृक्षेषु मेर्वाद्युपवनेषु च ॥ १६६ ॥
तेषां पूर्वं महं कृत्वा स्वद्रव्यैः स्वर्गसंभवैः ।
पुष्पचन्दननैवेद्यैर्गन्धदीपाक्षतोत्करैः ॥ १६७ ॥
गीतवादित्रनिर्घोषैः स्तुतिस्तोत्रैर्मनोहरैः ।
स्वर्गैश्वर्यं ग्रहीष्यामि ततस्त्रिदशवन्दितः ॥ १६८ ॥
इति सर्वज्ञदेवस्य कृत्वा पूजामहोत्सवम् ।
स्वीकरोति ततो राज्यं पदपन्धादिलक्षणम् ॥ १६९ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् वह इन्द्र विचारता है कि—जीवोंके रागादिरूप अग्निकी ज्वाला सम्यक् चारित्ररूपी जलको सींचे विना सैकडों जन्म लेनेपर भी नहीं बुझती ॥ १६३ ॥ ऐसा सम्यक् चारित्र इस स्वर्गमें सुलभ नहीं है, इसलिये क्या करूं? इस स्वर्गलोकमें तो सम्यग्दर्शनकी ही योग्यता है, चारित्रकी योग्यता नहीं है ॥ १६४ ॥ इस कारण मेरे स्वर्गके लिये तत्त्वार्थश्रद्धानही कल्याणकारी वा श्रेष्ठ है तथा अर्हन्त भगवान्के चरणयुगलमें अत्यन्त निश्चल भक्ति करना ही कल्याणकारी है ॥ १६५ ॥ इसलिये यहां स्वर्गमें विमानों, चैत्य वृक्षों तथा मेरु आदिके उपवनोंमें जो जिनेन्द्र भगवान्के प्रतिबिम्ब हैं ॥ १६६ ॥ उनका प्रथमही इस स्वर्गके उत्पन्न हुए अपने द्रव्य पुष्प, चन्दन, नैवेद्य, गन्ध, दीपक, व अक्षतोंके समूहसे पूजा करके ॥ १६७ ॥ तथा गीत नृत्य वादित्रोंके शब्दोंसहित मनोहर स्तुतिसे करके तत्पश्चात् इन देवोंसे वन्दनीय स्वर्गके ऐश्वर्यको ग्रहण करना चाहिये ॥ १६८ ॥ इस प्रकार विचारकर वह इन्द्र सर्वज्ञ देवकी पूजा करके महान्उत्सव पूर्वक पट्टबन्धादिक है लक्षण जिसका ऐसे स्वर्गके राज्यको ग्रहण करता है ॥ १६९ ॥

तस्मिन्मनोजवैर्यानैर्विचरन्तो यदृच्छया ।
वनाद्रिसागरान्तेषु दीव्यन्ते ते दिवौकसः ॥ १७० ॥

अर्थ—तत्पश्चात् वे स्वर्गके देव मनके समान वेगवाले विमानोंके द्वारा स्वच्छन्द विचरते हुए वन पर्वत वा समुद्रोंके तीरपर क्रीडा करते रहते हैं ॥ १७० ॥

सङ्कल्पानन्तरोत्पन्नैर्दिव्यभोगैः समन्वितम् ।
सेव्यमानाः सुरानीकैः भजन्ति स्वर्गिणः सुखम् ॥ १७१ ॥

अर्थ—तथा संकल्प करते ही उत्पन्न होनेवाले तत्प्रकारके दिव्य मनोहर भोगोंके भोगते हुए देवोंकी सेनासहित वे स्वर्गके सुख भोगते रहते हैं ॥ १७१ ॥

महाप्रभावसम्पन्ने महाभूत्योपलक्षिते ।
कालं गतं न जानन्ति निमग्नाः सौख्यसागरे ॥ १७२ ॥

अर्थ—इस प्रकार महाप्रमाणसहित महाविभूतियुक्त स्वर्गोंके सुखरूपी समुद्रमें निमग्न रहते हुए समयको नहीं जानते कि कितना बीत गया ॥ १७२ ॥

क्वचिद्गीतैः क्वचिन्नृत्यैः क्वचिद्वाद्यैर्मनोरमैः ।
क्वचिद्विलासिनीव्रातक्रीडाशृङ्गारदर्शनैः ॥ १७३ ॥
दशाङ्गभोगजैः सौख्यैर्लभ्यमानाः क्वचित् क्वचित् ।
रमन्ति स्वर्गिणः स्वर्गे कल्पनातीतवैभवे ॥ १७४ ॥

अर्थ—इस प्रकार कहीं तो मनके लुभानेवाले गीत तथा नृत्य वादित्रों सहित तथा कहीं विलासिनी अपसराओंके समूहसे किये हुए क्रीडा शृंगार सहित ॥ १७३ ॥ तथा कहींपर दश प्रकारके भोगा (कल्प वृक्षों)से उत्पन्न हुए सुखों सहित कल्पनातीत विभववाले स्वर्गोंमें वे देव रहते हैं ॥ १७४ ॥

अब दशांग भोगोंके नाम गिनाते हैं,—

मद्यतूर्यगृहज्योतिर्भूषाभाजनविग्रहाः ।
स्रग्दीपवस्त्रपात्राङ्गा दशधा कल्पपादपाः ॥ १७५ ॥

अर्थ—मद्य, वादित्र, गृह, ज्योति, भूषण, भोजन, माला, दीपक, वस्त्र, पात्र, इन दश प्रकारके भोगोंके देनेवाले दश प्रकारके कल्पवृक्ष स्वर्गोंमें होते हैं इस कारण स्वर्गके देव दशांग भोग भोगते हैं ॥ १७५ ॥

यत्सुखं नाकिनां स्वर्गे तद्वक्तुं केन पार्यते ।
स्वभावजमनातङ्कं सर्वाक्षप्रीणनक्षमम् ॥ १७६ ॥

अर्थ—स्वर्गोंमें स्वर्गवासियोंको जो सुख है उसको वर्णन करनेमें कोई समर्थ नहीं हैं क्योंकि, वह सुख विना प्रयासके स्वयमेव उत्पन्न होता है उस सुखमें आतंक (रोगादिक) नहीं हैं और समस्त इन्द्रियोंको तृप्त करनेमें समर्थ है ॥ १७६ ॥

अशेषविषयोद्भूतं दिव्यस्त्रीसंगसंभवम् ।
विनीतजनविज्ञानज्ञानाद्यैश्वर्यलाञ्छितम् ॥ १७७ ॥

अर्थ—स्वर्गोंका सुख समस्त प्रकारके विषयोंसे उत्पन्न हुआ है तथा दिव्य स्त्रियोंके संगमसे उत्पन्न हुआ है तथा विज्ञान चतुराई ज्ञानादिक ऐश्वर्य सहित उत्पन्न हुआ है उसका वर्णन कौन कर सकता है ॥ १७७ ॥

सौधर्माद्यच्युतान्ता ये कल्पाः षोडश वर्णिताः ।
कल्पातीतास्ततो ज्ञेया देवा वैमानिकाः परे ॥ १७८ ॥
अहमिन्द्राभिधानास्ते प्रवीचारविवर्जिताः ।
विवर्द्धितशुभध्यानाः शुक्लेश्यावलम्बिनः ॥ १७९ ॥

अर्थ—सौधर्म स्वर्गसे लगाकर अच्युत स्वर्ग पर्यंत सोलह स्वर्ग कल्प कहे जाते

है उनसे ऊपर जो नवग्रैवेयकोंमें वैमानिक देव हैं, वे कल्पातीत कहाते हैं ॥ १७८ ॥ वे देव अहमिन्द्र नामसे वर्णन किये जाते हैं अर्थात् उनका आचार्योंने अहमिन्द्र नाम कहा है वे अहमिन्द्र कामरहित हैं उनके स्त्रीरा मैथुन वर्जित है, इसी कारण वहा देवांगनायें नहीं होतीं उन देवोंका शुभ ध्यान उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ है और वे शुक्ल लेश्याके धरनेवाले हैं ॥ १७९ ॥

अनुत्तरविमानेषु श्रीजयन्तादिपञ्चसु ।
सम्भूय स्वर्गिणश्च्युत्वा व्रजन्ति पदमव्ययम् ॥ १८० ॥

अर्थ—तत्पश्चात् उन नवग्रैवेयक विमानोंसे ऊपर श्रीजयन्तादिक पांचे अनुत्तर विमान हैं उनमें जो देव उत्पन्न होते हैं वे वहांसे गिरकर, मनुष्य हो अवश्यही मोक्षको पाते हैं ॥ १८० ॥

कल्पेषु च विमानेषु परत परतोऽधिका ।
शुभलेश्यायुर्विज्ञानप्रभावै' स्वर्गिण स्वयम् ॥ १८१ ॥

अर्थ—तथा कल्पोंमें और कल्पातीत विमानोंमें शुभ लेश्या आयु विज्ञान प्रभावादिक करके देव स्वयही अगले २ विमानोंमें अधिक अधिक बढ़ते हुए हैं ॥ १८१ ॥

ततोऽग्रे शाश्वत धाम जन्मजातङ्कविच्युतम् ।
ज्ञानिना यदधिष्ठान क्षीणनि शेषकर्मणाम् ॥ १८२ ॥

अर्थ—उन अनुत्तर विमानोंसे आगे अर्थात् ऊपर शाश्वत धाम (मोक्षस्थान वा सिद्धशिला) है सो ससारसे उत्पन्न हुए क्लेश दु खादिसे रहित है और समस्त कर्मोंके नाश करनेवाले सिद्ध भगवानोंका आश्रयस्थान है ॥ १८२ ॥

चिदानन्दगुणोपेता निष्ठितार्था विबन्धना' ।
यत्र सन्ति स्वय बुद्धा' सिद्धा सिद्धे' स्वयवरा ॥ १८३ ॥

अर्थ—उस मोक्षस्थानमें सिद्ध भगवान् विद्यमान हैं, वे चैतन्य और आनन्द आदिके गुणोंसे सयुक्त हैं, कृतकृत्य हैं, कर्मबन्धसे रहित हैं, स्वयबुद्ध हैं, अर्थात् जिनके स्वाधीन अतीन्द्रिय ज्ञान है तथा सिद्धिको (मुक्तिको) स्वय वरनेवाले हैं ॥ १८३ ॥

समस्तोऽयमहो लोक' केवलज्ञानगोचर' ।
त व्यस्त वा समस्त वा स्वशक्त्या चिन्तयेद्यति' ॥ १८४ ॥

अर्थ—अहो भव्य जीवो! यह समस्त लोक केवलज्ञानगोचर है तथापि इस सस्थानविचय नामा धर्म ध्यानमें मुनि सामान्यतासे सबहीको तथा व्यस्त कहिये कुछ भिन्न भिन्नको अपनी शक्तिके अनुसार चिन्तवन करे ॥ १८४ ॥

(१) विजय १ वैजयन्त २ जयन्त ३ अपराजित ४ और सर्वार्थसिद्धि ५ ये पाच विमान हैं।

विलीनाशेषकर्माणं स्फुरन्तमतिनिर्मलम् ।
स्वं ततः पुरुषाकारं स्वाङ्गगर्भगतं स्मरेत् ॥ १८५ ॥

अर्थ—तथा इस लोकके संस्थानके चिन्तवनके पश्चात् अपने शरीरमें प्राप्त पुरुषाकार अपने आत्माको कर्मरहित स्फुरायमान अति निर्मल चिन्तवन करै (स्मरण करै) ॥ १८५ ॥

मालिनी

इति निगदितमुच्चैर्लोकसंस्थानमित्थं
नियतमनियतं वा ध्यायतः शुद्धबुद्धेः ।
भवति सततयोगाद्योगिनो निष्प्रमादं
नियतमनतिदूरं केवलज्ञानराज्यम् ॥ १८६ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि—इस पूर्वोक्त प्रकारसे कहे हुए लोकके स्वरूपको (संस्थानको) इस प्रकार नियत मर्यादासहित वा अनियत मर्यादारहित चिन्तवन करता हुआ जो निर्मल बुद्धि मुनि है उसको प्रमादरहित ध्यान करनेसे नियमसे शीघ्र ही केवल ज्ञान राज्यकी प्राप्ति होती है। भावार्थ—अप्रमत्त नामा सातवें गुणस्थानमें यह धर्म ध्यान उत्कृष्ट होता है उस गुणस्थानसे फिर क्षपक श्रेणीका प्रारंभ करनेपर अन्तर्मुहूर्तमें केवलज्ञानकी उत्पत्ति होती है ॥ १८६ ॥

इस प्रकार संस्थानविचय नाम धर्म ध्यानमें लोकसंस्थानका चिंतवन करना होता है इस कारण लोकके संस्थानोंका संक्षेप वर्णन किया—यदि किसीको लोकका विशेष वर्णन देखना हो तो त्रिलोकसारादि ग्रंथोंको देखे ॥

छप्पय ।

लोकरूप सब कथित संस्थानक जानै ।
अधो मध्य अरु ऊर्ध्व भेद त्रय कहे सुमानै ॥
रचना है षट्द्रव्यतणी बहुभाय विचारो ।
द्रव्यरहित नित्य अनंतिपयय लखि धारो ॥
इस ध्यान रूपमें ध्येय करि, ध्यावो जिय मन थिर रहै ।
पुनि आतमको संस्थान ह, निरखो ज्यो थिरता रहै ॥ ३१ ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे संस्थानविचय नामकध्यानवर्णनं नाम पञ्चत्रिंशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ३५ ॥

अथ षट्त्रिंशं प्रकरणम् ।

आगे-इस संस्थान विचय नामा धर्म ध्यानमें पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इस प्रकार ध्यानके जो चार भेद कहे हैं उनका वर्णन किया जाता है,—

पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम् ।
चतुर्धा ध्यानमाम्नातं भव्यराजीवभास्करैः ॥ १ ॥

अर्थ—जो भव्यरूपी कमलोंको प्रफुल्लित करनेके लिये सूर्यके समान योगीश्वर हैं उन्होंने ध्यानको पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ऐसे चार प्रकारका कहा है ॥ १ ॥

पिण्डस्थे पञ्च विज्ञेया धारणा वीरवर्णिताः ।
संयमी यास्वसंमूढो जन्मपाशान्निकृन्तति ॥ २ ॥

अर्थ—पिंडस्थ ध्यानमें श्रीवर्द्धमान स्वामीसे कही हुई जो पांच धारणायें हैं उनमें संयमी मुनि ज्ञानी होकर संसाररूपी पाशको काटता है ॥ २ ॥

पार्थिवी स्यात्तथाग्नेयी श्वसना वाथ वारुणी ।
तत्त्वरूपवती चेति विज्ञेयास्ता यथाक्रमम् ॥ ३ ॥

अर्थ—वे धारणा पार्थिवी, आग्नेयी, तथा श्वसना, वारुणी और तत्त्वरूपवती ऐसे यथाक्रमसे होती हैं ॥ ३ ॥

सो प्रथमही पार्थिवी धारणाका स्वरूप कहते हैं,—

तिर्यग्लोकसमं योगी स्मरति क्षीरसागरम् ।
निःशब्दं शान्तकल्लोलं हारनीहारसंनिभम् ॥ ४ ॥

अर्थ—प्रथमही योगी मध्यलोकमें स्वयंभू रमण नामा समुद्रपर्यन्त जो तिर्यक् लोक है, उसके समान निःशब्द, कल्लोलरहित, तथा बरफके सदृश सफेद क्षीरसमुद्रका ध्यान (चिंतवन) करै ॥ ४ ॥

तस्य मध्ये सुनिर्माणं सहस्रदलमम्बुजम् ।
स्मरत्यमितभादीप्तं द्रुतहेमसमप्रभम् ॥ ५ ॥

अर्थ—उस क्षीरसमुद्रके मध्यभागमें सुन्दर है निर्माण (रचना) जिसकी और अमित फैलती हुई दीप्तिसे शोभायमान, पिघलाये हुए सुवर्णकीसी प्रभावाले एक सहस्र दलके कमलका चिंतवन (ध्यान) करै ॥ ५ ॥

अब्जरागसमुद्भूतकेसरालिविराजितम् ।
जम्बूद्वीपप्रमाणं च चित्तभ्रमररञ्जकम् ॥ ६ ॥

अर्थ—फिर इस कमलको कैसा ध्यावै कि कमलके रागसे उत्पन्न हुए केसरोंकी पंक्तिसे विराजमान (शोभायमान) तथा चित्तरूपी भ्रमरको रंजायमान करनेवाले जम्बूद्वीपके बराबर लाख योजनका चिंतवन करै ॥ ६ ॥

स्वर्णाचलमयीं दिव्यां तत्र स्मरति कर्णिकाम् ।
स्फुरत्पिङ्गप्रभाजालपिशङ्गितदिगन्तराम् ॥ ७ ॥

अर्थ—[illegible] उस कमलके मध्य सुवर्णाचल (मेरु)के समान [illegible] [illegible] प्रभाका समूह जिसने तथा उसके द्वारा पीतरंगकी कर दी है दशो दिशायें [illegible] एक [illegible] ध्यान करै ॥ ७ ॥

शरच्चन्द्रनिभं तस्यामुन्नतं हरिविष्टरम् ।
तत्रात्मानं सुखासीनं प्रशान्तमिति चिन्तयेत् ॥ ८ ॥

अर्थ—उस कमलकी कर्णिका पर [illegible] चन्द्रमाके समान श्वेत [illegible] [illegible] विचार करै उस सिंहासन [illegible] आपको सुखरूप, शान्तस्वरूप, [illegible] विचार करै ॥ ८ ॥

रागद्वेषादिनिःशेषकलङ्कक्षपणक्षमम् ।
उद्युक्तं च भवोद्भूतकर्मसन्तानशासने ॥ ९ ॥

अर्थ—[illegible] हुए अपने आपको ऐसा विचारे कि यह रागद्वेष [illegible] समर्थ है और संसारमें उत्पन्न [illegible] जो [illegible] [illegible] उद्यमी है ॥ ९ ॥

[illegible] धारणा [illegible] जानना । अब आग्नेयी धारणाका [illegible] [illegible] —

[illegible] निश्चलाभ्यासात्कमलं नाभिमण्डले ।
स्मरत्यतिमनोहारि षोडशोन्नतपत्रकम् ॥ १० ॥

अर्थ—[illegible] (ध्याता) [illegible] अभ्यासमें [illegible] नाभिमण्डलमें [illegible] [illegible] कमलका ध्यान (चिन्तन) करे ॥ १० ॥

प्रतिपत्रसमासीनस्वरमालाविराजितम् ।
कर्णिकायां महामन्त्रं विस्फुरन्तं विचिन्तयेत् ॥ ११ ॥

अर्थ—[illegible] महामन्त्र (अ आ [illegible]) [illegible] [illegible] ॥ ११ ॥

[illegible] —

रेफरुद्धं कलाबिन्दुलाञ्छितं शून्यमक्षरम् ।
[illegible]न्मुखम् ॥ १२ ॥

अर्थ—[illegible]

फिर कैसा चिन्तवन करै सो कहते हैं,—

ततो रेफाग्निनिर्यान्तीं शनैर्धूमशिखां स्मरेत् ।
स्फुलिङ्गसन्ततिं पश्चाज्ज्वालालीं तदनन्तरम् ॥ १३ ॥
तेन ज्वालाकलापेन वर्द्धमानेन सन्ततम् ।
दहत्यविरतं धीरः पुण्डरीकं हृदि स्थितम् ॥ १४ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् उस महामन्त्रके रेफसे मंद मंद निकलती हुई धूमकी (धूएंकी) शिखाका चिन्तवन करै तत्पश्चात् उसमेंसे अनुक्रमसे प्रवाहरूप निकलते हुए स्फुलिंगोंकी पंक्तिका चिन्तवन करै और तत्पश्चात् उसमेंसे निकलती हुई ज्वालाकी लपटोंको विचारै ॥ १३ ॥ तत्पश्चात् योगी मुनि क्रमसे बढते हुए उस ज्वालाके समूहसे अपने हृदयस्थ कमलको निरंतर जलता हुआ चिन्तवन करै ॥ १४ ॥

उस हृदयस्थ कमलका विशेष स्वरूप कहते हैं,—

तदष्टकर्मनिर्माणमष्टपत्रमधोमुखम् ।
दहत्येव महामन्त्रध्यानोत्थप्रबलोऽनलः ॥ १५ ॥

अर्थ—वह हृदयस्थ कमल अधोमुख आठ पत्रका (पांखुडीवाला) है उन आठ पत्रों (दलों) पर आठ कर्म स्थित हैं ऐसे कमलको नाभिस्थ कमलकी कर्णिकामें स्थित "र्हं" महामन्त्रके ध्यानसे उठी हुई प्रबल अग्नि निरंतर दहती है इस प्रकार चिन्तवन करै, तब अष्टकर्म जल जाते हैं यह चैतन्यपरिणामोंकी सामर्थ्य है ॥ १५ ॥

ततो बहिः शरीरस्य त्रिकोणं वह्निमण्डलम् ।
स्मरेज्ज्वालाकलापेन ज्वलन्तमिव वाडवम् ॥ १६ ॥
वह्निबीजसमाक्रान्तं पर्यन्ते स्वस्तिकाङ्कितम् ।
ऊर्ध्ववायुपुरोद्भूतं निर्धूमं काञ्चनप्रभम् ॥ १७ ॥
अन्तर्दहति मन्त्रार्चिर्बहिर्वह्निपुरं पुरम् ।
धगद्धगितिविस्फूर्जज्ज्वालाप्रचयभासुरम् ॥ १८ ॥
भस्मभावमसौ नीत्वा शरीरं तच्च पङ्कजम् ।
दाह्याभावात्स्वयं शान्तिं याति वह्निः शनैः शनैः ॥ १९ ॥

अर्थ—उस कमलके दग्ध हुए पश्चात् शरीरके बाह्य त्रिकोण वह्निको (अग्निको) चिंतवन करै सो ज्वालाके समूहोंसे जलते हुए वडवानलके समान ध्यान करै ॥ १६ ॥ तथा अग्नि बीजाक्षर 'र'से व्याप्त और अन्तमें साथियाके चिह्नसे चिह्नित हो, ऊर्ध्व वायुमंडलसे उत्पन्न धूमरहित कांचनकीसी प्रभावाला चिंतवन करै ॥ १७ ॥ इस प्रकार यह धगधगायमान फैलती हुई लपटोंके समूहसे देदीप्यमान बाहरका अग्निपुर (अग्निमंडल) अंतरंगकी मंत्राग्निको दग्ध करता है ॥ १८ ॥ तत्पश्चात् यह अग्निमंडल उस

नाभिस्थ कमल और शरीरको भस्मीभूत करके दाह्यका (जलाने योग्य पदार्थका) अभाव होनेसे धीरे धीरे अपने आप यह अग्नि शान्त हो जाती है ॥ १९ ॥

इस प्रकार यह आग्नेयी धारणा कही आगे मारुती नामा धारणाका स्वरूप कहते हैं,—

विमानपथमापूर्य सचरन्त समीरणम् ।
स्मरत्यविरत योगी महावेग महाबलम् ॥ २० ॥

अर्थ—योगी (ध्यान करनेवाला मुनि) आकाशमें पूर्ण होकर विचरते हुए महावेगवाले और महाबलवान् ऐसे वायुमंडलका चिन्तवन करै ॥ २० ॥

चालयन्त सुरानीक ध्वनन्त त्रिदशालयम् ।
दारयन्त घनव्रात क्षोभयन्त महार्णवम् ॥ २१ ॥
व्रजन्त भुवनाभोगे सचरन्त हरिन्मुखे ।
विसर्पन्त जगन्नीडे निविशन्त धरातले ॥ २२ ॥
उद्धूय तद्रज शीघ्र तेन प्रबलवायुना ।
तत स्थिरीकृताभ्यास' समीर शान्तिमानयेत् ॥ २३ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् उस पवनको ऐसा चितवन करै कि—देवोंकी सेनाको चलायमान करता है, मेरु पर्वतको कँपाता है, मेघोंके समूहको बखेरता हुआ, समुद्रको क्षोभरूप करता हुआ ॥ २१ ॥ तथा लोकके मध्य गमन करता हुआ, दशों दिशाओंमें संचरता हुआ जगतरूप घरमें फैला हुआ, पृथिवीतलमें प्रवेश करता हुआ चितवन करै ॥ २२ ॥ तत्पश्चात् ध्यानी (मुनि) ऐसा चितवन करै कि वह जो शरीरादिकका भस्म है उसको इस प्रबल वायुमंडलने तत्काल उडादिया, तत्पश्चात् इस वायुको स्थिरकर चिन्तवन करके शान्तरूप करै ॥ २३ ॥

इस प्रकार यह मारुती धारणा कही । अब वारुणी धारणाका वर्णन करते हैं,—

वारुण्या स हि पुण्यात्मा घनजालचित नभ ।
इन्द्रायुधतडिद्गर्जचमत्काराकुल स्मरेत् ॥ २४ ॥

अर्थ—वही पुण्यात्मा (ध्यानी मुनि) इन्द्र धनुष, बिजुली, गर्जनादि चमत्कार सहित मेघोंके समूहसे भरे हुए आकाशका ध्यान (चितवन) करै ॥ २४ ॥

सुधाम्बुप्रभवै सान्द्रैर्बिन्दुभिर्मौक्तिकोज्ज्वलै ।
वर्षन्त त स्मरेद्धीर स्थूलस्थूलैर्निरन्तरम् ॥ २५ ॥

अर्थ—तथा उन मेघोंको अमृतसे उत्पन्न हुए मोती समान उज्ज्वल बड़े बड़े बिंदुओंसे निरन्तर धारारूप बरसते हुए आकाशको धीर, वीर मुनि स्मरण करै अर्थात् ध्यान करै ॥ २५ ॥

---

१ 'स्थिरीकृताभ्यास' इत्यपि पाठ ।

ततोऽर्द्धेन्दुसमं कान्तं पुरं वरुणलाञ्छितम् ।
ध्यायेत्सुधापयःपूरैः प्लावयन्तं नभस्तलम् ॥ २६ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् अर्द्धचन्द्राकार, मनोहर, अमृतमय जलके प्रवाहसे आकाशको बहाते हुए वरुणपुरका (वरुणमंडलका) चिन्तवन करै ॥ २६ ॥

तेनाचिन्त्यप्रभावेण दिव्यध्यानोत्थिताम्बुना ।
प्रक्षालयति निःशेषं तद्रजः कायसंभवम् ॥ २७ ॥

अर्थ—अचिन्त्य है प्रभाव जिसका ऐसे दिव्य ध्यानसे उत्पन्न हुए जलसे शरीरके जलनेसे उत्पन्न हुए समस्त भस्मको प्रक्षालन करता है अर्थात् धोता है, ऐसा चिन्तवन करै॥२७।

इसप्रकार वारुणी धारणा है । अब तत्त्वरूपवती धारणाको कहते हैं,—

सप्तधातुविनिर्मुक्तं पूर्णचन्द्रामलत्विषम् ।
सर्वज्ञकल्पमात्मानं ततः स्मरति संयमी ॥ २८ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् संयमी मुनि सप्त धातुरहित, पूर्णचन्द्रमाके समान है निर्मल प्रभा जिसकी ऐसे सर्वज्ञसमान अपने आत्माका ध्यान करै ॥ २८ ॥

मृगेन्द्रविष्टरारूढं दिव्यातिशयसंयुतम् ।
कल्याणमहिमोपेतं देवदैत्योरगार्चितम् ॥ २९ ॥
विलीनाशेषकर्माणं स्फुरन्तमतिनिर्मलम् ।
स्वं ततः पुरुषाकारं स्वाङ्गगर्भगतं स्मरेत् ॥ ३० ॥

अर्थ—तत्पश्चात् अपने आत्माको अतिशय युक्त, सिंहासनपर आरूढ, कल्याणकी महिमासहित, देव दानव धरणेन्द्रादिसे पूजित है ऐसा चिंतवन करै ॥ २९ ॥ तत्पश्चात् विलय होगये हैं आठ कर्म जिसके ऐसा स्फुरायमान (प्रगट) अति निर्मल पुरुषाकार अपने शरीरमें प्राप्त हुए अपने आत्माका चिंतवन करै (इस प्रकार तत्त्वरूपवती धारणा कही) ॥ ३० ॥

आर्या ।

इत्यविरतं स योगी पिण्डस्थे जातनिश्चलाभ्यासः[1] ।
शिवसुखमनन्यसाध्यं प्राप्नोत्यचिरेण कालेन ॥ ३१ ॥

अर्थ—इस प्रकार पिंडस्थ ध्यानमें जिसका निश्चल अभ्यास होगया है वह ध्यानी मुनि अन्य प्रकारसे साधनेमें न आवे ऐसे मोक्षके सुखको शीघ्र ही (अल्प समयमें ही) प्राप्त होता है ॥ ३१ ॥

---

१ 'पुरुषो' इत्यपि पाठः।

स्रग्धरा।

इत्थं यत्रानवद्यं स्मरति नवसुधासान्द्रचन्द्रांशुगौरं
श्रीमत्सर्वज्ञकल्पं कनकगिरितटे वीतविश्वप्रपञ्चम्।
आत्मानं विश्वरूपं त्रिदशगुरुगणैरप्यचिन्त्यप्रभावं
तत्पिण्डस्थं प्रणीतं जिनसमयमहाम्भोधिपारं प्रयातैः ॥३२॥

अर्थ—उक्त प्रकारसे जिस पिंडस्थ ध्यानमें निर्दोष, नये अमृतसे भीगीहुई चन्द्रमाकी किरण सदृश—गोरे वर्ण, श्रीमत्सर्वज्ञ भगवान् समान तथा मेरु गिरिके तट वा शिखरपर बैठा, बीते हैं समस्त प्रपंच जिसके ऐसे, तथा विश्वरूप समस्त ज्ञेय पदार्थोंके आकार जिसमें प्रतिबिम्बित हो रहे हैं ऐसे देवेंद्रोंके समूहसे भी जिसका अधिक प्रभाव हो ऐसे आत्माका जो चिन्तवन किया जाय उसको जिनसिद्धान्तरूपी महासमुद्रके पार पहुंचनेवाले मुनीश्वरोंने पिंडस्थ ध्यान कहा है ॥ ३२ ॥

शार्दूलविक्रीडितम्।

विद्यामण्डलमन्त्रयन्त्रकुहककूराभिचाराः क्रियाः
सिंहाशीविषदैत्यदन्तिशरभा यान्त्येव निःसारताम्।
शाकिन्यो ग्रहराक्षसप्रभृतयो मुञ्चन्त्यसद्वासना
एतद्ध्यानधनस्य सन्निधिवशाद्भानोर्यथा कौशिकाः ॥ ३३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार सूर्यके उदय होनेपर उलूक (घूघू) भाग जाते हैं उसी प्रकार इस पिंडस्थ ध्यानरूपी धनवालेके समीप होनेसे विद्या, मंडल, मंत्र, यन्त्र, इन्द्रजालके आश्चर्य (प्रसिद्ध कपट) क्रूर अभिचार (मरणादि) स्वरूप क्रिया, तथा सिंह आशीविष (सर्प) दैत्य हस्ती अष्टापद ये सबही निःसारताको प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् किसी प्रकारका भी उपद्रव नहीं करते तथा शाकिनी ग्रह राक्षस वगैरह भी खोटी वासनाको छोड देते हैं।

भावार्थ—पिंडस्थ ध्यानके प्राप्त होनेवाले मुनिके निकट कोई दुष्ट और किसी प्रकारका भी उपद्रव नहीं कर सकते समस्त विघ्न दूरसे नष्ट हो जाते हैं ॥ ३३ ॥

इस प्रकार पिंडस्थ ध्यानका वर्णन किया। यहां कोई ऐसा कहे कि ध्यान तो ज्ञानानन्दस्वरूप आत्माका ही करना है इतनी पृथिवी, अग्नि, पवन, जलादिककी कल्पना किसलिये करनी? उसको कहा जाता है कि—

यह शरीर पृथिवी आदि धातुमय है और सूक्ष्म पुद्गल कर्मोंके द्वारा उत्पन्न हुआ है उसका अन्तरंग मध्य संसार है इनके संबंधसे आत्मा द्रव्य यावत्काल कर्मोंसे अनादि कालसे मलिन हो रहा है इस कारण इस जीवके बिना विचारे अनेक विकल्प उत्पन्न होते हैं तब निर्विकल्प निर्मल परिणाम निश्चल नहीं होते उनको निश्चल करनेके

१ एतद्ध्यानधनस्य।

लिये स्वाधीन चिंतवनोंसे चित्तको वश करना चाहिये सो, ध्यानमें किसीका आलम्बन लिये बिना चित्त निश्चल नहीं होता, इसकारण उसको आलम्बन करनेके लिये पिंडस्थ ध्यानमें पृथिवी आदि पांच प्रकारकी धारणाकी कल्पना स्थापन की गयी है। सो, प्रथम तो पृथिवी संबंधी धारणासे मनको थांभै तत्पश्चात् अग्निकी धारणामें कर्म और शरीरको दग्ध करनेकी कल्पना करके मनको रोके, तत्पश्चात् पवनकी धारणाकी कल्पना करके शरीर तथा कर्मकी भस्मको उडाकर मनको थांभै, तत्पश्चात् जलकी धारणासे उसमेंसे बची बचाई रजको धो देनेरूप ध्यानसे मनको थांभै, तत्पश्चात् आत्मा, शरीर और कर्मसे रहित शुद्ध ज्ञानानंदमय कल्पना करके, उसमें मनको स्तंभन करै इस प्रकार मनको थामते २ अभ्यासके करनेसे ध्यानका दृढ अभ्यास हो जाता है तब आत्मा शुक्लध्यानमें ठहरता है, उस समय घातिकर्मोंका नाश करके केवल ज्ञानकी प्राप्ति होकर, मोक्ष हो जाता है। तथा अन्यमती भी इसीप्रकार पार्थिवी आदि धारणा करनेको कहते हैं परन्तु उनके आत्मतत्त्वका यथार्थ निरूपण नहीं होनेके कारण उनके यहां सत्यार्थ धारणा नहीं होती। कुछ लौकिक चमत्कार सिद्ध हो तो हो जाओ, परन्तु मोक्षकी प्राप्ति तो यथार्थ तत्त्वके श्रद्धान ज्ञान आचरण विना होती ही नहीं। इस कारण इसमें सन्देह नहीं करना॥

छप्पय १५ मात्रा।

या पिंडस्थ ध्यानकै माहिं। देहविषै थित आतम माहि।
चितवै पंच धारणा धारि। निज आधीन चित्तको पारि॥ ३६॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे पिंडस्थ ध्यानवर्णनं नाम सप्तत्रिंश प्रकरणं समाप्तम्॥ ३७॥

अथ अष्टत्रिंश प्रकरणम्।

आगे पदस्थ ध्यानका वर्णन करते हैं,—

पदान्यालम्ब्य पुण्यानि योगिभिर्यद्विधीयते।
तत्पदस्थं मतं ध्यानं विचित्रनयपारगैः॥ १॥

अर्थ—जिसको योगीश्वर पवित्र मंत्रोंके अक्षरस्वरूप पदोंका अवलम्बन करके चिन्तवन करते हैं उसको अनेक नयोंके पार पहुंचनेवाले योगीश्वरोंने पदस्थ ध्यान कहा है॥ १॥

प्रथम ही वर्णमातृका ध्यानका विधान करते हैं,—

ध्यायेदनादिसिद्धान्तप्रसिद्धां वर्णमातृकाम्।
निःशेषशब्दविन्यासजन्मभूमिं जगन्नुताम्॥ २॥

अर्थ—अनादि सिद्धान्तमें प्रसिद्ध जो वर्णमातृका अर्थात् अकारादि स्वर और ककारादि व्यञ्जनोंका समूह है उसका चिन्तवन करै क्योंकि, यह वर्णमातृका समस्त शब्दोंकी रचनाकी जन्मभूमि है और जगतमें वंदनीय है ॥ २ ॥

द्विगुणाष्टदलाम्भोजे नाभिमण्डलवर्तिनि ।
भ्रमन्तीं चिन्तयेद्ध्यानी प्रतिपत्रं स्वरावलीम् ॥ ३ ॥

अर्थ—ध्यान करनेवाला पुरुष नाभिमंडलपर स्थित सोलह दल (पँखुड़ी)के कमलके प्रत्येक दलपर क्रमसे फिरती हुई स्वरावलीका अर्थात् अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः इन अक्षरोंका चिन्तवन करै ॥ ३ ॥

चतुर्विंशतिपत्राढ्यं हृदि कञ्जं सकर्णिकम् ।
तत्र वर्णानिमान्ध्यायेत्संयमी पञ्चविंशतिम् ॥ ४ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् ध्यानी अपने हृदयस्थानपर कर्णिका सहित चौबीस पत्रोंके कमलका चिन्तवन करै उसकी कर्णिका तथा पत्रोंमें क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न प फ ब भ म इन पचीस अक्षरोंका ध्यान करै ॥ ४ ॥

ततो वदनराजीवे पत्राष्टकविभूषिते ।
परे वर्णाष्टकं ध्यायेत्संभ्रमन्तं प्रदक्षिणम् ॥ ५ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् आठ पत्रोंसे विभूषित मुखकमलमें प्रत्येक पत्रपर भ्रमण करते हुए य र ल व श ष स ह इन आठ वर्णोंका ध्यान करै ॥ ५ ॥

इत्यजस्रं स्मरन् योगी प्रसिद्धां वर्णमातृकाम् ।
श्रुतज्ञानाम्बुधेः पारं प्रयाति विगतभ्रमः ॥ ६ ॥

अर्थ—इस प्रकार प्रसिद्ध वर्णमातृकाका निरन्तर ध्यान करता हुआ योगी भ्रमरहित होकर श्रुतज्ञानरूपी समुद्रके पारको (द्वादशांगको) प्राप्त हो जाता है। भावार्थ—[illegible] हो जाता है ॥ ६ ॥

उक्तं च—आर्या ।

कमलदलोदरमध्ये ध्यायन्वर्णाननादिसंसिद्धान् ।
नष्टादिविषयबोधं ध्यातुः सम्पद्यते कालात् ॥ ७ ॥

अर्थ—[illegible] ॥ ७ ॥

उक्तं च—[illegible] ।

[illegible]
[illegible] ।

प्राप्नोति चाप्रतिमवाङ्महतीं महद्भ्यः
पूजां परत्र च गतिं पुरुषोत्तमाप्ताम् ॥ २ ॥

अर्थ—इस वर्णमातृकाके जाप्यसे योगी क्षयरोग, अरुचिपना, अग्निमंदता, कुष्ठ, उदर रोग, कास तथा श्वास आदि रोगोंको जीतता है। और वचनसिद्धता, महान् पुरुषोंसे पूजा तथा परलोकमें उत्तम पुरुषोंसे प्राप्त की हुई श्रेष्ठ गतिको प्राप्त होता है ॥ २ ॥

अब मन्त्रराजका ध्यान कहते हैं,—

अथ मन्त्रपदाधीशं सर्वतत्त्वैकनायकम् ।
आदिमध्यान्तभेदेन स्वरव्यञ्जनसम्भवम् ॥ ७ ॥
ऊर्ध्वाधोरेफसंरुद्धं सपरं बिन्दुलाञ्छितम् ।
अनाहतयुतं तत्त्वं मन्त्रराजं प्रचक्षते ॥ ८ ॥

अर्थ—अब समस्त मन्त्र पदोंका स्वामी, सब तत्त्वोंका नायक, आदि मध्य और अन्तके भेदसे स्वर तथा व्यञ्जनोंसे उत्पन्न, ऊपर और नीचे रेफ (र्)से रुका हुआ तथा बिन्दु (ं)से चिह्नित सपर कहिये हकार अर्थात् (र्हं) ऐसा बीजाक्षर तत्त्व है अनाहतसहित इसको योगीजन मन्त्रराज कहते हैं ॥ ७ ॥ ८ ॥

देवासुरनतं भीमद्गुर्बोधध्वान्तभास्करम् ।
ध्यायेन्मूर्द्धस्थचन्द्रांशुकलापाक्रान्तदिङ्मुखम् ॥ ९ ॥

अर्थ—देव और असुर कर रहे हैं नमस्कार जिसको ऐसा, अज्ञानरूपी अन्धकारको दूर करनेके लिये सूर्यके समान तथा मस्तकपर स्थित जो चन्द्रमा उसकी किरणोंके समूहसे व्याप्त किया है दिशाओंका मुख (आदि) भाग जिसने ऐसे इस मन्त्रराजका ध्यान करै ॥ ९ ॥

तत्पश्चात् इस मन्त्रराजका कैसा ध्यान करै सो कहते हैं ।

कनककमलगर्भे कर्णिकायां निषण्णं
विगतमलकलङ्कं सान्द्रचन्द्रांशुगौरम् ।
गगनमनुसरन्तं सञ्चरन्तं हरित्सु
स्मर जिनवरकल्पं मन्त्रराजं यतीन्द्र ॥ १० ॥

अर्थ—हे मुनीन्द्र! सुवर्णमय कमलके मध्यमें कर्णिकापर विराजमान, मल तथा कलंकसे रहित, शरदृतुके पूर्ण चन्द्रमाकी किरणोंके समान गौरवर्णके धारक आकाशमें गमन करते हुए तथा दिशाओंमें व्याप्त होते हुए ऐसे श्रीजिनेन्द्रके सदृश मन्त्रराजका स्मरण अर्थात् ध्यान करो ॥ १० ॥

(१) अनाहतका स्वरूप आगे लिखा जावेगा ।

इस मन्त्रराजके विषयमें जो मत हैं उनको कहते हैं ।

> बुद्धः कैश्चिद्धरिः कैश्चिदजः कैश्चिन्महेश्वरः ।
> शिवः सार्वस्तथेशानः सोऽयं वर्णः प्रकीर्त्तितः ॥ ११ ॥

अर्थ—कितने ही इस (ह्रीं) अक्षरको बुद्ध, कितने ही हरि, कितने ही ब्रह्मा, कितने ही महेश्वर, कितने ही शिव, कितने ही सार्व और कितने ही ईशानस्वरूप कहते हैं॥ ११ ॥

परन्तु यथार्थमें यह अक्षर क्या है सो कहते हैं ।

> मन्त्रमूर्त्तिं समादाय देवदेवः स्वयं जिनः ।
> सर्वज्ञः सर्वगः शान्तः सोऽयं साक्षाद्व्यवस्थितः ॥ १२ ॥

अर्थ—यह मन्त्रराज (ह्रीं) अक्षर ऐसा है कि मानो सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, शान्तमूर्त्ति ऐसे देवाधिदेव स्वयं श्रीजिनेन्द्र भगवान् ही मन्त्रमूर्त्तिको धारण करके साक्षात् विराजमान हैं । भावार्थ—यह मन्त्रराज अक्षर साक्षात् श्रीजिनेन्द्रस्वरूप है॥ १२ ॥

> ज्ञानबीजं जगद्वन्द्यं जन्मज्वलनवार्मुचम् ।
> पवित्रं मतिमान्ध्यायेदिमं मन्त्रमहेश्वरम् ॥ १३ ॥

अर्थ—बुद्धिमान् पुरुष इस मन्त्रराजको ज्ञानका बीज, जगत्से वन्दनीय तथा पवित्र तथा जन्मरूप अग्निके लिये अर्थात् जन्मसंतापको दूर करनेके लिये मेघके समान ध्यावै॥ १३ ॥

> सकृदुच्चारितं येन हृदि येन स्थिरीकृतम् ।
> तत्त्वं तेनापवर्गाय पाथेयं प्रगुणीकृतम् ॥ १४ ॥

अर्थ—इस मन्त्रराज महातत्त्वको जिस पुरुषने एक बार भी उच्चारण किया तथा जिसने हृदयमें स्थिर किया उसने मोक्षके लिये पाथेय (तोशा) संग्रह किया॥ १४ ॥

> यदैवेदं महातत्त्वं मुनेर्धत्ते हृदि स्थितिम् ।
> तदैव जन्मसन्तानप्ररोहः प्रविशीर्यते ॥ १५ ॥

अर्थ—जिस समय यह महातत्त्व मुनिके हृदयमें स्थिति करता है उस ही कालमें उसके जन्मसन्तानका अङ्कुर नष्ट हो जाता है अर्थात् टूट जाता है॥ १५ ॥

अब इस मन्त्रराजका ध्यान कैसे करै सो कहते हैं,—

> स्फुरन्तं भ्रूलतामध्ये विशन्तं वदनाम्बुजे ।
> तालुरन्ध्रेण गच्छन्तं स्रवन्तममृताम्बुभिः ॥ १६ ॥
> स्फुरन्तं नेत्रपत्रेषु कुर्वन्तमलके स्थितिम् ।
> भ्रमन्तं ज्योतिषां चक्रे स्पर्द्धमानं सितांशुना ॥ १७ ॥
> संचरन्तं दिशामन्ते प्रोच्छलन्तं नभस्तले ।
> छेदयन्तं कल्मषौघं स्फोटयन्तं भवभ्रमम् ॥ १८ ॥

नयन्त परमस्थान योजयन्त शिवश्रियम् ।
इति मन्त्राधिप धीर कुम्भकेन विचिन्तयेत् ॥ १९ ॥

अर्थ—धैयका धारक योगी कुंभक प्राणायामसे इस मन्त्रराजको भाहकी लताओंमें स्फुरायमान होता हुआ, मुखकमलमें प्रवेश करता हुआ, तालुआके छिद्रसे गमन करता हुआ तथा अमृतमय जलसे झरता हुआ ॥ १६ ॥ नेत्रकी पलकोंपर स्फुरायमान होता हुआ, केशोंमें स्थिति करता तथा ज्योतिषियोंके समूहमें भ्रमता हुआ, चन्द्रमाके साथ स्पर्द्धा करता हुआ ॥ १७ ॥ दिशाओंमें सचरता हुआ, आकाशमें उछलता हुआ, कल कके समूहको छेदता हुआ, ससारके भ्रमको दूर करता हुआ ॥१८॥ तथा परम स्थानको (मोक्षस्थानको) प्राप्त करता हुआ, मोक्षलक्ष्मीसे मिलाप कराता हुआ ध्यावे ॥ १९ ॥

अनन्यशरण साक्षात्तत्सलीनैकमानस ।
तथा स्मरत्यसौ ध्यानी यथा स्वप्नेऽपि न स्खलेत् ॥ २० ॥

अर्थ—ध्यान करनेवाला इस मन्त्राधिपको अन्य किसीका शरण न लेकर, इसहीमें साक्षात् तल्लीन मन करके, स्वप्नमेंभी इस मन्त्रसे च्युत न हो ऐसा दृढ होकर, ध्यावै॥२०॥

इति मत्वा स्थिरीभूत सर्वावस्थासु सर्वथा ।
नासाग्रे निश्चल धत्ते यदि वा भ्रूलतान्तरे ॥ २१ ॥

अर्थ—ऐसे पूर्वोक्त प्रकार महामन्त्रके ध्यानके विधानको जानकर, मुनि समस्त अवस्थाओंमें स्थिर स्वरूप सर्वथा नासिकाके अग्रभागमें अथवा भौंहलताके मध्यमें इसको निश्चल धारण करै ॥ २१ ॥

तत्र कैश्चिच्च वर्णादिभेदैस्तत्कल्पित पुन ।
मन्त्रमण्डलमुद्रादिसाधनैरिष्टसिद्धिदम् ॥ २२ ॥

अर्थ—इस नासिकाके अग्रभाग अथवा भौंहलताके मध्यमें निश्चल धारण करनेके अवसरमें कई आचार्योंने उस मन्त्राधिपको ध्यान करनेमें अक्षरादिकके भेद करके कल्पना किया है और मन्त्र मडल मुद्रा इत्यादिक साधनोंसे इष्टकी सिद्धिका देनेवाला कहा है ॥ २२ ॥

उक्त च—

अकारादि हकारान्त रेफमध्य सबिन्दुकम् ।
तदेव परम तत्त्व यो जानाति स तत्त्ववित् ॥ १ ॥

अर्थ—अकार है आदिमें जिसके, हकार है अन्तमें जिसके और रेफ है मध्यमें जिसके और बिन्दुसहित ऐसा जो अर्ह पद है वही परम तत्त्व है। जो कोई इसको जानता है वह तत्त्वका जाननेवाला है ॥ १ ॥

सर्वावयवसंपूर्णं ततोऽवयवविच्युतम् ।
क्रमेण चिन्तयेद्ध्यानी वर्णमात्रं शशिप्रभम् ॥ २ ॥

अर्थ—प्रथम तो ध्यानी अर्हं अक्षरका पूर्वोक्त समस्त अवयवोंसहित चिन्तन करै तत्पश्चात् अवयवरहित ध्यान करै फिर उसमें चन्द्रमासमान प्रभावाला वर्णमात्र (हकार) अक्षर चिन्तवन करै ॥ २ ॥

बिन्दुहीनं कलाहीनं रेफद्वितयवर्जितम् ।
अनक्षरत्वमापन्नमनुच्चार्यं च चिन्तयेत् ॥ ३ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् इस अक्षरका बिन्दु (अनुस्वार) रहित, कला (अर्द्ध चन्द्राकार) रहित और दोनों रेफ (र) रहित, अक्षर रहितताको प्राप्त तथा उच्चारण करने योग्य न हो ऐसा [illegible] चिन्तवन करै ॥ ३ ॥

चन्द्रलेखासमं सूक्ष्मं स्फुरन्तं भानुभास्वरम् ।
अनाहताभिधं देवं दिव्यरूपं विचिन्तयेत् ॥ २३ ॥

अर्थ—चन्द्रमाकी रेखा समान सूक्ष्म और सूर्यसरीखा देदीप्यमान, स्फुरायमान होता हुआ [illegible] दिव्य रूपका धारक ऐसा जो अनाहत नामका देव है उसका चिन्तवन करै ॥ २३ ॥

अस्मिन्स्थिरीकृताभ्यासाः सन्तः शान्तिं समाश्रिताः ।
अनेक [illegible] तीर्त्वा जन्मोग्रसागरम् ॥ २४ ॥

अर्थ—इस अनाहत नामा [illegible] किया है स्थिर अभ्यास जिन्होंने ऐसे [illegible] [illegible] द्वारा [illegible] और [illegible] शान्तिको प्राप्त होगये हैं ॥ २४ ॥

[illegible] चिन्तवन [illegible] करते हैं,—

[illegible] पुनः सूक्ष्मं [illegible] ।
[illegible] मुनिसत्तम ॥ २५ ॥

अर्थ—[illegible] लेकर, [illegible] (निश्चय) [illegible] अनाहतके [illegible] सूक्ष्म [illegible] अग्रभाग समान [illegible] ॥ २५ ॥

[illegible] ।
[illegible] निर्मलं क्षणे ॥ २६ ॥

अर्थ—[illegible] ॥ २६ ॥

[illegible]

सिध्यन्ति सिद्धयः सर्वा अणिमाद्या न संशयः ।
सेवां कुर्वन्ति देवाद्या आज्ञैश्वर्यं च जायते ॥ २७ ॥

अर्थ—इस अनाहत मंत्रके ध्यानसे ध्यानीके अणिमा आदि सब सिद्धियें होती हैं और देवादिक सेवा करते हैं तथा आज्ञा और ऐश्वर्य होता है इसमें संदेह नहीं है ॥२७॥

क्रमात्प्रच्याव्य लक्ष्येभ्यस्ततोऽलक्ष्ये स्थिरं मनः ।
दधतोऽस्य स्फुरत्यन्तर्ज्योतिरत्यक्षमक्षयम् ॥ २८ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् क्रमसे लक्ष्योंसे (लखने योग्य वस्तुओंसे) छुडाकर, अलक्ष्यमें अपने मनको धारण करते हुए ध्यानीके अंतरंगमें अक्षय तथा इंद्रियोंके अगोचर ज्योति अर्थात् ज्ञान प्रकट होता है ॥ २८ ॥

इति लक्ष्यानुसारेण लक्ष्याभावः प्रकीर्तितः ।
तस्मिन्स्थितस्य मन्येऽहं मुनेः सिद्धं समीहितम् ॥ २९ ॥

अर्थ—इस प्रकार लक्ष्यके अनुसार लक्ष्यका अभाव कहा गया सो, आचार्य महाराज उत्प्रेक्षासे कहते हैं कि उस अलक्ष्यमें स्थिर रहनेवाले मुनिके वांछित कार्यको मैं सिद्ध हुआ मानता हूं ॥ २९ ॥

एतत्तत्त्वं शिवाख्यं वा समालम्ब्य मनीषिणः ।
उत्तीर्णा जन्मकान्तारमनन्तक्लेशसंकुलम् ॥ ३० ॥

अर्थ—इस अनाहत तत्त्व अथवा शिवनामा तत्त्वको अवलंबन करके मनीषीगण अनन्तक्लेशसहित संसाररूपी वनसे पार हो गये। इसप्रकार मंत्रराज और अनाहत दोनों मंत्रोंके ध्यानका विधान कहा ॥ ३० ॥

अथ प्रणव मंत्रके (ओंकारके) ध्यानका विधान कहते हैं,—

स्मर दुःखानलज्वाला-प्रशान्तेर्नवनीरदम् ।
प्रणवं वाङ्मयज्ञानप्रदीपं पुण्यशासनम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—हे मुने! तू प्रणव नामा अक्षरका स्मरण कर अर्थात् ध्यान कर क्योंकि, यह प्रणव नामा अक्षर दुःखरूपी अग्निकी ज्वालाको शान्त करनेके लिये मेघकी समान है तथा वाङ्मय (समस्तश्रुतके) प्रकाश करनेके लिये दीपक है और पुण्यका शासन है॥३१॥

यस्माच्छब्दात्मकं ज्योतिः प्रसूतमतिनिर्मलम् ।
वाच्यवाचकसंबन्धस्तेनैव परमेष्ठिनः ॥ ३२ ॥

अर्थ—इस प्रणवसे अतिनिर्मल शब्दरूप ज्योति अर्थात् ज्ञान उत्पन्न हुआ है और परमेष्ठीका वाच्य वाचक संबंध भी इसी प्रणवसे होता है अर्थात् परमेष्ठी तो इस प्रणवका वाच्य और यह परमेष्ठीका वाचक है ॥ ३२ ॥

हृत्कञ्जकर्णिकासीन स्वरव्यञ्जनवेष्टितम् ।
स्फीतमत्यन्तदुर्धर्षं देवदैत्येन्द्रपूजितम् ॥ ३३ ॥
प्रक्षरन्मूर्द्धिसंक्रान्तचन्द्रलेखामृतप्लुतम् ।
महाप्रभावसम्पन्न कर्मकक्षहुताशनम् ॥ ३४ ॥
महातत्त्व महाबीज महामन्त्र महत्पदम् ।
शरचन्द्रनिभं ध्यानी कुम्भकेन विचिन्तयेत् ॥ ३५ ॥

अर्थ—ध्यान करनेवाला संयमी हृदयकमलकी कर्णिकामें स्थित और स्वर व्यञ्जन अक्षरोंसे वेढा हुआ, उज्वल, अत्यन्त दुर्धर्ष, देव और दैत्योंके इन्द्रोंसे पूजित तथा झरते हुए मस्तकमें स्थित चन्द्रमाकी (लेखा) रेखाके अमृतसे आर्द्रित, महाप्रभावसम्पन्न, कर्मरूपी वनको दग्ध करनेके लिये अग्निसमान ऐसे इस महातत्त्व, महाबीज, महातन्त्र, महापदस्वरूप तथा शरदके चन्द्रमाकी समान गौर वर्णके धारक 'ओं'को कुंभक प्राणायामसे चिंतवन करै ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

अब इसका विशेष विधान कहते हैं,—

सान्द्रसिंदूरवर्णाभं यदि वा विद्रुमप्रभम् ।
चिन्त्यमानं जगत्सर्वं क्षोभयत्यभिसंगतम् ॥ ३६ ॥
जाम्बूनदनिभं स्तम्भे विद्वेषे कज्जलत्विषम् ।
ध्येयं वश्यादिके रक्तं चन्द्राभं कर्मशातने ॥ ३७ ॥

अर्थ—यह प्रणव अक्षर गहरे सिंदूरके वर्णकी समान अथवा मूंगेकी समान चिंतवन किया हुआ मिलेहुए जगतको क्षोभित करता है ॥ ३६ ॥ तथा इस प्रणवको स्तंभनके प्रयोगमें सुवर्णके समान पीला चिंतवन करै और द्वेषके प्रयोगमें कज्जलकी समान काला तथा वश्यादि प्रयोगमें रक्त (लाल) वर्ण और कर्मोंके नाश करनेमें चन्द्रमाकी समान श्वेतवर्ण ध्यान करै ॥ ३७ ॥

इसप्रकार प्रणव अर्थात् ॐकार मन्त्रके ध्यानका विधान कहा । अब पंचपरमेष्ठीके नमस्काररूप मन्त्रोंके ध्यानका विधान कहते हैं,—

गुरुपञ्चनमस्कारलक्षणं मन्त्रमूर्जितम् ।
विचिन्तयेज्जगज्जन्तुपवित्रीकरणक्षमम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—पंचपरमेष्ठियोंको नमस्कार करनेरूप है लक्षण जिसका ऐसे महामन्त्रको चिंतवन करै क्योंकि, यह नमस्कारात्मक मन्त्र जगतके जीवोंको पवित्र करनेमें समर्थ है ॥ ३८ ॥

स्फुरद्विमलचन्द्राभे दलाष्टकविभूषिते ।
कञ्जे तत्कर्णिकासीनं मन्त्रं सप्ताक्षरं स्मरेत् ॥ ३९ ॥

दिग्दलेषु ततोऽन्येषु विदिक्पत्रेष्वनुक्रमात् ।
सिद्धादिकं चतुष्कं च दृष्टिबोधादिकं तथा ॥ ४० ॥

अर्थ—स्फुरायमान निर्मल चन्द्रमाकी कान्तिसमान आठ पत्रसे शोभित जो कमल है उसकी कर्णिकापर स्थित सात अक्षरके "णमो अरहंताणं" मन्त्रका चिन्तवन करै ॥ ३९ ॥ और उस कर्णिकासे बाहरके आठ पत्रोंमेंसे ४ दिशाओंके ४ दलों पर "णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं, ये ४ मन्त्रपद और विदिशाओंके चार पत्रोंपर सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः, सम्यक्चारित्राय नमः, सम्यक्तपसे नमः, इन चार नमस्कार मन्त्रोंका चिन्तवन करे। इस प्रकार अष्टदलका कमल और एक कर्णिकामें नव मन्त्रोंको स्थापन कर चिन्तवन करे ॥ ४० ॥

श्रियमात्यन्तिकीं प्राप्ता योगिनो येऽत्र केचन ।
अमुमेव महामन्त्रं ते समाराध्य केवलम् ॥ ४१ ॥

अर्थ—इस लोकमें जिन जितने ही योगियोंने आत्यंतिकी लक्ष्मीको (मोक्षलक्ष्मीको) प्राप्त किया है उन सबोंने एकमात्र इस महामन्त्रको आराधन करके ही प्राप्त किया है ॥

प्रभावमस्य निःशेषं योगिनामप्यगोचरम् ।
अनभिज्ञो जनो ब्रूते यः स मन्येऽनिलार्दितः ॥ ४२ ॥

अर्थ—इस महामन्त्रका पूर्ण प्रभाव योगी मुनीश्वरोंके भी अगोचर है उनके द्वारा भी कहनेमें नहिं आता और जो इसको नहिं जाननेवाला पुरुष इसके प्रभावको कहता है उसको मैं वायु रोगसे प्रलाप करनेवाला मानता हूं ॥ ४२ ॥

अनेनैव विशुद्ध्यन्ति जन्तवः पापपङ्किलाः[1] ।
अनेनैव विमुच्यन्ते भवक्लेशान्मनीषिणः ॥ ४३ ॥

अर्थ—जो जीव पापसे मलिन हैं वे इसी मन्त्रसे विशुद्ध होते हैं और इसी मन्त्रके प्रभावसे मनीषिगण (बुद्धिमान्) संसारके क्लेशोंसे छूटते हैं ॥ ४३ ॥

असावेव जगत्यस्मिन्भव्यव्यसनपावकः[2] ।
अमुं विहाय सत्त्वानां नान्यः कश्चित्कृपापरः ॥ ४४ ॥

अर्थ—भव्य जीवोंको आपदाके समय यही मन्त्र इस जगतमें बान्धव (मित्र) है इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी जीवोंपर कृपा करनेमें तत्पर नहीं है। भावार्थ—सबका रक्षक यही एक महामन्त्र है ॥ ४४ ॥

एतद्व्यसनपाताले भ्रमत्संसारसागरे ।
अनेनैव जगत्सर्वमुद्धृत्य विधृतं शिवे ॥ ४५ ॥

---

1 'पापपङ्किताः' इति पाठः । 2 'व्यसनबान्धवः' इति पाठः ।

अर्थ—आपदा अर्थात् कष्ट ही है पातालगर्त जिसमें ऐसे संसाररूपी समुद्रमें भ्रमते हुए इस जगतको इस मन्त्रने ही उद्धार करके मोक्षमें धारण किया है ॥ ४५ ॥

कृत्वा पापसहस्राणि हत्वा जन्तुशतानि च ।
अमुं मन्त्रं समाराध्य तिर्यञ्चोऽपि दिवं गताः ॥ ४६ ॥

अर्थ—पूर्व कालमें हजारों पाप करके तथा सैंकडों जीवोंको मारकर तिर्यंच भी इस महामन्त्रको शुद्ध भावोंसे आराधन करके, स्वर्गको प्राप्त हुए हैं उनकी कथा पुराणोंमें प्रसिद्ध है ॥ ४६ ॥

शतमष्टोत्तरं चास्य त्रिशुद्ध्या चिन्तयन्मुनिः ।
भुञ्जानोऽपि चतुर्थस्य प्राप्नोत्यविकलं फलम् ॥ ४७ ॥

अर्थ—मन वचन कायको शुद्ध करके इस मन्त्रको एकसौ आठ बार चिन्तवन करे [illegible] आहार करता हुआ भी चतुर्थ कहिये एक उपवासके पूर्ण फलको प्राप्त होता है ॥ ४७ ॥

इस प्रकार महामन्त्रके विधान, फल और महिमाका वर्णन किया। अब षोडशाक्षरी विद्याको कहते हैं,—

स्मर पञ्चपदोद्भूतां महाविद्यां जगन्नुताम् ।
गुरुपञ्चकनामोत्थां षोडशाक्षरराजिताम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—हे मुने, तू [illegible] जो महाविद्या है उसका स्मरण कर अर्थात् [illegible] षोडशाक्षरी विद्या पंच पद्मों और पंच परमगुरुके नामोंसे उत्पन्न हुई है और [illegible] नमस्कार करने योग्य है वह षोडश अक्षरीविद्या यह है-"अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः ॥ ४८ ॥

अस्याः शतद्वयं ध्यानी जपन्नेकाग्रमानसः ।
अनिच्छन्नप्यवाप्नोति चतुर्थतपसः फलम् ॥ ४९ ॥

अर्थ—[illegible] विद्याका एकाग्र मन होकर, दोसौ बार जप करता है [illegible] अर्थात् एक उपवासके फलको प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

विद्यां षड्वर्णसम्भूतामजय्यां पुण्यशालिनीम् ।
जपन्प्रागुक्तमभ्येति फलं ध्यानी शतत्रयम् ॥ ५० ॥

अर्थ—[illegible] "अरहन्त सिद्ध" इस प्रकार [illegible] ॥ ५० ॥

चतुर्वर्णमयं मन्त्रं चतुर्वर्गफलप्रदम् ।
चतुःशतं जपन्योगी चतुर्थस्य फलं भजेत् ॥ ५१ ॥

अर्थ—"अरहंत" इन चार अक्षरोंका मंत्र है सो धर्म अर्थ काम मोक्षरूप फलके देनेवाला है इसका जो चारसौ बार जप करता है वह एक उपवासका फल पाता है ॥ ५१ ॥

वर्णयुग्मं श्रुतस्कन्धसारभूतं शिवप्रदम् ।
ध्यायेज्जन्मोद्भवाशेषक्लेशविध्वंसनक्षमम् ॥ ५२ ॥

अर्थ—'सिद्ध' इन दो अक्षरोंका युग्म है, सो श्रुतस्कंध का (द्वादशांगशास्त्रका) सारभूत है, मोक्षको देनेवाला है, संसारसे उत्पन्न हुए समस्त क्लेशोंको नाश करनेमें समर्थ हैं, इसलिये योगी इसका ध्यान करै ॥ ५२ ॥

अवर्णस्य सहस्रार्द्धं जपन्नानन्दसंभृतः ।
प्राप्नोत्येकोपवासस्य निर्जरां निर्जिताशयः ॥ ५३ ॥

अर्थ—जो मुनि अपने चित्तको वश करके, आनंदसे 'अ' इस वर्णमात्रका पांचसौ बार जप करता है, वह एक उपवासके निर्जरारूपफलको प्राप्त होता है ॥ ५३ ॥

एतद्धि कथितं शास्त्रे रुचिमात्रप्रसाधकम् ।
किन्त्वमीषां फलं सम्यक्स्वर्गमोक्षैकलक्षणम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—यह जो शास्त्रमें इन मंत्रोंके जपका एक उपवासरूप फल कहा है सो केवल मंत्र जपनेकी रुचि करानेके लिये है, किन्तु, वास्तवमें उक्त मंत्रोंका उत्तम फल स्वर्ग और मोक्ष ही है ॥ ५४ ॥

पञ्चवर्णमयीं विद्यां पञ्चतत्त्वोपलक्षिताम् ।
मुनिवीरैः श्रुतस्कन्धाद्वीजबुद्ध्या समुद्धृताम् ॥ ५५ ॥

अर्थ—पांच तत्त्वोंसे युक्त, पांच अक्षरमयी विद्याको मुनीश्वरोंने द्वादशांग शास्त्रसे सारभूत समझकर निकाली है वह पंचाक्षरमयी विद्या ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा नमः इस प्रकार है ॥ ५५ ॥

अस्याः निरन्तराभ्यासाद्वशीकृतनिजाशयः ।
प्रोच्छिनत्त्याशु निःशङ्को निगूढं जन्मबन्धनम् ॥ ५६ ॥

अर्थ—इस पूर्वोक्त पंचाक्षरमयी विद्यामें निरन्तर अभ्यास करनेसे वशीभूत कर लिया है मन जिसने ऐसा मुनि निःशंक होकर, अनिकाचित संसाररूपी बंधनको शीघ्र ही काट देता है ॥ ५६ ॥

आर्या ।

मङ्गलशरणोत्तमपदनिकुरम्बं यस्तु संयमी स्मरति ।
अविकलमेकाग्रधिया स चापवर्गश्रियं श्रयति ॥ ५७ ॥

अर्थ—[illegible] मुनि [illegible] उत्तम [illegible] है [illegible] करता है यह मंगलकारक उत्तम [illegible] है—चत्तारि मंगलं । अरहन्त मंगलं । सिद्ध मंगलं । साहु मंगलं । के[illegible]पण्णत्तो धम्मो मंगलं । चत्तारि लोगुत्तमा । अरहन्त लोगुत्तमा । सिद्ध लो[illegible] । साहू लोगुत्तमा । केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा । चत्तारि सरणं [illegible] । अरहन्तसरणं पव्वज्जामि । सिद्धसरणं पव्वज्जामि । साहुसरणं पव्वज्जामि । केवलिपण्णत्तो धम्मो सरणं पव्वज्जामि ॥ ५७ ॥

[illegible] गौरं समारोढुमिव सोपानमालिका ।
[illegible] निशा निशातिशायिनी ॥ ५८ ॥

अर्थ—[illegible] अक्षरका [illegible] उत्पन्न हुई यह [illegible] मोक्षके [illegible] '[illegible] अर्ह सिद्ध[illegible]' [illegible] है ॥ ५८ ॥

[illegible] मुनिना [illegible] ।
[illegible] ॥ ५९ ॥

अर्थ [illegible] ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥ ६० ॥

अर्थ—[illegible] ([illegible]) [illegible] ॥ ६० ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥ ६१ ॥

अर्थ—[illegible] ।

[illegible] ।
[illegible] ॥ ६२ ।

[illegible]

सर्वसत्त्वाभयस्थानं वर्णमालाविराजितम् ।
स्मर मन्त्रं जगज्जन्तुक्लेशसंततिघातकम् ॥ ६३ ॥

अर्थ—हे मुने ! तू समस्त जीवोंका अभयस्थान–तथा जगतके जीवोंके क्लेशकी संततिको काटनेवाला और अक्षरोंकी पंक्तिसे विराजमान ऐसे मंत्रका चिंतवन कर वह मंत्र यह है—'ॐ नमोऽर्हते केवलिने परमयोगिनेऽनन्तशुद्धिपरिणामविस्फुरदुरुशुक्लध्यानाग्निनिर्दग्धकर्मबीजाय प्राप्तानन्तचतुष्टयाय सौम्याय शान्ताय मङ्गलाय वरदाय अष्टादशदोषरहिताय स्वाहा' ॥ ६३ ॥

स्मरेन्दुमण्डलाकारं पुण्डरीकं मुखोदरे ।
दलाष्टकसमासीनं वर्णाष्टकविराजितम् ॥ ६४ ॥

अर्थ—हे मुने ! तू मुखमें चन्द्रमण्डलके आकारका, आठ अक्षरोंसे शोभायमान, आठ पत्रोंका एक कमल चिंतवन कर ॥ ६४ ॥

वे आठ अक्षर कौन २ से हैं, सो कहते हैं—

ॐ नमो अरहंताणमिति वर्णानपि क्रमात् ।
एकशः प्रतिपत्रं तु तस्मिन्नेव निवेशयेत् ॥ ६५ ॥

अर्थ—'ॐ नमो अरहंताण' ये आठ अक्षर मुखपर स्मरण किए हुवे उस कमलके आठों पत्रोंपर स्थापनकर, क्रमसे एक एक अक्षरका ध्यान करना चाहिये ॥ ६५ ॥

स्वर्णगौरीं स्वरोद्भूतां केशरालीं ततः स्मरेत् ।
कर्णिकां च सुधास्यन्दबिन्दुव्रजविभूषिताम् ॥ ६६ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् अमृतके झरनेके बिन्दुओंसे सुशोभित कर्णिकाका चिंतवन करे और उसमें स्वरोंसे उत्पन्न हुई तथा सुवर्णके समान गौरवर्णकी केशरोंकी पंक्तिका स्मरण करे ॥ ६६ ॥

प्रोद्यत्संपूर्णचन्द्राभं चन्द्रबिम्बाच्छनैः शनैः ।
समागच्छत्सुधाबीजं मायावर्णं तु चिन्तयेत् ॥ ६७ ॥

अर्थ—पश्चात् उदयको प्राप्त होते हुए, पूर्ण चन्द्रमाकी कांतिसमान, चन्द्रबिंबसे मंद मंद अमृतबीजको प्राप्त होते हुए मायावर्ण ह्रीं का चिंतवन करे ॥ ६७ ॥

इस मायावर्णका जिस प्रकार चिंतवन करे, सो कहते हैं,—

विस्फुरन्तमतिस्पष्टं प्रभामण्डलमध्यगम् ।
संचरन्तं मुखाम्भोजे तिष्ठन्तं कर्णिकोपरि ॥ ६८ ॥
भ्रमन्तं प्रतिपत्रेषु चरन्तं वियति क्षणे ।
छेदयन्तं मनोध्वान्तं स्रवन्तममृताम्बुभिः ॥ ६९ ॥

व्रजन्तं तालुरन्ध्रेण स्फुरन्तं भ्रूलतान्तरे ।
ज्योतिर्मयमिवाचिन्त्यप्रभावं भावयेन्मुनिः ॥ ७० ॥

अर्थ—उपर्युक्त मायाबीज ह्रीं अक्षरको स्फुरायमान होता हुआ, अत्यंत उज्ज्वल चन्द्रमंडलके मध्य प्राप्त हुआ, कभी पूर्वोक्त मुखस्थ कमलमें संचरता हुआ तथा कभी २ उसकी कर्णिकाके उपरि तिष्ठता हुआ, तथा कभी २ उस कमलके आठों दलोंपर फिरता हुआ तथा कभी २ क्षणभरमें आकाशमें चलता हुआ, मनके अज्ञान अंधकारको दूर करता हुआ अमृतमयी जलसे चूता हुआ तथा तालुआके छिद्रसे गमन करता हुआ तथा भौंहोंकी लताओंमें स्फुरायमान होता हुआ, ज्योतिर्मयके समान अचिन्त्य है प्रभाव जिसका ऐसे मायाबीजका चिंतवन करै ॥ ६८ ॥ ६९ ॥ ७० ॥

अब इस मंत्रकी महिमाका वर्णन करते हैं,—

वाक्पथातीतमाहात्म्यं देवदैत्योरगार्चितम् ।
विद्यार्णवमहापोतं विश्वतत्त्वप्रदीपकम् ॥ ७१ ॥

अर्थ—इस मंत्रका माहात्म्य वचनातीत है-इसको देव दैत्य नागेन्द्र पूजते हैं तथा यह मंत्र विद्यारूपी समुद्रके तिरनेको महान् जहाज है और जगतके पदार्थोंको दिखानेके लिये दीपक ही है ॥ ७१ ॥

अमुमेव महामन्त्रं भावयन्नस्तसंशयः ।
अविद्याव्यालसंभूतं विपर्ययं निरस्यति ॥ ७२ ॥

अर्थ—इसी महामंत्रको संशयरहित होकर, ध्यान करनेवाला मुनि अविद्यारूपी सर्पसे उत्पन्न हुए विपर्ययको दूर करता है ॥ ७२ ॥

इति ध्यायन्नसौ ध्यानी तत्प्रसादैकमानसः ।
वाङ्मनोमलमुत्सृज्य श्रुताम्भोधिं विगाहते ॥ ७३ ॥

अर्थ—इस पूर्वोक्त प्रकार इस मंत्रको ध्यान करता हुआ और उस ध्यानमें ही है एकाग्र चित्त जिसका ऐसा ध्यानी है वह वचन मन तथा वचनके मलको [illegible] श्रुतज्ञानरूपी समुद्रमें अवगाहन करता है-अर्थात् [illegible] समुद्रमें तैरता है ॥ ७३ ॥

ततो निरन्तराभ्यासान्मासैः षड्भिः स्थिराशयः ।
मुखरन्ध्राद्विनिर्यान्तीं धूमवर्तिं प्रपश्यति ॥ ७४ ॥

अर्थ—तदनन्तर यह ध्यानी निरन्तर अभ्याससे छह महीनेमें स्थिरचित्त होकर मुखरूपी छिद्रसे निकलती हुई धूम (धूआ) की वर्त्तीको देखता है ॥ ७४ ॥

ततः संवत्सरं यावत्तथैवाभ्यस्यते यदि ।
प्रपश्यति महाज्वालां निःसरन्तीं मुखाम्बुजात् ॥ ७५ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् [illegible] एक [illegible] उसी प्रकार अनुक्रम करके सो मुखमेंसे निकलती हुई सदा [illegible] मानता है ॥ ७५ ॥

ततोऽभिजातसंवेगो निर्वेदालम्बितो यमी ।
ध्यायत्यन्तर्विश्रान्तः सर्वज्ञमुखपङ्कजम् ॥ ७६ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् उत्पन्न हुआ है संवेग (धर्मानुराग) जिसके ऐसा वैराग्यावलंबित जितेन्द्रिय मुनि निश्चल ध्यान करता हुआ सर्वज्ञके मुखकमलको देखता है ॥ ७६ ॥

अथाप्रतिहतानन्दप्रीणितात्मा जितभ्रमः ।
श्रीमत्सर्वज्ञदेवेशं प्रत्यक्षमिव वीक्षते ॥ ७७ ॥

अर्थ—इसके आगे वही ध्यानी अनिवारित आनंदसे तृप्त है आत्मा जिसका और नष्ट हुआ है भ्रम जिसके ऐसा होकर, श्रीमत्सर्वज्ञदेवको प्रत्यक्ष अवलोकन करता है ॥ ७७ ॥

सर्वातिशयसंपूर्णं दिव्यरूपोपलक्षितम् ।
कल्याणमहिमोपेतं सर्वसत्त्वाभयप्रदम् ॥ ७८ ॥

अर्थ—वह ध्यानी कैसे प्रत्यक्ष देखता है कि—सब अतिशयोंसे परिपूर्ण दिव्य रूपसे उपलक्षित पंचकल्याणककी महिमासहित समस्त जीवोंको अभयदान देनेवाले तथा—॥ ७८ ॥

प्रभावलयमध्यस्थं भव्यराजीवरञ्जकम् ।
ज्ञानलीलाधरं वीरं देवदेवं स्वयंभुवम् ॥ ७९ ॥

अर्थ—प्रभावलयके बीचमें स्थित हुए भव्यरूप कमलोंको रंजायमान करनेवाले, ज्ञानकी लीलाके धारनेवाले, विशिष्ट लक्ष्मीवाले, देवोंके देव स्वयंभू ऐसे सर्वज्ञको साक्षात् देखता है ॥ ७९ ॥

ततो विधूततन्द्रोऽसौ तस्मिन्सञ्जातनिश्चयः ।
भवभ्रममपाकृत्य लोकाग्रमधिरोहति ॥ ८० ॥

अर्थ—तत्पश्चात् इस प्रकार ध्यान करनेवाला मुनि प्रमादको नष्ट करके तथा इस मंत्रमें सर्वज्ञके स्वरूपका निश्चय हो जानेपर संसारभ्रमको दूर करके, लोकके अग्रभाग मोक्षस्थानको आश्रय करता है ॥ ८० ॥

इसप्रकार मुखकमलमें अष्टदलकमलमें आठ अक्षरोंको स्थापन करके, कर्णिकाके केशरोंमें सोलह स्वर स्थापनपूर्वक ह्रीं वर्णका जो पूर्वोक्त प्रकारसे ध्यान करै, उसका फल (महिमा) वर्णन किया ।

अब अन्य विद्याका वर्णन करते हैं,—

आर्या

स्मर सकलसिद्धविद्याप्रधानभूतां प्रसन्नगम्भीराम् ।
विधुबिम्बनिर्गतामिव क्षरत्सुधार्द्रां महाविद्याम् ॥ ८१ ॥

अर्थ—हे मुने, तू सकल सिद्धविद्याका भी चिंतवन कर क्योंकि, वह विद्या [illegible] स्फुरायमान है प्रभा है गंभीर है तथा चन्द्रमाके बिंबसे निकली हुईके समान जो [illegible] हुई है उससे आर्द्रित है ऐसी वह महाविद्या 'क्ष्वीं' ऐसा अक्षर है ॥ ८१ ॥

अविचलमनसा ध्यायन्ललाटदेशे स्थितामिमां देवीम् ।
प्राप्नोति मुनिरजस्रं समस्तकल्याणनिकुरम्बम् ॥ ८२ ॥

अर्थ—इस विद्या देवीको ललाट देशपर स्थित करके, निश्चल मनसे निरंतर [illegible] करता हुआ मुनि समस्त कल्याणके समूहको प्राप्त होता है ॥ ८२ ॥

मालिनी

अमृतजलधिगर्भान्निःसरन्तीं सुदीप्तां
शशिकमलनिषण्णां चन्द्रलेखां स्मर त्वम् ।
अमृतकणविकीर्णां प्लावयन्तीं सुधाभिः
[illegible] धारयन्तीं प्रभावम् ॥ ८३ ॥

अर्थ—हे [illegible] तू इस अमृतके समुद्रसे निकली हुई, [illegible] [illegible] अमृतके कणोंसे निकली हुई और अमृतसे आर्द्रित करती हुई [illegible] कर [illegible], वह [illegible] पूर्णिमा [illegible] प्रभावको धारण [illegible] है ॥ ८३ ॥

[illegible] [illegible] ॥

[illegible] यान्ति योगी शिवास्पदम् ॥ ८४ ॥

अर्थ—इस [illegible] [illegible] [illegible] निश्चल मनसे [illegible] हुआ [illegible] [illegible] स्थानको प्राप्त होता है ॥ ८४ ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥ ८५ ॥

अर्थ—हे मुने [illegible] ([illegible]) [illegible] हुआ है [illegible] [illegible] 'अर्हन्तों' [illegible] ॥ ८५ ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥ ८६ ॥

अर्थ—[illegible] है ॥
[illegible] है ॥ ८६ ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥ ८७ ॥

अर्थ—इन तीन अक्षरोंको नासिकाके अग्रभागमें अत्यन्त लीन करता हुआ ध्यानी अणिमा महिमादिक आठ ऋद्धियोंको प्राप्त होकर, तत्पश्चात् अति निर्मल ज्ञानको (केवलज्ञानको) प्राप्त होता है ॥ ८७ ॥

शङ्खेन्दुकुन्दधवला ध्याता देवास्त्रयो विधानेन ।
जनयन्ति सर्वविषयं बोधं कालेन तद्ध्यानात् ॥ ८८ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त ये तीन देव (अक्षर) शङ्खके समान, कुन्दके पुष्पसमान तथा चन्द्रमासमान विधानपूर्वक ध्याये जावें तो इनके ध्यानसे कितने ही कालमें समस्त विषयोंका ज्ञान करानेवाला केवलज्ञान उत्पन्न होता है ॥ ८८ ॥

प्रणवयुगलस्य युग्मं पार्श्वे मायायुगं विचिन्तयति ।
मूर्द्धस्थं हसपदं कृत्वा व्यस्तं वितन्द्रात्मा ॥ ८९ ॥

अर्थ—प्रणवयुगल कहिये दो ओंकारका युग्म और दोनों तरफ दो मायायुगल ह्रीं ह्रीं ऐसे और इनके उपरि हसपद रखकर, प्रमादरहित होकर, ध्यानी भिन्न भिन्न चिंतवन करै वह मन्त्र 'ह्रीं ॐ ॐ ह्रीं हंस' ऐसा है ॥ ८९ ॥

ततो ध्यायेन्महाबीजं क्ष्वींकारं छिन्नमस्तकम् ।
अनाहतयुतं दिव्यं विस्फुरन्तं मुखोदरे ॥ ९० ॥

अर्थ—तत्पश्चात् छिन्नमस्तक महाबीज जो 'क्ष्वीं' ऐसा अक्षर है उसको अनाहतसहित दिव्यमुखपर स्फुरायमान होता हुआ चिंतवन करै ॥ ९० ॥

श्रीवीरवदनोद्गीर्णां विद्यां चाचिन्त्यविक्रमाम् ।
कल्पवल्लीमिवाचिन्त्यफलसंपादनक्षमाम् ॥ ९१ ॥

अर्थ—और श्रीवर्द्धमान भगवानके मुखसे निकली हुई विद्याको चिंतवन करै कैसी है वह विद्या अचिन्त्य पराक्रमवाली और कल्पवेलकी समान अचिन्त्य फल देनेमें समर्थ है ऐसी विद्या "ॐ जोग्गे मग्गे तच्चे भूदे भव्वे भविस्से अक्खे पक्खे जिणपारिस्से स्वाहा' तत्पश्चात् ऐसा मन्त्र है "ॐ ह्रीं स्वर्हं नमो नमोऽर्हताणं ह्रीं नमः" ऐसे अक्षर हैं ॥ ९१ ॥

आर्या ।

विद्यां जपति य इमां निरन्तरं शान्तविश्वविस्पन्दः ।
अणिमादिगुणाँल्लब्ध्वा ध्यानी शास्त्रार्णवं तरति ॥ ९२ ॥

अर्थ—जो ध्यानी शान्तवेग निश्चल होकर इस विद्याको निरन्तर जपता है वह अणिमादिक गुणोंको प्राप्त होकर, शास्त्रसमुद्रके पार हो जाता है अर्थात् श्रुतकेवली होता है ॥ ९२ ॥

त्रिकालविषय साक्षाज्ज्ञानमस्योपजायते ।
विश्वतत्त्वप्रबोधश्च सतताभ्यासयोगतः ॥ ९३ ॥

अर्थ—इस विद्याका ध्यान करनेवालेके निरंतर अभ्यास करनेसे समस्त तत्त्वोंका ज्ञान और त्रिकालविषयसाक्षात्ज्ञान कहिये केवलज्ञान उत्पन्न होता है ॥ ९३ ॥

शाम्यन्ति जन्तवः क्रूरास्तथान्ये व्यन्तरादय. ।
ध्यानविध्वंसकर्तारो येन तद्धि प्रपञ्च्यते ॥ ९४ ॥

अर्थ—अब ध्यानीके उपसर्ग करनेवाले क्रूरजंतु तथा ध्यानको नाश करनेवाले व्यन्तरादिक जिस ध्यानसे उपशमताको प्राप्त होते हैं उस ध्यानका विस्तारसे वर्णन करते हैं ॥ ९४ ॥

दिग्दलाष्टकसम्पूर्णे राजीवे सुप्रतिष्ठितम् ।
स्मरत्वात्मानमत्यन्तस्फुरद्ग्रीष्मार्कभास्करम् ॥ ९५ ॥
प्रणवाद्यस्य मन्त्रस्य पूर्वादिषु प्रदक्षिणम् ।
विचिन्तयति पत्रेषु वर्णैकैकमनुक्रमात् ॥ ९६ ॥
अधिकृत्य छद पूर्व सर्वाशासम्मुख परम् ।
स्मरत्यष्टाक्षर मन्त्र सहस्रैक शताधिकम् ॥ ९७ ॥
प्रत्यह प्रतिपत्रेषु महेन्द्राशाद्यनुक्रमात् ।
अष्टरात्र जपेद्योगी प्रसन्नामलमानस. ॥ ९८ ॥
तस्याचिन्त्यप्रभावेण क्रूराशयकलङ्किता. ।
त्यजन्ति जन्तवो दर्प सिंहत्रस्ता इव द्विपा ॥ ९९ ॥

अर्थ—आठ दिशा संबधी आठ पत्रोंसे पूर्ण कमलमें भले प्रकार स्थापित और अत्यंत स्फुरायमान ग्रीष्मऋतुके सूर्यके समान देदीप्यमान आत्माको स्मरण करै ॥ ९५ ॥ प्रणव है आदिमें जिसके ऐसे मंत्रको पूर्वादिक दिशाओंमें प्रदक्षिणारूप एक एक पत्रपर अनुक्रमसे एक एक अक्षरका चिंतवनकरै वे अक्षर "ॐ णमो अरहंताण" ये हैं ॥९६॥ इनमेंसे प्रथम पत्रको मुख्य करके, सर्व दिशाओंके सन्मुख होकर, इस अष्टाक्षर मंत्रको ग्यारहसै वार चिंतवन (ध्यान) करै ॥ ९७ ॥ इस प्रकार प्रतिदिन प्रत्येक पत्रमें पूर्व दिशादिकके अनुक्रमसे आठ रात्रिपर्यंत प्रसन्न मन होकर, जपै ॥ ९८ ॥ उसके अचिन्त्य प्रभावसे क्रूरचित्त जीव, सिंहसे भयभीत होकर जिस प्रकार हाथी गर्व छोड देते हैं उसी प्रकार अपना गर्व छोड देते हैं ॥ ९९ ॥

अष्टरात्रे व्यतिक्रान्ते कमलस्यास्य वर्तिन ।
निरूपयति पत्रेषु वर्णानेताननुक्रमात् ॥ १०० ॥

आलम्ब्य मन्त्रिपामेनां पूप विघौघशान्तये ।
पश्चात्ससाक्षरं मन्त्रं ध्यायेत्प्रणववर्जितम् ॥ १०१ ॥
मन्त्रः प्रणवपूर्वोऽयं निर्दशोपाभीष्टसिद्धिदः ।
ऐहिकानेककामार्थं मुक्त्यर्थं प्रणवच्युतः ॥ १०२ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् पूर्वोक्त आठ रात्रियोंके व्यतीत होनेके पश्चात् इस कमलके पत्रोंपर वर्तनेवाले अक्षरोंको अनुक्रमसे निरूपण करके देखै ॥ १०० ॥ इस प्रकार इस प्रक्रियाको प्रथम विघ्नके समूहकी शान्तिके लिये आलम्बन करके, तत्पश्चात् प्रणववर्जित सात अक्षर स्वरूप "णमो अरहंताणं" इस मन्त्रका ध्यान करै ॥ १०१ ॥ जब इस मन्त्रको प्रणवपूर्वक ध्यावै तब यह समस्तमनोवाञ्छित सिद्धिका देनेवाला है तथा इस लोक सम्बन्धी अनेक कार्योंके लिये है और प्रणववर्जित ध्यान करनेसे यह मन्त्र मुक्तिका कारण है ॥ १०२ ॥

स्मर मन्त्रपदं चान्यज्जन्मसंघातघातकम् ।
रागाद्युग्रतमस्तोमप्रध्वंसरविमण्डलम् ॥ १०३ ॥

अर्थ—अब कहते हैं कि हे मुने, तू अन्य एक मन्त्रपदका स्मरण कर क्योंकि, वह मन्त्र जन्मसमूहको घात करनेवाला है और रागादिकरूप तीव्र अंधकारको नष्ट करनेके लिये सूर्यमंडल समान है वह मन्त्र—"श्रीमद्वृषभादिवर्द्धमानान्तेभ्यो नमः" ऐसा है॥

मनः कृत्वा सुनिष्कम्पं तां विद्यां पापभक्षिणीम् ।
स्मर सत्त्वोपकाराय या जिनेन्द्रैः प्रकीर्तिता ॥ १०४ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् हे मुने, तू निश्चलमनसे उस पापभक्षिणी विद्याको स्मरण कर जिसको कि समस्त जीवोंके उपकारार्थ श्रीजिनेन्द्र भगवान्ने कही है वह विद्या यह है—ॐ अर्हन्मुखकमलवासिनि पापात्मक्षयंकरि श्रुतज्ञानज्वालासहस्रप्रज्वलिते सरस्वति मत्पापं हन हन दह दह क्षां क्षीं क्षूं क्षौं क्षः क्षीरवरधवले अमृतसंभवे वं वं हूं हूं स्वाहा । ये पापभक्षिणी विद्याके अक्षर हैं ॥ १०४ ॥

चेतः प्रसत्तिमाधत्ते पापपङ्कः प्रलीयते ।
आविर्भवति विज्ञानं मुनेरस्याः प्रभावतः ॥ १०५ ॥

अर्थ—इस पापभक्षिणी विद्याके प्रभावसे मुनिका चित्त प्रसन्नताको धारण करता है, पापरूपी पंक प्रलय हो जाता है और विशिष्ट ज्ञान प्रगट होता है ॥ १०५ ॥

मुनिभिः संजयन्ताद्यैर्विद्यावादात्समुद्धृतम् ।
भुक्तिमुक्त्योः परं धाम सिद्धचक्राभिधं स्मरेत् ॥ १०६ ॥
तस्य प्रयोजकं शास्त्रं तदाश्रित्योपदेशतः ।
ध्येयं मुनीश्वरैर्जन्ममहाव्यसनशान्तये ॥ १०७ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् सिद्धचक्र नामा मन्त्रको भगवन्तादिक महामुनियोंने विद्यानुवाद नामा दशम पूर्वसे उद्धृत किया है—सो सब भोग और मोक्षका उत्कृष्ट कारण है इसका ध्यान करै ॥ १०६ ॥ इस सिद्धचक्र मन्त्रके प्रयोजक शास्त्रका आश्रय करके, तथा उपदेशसे जन्मरूप महाकष्टकी शान्तिके लिये मुनीश्वरको ध्यान करना चाहिये इसके अक्षरादिकका विधान उसके प्रयोजक शास्त्रसे जानना ॥ १०७ ॥

स्मर मन्त्रपदाधीशं मुक्तिमार्गप्रदीपकम् ।
नाभिपङ्कजसंलीनमवर्णं विश्वतोमुखम् ॥ १०८ ॥
सिवर्णं मस्तकाम्भोजे साकारं मुखपङ्कजे ।
आकारं कण्ठकञ्जस्थं स्मरोकारं हृदि स्थितम् ॥ १०९ ॥

अर्थ—हे मुने! तू मन्त्रपदोंका स्वामी और मुक्तिके मार्गको प्रकाश करनेवाले अकार अक्षरको नाभिकमलमें चिन्तवन कर यह अक्षर सर्वव्यापी है। और सि अक्षरको मस्तक कमलपर, आ अक्षरको कण्ठस्थ कमलमें, उ अक्षरको हृदयकमलऊपर और सा अक्षरको मुखस्थ कमलपर ऐसे 'असिआउसा' इन पांच अक्षरोंको पांच स्थानोंपर चिन्तवन कर ॥ १०८ ॥ १०९ ॥

सर्वकल्याणबीजानि बीजान्यन्यान्यपि स्मरेत् ।
यान्याराध्य शिवं प्राप्ता योगिनः शीलसागराः ॥ ११० ॥

अर्थ—सर्व कल्याणके बीज अन्यान्य भी मंत्र हैं जिनको आराधन करके शीलके सागर योगीगण मोक्षको प्राप्त हुए हैं उन सबही अक्षरोंको ध्यानी मुनि चिन्तवन करै, 'नमः सर्वसिद्धेभ्यः' यह भी एक मन्त्रपद है ॥ ११० ॥

श्रुतसिन्धुसमुद्भूतमन्यद्वा पदमक्षरम् ।
तत्सर्वं मुनिभिर्ध्येयं स्यात्पदस्थप्रसिद्धये ॥ १११ ॥

अर्थ—अन्य भी पद तथा अक्षर जो श्रुतसमुद्र द्वादशांग शास्त्रमें उत्पन्न हुए हैं वे सब ही पदस्थ ध्यानकी प्रसिद्धतार्थ होते हैं उन्हें भी मुनिगणोंको ध्यानगोचर करना चाहिये ॥ १११ ॥

एवं समस्तवर्णेषु मन्त्रविद्यापदेषु च ।
कार्यः क्रमेण विश्लेषो लक्ष्यभावप्रसिद्धये ॥ ११२ ॥

अर्थ—इस प्रकार समस्त अक्षरोंमें तथा मन्त्रपद और विद्या पदोंमें अनुक्रमसे लक्ष्य भावकी प्रसिद्धताके लिये भेद करना अर्थात् भिन्न २ चिन्तवन करना चाहिये ॥ ११२ ॥

अन्ययद्यच्छ्रुतस्कन्धबीजं निर्वेदकारणम् ।
तत्तद्ध्यायत्यसौ ध्यानी नापवर्गपथि स्खलेत् ॥ ११३ ॥

अर्थ—अन्य जो जो द्वादशांग शास्त्रके बीजाक्षर हैं तथा वैराग्यके कारण हैं उन उन मन्त्रोंको ध्यान करता हुआ मुनि मोक्षमार्गमें गमन करता हुआ डिगता नहीं। भावार्थ-जो ज्ञान वैराग्यके कारण मंत्र, पद वा बीजाक्षर हैं वे सब ही मोक्षमार्गमें ध्यान करने योग्य (ध्येय) हैं ॥ ११३ ॥

उक्तं च।

ध्येयं स्याद्वीतरागस्य विश्ववर्त्तिपदार्थसंचयम्।
तद्धर्मव्यत्ययाभावान्माध्यस्थ्यमधितिष्ठतः ॥ १ ॥

अर्थ—जो वीतराग है उसके इस लोकमें प्रवर्त्तनेवाले समस्त पदार्थोंका समूह ध्येय है, क्योंकि, वीतराग उस पदार्थके स्वरूपमें विपरीतताके अभावसे माध्यस्थताका आश्रय करता है। भावार्थ-वीतरागके ज्ञानमें जो ज्ञेय आता है, उसका स्वरूप यथार्थ जाननेके कारण उसके इष्ट अनिष्ट ममत्वभाव नहीं होते इस कारण उनमें मध्यस्थ भाव रहता है, अर्थात् वीतरागतासे नहिं छूटते ॥ १ ॥

पुनः उक्तं च।

वीतरागो भवेद्योगी यत्किञ्चिदपि चिन्तयेत्।
तदेव ध्यानमाम्नातमतोऽन्यद् ग्रन्थविस्तरः ॥ २ ॥

अर्थ—वीतराग योगी जो कुछ चिंतवन करै वही ध्यान है, इस कारण अन्य कहना है वह ग्रंथका विस्तार मात्र है, वीतरागके सब ही ध्येय है ॥ २ ॥

वीतरागस्य विज्ञेया ध्यानसिद्धिर्ध्रुवं मुनेः।
क्लेश एव तदर्थं स्याद्रागार्त्तस्येह देहिनः ॥ ११४ ॥

अर्थ—जो मुनि वीतराग है उसके ध्यानकी सिद्धि अवश्य होती है और जो रागसे पीडित है उसका ध्यान करना क्लेशके लिये ही है अर्थात् रागीके ध्यानकी सिद्धि नहिं होती ॥ ११४ ॥

यहां कोई प्रश्न करै कि समस्त वीतराग तो सर्व मोहका अभाव होने पर होता है उसके ध्यान करनेकी इच्छा ही नहिं होती और जो इच्छा होती है तो वह वीतराग कैसे हो? उसका समाधान—यह है कि यहांपर राग संसार देह भोगसंबंधी है, उसकी अपेक्षा वीतराग कहा है ध्यानसे राग करनेको राग नहिं कहा क्योंकि ध्यान रागका अभाव करनेवाला है। इस रागसे भी मुनिके राग नहीं है इस कारण वीतराग ही कहा जाता है। परमार्थ अपेक्षा यह एक देश वीतरागका व्यवहार जानना।

शार्दूलविक्रीडितम्।

निर्मथ्य श्रुतसिन्धुमुद्धतधियः श्रीवीरचन्द्रोदये
तत्त्वान्येव समुद्धरन्ति मुनयो यत्नेन रत्नान्यतः।

तान्येतानि हृदि स्फुरन्ति सुभगन्यासानि भव्यात्मना
ये वाञ्छन्त्यनिश विमुक्तिललनासम्भोगसम्भावनाम् ॥११५॥

अर्थ—श्रीवीर वर्द्धमानस्वामीरूप चन्द्रमाके उदय होते हुए जे उन्नतबुद्धि मुनि हैं वे शास्त्ररूपी समुद्रको मथकर, सुन्दर है रचना जिनकी ऐसे मन्त्ररूप तत्त्वोंको (रत्नोंको) निकालते हैं और ये सब मन्त्रपदरूप रत्न मुक्तिरूपी स्त्रीके संभोगकी निरंतर वाञ्छा करने वाले भव्य पुरुषोंके ही हृदयमें स्फुरायमान होते हैं। **भावार्थ**—जो मुक्ति चाहनेवाले हैं वे इन मन्त्ररूप पदोंका अभ्यास करैं ॥ ११५ ॥

विलीनाशेषकर्माण स्फुरन्तमतिनिर्मलम् ।
स्व ततः पुरुषाकार स्वाङ्गगर्भगत स्मरेत् ॥ ११६ ॥

अर्थ—इन मन्त्रपदोंके अभ्यासके पश्चात् विलय हुए हैं समस्त कर्म जिसमें ऐसे अति निर्मल स्फुरायमान अपने आत्माको अपने शरीरमें चिंतवन करै (ध्यान करै)। **भावार्थ**—इन मन्त्रपदोंके अभ्याससे विशुद्धता बढ़ती है और चित्त एकाग्र हो जानेपर शुद्धस्वरूपका निर्मल प्रतिभास होता है और उस स्वरूपमें उपयोग स्थिरताको प्राप्त होता है तथा बड़ा संवर होता है और कर्मोंकी निर्जरा होती है तथा घातिकर्मोंका नाश करके केवल ज्ञानको प्राप्त हो, मोक्षको पाता है ॥ ११६ ॥

इस प्रकार यह मन्त्रपदोंका ध्यान मोक्षका महान् उपाय है और लौकिक प्रयोजन भी इससे अनेक प्रकारके सिद्ध होते हैं। अणिमा महिमादिक ऋद्धियें प्राप्त होतीं हैं परन्तु मोक्षके इच्छक मुनियोंको इनसे कुछ प्रयोजन नहीं है ॥

यहां कोइ पूछे कि गृहस्थ इन मन्त्रोंका ध्यान करै कि नहीं? उसका समाधान यह है कि जैसा ध्यान मुनिके होता है वैसा गृहस्थके होता ही नहीं परतु जो अपनी शक्तिके अनुसार धर्मार्थी होकर ध्यान करै तो शुभ फलकी प्राप्ति होती है। लौकिक प्रयोजन विषयकषाय साधनेके लिये आकर्षण विक्षेपण उच्चाटन मारण आदिके लिये करेका मोक्षमार्गमें निषेध किया है ॥

अडिल्ल।

अक्षरपदको अर्थ रूप है ध्यानमें।
जे ध्यावें इम मन्त्ररूप इक तानमें ॥
ध्यानपदस्थ सु नाम कह्यो मुनिराजने।
जे यामें है लीन लहै निजराजने ॥ ३८ ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारसरूपज्ञानार्णवे पदस्थध्यानवर्णन नामाष्टत्रिंशं प्रकरणम् ॥ ३८ ॥

अथ एकोनत्रिंशं प्रकरण लिख्यते ।

आगे रूपस्थ ध्यानका वर्णन करते हैं,—

आर्हन्त्यमहिमोपेतं सर्वज्ञं परमेश्वरम् ।
ध्यायेद्देवेन्द्रचन्द्रार्कसभान्तस्थं स्वयम्भुवम् ॥ १ ॥
सर्वातिशयसम्पूर्णं सर्वलक्षणलक्षितम् ।
सर्वभूतहितं देवं शीलशैलेन्द्रशेखरम् ॥ २ ॥
सप्तधातुविनिर्मुक्तं मोक्षलक्ष्मीकटाक्षितम् ।
अनन्तमहिमाधारं सयोगिपरमेश्वरम् ॥ ३ ॥
अचिन्त्यचरितं चारुचारित्रैः समुपासितम् ।
विचित्रनयनिर्णीतं विश्वं विश्वैकबान्धवम् ॥ ४ ॥
निरुद्धकरणग्रामं निषिद्धविषयद्विषम् ।
ध्वस्तरागादिसन्तानं भवज्वलनवार्मुचम् ॥ ५ ॥
दिव्यरूपधरं धीरं विशुद्धज्ञानलोचनम् ।
अपि त्रिदशयोगीन्द्रैः कल्पनातीतवैभवम् ॥ ६ ॥
स्याद्वादपविनिर्घातभिन्नान्यमतभूधरम् ।
ज्ञानामृतपयःपूरैः पवित्रितजगत्त्रयम् ॥ ७ ॥
इत्यादिगणनातीतगुणरत्नमहार्णवम् ।
देवदेवं स्वयम्बुद्धं स्मराद्यं जिनभास्करम् ॥ ८ ॥

अर्थ—इस रूपस्थ ध्यानमें अरहन्त भगवान्‌का ध्यान करना चाहिये, जिसमें अरहन्तका किस प्रकारका स्वरूप चिन्तवन करना चाहिये सो कहते हैं,—अरहन्तताकी महिमा जो समवसरणादिकी रचना है उस सहित, सर्वज्ञ, परमेश्वर, देवेन्द्र चन्द्रमा सूर्यादिकी सभाके मध्यमें स्थित, स्वयम्भू ॥ १ ॥ तथा समस्त अतिशयोंसे सम्पूर्ण, सब लक्षणोंसे लक्षित, तथा जिनसे समस्त जीवोंका हित होता है ऐसा, और शील कहिये उत्तर गुणरूपी पर्वतके शिखर ॥ २ ॥ तथा सप्तधातुसे रहित, और मोक्षलक्ष्मी जिनको कटाक्ष पूर्वक देखती है ऐसे, अनन्त महिमाके आधार सयोगकेवली, परमेश्वर, ॥ ३ ॥ तथा अचिन्त्य है चरित जिनका, और सुन्दर चारित्रवाले गणधरादिक मुनिगणोंसे सेवनीय तथा अनेक नयोंसे निर्णय किया है विश्व अर्थात् समस्त वस्तुओंका आकार स्वरूप जगत् जिन्होंने ऐसे, और समस्त जगत्के हितू ॥ ४ ॥ तथा इन्द्रियोंके ग्रामोंको रोकनेवाले, विषयरूप शत्रुओंको निषेध कर देनेवाले तथा रागादिक सन्तानका करदिया है नाश जिन्होंने ऐसे, और संसाररूपी अग्निके बुझानेको मेघके समान ॥ ५ ॥ तथा दिव्यरूपके धारक,

धीर अर्थात् क्षोभरहित, निर्मल ज्ञान ही जिनके नेत्र हैं ऐसे, इन्द्र और योगी गणोंकी कल्पनासे अतीत है निभव जिनका ऐसे ॥ ६ ॥ तथा स्याद्वादरूप वज्रसे खडे हैं अन्य मतरूप पर्वत जिन्होंने ऐसे, तथा ज्ञानरूप अमृतमय जलके प्रवाहसे पवित्र स्वरूप किया है तीन जगत् जिन्होंने ऐसे ॥ ७ ॥ इनको आदि लेकर गणनासे अतीत गुणरूप रत्नोंके महासमुद्र, देवोंके देव, स्वयंबुद्ध, जिनोंके सूर्य, ऐसे श्रीऋषभदेव सर्वज्ञको हे मुने, तू चिन्तवन (ध्यान) कर ॥ ८ ॥

जन्ममृत्युजराक्रान्तं रागादिविषमूर्च्छितम् ।
सर्वसाधारणैर्दोषैरष्टादशभिरावृतम् ॥ ९ ॥
अनेकव्यसनोच्छिष्टं संयमज्ञानविच्युतम् ।
संज्ञामात्रेण केचिच्च सर्वज्ञं प्रतिपेदिरे ॥ १० ॥

अर्थ—कई अन्यमती जन्म जरा मरणसे व्याप्त, रागद्वेषादि विषसे मूर्छित, सर्व साधारण मनुष्यके समान क्षुधा तृषा आदि १८ दोषोंसे आच्छादित ॥ ९ ॥ तथा अनेक व्यसनों (कष्ट आपदाओं)कर सहित, संयम और ज्ञानसे रहित, ऐसे आत्माको नाममात्रसे सर्वज्ञ मानते हैं ॥ १० ॥

इतरोऽपि नरः षड्भिः प्रमाणैर्वस्तुसंचयम् ।
परिच्छिन्दन्मतः कैश्चित्सर्वज्ञः सोऽपि नेक्ष्यते ॥ ११ ॥

अर्थ—तथा कई प्रत्यक्ष १ अनुमान २ उपमान ३ आगम ४ अर्थापत्ति ५ और अभाव ६ इन छे प्रमाणोंसे वस्तुके समूहको जानते हुए अन्य पुरुषको भी सर्वज्ञ माना है सो वह भी सर्वज्ञ नहीं है ॥ ११ ॥

इस कारण आचार्य महाराज कहते हैं,—

अतः सम्यक्स विज्ञेयः परित्यज्यान्यशासनम् ।
युक्त्यागमविभागेन ध्यातुकामैर्मनीषिभिः ॥ १२ ॥

अर्थ—इस कारण जो सर्वज्ञ भगवान्‌का ध्यान करनेके इच्छक बुद्धिमान् पुरुष हैं उनको चाहिये कि, अन्य मतोंको छोडकर, युक्ति और आगमसे निर्णय करके, सर्वज्ञको सम्यक् प्रकारसे निश्चय करै ॥ १२ ॥

युक्त्या वृषभसेनाद्यैर्निर्धूयासाधुवल्गितम् ।
यस्य सिद्धिः सतां मध्ये लिखिता चन्द्रमण्डले ॥ १३ ॥

अर्थ—जिस सर्वज्ञकी सिद्धि वृषभसेन आदि गणधर और आचार्योंने युक्तिसे असाधु दुर्जनोंके कथनका खंडन करके, सत्पुरुषोंके बीचमें निर्मल चन्द्रमण्डलमें लिखी है ॥ १३ ॥

अनेकपर्ययैः पूर्णं जगद्यस्य चराचरम् ।
स्फुरत्यविकलं बोधविशालादर्शमण्डले ॥ १४ ॥
स्वभावजमसंदिग्धं निर्दोषं सर्वदोदितम् ।
यस्य विज्ञानमत्यक्षं लोकालोकं विसर्पति ॥ १५ ॥
यस्य विज्ञानपद्मांशु-प्रभाप्रसरपीडिताः ।
क्षणादेव क्षयं यान्ति खद्योता इव दुर्नयाः ॥ १६ ॥
पादपीठीकृताशेषत्रिदशेन्द्रसभाजिरम् ।
योगिगम्यं जगन्नाथं गुणरत्नमहार्णवम् ॥ १७ ॥
पवित्रितधरापृष्ठं समुद्धृतजगत्त्रयम् ।
मोक्षमार्गप्रणेतारमनन्तं पुण्यशासनम् ॥ १८ ॥
भामण्डलनिरुद्धार्कचन्द्रकोटिसमप्रभम् ।
शरण्यं सर्वगं शान्तं दिव्यवाणीविशारदम् ॥ १९ ॥
अक्षीणगणसङ्कीर्णं सर्वाभ्युदयमन्दिरम् ।
दुःखार्णवपतत्सत्त्वदत्तहस्तावलम्बनम् ॥ २० ॥
मृगेन्द्रविष्टरारूढं मारमातङ्गघातकम् ।
इन्दुत्रयसमोद्दामच्छत्रत्रयविराजितम् ॥ २१ ॥
हंसालीपातलीलाढ्यं चामरव्रजवीजितम् ।
वीततृष्णं जगन्नाथं वरदं विश्वरूपिणम् ॥ २२ ॥
दिव्यपुष्पानकाशोकराजितं रागवर्जितम् ।
प्रातिहार्यमहालक्ष्मीलक्षितं परमेश्वरम् ॥ २३ ॥
नवकेवललब्धिश्रीसम्भवं स्वात्मसंभवम् ।
शुक्लध्यानमहावह्नौ हुतकर्मेन्धनोत्करम् ॥ २४ ॥
रत्नत्रयसुधास्यन्दमन्दीकृतभवभ्रमम् ।
वीतमर्गं जितद्वैतं शिवं शान्तं सनातनम् ॥ २५ ॥
अर्हन्तमजमव्यक्तं कामदं कामनाशकम् ।
पुराणपुरुषं देवं देवदेवं जिनेश्वरम् ॥ २६ ॥
विश्वनेत्रं जगद्वन्द्यं योगिनाथं महेश्वरम् ।
ज्योतिर्मयमनाद्यन्तं त्रातारं भुवनेश्वरम् ॥ २७ ॥
योगीश्वरं तमीशानमादिदेवं जगद्गुरुम् ।
अनन्तमच्युतं शान्तं भास्वन्तं भूतनायकम् ॥ २८ ॥

सन्मति सुगत सिद्ध जगज्ज्येष्ठ पितामहम् ।
महावीर मुनिश्रेष्ठ पवित्र परमाक्षरम् ॥ २९ ॥
सर्वज्ञ सर्वद सार्व वर्धमान निरामयम् ।
नित्यमव्ययमव्यक्त परिपूर्ण पुरातनम् ॥ ३० ॥
इत्यादिसान्वयानेकपुण्यनामोपलक्षितम् ।
स्मर सर्वगत देव वीरममरनायकम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि—हे मुने, तू आगे लिखे हुए प्रकारसे वीर देवका स्मरण कर—कि जिस सर्वज्ञ देवके ज्ञानरूप निर्मल दर्पणके मंडलमें अनेक वस्तुओंसे भरा हुआ चराचर यह जगत प्रकाशमान है ॥ १४ ॥ तथा जिसका ज्ञान स्वभावसे उत्पन्न हुआ है, कषायादिक रहित है, निर्दोष है, सदाकाल उदयरूप है, तथा इन्द्रियोंका उल्लंघन करके प्रवर्त्तनेवाला है और लोकालोकमें सर्वत्र विस्तरता है ॥ १५ ॥ तथा खद्योत(जुगनू)के समान जिसके विज्ञानरूप सूर्यकी प्रभासे पीडित हुये दुर्नय (एकान्त) शास्त्रमत नष्ट हो जाते हैं ॥ १६ ॥ तथा जिसने समस्त इंद्रोंकी सभाके स्वामीको [illegible] किया है तथा योगीगणोंसे गम्य है, जगतका नाथ है, गुणरूपी रत्नोंका [illegible] है ॥ १७ ॥ तथा पवित्र किया है पृथिवीतल जिसने, तथा उद्धरण किया है [illegible] जिसने ऐसा और मोक्षमार्गका निरूपण करनेवाला है, महान है और जिसका शासन पवित्र है ॥ १८ ॥ तथा जिसने भामण्डलसे सूर्यको आच्छादित किया है, [illegible] चन्द्रमाके समान प्रभाका धारक है, जो जीवोंको शरणभूत है, [illegible] है, [illegible] है, दिव्यवाणीका प्रदीप है ॥ १९ ॥ तथा इन्द्रियरूपी सर्पोंको गरुडसमान है, समस्त अभ्युदयका मंदिर है, तथा दुःखरूप समुद्रमें पडे हुए जीवोंका [illegible] है ॥ २० ॥ तथा सिंहासनपर स्थित है, कामरूप हस्तीका घातक है, [illegible] चन्द्रमाके समान [illegible] छत्र सहित विराजमान है ॥ २१ ॥ तथा [illegible] है, [illegible] है, [illegible] अर्थात् ज्ञानके द्वारा समस्त पदार्थोंमें [illegible] है ॥ २२ ॥ तथा [illegible], आनंद अर्थात् [illegible] तथा [illegible] है, तथा [illegible] ([illegible]) है, [illegible] है, [illegible] ([illegible]) है ॥ २३ ॥ तथा [illegible] है, [illegible] है, [illegible] है, [illegible] और [illegible], [illegible] है, [illegible] है, और [illegible] [illegible] ॥ [illegible]

सम्यक् चारित्ररूप अमृतके झरनोंसे संसारके क्लेशको दूर करनेवाला है, परिग्रहरहित है, जीत लिया है द्वैतभाव जिसने ऐसा है, कल्याणस्वरूप शान्तरूप तथा सनातन अर्थात् नित्यरूप है ॥ २५ ॥ तथा अरहन्त है, अजन्मा है, अव्यक्त है अर्थात् इन्द्रियगोचर नहीं है तथा कामद (मनोवांछित दाता) है, कामका नाशक है, पुराण पुरुष है [illegible] है, देवोंका देव है, जिनेश्वर है ॥ २६ ॥ तथा समस्त लोकको देखने वा दिखानेको नेत्र समान है, जगतके वन्दने योग्य है, योगियोंका नाथ है, महेश्वर है ज्योतिर्मय (ज्ञान प्रकाशमय) है, आदि अंतरहित है, सबका रक्षक है, तीन भुवनका ईश्वर है ॥ २७ ॥ योगीश्वर है, ईशान है, आदिदेव है, जगद्गुरु है, अनन्त है, अच्युत है, शान्त है, तेजस्वी है, भूतनायक है, ॥ २८ ॥ सन्मति है, सुगत है, सिद्ध है, जगज्ज्येष्ठ है, पितामह है, महावीर है, मुनिश्रेष्ठ है, पवित्र है, परमाक्षर है ॥ २९ ॥ सर्वज्ञ है, सबका दाता है, सर्वहितैषी है, वर्द्धमान है, निरामय (रोगरहित) है नित्य है अव्यय (नाशरहित) है, अव्यक्त है, परिपूर्ण है, पुरातन है ॥ ३० ॥ इत्यादिक अनेक सार्थक पवित्र नाम सहित, सनातन, देवोंका नायक, सर्वज्ञ जो श्रीवीरतीर्थंकर है उसको हे मुने, तू स्मरण कर ॥ ३१ ॥

इस प्रकार दोषरहित, सर्वज्ञ देव, अरहंत जिनदेवका ही ध्यान करना चाहिये। अन्यमती गुणरहित दोषसहितको सर्वज्ञ कहते हैं सो नाममात्र है कल्पित है वह सर्वज्ञ ध्यान करने योग्य नहीं है

> अनन्यशरणः साक्षात्तत्संलीनैकमानसः ।
> तत्स्वरूपमवाप्नोति ध्यानी तन्मयतां गतः ॥ ३२ ॥

अर्थ—उपर्युक्त सर्वज्ञ देवका ध्यान करनेवाला ध्यानी अन्य शरणसे रहित हो साक्षात् उसमें ही संलीन है मन जिसका ऐसा हो, तन्मयताको प्राप्त हुआ उसी स्वरूपको प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥

> यमाराध्य शिवं प्राप्ता योगिनो जन्मनिःस्पृहाः ।
> यं स्मरन्त्यनिशं भव्याः शिवश्रीसंगमोत्सुकाः ॥ ३३ ॥
> यस्य वागमृतस्यैकामासाद्य कणिकामपि ।
> शाश्वते पथि तिष्ठन्ति प्राणिनः प्रास्तकल्मषाः ॥ ३४ ॥
> देवदेवः स ईशानो भव्याम्भोजैकभास्करः ।
> ध्येयः सर्वात्मना धीरैः निश्चलीकृत्य मानसम् ॥ ३५ ॥

अर्थ—जिस महेश देवको आराधन करके संसारसे निःस्पृह हुए योगीश्वर मोक्षको प्राप्त हुए हैं तथा मोक्षलक्ष्मीके संगममें उत्सुक भव्यजीव जिसका निरन्तर ध्यान करते हैं ॥ ३३ ॥ तथा जिसके वचनरूपी एक कणिका मात्रको पाकर, प्राणी पाप रहित होकर (निरन्तर

पापों)को नष्ट करके शाश्वत मोक्षमार्गमें तिष्ठते हैं ॥ ३४ ॥ सो देवोंका देव, इशान, भव्य जीवरूप कमलोंको प्रफुल्लित करनेके लिये सूर्य समान ऐसा श्रीवीरजिनेन्द्र मनको निश्चल करके ध्यान करने योग्य (ध्येय) है अन्य कल्पित ध्येय (ध्यान करने योग्य) नहीं है ॥ ३५ ॥

तस्मिन्निरन्तराभ्यासवशात्संजातनिश्चलाः ।
सर्वावस्थासु पश्यन्ति तमेव परमेष्ठिनम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—उस सर्वज्ञ देवके ध्यानमें अभ्यास करनेके प्रभावसे निश्चल हुए योगागण सर्व अवस्थाओंमें उसी परमेष्ठीको देखते हैं ॥ ३६ ॥

तदालम्ब्य परं ज्योतिस्तद्गुणग्रामरञ्जितः ।
अवक्षिप्तमना योगी तत्स्वरूपमुपाश्नुते ॥ ३७ ॥

अर्थ—योगी (ध्यानी मुनि) उस सर्वज्ञ देव परमज्योतिको आलंबन करके उसके गुणग्रामोंमें रंजायमान होता हुआ मनमें विक्षेपरहित होकर, उसी स्वरूपको प्राप्त होता है ॥ ३७ ॥

इत्थं तद्भावनानन्दसुधास्यन्दाभिनन्दितः ।
न हि स्वप्नाद्यवस्थासु ध्यायन्प्रच्यवते मुनिः ॥ ३८ ॥

अर्थ—इस प्रकार उस सर्वज्ञ देवकी भावनासे उत्पन्न हुए आनन्दरूप अमृतके वेगसे आनन्दरूप हुआ मुनि स्वप्नादिक अवस्थाओंमें भी ध्यानसे च्युत नहीं होता ॥ ३८ ॥

अथवा इस प्रकार है—

तस्य लोकत्रयैश्वर्यं ज्ञानराज्यं स्वभावजम् ।
ज्ञानत्रयजुषां मन्ये योगिनामप्यगोचरम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—जो उस सर्वज्ञ देवके तीन लोकका ऐश्वर्यत्व है, स्वभावसे उत्पन्न ज्ञानका राज्य है वह मति श्रुत अवधि इन तीन ज्ञानसहित योगी मुनियोंके भी अगोचर है ऐसा मैं मानता हूं ॥ ३९ ॥

परन्तु कुछ विशेष है सो कहते हैं,—

साक्षान्निर्विषयं कृत्वा साक्षं चेतः सुसंयमी ।
नियोजयत्यविश्रान्तं तस्मिन्नेव जगद्गुरौ ॥ ४० ॥

अर्थ—यद्यपि सर्वज्ञ देवका रूप छद्मस्थ ज्ञानके अगोचर है तथापि इन्द्रिय और मनको अन्य विषयोंसे हटाकर, सुसंयमी मुनि निरन्तर साक्षात् उसी भगवान्के स्वरूपमें अपने मनको लगाता है ॥ ४० ॥

तद्गुणग्रामसंलीनमानसस्तद्गताशयः ।
तद्भावभावितो योगी तन्मयत्वं प्रपद्यते ॥ ४१ ॥

अर्थ—उस परमात्मामें मन लगाके तथा उसके ही गुणोंमें लीन चित्त होकर, उसमें ही चित्तको प्रवेश करके उसी भावसे भावित योगी मुनि उसीकी तन्मयताको प्राप्त होता है ॥ ४१ ॥

यदाभ्यासवशात्तस्य तन्मयत्वं प्रजायते ।
तदात्मानमसौ ज्ञानी सर्वज्ञीभूतमीक्षते ॥ ४२ ॥

अर्थ—जब अभ्यासके वशसे उस मुनिके उस सर्वज्ञके स्वरूपसे तन्मयता उत्पन्न होती है उस समय वह मुनि अपने असर्वज्ञ आत्माको सर्वज्ञ स्वरूप देखता है ॥ ४२ ॥

तब किस प्रकार मानता है सो कहते हैं,—

एष देवः स सर्वज्ञः सोऽहं तद्रूपतां गतः ।
तस्मात्स एव नान्योऽहं विश्वदर्शीति मन्यते ॥ ४३ ॥

अर्थ—जिस समय सर्वज्ञ स्वरूप अपनेको देखता है, उस समय ऐसा मानता है कि, यह वही सर्वज्ञ देव है, वही तत्स्वरूपताको प्राप्त हुआ मैं हूं, इस कारण वही सर्वका देखनेवाला मैं हूं, अन्य मैं नहीं हूं ऐसा मानता है ॥ ४३ ॥

उक्तं च ।

"येन येन हि भावेन युज्यते यन्त्रवाहकः ।
तेन तन्मयतां याति विश्वरूपो मणिर्यथा ॥ १ ॥

अर्थ—जिस जिस भावसे यह यन्त्रवाहक (जीव) जुड़ता है उस २ भावसे तन्मयताको प्राप्त होता है—जैसे निर्मल स्फटिक मणि जिस वर्णसे युक्त होता है वैसा ही वर्णस्वरूप हो जाता है ॥ १ ॥"

इस प्रकार अन्य शास्त्रमें कहा है, तथा अन्य प्रकार भी कहते हैं,—

भव्यत्वैव हि भूतानां साक्षान्मुक्तेर्निबन्धनम् ।
अतः सर्वज्ञता भव्ये भवन्ती नात्र शङ्क्यते ॥ ४४ ॥

अर्थ—अथवा इस प्रकार है कि जीवोंके भव्यत्व भाव है सो साक्षात् मुक्तिका कारण है इस कारण भव्य प्राणीमें सर्वज्ञता होनेमें संदेह नहिं करना अर्थात् भव्यके निःसंदेह सर्वज्ञता होती ही है ॥ ४४ ॥

अयमात्मा स्वसामर्थ्याद्विशुद्ध्यति न केवलम् ।
चालयत्यपि संक्रुद्धो भुवनानि चतुर्दश ॥ ४५ ॥

अर्थ—यह आत्मा अपने सामर्थ्यसे केवल विशुद्ध ही नहिं होता है किन्तु जो क्रोध

रूप होता है तो चौदह भुवनोंको भी (लोकको भी) चला देता है भावार्थ—आत्माकी अचिन्त्य सामर्थ्य है कि जो आप सर्वज्ञके ध्यानसे तन्मय होता है तो सर्वज्ञ हो जाता है और किसी समय यदि क्रोधसे तन्मय हो जाय तो चौदह भुवनोंको चला देता है ॥ ४५ ॥

स्रग्धरा।

त्रैलोक्यानन्दबीज जननजलनिधेर्यानपात्र पवित्र
लोकालोकप्रदीप स्फुरदमलशरचन्द्रकोटिप्रभाढ्यम्।
कस्यामप्यग्रकोटौ जगदखिलमतिक्रम्य लब्धप्रतिष्ठ
देव विश्वैकनाथ शिवमजमनघ वीतराग भजस्व ॥ ४६ ॥

अर्थ—हे मुने, तू वीतराग देवका ही ध्यान कर कैसे हैं वीतराग भगवान्? तीनो लोकके जीवोंको आनन्दके कारण हैं, संसाररूप समुद्रके पार होनेके लिये जहाज तुल्य हैं तथा पवित्र अर्थात् द्रव्यभाव मलसे रहित हैं तथा लोक अलोकके प्रकाश करनेके लिये दीपकके समान हैं और प्रकाशमान तथा निर्मल ऐसे जो करोड़ शरदके चन्द्रमा उनकी प्रभासे भी अधिक प्रभाके धारक हैं तथा किसी मुख्य कोटिमें समस्त जगतको उल्लंघन कर पाई है प्रतिष्ठा जिन्होंने ऐसे हैं, जगतके अद्वितीय नाथ हैं, शिवस्वरूप हैं, अजन्मा हैं, पापरहित हैं, ऐसे वीतराग भगवान्का ध्यान करो ॥ ४६ ॥

इस प्रकार रूपस्थ ध्यानका वर्णन किया। इसमें अरहंत सर्वज्ञ सर्व अतिशयोंसे पूर्ण ध्यान करना कहा है उसीके अभ्यासमें तन्मय होकर, उसके समान अपने आत्माको ध्यावना, जिससे वैसा ही हो जाना है इस प्रकार वर्णन किया।

सोरठा।

सर्वविधनयुत आप, जु ध्यावै अरहंतकू।
मन थंभि करि सनि आप, त पावै निज भावकू ॥ २९ ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे रूपस्थध्यानवर्णनं नाम एकोनचत्वारिंशं प्रकरणम् ॥ ३९ ॥

[illegible]

अथ चत्वारिंश प्रकरणम्।

इस प्रकरणमें रूपातीत ध्यानका वर्णन करते हैं सो, प्रथम ही असमीचीन ध्यानका निषेध करते हैं,—

> वीतरागं स्मरन्योगी वीतरागो विमुच्यते।
> रागी सरागमालम्ब्य क्रूरकर्माश्रितो भवेत्॥ १॥

अर्थ—ध्यान करनेवाला योगी वीतरागका ध्यान करता हुआ वीतराग होकर, कर्मोंसे छूट जाता है। और रागीको अवलंबन करके, ध्यान करनेसे रागी होकर, क्रूर कर्मोंके आश्रित हो जाता है अर्थात् अशुभ कर्मोंसे बँध जाता है॥ १॥

> मन्त्रमण्डलमुद्रादिप्रयोगैर्ध्यातुमुद्यतः।
> सुरासुरनरव्रातं क्षोभयत्यखिलं क्षणात्॥ २॥

अर्थ—यदि ध्यानी मुनि मंत्र, मंडल, मुद्रादि प्रयोगोंसे ध्यान करनेमें उद्यत हो तो समस्त सुर, असुर और मनुष्योंके समूहको क्षणमात्रमें क्षोभित कर सकता है॥ २॥

> क्रुद्धस्याप्यस्य सामर्थ्यमचिन्त्यं त्रिदशैरपि।
> अनेकविक्रियासारध्यानमार्गावलम्बिनः॥ ३॥

अर्थ—अनेक प्रकारकी विक्रियारूप असार ध्यानमार्गको अवलंबन करनेवाले क्रोधीके भी ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि जिसका देव भी चिंतवन नहीं कर सकते॥ ३॥

उपजाति।

> यानि कर्माणि मुनिप्रवीरैर्विद्यानुवादात्प्रकटीकृतानि।
> असंख्यभेदानि कुतूहलार्थं कुमार्गकुध्यानगतानि सन्ति॥ ४॥

अर्थ—ज्ञानी मुनियोंने विद्यानुवादपूर्वसे असंख्य भेदवाले अनेक प्रकारके उच्चाटन आदि कर्म कौतूहलके लिये प्रकट किये हैं। परन्तु वे सब कुमार्ग और कुध्यानके अंतर्गत हैं॥ ४॥

उपेन्द्रवज्रा।

> असावनन्तप्रथितप्रभावः स्वभावतो यद्यपि यन्त्रनाथः।
> नियुज्यमानः स पुनः समाधौ करोति विश्वं चरणाग्रलीनम्॥ ५॥

अर्थ—यद्यपि यह आत्मा स्वभावसे ही अनंत और प्रसिद्ध प्रभाववाला है। फिर समाधिमें (ध्यानमें) जोड़ा हुआ हो तो यह समस्त जगतको अपने चरणोंमें लीन कर लेता है॥ ५॥

स्वप्नेऽपि कौतुकेनापि नासद्ध्यानानि योगिभिः ।
सेव्यानि यान्ति बीजत्वं यतः सन्मार्गहानये ॥ ६ ॥

अर्थ—परन्तु योगी मुनियोंको चाहिये कि असमीचीन ध्यानोंको कौतुकसे स्वप्नमें भी न विचारें । क्योंकि, असमीचीन ध्यान सन्मार्गकी हानिके लिये बीज स्वरूप (कारण) है । भावार्थ-खोटे ध्यानसे खोटा मार्ग ही चलता है, इस कारण मुनि जनोंको बुरा ध्यान कदापि नहिं करना चाहिये ॥ ६ ॥

सन्मार्गात्प्रच्युतं चेतः पुनर्वर्षशतैरपि ।
शक्यते न हि केनापि व्यवस्थापयितुं पथि ॥ ७ ॥

अर्थ—खोटे ध्यानके कारण सन्मार्गसे विचलित हुए चित्तको फिर सैकड़ों वर्षोंमें भी कोई सन्मार्गमें लानेको समर्थ नहि हो सकता, इस कारण खोटा ध्यान कदापि नहि करना चाहिये ॥ ७ ॥

असद्ध्यानानि जायन्ते स्वनाशायैव केवलम् ।
रागाद्यसद्ग्रहावेशात्कौतुकेन कृतान्यपि ॥ ८ ॥

अर्थ—असमीचीन (खोटे) ध्यान कौतुक मात्रसे किये हुए भी रागादिरूप खोटे ग्रहोंके आवेशसे केवल अपने नाशके लिये ही होते है ॥ ८ ॥

निर्भरानन्दसन्दोहपदसपादनक्षमम् ।
मुक्तिमार्गमतिक्रम्य कः कुमार्गे प्रवर्त्तते ॥ ९ ॥

अर्थ—इसकारण अतिशयरूप आनंदके समूहके स्थानको उत्पन्न करनेमें समर्थ ऐसे मोक्षमार्गको (समीचीन ध्यानको) छोडकर ऐसा कौन है जो कुमार्गमें (खोटे ध्यानमें) प्रवृत्ति करै, ज्ञानवान् तो कदापि नहिं करै ॥ ९ ॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

क्षुद्रध्यानपरम्परप्रचतुरा रागानलोद्दीपिताः
मुद्रामण्डलयन्त्रमन्त्रकरणैराराधयन्त्यादृताः ।
कामक्रोधवशीकृतानिह सुरान् संसारसौख्यार्थिनो
दुष्टाशाभिहता पतन्ति नरके भोगार्तिभिर्वञ्चिताः ॥ १० ॥

अर्थ—जो पुरुष खोटे ध्यानके उत्कृष्ट प्रपंचोंको विस्तार करनेमें चतुर हैं वे इस लोकमें रागरूप अग्निसे प्रज्वलित होकर मुद्रा, मंडल, यंत्र, मंत्र, आदि साधनोंके द्वारा कामक्रोधसे वशीभूत देवोंका आदरसे आराधन करते हैं । सो, सांसारिक सुखके चाहनेवाले और दुष्ट आशासे पीडित तथा भोगोंकी पीडासे वंचित होकर वे नरकमें पडते हैं, इस कारण ऐसे करते हैं [illegible] ॥ १० ॥

तद्ध्येयं तदनुष्ठेयं तद्विचिन्त्यं मनीषिभिः ।
यज्जीवकर्मसंबन्धविश्लेषायैव जायते ॥ ११ ॥

अर्थ—वही बुद्धिमानोंको ध्यान करने योग्य है और वही अनुष्ठान व चितवन करने योग्य है जो कि जीव और कर्मोंके संबधको दूर करनेवाला ही हो । अर्थात् जिस कार्यसे कर्मोंसे मोक्ष हो वही कार्य करना योग्य है ॥ ११ ॥

फिर भी कुछ विशेषतासे कहते हैं,—

स्वयमेव हि सिद्ध्यन्ति सिद्धयः शान्तचेतसाम् ।
अनेकफलसंपूर्णा मुक्तिमार्गावलम्बिनाम् ॥ १२ ॥

अर्थ—जो मुनि शान्तचित्त हैं और मुक्तिमार्गके अवलम्बन करनेवाले हैं उनके अनेक प्रकारके फलोंसे भरी हुई सिद्धियां स्वयमेव सिद्ध हो जाती है। भावार्थ—समीचीन ध्यानसे नाना प्रकारकी ऋद्धियें बिना चाहे ही सिद्ध हो जाती हैं। फिर, खोटे आशयसे खोटे ध्यान करनेमें क्या लाभ है? ॥ १२ ॥

संभवन्ति न चाभीष्टसिद्धयः क्षुद्रयोगिनाम् ।
भवत्येव पुनस्तेषां स्वार्थभ्रंशोऽनिवारितः ॥ १३ ॥

अर्थ—जो खोटे ध्यान करनेवाले क्षुद्र योगी हैं उनको इष्ट सिद्धियां कदापि नहिं होतीं, किन्तु उनके उलटी स्वार्थकी अनिवार्य हानि ही होती है ॥ १३ ॥

भवप्रभवसंबन्धनिरपेक्षा मुमुक्षवः ।
न हि स्वप्नेऽपि विक्षिप्तं मनः कुर्वन्ति योगिनः ॥ १४ ॥

अर्थ—जो मोक्षाभिलाषी योगीश्वर मुनि हैं वे जिससे संसारकी उत्पत्ति हो ऐसे संबंधोंसे निरपेक्ष रहते हैं । वे अपने मनको स्वप्नमें भी चलायमान नहिं करते हैं। भावार्थ-उनको किसी प्रकारकी ऋद्धि प्राप्त हो, कोई देवता आकर उनकी महिमा करै तथा किसीको ऋद्धिवान् देखें तो भी वे मोक्षमार्गमे कदापि अपने मनको च्युत नहिं करते ॥ १४ ॥

अब रूपातीत ध्यानका वर्णन करते हैं,—

अथ रूपे स्थिरीभूतचित्तः प्रक्षीणविभ्रमः ।
अमूर्तमजमव्यक्तं ध्यातुं प्रक्रमते ततः ॥ १५ ॥

अर्थ—इसके पश्चात् स्थिरीभूत है चित्त जिसका तथा नष्ट हो गये है विभ्रम जिसके ऐसा ध्यानी रूपस्थ ध्यानमें अमूर्त, अजन्मा, इन्द्रियोंसे अगोचर, ऐसे परमात्माके ध्यानका प्रारंभ करता है ॥ १५ ॥

चिदानन्दमयं शुद्धममूर्तं परमाक्षरम् ।
स्मरेद्यत्रात्मनात्मानं तद्रूपातीतमिष्यते ॥ १६ ॥

अर्थ—जिस ध्यानम ध्यानी मुनि चिदानन्दमय, शुद्ध, अमूर्त, परमाक्षररूप आत्मा को आत्मा ही स्मरण करै अर्थात् ध्यावै सो रूपातीत ध्यान माना गया है ॥ १६ ॥

वदन्ति योगिनो ध्यानं चित्तमेवमनाकुलम् ।
कथं शिवत्वमापन्नमात्मानं संस्मरेन्मुनिः ॥ १७ ॥

अर्थ—योगीश्वर चित्तके आकुलतारहित होने अर्थात् क्षोभरहित होनेको ही ध्यान कहते है । तो कोई मुनि मोक्षप्राप्त आत्माका स्मरण कैसे करै? **भावार्थ**—जब ध्येय और ध्यानी पृथक् पृथक् है तो चित्तको क्षोभ अवश्य होगा ॥ १७ ॥

इसका समाधान इसप्रकार है —

विवेच्य तद्गुणग्रामं तत्स्वरूपं निरूप्य च ।
अनन्यशरणो ज्ञानी तस्मिन्नेव लयं व्रजेत् ॥ १८ ॥

अर्थ—प्रथम तो उस परमात्माके गुणसमूहोंको पृथक् २ विचारै और फिर उन गुणोंके समुदायरूप परमात्माको गुणगुणीके अभिन्न भावसे विचारै और फिर किसी अन्यके शरणसे रहित होकर, ज्ञानी पुरुष उसी परमात्माम लीन हो जावै । **भावार्थ**-इस ध्यानमे प्रथम तो गुण और गुणीका पृथक्रूपसे विचार है परन्तु अन्तमे परमात्मामें लीन होनेसे ध्येय और ध्यानी पृथक् रूप न रहेंगे ॥ १८ ॥

तद्गुणग्रामसम्पूर्णं तत्स्वभावैकभावितः ।
कृत्वात्मानं ततो ध्यानी योजयेत्परमात्मनि ॥ १९ ॥

अर्थ—परमात्माके स्वभावसे एकरूप भावित अर्थात् मिला हुआ ध्यानी मुनि उस परमात्माके गुणसमूहोंसे पूर्णरूप अपने आत्माको करके, फिर उसे परमात्मामें योजन करै । ऐसा विधान है ॥ १९ ॥

द्वयोर्गुणैर्मतं साम्यं व्यक्तिशक्तिव्यपेक्षया ।
विशुद्धेतरयोः स्वात्मतत्त्वयोः परमागमे ॥ २० ॥

अर्थ—परमागमम विशुद्ध अर्थात् कर्मरहित और उससे इतर अर्थात् कर्मसहित इन दोनों स्वात्मतत्त्वोंमें शक्ति और व्यक्तिकी अपेक्षासे गुणोंसे समानता मानी है। **भावार्थ**—जब शक्ति और व्यक्तिको भिन्न २ मानते हैं तब तो कर्मरहित विशुद्ध आत्मा व्यक्तिरूपसे परमात्मा है और कर्मसहित आत्मा शक्तिरूपसे परमात्मा है। और यदि शक्ति और व्यक्तिको अभिन्न मानते हैं तो दोनोंही समान हैं ॥ २० ॥

अब शक्ति और व्यक्ति भिन्नाभिन्न माननेमे अविरोधका हेतु दिखलाते हैं—

यः प्रमाणनयैर्नूनं स्वतत्त्वमवबुद्ध्यते ।
बुद्ध्यते परमात्मानं स योगी वीतविभ्रमः ॥ २१ ॥

अर्थ—जो मुनि प्रमाण और नयोंके द्वारा अपने आत्मतत्त्वको जानता है वही योगी बिना किसी सन्देहके परमात्माको जानता है। भावार्थ—जबतक प्रमाण और नयोंका स्वरूप तथा इनके द्वारा आत्माका स्वरूप न जाना जायगा तबतक कर्मसहित ही आत्मा किसी अपेक्षासे कर्मरहित है यह विरोध भी दूर न हो सकेगा। इन दोनोंका विरोध दूर करनेवाला स्याद्वाद है। इसलिये स्याद्वादको समझ कर, फिर यदि इन दोनोंका विचार करते हैं, तो कोई विरोध नहीं रहता और न भ्रम ही रहता है ॥ २१ ॥

अब कर्मरहित परमात्माका स्वरूप कहते हैं कि, जिसके द्वारा यह योगी अपने आत्माको रूपातीत ध्यानमें चिंतवन करै—

व्योमाकारमनाकारं निष्पन्नं शान्तमच्युतम् ।
चरमाङ्गात्कियन्न्यूनं स्वप्रदेशैर्घनैः स्थितम् ॥ २२ ॥
लोकाग्रशिखरासीनं शिवीभूतमनामयम् ।
पुरुषाकारमापन्नमप्यमूर्तं च चिन्तयेत् ॥ २३ ॥

अर्थ—आकाशके आकार अर्थात् अमूर्त, अनाकार अर्थात् पुद्गलके आकारसे रहित, निष्पन्न अर्थात् स्थिर जिसमें किसी प्रकारकी हीनाधिकता न हो, शान्त अर्थात् क्षोभरहित, अच्युत अर्थात् जो अपने रूपसे कभी च्युत न हो, चरम शरीरसे किंचित् न्यून अर्थात् जिस शरीरसे मोक्ष हुआ है उस शरीरसे नासिकादि रन्ध्र प्रदेशोंसे हीन, अपने घनीभूत प्रदेशोंसे स्थित तथा लोकाकाशके अग्रभागमें स्थित, शिवीभूत अर्थात् पहिले अकल्याणरूप थे अब कल्याणरूप हुए ऐसे, अनामय अर्थात् रोगादिकसे सर्वथा रहित और पुरुषाकारको प्राप्त होकर भी अमूर्त अर्थात् आकार तो पुरुषका है परन्तु तो भी उसमें रूप रस गंध स्पर्शादिक नहीं हैं ऐसे परमात्माका ध्यान इस रूपातीत ध्यानमें करै ॥ २२ ॥ २३ ॥

निष्कलस्य विशुद्धस्य निष्पन्नस्य जगद्गुरोः ।
चिदानन्दमयस्योच्चैः कथं स्यात्पुरुषाकृतिः ॥ २४ ॥

अर्थ—जो परमात्मा निष्कल अर्थात् देहरहित है, विशुद्ध अर्थात् द्रव्यभावरूप दोनों मलोंसे रहित है, निष्पन्न अर्थात् जिसमें कुछ हीनाधिकता होनेवाली नहीं है, जो जगत्का गुरु है और जो चिदानन्द स्वरूप अर्थात् चैतन्य और आनन्द स्वरूप है, महान् है, ऐसे परमात्माके पुरुषाकृति अर्थात् पुरुषका आकार कैसे हो सकता है? ॥२४॥

इसका समाधान—

विनिर्गतमधूच्छिष्टप्रतिमे मूषिकोदरे ।
यादृग्गगनसंस्थानं तदाकारं स्मरेद्विभुम् ॥ २५ ॥

अर्थ—जिससे मोम निकल गया है ऐसी मूषिकाके उदरमें जैसा आकाशका आकार है तदाकार परमात्मा प्रभुका ध्यान करै ॥ २५ ॥

इसीका दूसरा दृष्टान्त कहते हैं।

सर्वावयवसम्पूर्णं सर्वलक्षणलक्षितम्।
विशुद्धादर्शसङ्क्रान्तप्रतिबिम्बसमप्रभम् ॥ २६ ॥

अर्थ—समस्त अवयवोंसे पूर्ण और समस्त लक्षणोंसे लक्षित ऐसे निर्मल दर्पणमें पडते हुए प्रतिबिम्बके समान प्रभावाले परमात्माका चिन्तवन करै। भावार्थ—जैसे निर्मल दर्पणमें पुरुषके समस्त अवयव और लक्षण दिखाई पडते हैं उसी तरह परमात्माके प्रदेश शरीरके अवयवरूप परिणत है। और उनमें समस्त लक्षणोंकी तरह समस्त गुण रहते हैं ॥ २६ ॥

इत्यसौ सन्तताभ्यासवशात्सञ्जातनिश्चयः।
अपि स्वप्नाद्यवस्थासु तमेवाध्यक्षमीक्षते ॥ २७ ॥

अर्थ—इस प्रकार जिसके निरन्तर अभ्यासके वशसे निश्चय हो गया है ऐसा ध्यानी स्वप्नादिक अवस्थामें भी उसी परमात्माको प्रत्यक्ष देखता है। भावार्थ—दृढ अभ्याससे स्वप्नादिकमें भी परमात्मा ही दिखाई पडता है ॥ २७ ॥

सोऽहं सकलवित्सार्वः सिद्धः साध्यो भवच्युतः।
परमात्मा परं ज्योतिर्विश्वदर्शी निरञ्जनः ॥ २८ ॥
तदासौ निश्चलोऽमूर्त्तो निष्कलङ्को जगद्गुरुः।
चिन्मात्रो विस्फुरत्युच्चैर्ध्यानध्यातृविवर्जितः ॥ २९ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त प्रकारसे जब परमात्माका निश्चय हो जाता है और दृढ अभ्याससे उसका प्रत्यक्ष होने लगता है उस समय परमात्माका चिन्तवन इस प्रकार करै कि ऐसा परमात्मा मैं ही हूं, मैं ही सर्वज्ञ हूं, सर्वव्यापक हूं, सिद्ध हूं, तथा मैं ही साध्य अर्थात् सिद्ध करने योग्य था। संसारसे रहित, परमात्मा, परमज्योतिस्वरूप, समस्त विश्वका देखनेवाला मैं ही हूं। मैं ही निरंजन हूं। ऐसा परमात्माका ध्यान करै। उस समय अपना स्वरूप निश्चल, अमूर्त्त अर्थात् शरीररहित, निष्कलङ्क, जगत्का गुरु, चैतन्यमात्र और ध्यान तथा ध्याताके भेदरहित ऐसा अतिशय स्फुरायमान होता है ॥ २८ ॥ २९ ॥

पृथग्भावमतिक्रम्य तथैक्यं परमात्मनि।
प्राप्नोति स मुनिः साक्षाद्यथान्यत्वं न बुध्यते ॥ ३० ॥

अर्थ—यह मुनि जिस समय पूर्वोक्त प्रकारसे परमात्माका ध्यान करता है उस समय परमात्मामें पृथक् भाव अर्थात् अलगपनेका उल्लंघन करके साक्षात् एकताको इस

तरह प्राप्त हो जाता है कि, जिससे पृथक् पनेका बिल्कुल भान नहीं होता। भावार्थ—उस समय ध्याता और ध्येयमें द्वैतभाव नहीं रहता ॥ ३० ॥

उक्तं च।

"निष्कलः परमात्माहं लोकालोकावभासकः।
विश्वव्यापी स्वभावस्थो विकारपरिवर्जितः ॥ १ ॥

अर्थ—निष्कल अर्थात् देहरहित, लोक और अलोकको देखने और जाननेवाला, सर्वव्यापक, स्वभावमें स्थिर, समस्त विकारोंसे रहित ऐसा परमात्मा मैं हूं। ऐसा य ग्रंथोंमें भी अभेद भाव दिखाया है ॥ १ ॥'

मालिनी।

इतिविगतविकल्पं क्षीणरागादिदोषं
विदितसकलवेद्यं त्यक्तविश्वप्रपञ्चम्।
शिवमजमनवद्यं विश्वलोकैकनाथं
परमपुरुषमुच्चैर्भावशुद्ध्या भजस्व ॥ ३१ ॥

अर्थ—यहां आचार्य विशेष उपदेशरूप प्रेरणा करते हैं कि हे मुनि, इस प्रकार जिसके समस्त विकल्प दूर होगये हैं, जिसके रागादिक सब दोष क्षीण हो चुके हैं, जो जानने योग्य समस्त पदार्थोंका जाननेवाला है, जिसने संसारके समस्त प्रपंच छोड़ दिये हैं, जो शिव अर्थात् कल्याण स्वरूप अथवा मोक्ष स्वरूप है, जो अज अर्थात् जिसके आगे जन्म मरण नहीं करना है, जो अनवद्य अर्थात् पापोंसे रहित है तथा जो समस्त लोकका एक अद्वितीय नाथ है ऐसे परम पुरुष परमात्माको भावोंकी शुद्धतापूर्वक अतिशय करके भज। भावार्थ—शुद्ध भावोंसे ऐसे परम पुरुष परमात्माका ध्यान कर ॥ ३१ ॥

इस प्रकार इस अध्यायमें रूपातीत ध्यानका निरूपण किया है। इसका संक्षेप [illegible] यह है कि जब ध्यानी सिद्ध परमेष्ठीके ध्यानका अभ्यास करके [illegible] आपको भी उनके समान जानकर और आपको उनके समान [illegible] कर [illegible] उसमें (आपमें) लीन होता है, तब आप कर्मोंका नाश कर [illegible] होता है।

दोहा।

सिद्ध निरंजन कर्मबिन, सुखविलसित अनन्त।
जो ध्यावै परमातमा, सो पावै शिव सन्त ॥ १ ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे रूपातीत
ध्यानवर्णनं नाम चत्वारिंशं प्रकरणम् ॥ ४० ॥

अथैकचत्वारिंशं प्रकरणम्।

आगे श्रीशुभचन्द्राचार्य धर्म्यध्यानका फल वर्णन करते हुए प्रथम ही कुछ उपदेश करते हैं —

वंशस्थम्।

प्रसीद शान्तिं व्रज सन्निरुध्यतां
दुरन्तजन्मज्वरजिह्मितं मनः।
अगाधजन्मार्णवपारवर्तिनां
यदि श्रियं वाञ्छसि विश्वदर्शिनाम्॥ १॥

अर्थ—हे आत्मन्, यदि तू अगाध संसाररूपी समुद्रके पारवर्ती और समस्त लोकालोकके देखनेवाले ऐसे अरहंत और सिद्ध भगवान्की लक्ष्मीकी इच्छा करता है तो प्रसन्न हो, शान्तता धारण कर और दुरंत संसाररूप ज्वर करके मूर्छित मनको वश कर। **भावार्थ**—आचार्यका उपदेश है कि यदि तू ध्यान करना चाहता है तो प्रथम ही अपने मनको वशमें कर और शान्तभाव धारण कर॥ १॥

यदि रोद्धुं न शक्नोति तुच्छवीर्यो मुनिर्मनः।
तदा रागेतरध्वंसं कृत्वा कुर्यात्सुनिश्चलम्॥ २॥

अर्थ—और तुच्छवीर्य मुनि अर्थात् सामर्थ्यहीन मुनि यदि अपने मनको वश नहीं कर सके तो रागद्वेषका नाश करके मनको निश्चल करे। **भावार्थ**—मनको रागद्वेषका उत्पन्न न होने दे॥ २॥

अनुप्रेक्षाश्च धर्म्यस्य स्युः सदैव निबन्धनम्।
चित्तभूमौ स्थिरीकृत्य स्वस्वरूपं निरूपय॥ ३॥

अर्थ—हे मुने! अनित्य अशरणादिक बारह अनुप्रेक्षा अर्थात् अनित्यादिक भावना सदा ही धर्मध्यानका कारण है। इसलिये अपनी चित्तकी भूमिमें उन भावनाओंको स्थिर करके अपने स्वरूपका अवलोकन कर॥ **भावार्थ**—यदि मन स्थिर न होता हो तो बारह भावनाओंका चिन्तवन कर। ये भावना धर्मध्यानके कारण हैं॥ ३॥

[illegible] निष्कम्पो यथा दीपो घ्नन् तमः।
तथा कर्मकलङ्कौघं मुनेर्ध्यानं सुनिश्चलम्॥ ४॥

अर्थ—जैसे निश्चल अर्थात् अकंप दीपक गहन अन्धकारको दूर ही दूर करता है, उसी प्रकार मुनिका सुनिश्चल ध्यान भी कर्मकलंकके समूहको दूर ही से नष्ट करता है। **भावार्थ**—कर्मोंके नाश करनेके लिये ध्यान करना ही चाहिये॥ ४॥

अल्पवीर्यपरसत्वानां क्रियमाणमपि स्थिरम् ।
चेतः शरीरिणां शश्वद्विषयैर्व्याकुलीकृतम् ॥ ५ ॥

न स्वामित्वमतः शुक्ले विद्यतेऽत्यल्पचेतसाम् ।
आद्यसंहननस्यैव तत्प्रणीतं पुरातनैः ॥ ६ ॥

छिन्ने भिन्ने हते दग्धे देहे स्वमिव दूरगम् ।
प्रपश्यन् वर्षवातादिदुःखैरपि न कम्पते ॥ ७ ॥

न पश्यति तदा किंचिन्न शृणोति न जिघ्रति ।
स्पृष्टं किंचिन्न जानाति साक्षान्निर्वृत्तलेपवत् ॥ ८ ॥

कालापकम् ॥

अर्थ—अल्पवीर्य अर्थात् सामर्थ्यहीन प्राणियोंका मन स्थिर करते हुए भी निरंतर विषयोंसे व्याकुल होता हुआ चलायमान होता ही है। इसलिये अतिशय अल्पचित्तवालोंका शुक्लध्यान करनेमें अधिकार नहीं है। प्राचीन मुनियोंने पहलेके (वज्र, वृषभ, नाराच) संहननवालेके ही शुक्लध्यान कहा है। इसका कारण यह है कि इस संहननवालेका ही चित्त ऐसा होता है कि, शरीरको छेदने, भेदने, मारने और जलानेपर भी अपने आत्माको उस शरीरसे अत्यन्त दूर अर्थात् भिन्न देखता हुआ चलायमान नहीं होता और न वर्षाकालके पवन आदिक दुःखोंसे कम्पायमान होता है। तथा उस ध्यानके समय लेपकी मूर्ति अर्थात् रंगसे निकाली हुई चित्रामकी मूर्तिकी तरह हो जाता है। इस कारण, वह योगी न तो कुछ देखता है, न कुछ सुनता है, न कुछ सूंघता है और न कुछ स्पर्श किये हुएको जानता है। भावार्थ—ऐसे पुरुषके शुक्लध्यान होता है ॥ ५ ॥ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥

आद्यसंहननोपेता निर्वेदपदवीं श्रिताः ।
कुर्वन्ति निश्चलं चेतः शुक्लध्यानक्षमं नराः ॥ ९ ॥

अर्थ—जिनके आदिका संहनन है और जो वैराग्य पदवीको प्राप्त हुए हैं, ऐसे पुरुष ही अपने चित्तको शुक्लध्यान करनेमें समर्थ ऐसा निश्चल करते हैं ॥ ९ ॥

सामग्र्योरनयोर्ध्यातुर्ध्यानं बाह्यान्तरङ्गयोः ।
पूर्वयोरेव शुक्लं स्यान्नान्यथा जन्मकोटिषु ॥ १० ॥

अर्थ—इस प्रकार पूर्व कही हुई बाह्य और आभ्यन्तर अर्थात् आदिके संहनन और वैराग्यभाव इन दोनों सामग्रियोंसे ध्यान करनेवालेके शुक्लध्यान होता है। अन्यथा अर्थात् बिना आदिके संहनन और वैराग्यभावके, करोडों जन्मोंमें भी नहीं हो सकता ॥ १० ॥

सर्व साधारण जीवोंको शुक्लध्यान असमव है इसलिये धर्म्यध्यानकी रीति कहते हैं।

अतिक्रम्य शरीरादिमङ्गा नात्मन्यवस्थितः।
नैवाक्षमनसोर्योगं करोत्येकाग्रताश्रितः॥ ११॥

अर्थ—धर्म्यध्यान करनेवाला शरीरादिक परिग्रहोंको छोड, आत्मामें अवस्थित होता हुआ, एकाग्रताको धारण कर, इन्द्रिय और मनका सयोग नहीं करता है अर्थात् इन्द्रियोंसे जो पदार्थोंका ग्रहण होता है उनका मनसे सयोग नहीं करता। मनको केवल स्वरूपमे ही स्थिर रखता है॥ ११॥

अब इस ध्यानका फल लिखते हैं।

असख्येयमसख्येय सद्दृष्ट्यादिगुणेऽपि च।
क्षीयते क्षपकस्यैव कर्मजातमनुक्रमात्॥ १२॥
शमकस्य क्रमात् कर्म शान्तिमायाति पूर्ववत्।
प्राप्नोति निर्गतातङ्कः स सौख्य शमलक्षणम्॥ १३॥

अर्थ—इस धर्म्यध्यानमे कर्मोंका क्षय करनेवाले क्षपकके सदृष्टि अर्थात् सम्यग्दृष्टि नामक चौथे गुणस्थानसे लेकर, सातवें अप्रमत्त गुणस्थान पर्यन्त अनुक्रमसे असख्यात असख्यात गुणा कर्मका समूह क्षय होता है। और जो कर्मोंका उपशम करनेवाला उपशमक है उसके क्रमसे असख्यात असख्यात गुणा कर्मका समूह उपशम होता है। इसलिये ऐसा धर्म्यध्यानी आतक दाहादि दु खोंसे रहित होता हुआ उपशम मात्रक सुखको प्राप्त होता है॥ १२॥ १३॥

धर्मध्यानस्य विज्ञेया स्थितिरान्तर्मुहूर्त्तिकी।
क्षायोपशमिको भावो लेश्या शुक्लैव शाश्वती॥ १४॥

अर्थ—इस धर्म्यध्यानकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त है, इसका भाव क्षायोपशमिक है और लेश्या सदा शुक्ल ही रहती है। **भावार्थ**—धर्म्यध्यान अन्तर्मुहूर्त्त रहता है। धर्म्यध्यान वालेके क्षायोपशमिक भाव और शुक्ल लेश्या होती है॥ १४॥

इदमत्यन्तनिर्वेदविवेकप्रशमोद्भवम्।
स्वात्मानुभवमत्यक्ष योजयत्यङ्गिना सुखम्॥ १५॥

अर्थ—यह धर्म्यध्यान जीवोंको अत्यन्त निर्वेद अर्थात् संसार देह भोगादिकोंसे भ त्यन्त वैराग्य तथा विवेक अर्थात् भेदज्ञान और प्रशम अर्थात् मदकषाय इनसे उत्पन्न होनेवाले अपने आत्माके ही अनुभवमें आनेवाले और इन्द्रियोंसे अतीत अर्थात् अतीन्द्रिय ऐसे सुखको प्राप्त करता है॥ १५॥

अथ इस धर्मध्यानके चिह्न कहते हैं—

उक्तं च ।

'अलौल्यमारोग्यमनिष्ठुरत्वं गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पम् ।
कान्तिः प्रसादः स्वरसौम्यता च योगप्रवृत्तेः प्रथमं हि चिह्नम् ॥१॥

अर्थ—अलौल्य अर्थात् विषयोंमें इन्द्रियोंकी लम्पटता न होना और मनका चपल न होना, आरोग्य अर्थात् शरीर नीरोग होना, निष्ठुरता न होना, शरीरका गंध शुभ होना, मलमूत्रका अल्प होना, शरीर कान्तिसहित होना अर्थात् शक्तिहीन न होना, चित्तका प्रसन्न होना अर्थात् मन्द शोकादिक मलिन भावरूप न होना और स्वर अर्थात् शब्दोंका उच्चारण सौम्य होना, ये चिह्न योगकी प्रवृत्तिके अर्थात् ध्यान करनेवालेके प्रारम्भदशामें होते हैं। भावार्थ—ऐसे चिह्नोंसे पुरुषके ध्यानका प्रारम्भ होता है ॥ १ ॥"

अब इस धर्मध्यानका फल कहते हैं।

अथावसाने स्वतनुं विहाय ध्यानेन संन्यस्तसमस्तसङ्गाः ।
ग्रैवेयकानुत्तरपुण्यवासे सर्वार्थसिद्धौ च भवन्ति भव्याः ॥ १६ ॥

अर्थ—जो भव्य पुरुष इस पर्यायके अन्त समयमें समस्त परिग्रहोंको छोड़कर, धर्मध्यानसे अपना शरीर छोड़ते हैं, वे पुरुष पुण्यके स्थानरूप ऐसे ग्रैवेयक और अनुत्तर विमानोंमें तथा सर्वार्थसिद्धिमें उत्पन्न होते हैं। भावार्थ—यदि परिग्रहका त्याग कर, मुनि हो, धर्मध्यानसे इस पर्यायको छोड़े तो नव ग्रैवेयक, पंच अनुत्तर और सर्वार्थसिद्धिमें उत्तम देव हो ॥ १६ ॥

तत्रात्यन्तमहाप्रभावकलितं लावण्यलीलान्वितं
स्रग्भूषाम्बरदिव्यलक्षणचितं चन्द्रावदातं वपुः ।
प्राप्योदग्रसुवीर्यबोधसुभगं कामज्वरार्तिच्युतं
सेवन्ते विगतान्तरायमतुलं सौख्यं चिरं स्वर्गिणः' ॥ १७ ॥

अर्थ—जो जीव धर्मध्यानके प्रभावसे स्वर्गमें उत्पन्न होते हैं, वे वहां अत्यन्त महा प्रभावसहित; सुन्दरता और क्रीडायुक्त तथा माला, भूषण, वस्त्र और दिव्य लक्षणादि सहित चन्द्रमासदृश शुक्लवर्ण शरीरको पाकर, उन्नत वीर्य और ज्ञानसे सुभग, कामज्वरकी वेदनासे रहित और अन्तरायरहित ऐसे अतुल सुखोंको चिरकाल पर्यन्त भोगते हैं ॥१७॥

ग्रैवेयकानुत्तरवासभाजां विचारहीनं सुखमत्युदारम् ।
निरन्तरं पुण्यपरम्पराभिर्विवर्द्धते वार्द्धिरिवेन्दुपादैः ॥ १८ ॥

अर्थ—ग्रैवेयक और अनुत्तरादि विमानोंमें रहनेवाले देवोंका सुख कामसेवनसे रहित होता है अर्थात् उनके कामसेवन सर्वथा नहीं है तथापि उनका सुख अत्यन्त

उन्नत है। और वह जैसे चन्द्रमाकी किरणोंसे समुद्र बढ़ता है वैसे ही निरन्तर पुण्यकी परंपरासे बढ़ता ही रहता है। भावार्थ—उनका सुख सदा वृद्धिरूप है ॥ १८ ॥

देवराज्यं समासाद्य यत्सुखं कल्पवासिनाम्।
निर्विशन्ति ततोऽनन्तं सौख्यं कल्पातिवर्तिनः ॥ १९ ॥

अर्थ—इन्द्रपदको पाकर कल्पवासियोंको जो सुख मिलता है उससे अनन्त गुणा सुख कल्पातीतों (नव ग्रैवेयक, नव अनुत्तर और विजयादिक पांच विमानोंमें रहनेवाले अहमिन्द्रों)को प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

समभ्यन्त्यथ कल्पेषु तेष्वचिन्त्यविभूतिदम्।
प्राप्नुवन्ति परं सौख्यं सुराः स्त्रीभोगलाञ्छितम् ॥ २० ॥

अर्थ—अथवा धर्मध्यानसे पर्याय छोडकर, जो उन कल्पस्वर्गोंमें (सोलह स्वर्गोंमें) उत्पन्न होते हैं वे देव भी अचिन्त्य विभूतिके देनेवाले और स्त्रियोंके भोगोंसहित उत्कृष्ट सुखको प्राप्त होते है ॥ २० ॥

दशाङ्गभोगसम्भूतं महाष्टगुणवर्द्धितम्।
यत्कल्पवासिनां सौख्यं तद्वक्तुं केन पार्यते ॥ २१ ॥

अर्थ—कल्पवासी देवोंका सुख दशाङ्ग भोगोंसे उत्पन्न हुआ है और अणिमादिक आठ महागुणोंसे बढ़ा हुआ है। इसलिये उस सुखको कौन वर्णन कर सकता है ॥ २१ ॥

सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तं सर्वाभ्युदयभूषितम्।
नित्योत्सवयुतं दिव्यं दिवि सौख्यं दिवौकसाम् ॥ २२ ॥

अर्थ—स्वर्गमें देवोंका सुख सर्वद्वन्द्व अर्थात् क्षोभोंसे रहित है, समस्त अभ्युदयोंसे भूषित, नित्य उत्सवोंसहित और दिव्य है ॥ २२ ॥

प्रतिसमयमुदीर्णं स्वर्गसाम्राज्यरूढं
सकलविषयबीजं स्वान्तदत्ताभिनन्दम्।
ललितयुवतिलीलालिङ्गनादिप्रसूतं
सुखमतुलमुदारं स्वर्गिणो निर्विशन्ति ॥ २३ ॥

अर्थ—स्वर्गके देव प्रत्येक समयमें उदयरूप अर्थात् विच्छेदरहित, स्वर्गके साम्राज्यमें प्रसिद्ध, समस्त विषयोंका कारण, अन्तःकरणको आनन्द देनेवाले, सुन्दर देवाङ्गनाओंकी लीला और आलिंगनादिकसे उत्पन्न, अतुल और उदार सुखका अनुभव करते हैं ॥ २३ ॥

सर्वाभिमतभावोत्थ निर्विघ्नं स्व सुखामृतम् ।
सेव्यमाना न बुध्यन्ते गत जन्म दिवौकस ॥ २४ ॥

अर्थ—स्वर्गनिवासी देव अपने समस्त मनोवांछित पदार्थोंसे उत्पन्न और निर्विघ्न ऐसे स्वात्मिक सुखरूप अमृतका सेवन करते हुए व्यतीत हुए जन्मको अर्थात् गये हुए जन्मको नहीं जानते ॥ २४ ॥

तस्माच्च्युत्वा त्रिदिवपटलाद्दिव्यभोगावसाने
कुर्वन्त्यस्मिन् भुवि नरनुते पुण्यवंशेऽवतारम् ।
तत्रैश्वर्यं परमवपुषं प्राप्य देवोपनीतै-
र्भोगैर्नित्योत्सवपरिणतैर्लाल्यमाना वसन्ति ॥ २५ ॥

अर्थ—फिर वे स्वर्गके देव दिव्य भोगोंको भोगकर, उस स्वर्गपटलसे च्युत होते हैं और इस भूमण्डलमें जिसको लोग नमस्कार करते हैं ऐसे उत्तम पुण्य वंशमें अवतार लेते हैं। और वहां भी परम (उत्कृष्ट) शरीर और ऐश्वर्यको पाकर, नित्य उत्सव रूप परिणत ऐसे देवोपनीत अनेक भोगोंसे लालित और पुष्ट हुए निवास करते हैं। यह सब धर्म्य ध्यानका फल है ॥ २५ ॥

ततो विवेकमालम्ब्य विरज्य जननभ्रमात् ।
त्रिरत्नशुद्धिमासाद्य तप कृत्वातिदुष्करम् ॥ २६ ॥
धर्मध्यानं च शुक्लं च स्वीकृत्य निजवीर्यत ।
कृत्स्नकर्मक्षयं कृत्वा व्रजन्ति पदमव्ययम् ॥ २७ ॥

अर्थ—उसके बाद अर्थात् उत्तम मनुष्यभवके सुख भोगकर, पुन भेदज्ञानको (शरीरादिकसे आत्माकी भिन्नताको) अवलम्बन कर, संसारके परिभ्रमणसे विरक्त हो, रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्रकी शुद्धताको प्राप्त कर, दुर्धर तप कर तथा अपनी शक्तिके अनुसार धर्म्यध्यान और शुक्लध्यानको धारण कर और समस्त कर्मोंका नाश कर, अविनाशी मोक्ष पदको प्राप्त होते हैं। यह धर्म्यध्यानका परपराम्प फल है। इस प्रकार धर्म्यध्यानका फल निरूपण किया ॥ २६।२७ ॥

दोहा।

धर्मध्यानको फल भलो, पद अहमिन्द्र सुरेन्द्र ।
परपरा शिवपुर बसें, जे नर धरें जिनन्द्र ॥ १ ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे धर्म्यध्यानफल वर्णनं नामैकचत्वारिंश प्रकरणम् ॥ ४१ ॥

अथ द्विचत्वारिंश प्रकरणम् ।

अब आचार्य शुक्लध्यानका वर्णन करते हैं ।

शुक्लध्यान धर्म्यध्यानपूर्वक होते हैं, इसलिये प्रथम ही धर्मध्यानकी प्रेरणा करते हैं ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

रागाद्युग्ररुजाकलापकलितं सन्देहलोलायितं
विक्षिप्तं सकलेन्द्रियार्थगहने कृत्वा मनो निश्चलम् ।
संसारव्यसनप्रबन्धरहितं मुक्तेर्विनोदास्पदं
धर्मध्यानमिदं विदन्तु निपुणा अत्यक्षसौख्यार्थिनः ॥ १ ॥

अर्थ—अतीन्द्रिय सुखके चाहनेवाले निपुण मुनि प्रथम ही रागादिक तीव्र रोगोंके समूहोंसे व्याप्त, अनेक सन्देहोंसे चलायमान अर्थात् जबतक निर्णय न हो तबतक स्थिर न रहनेवाले और समस्त इन्द्रियोंके विषयरूप गहन वनमें विक्षिप्त अर्थात् भूले हुए मनको निश्चल करते हैं । संसारके कष्ट आपत्ति आदि व्यसनोंके प्रबंधसे रहित और मुक्तिके क्रीडा करनेका स्थान ऐसे इस ध्यानको धर्म्यध्यान कहते हैं । **भावार्थ**—मनको निश्चल करके, धर्मध्यान होता है । इसमें सांसारिक व्यापारके प्रवर्तनका सर्वथा अभाव है ॥ १ ॥

आत्मार्थं श्रय मुञ्च मोहगहनं मित्रं विवेकं कुरु
वैराग्यं भज भावयस्व नियतं भेदं शरीरात्मनोः ।
धर्म्यध्यानसुधासमुद्रकुहरे कृत्वावगाहं परं
पश्यानन्तसुखस्वभावकलितं मुक्तेर्मुखाम्भोरुहम् ॥ २ ॥

अर्थ—हे आत्मन्, तू आत्माके प्रयोजनका आश्रय कर अर्थात् और प्रयोजनोंको छोड़कर, केवल आत्माके प्रयोजनका ही आश्रय कर, तथा मोहरूपी वनको छोड़, विवेक अर्थात् भेदज्ञानको मित्र बना, संसार देहके भोगोंसे वैराग्यका सेवन कर, और परमार्थत जो शरीर और आत्मामें भेद है उसका निश्चयसे चिन्तवन कर । और धर्म्यध्यानरूपी अमृतके समुद्रके कुहर (मध्य)में परम अवगाहन (स्नान) करके अनन्त सुख स्वभाव सहित मुक्तिके मुखकमलको देख ॥ २ ॥

अब शुक्लध्यानका निरूपण करते हैं ।

अथ धर्म्यमतिक्रान्तः शुद्धिं चात्यन्तिकीं श्रितः ।
ध्यातुमारभते वीरः शुक्लमत्यन्तनिर्मलम् ॥ ३ ॥

अर्थ—इस धर्म्यध्यानके अनन्तर धर्म्यध्यानसे अतिक्रान्त होकर अर्थात् निकलकर, अत्यन्त शुद्धताको प्राप्त हुआ धीर वीर मुनि अत्यन्त निर्मल शुक्लध्यानके ध्यावनेका प्रारम्भ करता है ॥ ३ ॥

निष्क्रियं करणातीतं ध्यानधारणवर्जितम्।
अन्तर्मुखं च यच्चित्तं तच्छुक्लमिति पठ्यते ॥ ४ ॥

अर्थ—जो निष्क्रिय अर्थात् क्रियारहित है, इन्द्रियातीत है और ध्यानकी धारणासे रहित है अर्थात् "मैं इसका ध्यान करूं" ऐसी इच्छासे रहित है और जिसमें चित्त अन्तर्मुख अर्थात् अपने स्वरूपहीके सन्मुख है, उसको शुक्लध्यान कहते हैं ॥ ४ ॥

आदिसंहननोपेतः पूर्वज्ञः पुण्यचेष्टितः ।
चतुर्विधमपि ध्यानं स शुक्लं ध्यातुमर्हति ॥ ५ ॥

अर्थ—जिसके प्रथम वज्र, वृषभ, नाराच संहनन है, जो पूर्व अर्थात् ग्यारह अंग चौदह पूर्वका जाननेवाला है और जिसकी पुण्यरूप चेष्टा हो अर्थात् शुद्धचारित्र हो, वही मुनि चारों प्रकारके शुक्लध्यानोंको धारण करने योग्य होता है ॥ ५ ॥

आर्या।

"शुचिगुणयोगाच्छुक्लं कषायरजसः क्षयादुपशमाद्वा ।
वैडूर्यमणिशिखाइव सुनिर्मलं निष्प्रकम्पं च ॥ १ ॥

अर्थ—आत्माके शुचिगुणके सम्बन्धसे इसका नाम शुक्ल पड़ा है। कषायरूपी रजके क्षय होनेसे अथवा उपशम होनेसे जो आत्माके निर्मल परिणाम होते हैं वही शुचिगुणका योग है। और यह शुक्लध्यान वैडूर्यमणिकी शिखाके समान निर्मल और निष्कंप अर्थात् कंपतासे रहित है ॥ १ ॥"

कषायमलविश्लेषात्प्रशमाद्वा प्रसूयते ।
यतः पुंसामतस्तज्ज्ञैः शुक्लमुक्तं निरुक्तिकम् ॥ ६ ॥

अर्थ—पुरुषोंके कषायरूपी मलके क्षय होनेसे अथवा उपशम होनेसे यह शुक्लध्यान होता है इसलिये उस ध्यानके जाननेवाले आचार्योंने इसका नाम शुक्ल ऐसा निरुक्ति पूर्वक अर्थात् सार्थक कहा है ॥ ६ ॥

छद्मस्थयोगिनामाद्ये द्वे तु शुक्ले प्रकीर्तिते ।
द्वे त्वन्त्ये क्षीणदोषाणां केवलज्ञानचक्षुषाम् ॥ ७ ॥

अर्थ—शुक्लध्यानके पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, व्युपरत क्रियानिवृत्ति ऐसे चार भेद हैं। उनमेंसे पहिलेके दो अर्थात् पृथक्त्ववितर्क और एकत्व

[illegible] छद्मस्थ योगी अर्थात् बारहवें गुणस्थान पर्यंत अल्पज्ञानियोंके होते हैं। और [illegible] के दो शुक्लध्यान सर्वथा रागादि दोषोंसे रहित ऐसे केवल ज्ञानियोंके होते हैं ॥ ७ ॥

श्रुतज्ञानार्थसम्बन्धाच्छ्रुतालम्बनपूर्वके ।
पूर्वे परे जिनेन्द्रस्य निःशेषालम्बनच्युते ॥ ८ ॥

अर्थ—आदिके दो शुक्लध्यान जो कि छद्मस्थोंके होते हैं वे श्रुतज्ञानके अर्थके [illegible] के आलम्बनपूर्वक हैं अर्थात् उनमें श्रुतज्ञानपूर्वक पदार्थका आलम्बन [illegible] है। और अन्तके दो शुक्लध्यान जो कि जिनेन्द्रदेवके होते हैं वे समस्त आलम्बन रहित होते हैं ॥ ८ ॥

सवितर्कं सवीचारं सपृथक्त्वं च कीर्तितम् ।
शुक्लमाद्यं द्वितीयं तु विपर्यस्तमतोऽपरम् ॥ ९ ॥

अर्थ—[illegible] पहला शुक्लध्यान वितर्क, वीचार और पृथक्त्व [illegible] है [illegible] पृथक्त्ववितर्कवीचार है, और दूसरा इससे विपरीत है, सो [illegible] है ॥ ९ ॥

सवितर्कमवीचारमेकत्वपदलाञ्छितम् ।
कीर्तितं मुनिभिः शुक्लं द्वितीयमतिनिर्मलम् ॥ १० ॥

अर्थ—[illegible] है, परन्तु वीचाररहित है और [illegible] है। इसलिये इसका नाम मुनियोंने एकत्ववितर्कवीचार [illegible] है [illegible] है ॥ १० ॥

सूक्ष्मक्रियाप्रतीपाति तृतीयं सार्थनामकम् ।
समुच्छिन्नक्रियं ध्यानं तुर्यमार्यैर्निवेदितम् ॥ ११ ॥

अर्थ—[illegible] सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति [illegible] है। [illegible] है [illegible] है, [illegible] ॥ ११ ॥

[illegible] ॥ १२ ॥

अर्थ—[illegible]

दूसरा एकत्ववितर्कविचार किसी एक योगसे ही होता है। क्योंकि, इसमें योग पलटते नहीं। योगी जिस योगमें लीन है, वही योग रहता है। तीसरा सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाति काय योग वालेके ही होता है। क्योंकि, केवली भगवानके केवल काययोगमें सूक्ष्मक्रिया ही है। शेष दो योगोंकी क्रिया नहीं है। और चौथा समुच्छिन्नक्रिय अयोगकेवलीके होता है। क्योंकि, अयोगकेवलीके योगोंकी क्रियाका सर्वथा अभाव है ॥ १२ ॥

अब इनका स्पष्ट अर्थ कहते हैं।

पृथक्त्वेन वितर्कस्य वीचारो यत्र विद्यते।
सवितर्कं सवीचारं सपृथक्त्वं तदिष्यते ॥ १३ ॥

अर्थ—जिस ध्यानमें पृथक् पृथक् रूपसे वितर्क अर्थात् श्रुतका वीचार अर्थात् संक्रमण होता है अर्थात् जिसमें अलग अलग श्रुतशास्त्र बदलता रहता है, उसको मुनि तक सवीचार सपृथक्त्व ध्यान कहते हैं ॥ १३ ॥

अवीचारो वितर्कस्य यत्रैकत्वेन संस्थितः।
सवितर्कमवीचारं तदेकत्वं विदुर्बुधाः ॥ १४ ॥

अर्थ—जिस ध्यानमें वितर्कका वीचार (संक्रमण) नहीं होता और जो एक रूपसे ही स्थित हो उसको पंडितजन सवितर्क अवीचार रूप एकत्व ध्यान कहते हैं ॥ १४ ॥

पृथक्त्वं तत्र नानात्वं वितर्कः श्रुतमुच्यते।
अर्थव्यञ्जनयोगानां वीचारः संक्रमः स्मृतः ॥ १५ ॥

अर्थ—यहां नानात्व अर्थात् अनेकपनेको पृथक्त्व कहते हैं, श्रुतज्ञानको वितर्क कहते हैं और अर्थ, व्यंजन और योगोंके संक्रमणका नाम वीचार कहा गया है ॥ १५ ॥

अर्थादर्थान्तरापत्तिरर्थसंक्रान्तिरिष्यते।
ज्ञेया व्यञ्जनसंक्रान्तिर्व्यञ्जनाद्व्यञ्जने स्थितिः ॥ १६ ॥
स्यादियं योगसंक्रान्तिर्योगाद्योगान्तरे गतिः।
विशुद्धध्यानसामर्थ्यात्क्षीणमोहस्य योगिनः ॥ १७ ॥

अर्थ—एक अर्थ (पदार्थ) से दूसरे अर्थकी प्राप्ति होना अर्थसंक्रान्ति है। एक व्यंजनसे दूसरे व्यंजनमें प्राप्त होकर, स्थिर होना व्यञ्जनसंक्रान्ति है। और एक योगसे दूसरे योगमें गमन करना योगसंक्रान्ति है। इस प्रकार विशुद्ध ध्यानके सामर्थ्यसे जिसका मोहनीयकर्म नष्ट होगया है ऐसे योगीके ये होते हैं ॥ १६ । १७ ॥

उक्तं च।

"अर्थादर्थं वचः शब्दं योगाद्योगं समाश्रयेत्।
पर्यायादपि पर्यायं द्रव्याणोश्चिन्तयेदणुम् ॥ १ ॥

अर्थ—एक अर्थसे दूसरे अर्थका चिन्तवन करे। एक शब्दसे दूसरे शब्दका और

एक योगसे दूसरे योगका आश्रयले। एक पर्यायसे दूसरे पर्यायका चिंतवन करे। और द्रव्यरूप अणुसे अणुका चिन्तवन करे। ऐसा अन्य ग्रन्थोंमें लिखा है ॥ २ ॥'

अर्थादिषु यथा ध्यानी संक्रामत्यविलम्बितम्।
पुनर्व्यावर्तते तेन प्रकारेण स हि स्वयम् ॥ १८ ॥

अर्थ—जो ध्यानी अर्थ व्यञ्जन आदि योगोंमें जैसे शीघ्रतासे संक्रमण करता है वह ध्यानी अपने आप पुनः उसीप्रकार लौटता है ॥ १८ ॥

त्रियोगी पूर्वविद्यः स्यादिदं ध्यायत्यसौ मुनिः।
सवितर्कं सवीचारं सपृथक्त्वमतो मतम् ॥ १९ ॥

अर्थ—जिसके तीनों योग होते हैं और जो पूर्वका जाननेवाला होता है, वह मुनि इस पहले ध्यानको धारण करता है। इसलिये इस ध्यानका नाम सवितर्कसविचारसपृथक्त्व कहा है ॥ १९ ॥

अस्याचिन्त्यप्रभावस्य सामर्थ्यात्स प्रशान्तधीः।
मोहमुन्मूलयत्येव शमयत्यथवा क्षणे ॥ २० ॥

अर्थ—इस अचिन्त्य प्रभाववाले ध्यानके सामर्थ्यसे जिसका चित्त शान्त होगया है ऐसा ध्यानी मुनि क्षणभरमें मोहनीय कर्मका मूलसे नाश करता है, अथवा उसका उपशम करता है ॥ २० ॥

उक्तं च।

"इदमत्र तु तात्पर्यं श्रुतस्कन्धमहार्णवात्।
अर्थमेकं समादाय ध्यायन्नर्थान्तरं व्रजेत् ॥ ३ ॥

अर्थ—इस ध्यानमें अर्थादिकके पलटनेका तात्पर्य यह है कि श्रुतस्कन्ध अर्थात् द्वादशाङ्ग शास्त्ररूप महासमुद्रसे एक अर्थको लेकर उसका ध्यान करता हुआ दूसरे अर्थको प्राप्त होता है ॥ ३ ॥"

शब्दाच्छब्दान्तरं यायाद्योगं योगान्तरादपि।
सवीचारमिदं तस्मात्सवितर्कं च लक्ष्यते ॥ २१ ॥

अर्थ—यह ध्यान एक शब्दसे दूसरे शब्द पर जाता है और एक योगसे दूसरे योग पर जाता है इसलिये इसका नाम सवीचारसवितर्क कहते हैं ॥ २१ ॥

श्रुतस्कन्धमहासिन्धुमवगाह्य महामुनिः।
ध्यायेत्पृथक्त्ववितर्कवीचारं ध्यानमग्रिमम् ॥ २२ ॥

अर्थ—महामुनि द्वादशाङ्ग शास्त्ररूप महासमुद्रको अवगाहन करके, इस पृथक्त्व वितर्क वीचार नामक पहले शुक्लध्यानको ध्यावे ॥ २२ ॥

एवं शान्तकषायात्मा कर्मकक्षाशुशुक्षणिः ।
एकत्वध्यानयोग्यः स्यात्पृथक्त्वेन जिताशयः ॥ २३ ॥

अर्थ—इस प्रकार पृथक्त्व ध्यानसे जिसने अपना चित्त जीत लिया है और जिसके कषाय शान्त होगये हैं और जो कर्मरूप कक्ष अर्थात् तृणसमूह अथवा वनके दग्ध करनेको अग्निके समान है, ऐसा महामुनि एकत्व ध्यानके योग्य होता है ॥ २३ ॥

पृथक्त्वे तु यदा ध्यानी भवत्यमलमानसः ।
तदैकत्वस्य योग्यः स्यादाविर्भूतात्मविक्रमः ॥ २४ ॥

अर्थ—जिस समय इस ध्यानीका चित्त पृथक्त्व ध्यानके द्वारा कषायमलसे रहित होता है, तब इस ध्यानीका पराक्रम प्रगट होता है और तभी यह एकत्व ध्यानके योग्य होता है। भावार्थ—एकत्व ध्यान, पृथक्त्व ध्यानपूर्वक ही होता है ॥ २४ ॥

क्षेप प्रक्षीणमोहस्य पूर्वज्ञस्यामितद्युतेः ।
सवितर्कमिदं ध्यानमेकत्वमतिनिश्चलम् ॥ २५ ॥

अर्थ—जिसका मोहनीयकर्म नष्ट होगया है और जो पूर्वका जाननेवाला है और जिसकी दीप्ति अपरिमित है, उस मुनिके अत्यन्त निश्चल ऐसा यह सवितर्क एकत्वध्यान होता है ॥ २५ ॥

अपृथक्त्वमवीचारं सवितर्कं च योगिनः ।
एकत्वमेकयोगस्य जायतेऽत्यन्तनिर्मलम् ॥ २६ ॥

अर्थ—किसी एक योगवाले मुनिके पृथक्त्वरहित, वीचाररहित और वितर्कसहित ऐसा यह एकत्व ध्यान अत्यन्त निर्मल होता है ॥ २६ ॥

द्रव्यं चैकमणुं चैकं पर्यायं चैकमश्रमः ।
चिन्तयत्येकयोगेन यत्रैकत्वं तदुच्यते ॥ २७ ॥

अर्थ—जिस ध्यानमें योगी खेदरहित होकर, एक द्रव्यको, एक अणुको अथवा एक पर्यायको एक योगसे चिन्तवन करता है, उसको एकत्व ध्यान कहते हैं ॥ २७ ॥

उक्तं च ।

"एकं द्रव्यमथाणुं वा पर्यायं चिन्तयेद्यदि ।
योगैकेन यदक्षीणं तदेकत्वमुदीरितम् ॥ ४ ॥

अर्थ—जो मुनि समर्थ होता हुआ एक योगसे एक द्रव्य, एक अणु अथवा एक पर्यायको चिन्तवन करै उसे एकत्व ध्यान कहते हैं ॥ ४ ॥"

अस्मिन् सुनिर्मलध्यानहुताशे प्रविजृम्भिते ।
विलीयन्ते क्षणादेव घातिकर्माणि योगिनः ॥ २८ ॥

[illegible] परीक्षा [illegible] [illegible] ॥

[illegible] परम।
[illegible] ॥ १९ ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible] ॥ [illegible] ॥

[illegible]

[illegible]

अर्थ—जिस समय केवल ज्ञानकी प्राप्ति होती है उस समय वे भगवान् सर्वकालमें उदयरूप सकलदेव होते हैं और अनन्त सुख, अनन्त वीर्य आदिक विभूतिके प्रथम स्थान होते हैं यह भावयुक्तका स्वरूप है ॥ ३२ ॥

इन्द्रचन्द्रार्कभोगीन्द्रनरामरनतक्रमः ।
विहरत्यवनीपृष्ठं स शीलैश्वर्यलाञ्छितः ॥ ३३ ॥

अर्थ—इन्द्र, चन्द्रमा, सूर्य, धरणेन्द्र मनुष्य, और देवोंसे नमस्कृत हुए हैं चरण जिनके, ऐसे केवली भगवान् शील अर्थात् चौरासी लाख उत्तरगुण और ऐश्वर्य सहित पृथ्वीतलमें विहार करते हैं ॥ ३३ ॥

उन्मूलयति मिथ्यात्वं द्रव्यभावमलं विभुः ।
बोधयत्यपि निःशेषं भव्यराजीवमण्डलम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—वे विभु सर्वज्ञ भगवान् पृथ्वीतलमें विहार करके जीवोंके द्रव्यमल और भाव मल रूप मिथ्यात्वको जड़से नाश करते हैं और समस्त भव्यजीवरूपी कमलोंकी मंडली (समूह)को प्रफुल्लित करते हैं। भावार्थ—जीवोंके मिथ्यात्वको दूर करके उनको मोक्षमार्गमें लगाते हैं ॥ ३४ ॥

ज्ञानलक्ष्मीं तपोलक्ष्मीं लक्ष्मीं त्रिदशयोजिताम् ।
आत्यन्तिकीं च सम्प्राप्य धर्मचक्राधिपो भवेत् ॥ ३५ ॥

अर्थ—इस शुक्ल ध्यानके प्रभावसे ज्ञानलक्ष्मी, तपोलक्ष्मी और देवोंकी की हुई समवसरण आदिक लक्ष्मी तथा मोक्षलक्ष्मीको पाकर, धर्मके चक्रवर्ती होते हैं ॥ ३५ ॥

कल्याणविभवं श्रीमान् सर्वाभ्युदयसूचकम् ।
समासाद्य जगद्वन्द्यस्त्रैलोक्याधिपतिर्भवेत् ॥ ३६ ॥

अर्थ—अनन्त बहिरंग लक्ष्मीकरके सहित केवली भगवान् जगत्से वन्दनीय और सब अभ्युदयोंका सूचक ऐसे कल्याणरूप विभव (सम्पदा)को पाकर, तीनों लोकोंके अधिपति होते हैं ॥ ३६ ॥

तन्नामग्रहणादेव निःशेषा जन्मजा रुजः ।
अप्यनादिसमुद्भूता भव्यानां यान्ति लाघवम् ॥ ३७ ॥

अर्थ—जिन भगवान्‌के नाम लेनेसे ही भव्य जीवोंके अनादि कालसे उत्पन्न हुए जन्ममरणजन्य समस्त रोग लघु (हल्के) हो जाते हैं ॥ ३७ ॥

तदार्हन्त्यं परिप्राप्य स देवः सर्वगः शिवः ।
जायतेऽखिलकर्मौघजरामरणवर्जितः ॥ ३८ ॥

अर्थ—तब वे सर्वगत और शिव ऐसे भगवान् अरहन्तपदको पाकर, संपूर्ण कर्मोंके

समूह और जरामरणसे रहित हो जाते है । **भावार्थ**—अरहंतपना पाकर, सिद्ध परमेष्ठी होते हैं ॥ ३८ ॥

अब कुछ विशेष कहते है —

> **तस्यैव परमैश्वर्यं चरणज्ञानवैभवम् ।**
> **ज्ञातुं वक्तुमहं मन्ये योगिनामप्यगोचरम् ॥ ३९ ॥**

अर्थ—आचार्य कहते है कि मैं ऐसा मानता हूं कि उन सर्वज्ञ भगवान्का परम ऐश्वर्य, चारित्र और ज्ञानके विभवका जानना और कहना बड़े बड़े योगियोंके भी अगोचर है ॥ ३९ ॥

> **मोहेन सह दुर्धर्षे हते घातिचतुष्टये ।**
> **देवस्य व्यक्तिरूपेण शेषमास्ते चतुष्टयम् ॥ ४० ॥**

अर्थ—केवली भगवान्के जब मोहनीय कर्मके साथ ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अंतराय इन चार दुर्द्धर घातिया कर्मोंका नाश हो जाता है तब अवशेष चार अघाति कर्म व्यक्तिरूपमे रहते है ॥ ४० ॥

> **सर्वज्ञः क्षीणकर्मासौ केवलज्ञानभास्करः ।**
> **अन्तर्मुहूर्तशेषायुस्तृतीयं ध्यानमर्हति ॥ ४१ ॥**

अर्थ—कर्मोंसे रहित और केवल ज्ञानरूपी सूर्यसे पदार्थोंको प्रकाश करनेवाले ऐसे वे सर्वज्ञ जब अंतर्मुहूर्त्त प्रमाण आयु बाकी रह जाता है तब तीसरे सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाति शुक्लध्यानके योग्य होते हैं ॥ ४१ ॥

आर्या ।

> **षण्मासायुषि शेषे संवृत्ता ये जिनाः प्रकर्षेण ।**
> **ते यान्ति समुद्घातं शेषा भाज्याः समुद्घाते ॥ ४२ ॥**

अर्थ—जो जिनेन्द्र उत्कृष्ट छः महीनेकी आयु अवशेष रहते हुए केवली हुए हैं वे अवश्य ही समुद्घात करते हैं और शेष अर्थात् जो छः महीनेसे अधिक आयु रहते हुए केवली हुए हैं वे समुद्घातमें विकल्प रूप हैं । **भावार्थ**—उनका कोई नियम नहीं है, समुद्घात करैं और न भी करैं ॥ ४२ ॥

> **यदायुरधिकानि स्युः कर्माणि परमेष्ठिनः ।**
> **समुद्घातविधिं साक्षात्प्रागेवारभते तदा ॥ ४३ ॥**

अर्थ—जब अरहंत परमेष्ठीके आयु कर्म अन्तर्मुहूर्त्तका अवशेष रह जाता है और अन्य तीनों कर्मोंकी स्थिति अधिक होती है तब समुद्घातकी विधि साक्षात् प्रथम ही आरम्भ करते हैं ॥ ४३ ॥

उपजातिः ।

अनन्तवीर्यप्रथितप्रभावो दण्डं कपाटं प्रतरं विधाय ।
स लोकमेनं समयैश्चतुर्भिर्निःशेषमापूरयति क्रमेण ॥ ४४ ॥

अर्थ—अनन्त वीर्यके द्वारा जिसका प्रभाव फैला हुआ है ऐसे व [illegible] भगवान् क्रमसे दण्ड, कपाट, प्रतर, इन तीन क्रियाओंको तीन समयमें करके [illegible] समयमें इस समस्त लोकको पूर्ण करते हैं । भावार्थ—आत्माके प्रदेश पहले समयमें दण्डरूप लम्बे, द्वितीय समयमें कपाटरूप चौडे [illegible] तीसरे समयमें प्रतर [illegible] होते हैं और चौथे समयमें इसके प्रदेश समस्त लोकमें भर जाते हैं । इसीको लोकपूरण कहते हैं । ये सब क्रिया चार समयमें होती हैं ॥ ४४ ॥

तदा स सर्वगः सार्वः सर्वज्ञः सर्वतोमुखः ।
विश्वव्यापी विभुर्भर्त्ता विश्वमूर्तिर्महेश्वरः ॥ ४५ ॥

अर्थ—केवली भगवान् जिस समय लोकपूरण होते हैं [illegible] सार, सर्वज्ञ, सर्वतोमुख, विश्वव्यापी, विभु, भर्त्ता विश्वमूर्ति और महेश्वर [illegible] (सार्थक) होते हैं ॥ ४५ ॥

लोकपूरणमासाद्य करोति ध्यानवीर्यतः ।
आयुःसमानि कर्माणि भुक्तिमानीय तत्क्षणे ॥ ४६ ॥

अर्थ—केवली भगवान् लोकपूरण प्रदेशोंको प्राप्त [illegible] और गोत्र इन तीनों अघाति कर्मोंकी स्थिति घटाकर, [illegible] समान स्थिति करते हैं । भावार्थ—यदि वेदनीय नाम और गोत्र [illegible] अधिक हो तो लोकपूरण अवस्थामें उनकी स्थिति आयुकर्मके [illegible] करते हैं ॥ ४६ ॥

ततः क्रमेण तेनैव स पश्चाद्विनिवर्त्तते ।
लोकपूरणतः श्रीमान् चतुर्भिः समयैः पुनः ॥ ४७ ॥

अर्थ—श्रीमान् केवली भगवान् पुनः लोकपूरण [illegible] होकर, स्वस्थ होते हैं । भावार्थ—लोकपूरणके [illegible] चौथे समयमें शरीरके समान आत्मप्रदेशोंको करते हैं ॥ ४७ ॥

काययोगे स्थितिं कृत्वा बादरेऽचिन्त्यचेष्टितः ।
सूक्ष्मीकरोति वाक्चित्तयोगयुग्मं स बादरम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—जिनकी चेष्टा अचिन्त्य है ऐसे [illegible] करके, बादर वचनयोग और [illegible] करते हैं । [illegible]

काययोगं ततस्त्यक्त्वा स्थितिमासाद्य तद्द्वये ।
स सूक्ष्मीकुरुते पश्चात् काययोगं च बादरम् ॥ ४९ ॥

अर्थ—पुनः वे भगवान् काययोगको छोड़कर, वचनयोग और मनोयोगमें स्थिति करके, बादर काययोगको सूक्ष्म करते हैं ॥ ४९ ॥

काययोगे ततः सूक्ष्मे स्थितिं कृत्वा पुनः क्षणात् ।
योगद्वयं निगृह्णाति सद्यो वाक्चित्तसंज्ञकम् ॥ ५० ॥

अर्थ—तत्पश्चात् सूक्ष्म काययोगमें स्थिति करके, क्षणमात्रमें उसी समय वचनयोग और मनोयोग दोनोंका निग्रह करते हैं ॥ ५० ॥

सूक्ष्मक्रियं ततो ध्यानं स साक्षात् ध्यातुमर्हति ।
सूक्ष्मैककाययोगस्थस्तृतीयं यद्धि पठ्यते ॥ ५१ ॥

अर्थ—तब वह सूक्ष्मक्रिय ध्यानको साक्षात् ध्यान करने योग्य होता है । और वह बादर सूक्ष्म एक काययोगमें स्थित हुआ उसका ध्यान करता है । यही तृतीय सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाति ध्यान है ॥ ५१ ॥

द्वासप्ततिर्विलीयन्ते कर्मप्रकृतयो द्रुतम् ।
उपान्त्ये देवदेवस्य मुक्तिश्रीप्रतिबन्धकाः ॥ ५२ ॥

अर्थ—तदनन्तर अयोग गुणस्थानके उपान्त्य अर्थात् अन्त समयके पहले समयमें देवाधिदेवके मुक्तिरूपी लक्ष्मीकी प्रतिबंधक कर्मोंकी बहत्तर प्रकृति शीघ्र ही नष्ट होती हैं ॥ ५२ ॥

तस्मिन्नेव क्षणे साक्षादाविर्भवति निर्मलम् ।
समुच्छिन्नक्रियं ध्यानमयोगिपरमेष्ठिनः ॥ ५३ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् अयोगि परमेष्ठीके उसी अयोग गुणस्थानके उपान्त्य समयमें समुच्छिन्नक्रिय नामका चौथा शुक्लध्यान प्रगट होता है ॥ ५३ ॥

विलयं वीतरागस्य पुनर्यान्ति त्रयोदश ।
चरमे समये सद्यः पर्यन्ते या व्यवस्थिताः ॥ ५४ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् वीतराग अयोगी भगवानके अयोग गुणस्थानके अन्त समयमें जो तेरह प्रकृतियें रही थीं वे तत्काल ही विलय होती हैं ॥

तदासौ निर्मलः शान्तो निष्कलङ्को निरामयः ।
जन्मातङ्कोत्थसंतापविपन्मुक्तो निरञ्जनः ॥ ५५ ॥
सिद्धात्मा सर्वसिद्धात्मा निष्पन्नात्मा निरञ्जनः ।
निष्क्रियो निष्कलः शुद्धो निर्विकल्पोऽतिनिर्मलः ॥ ५६ ॥
आविर्भूतस्वभावात्मा परमात्मा तिष्ठति स्वयम् ।

परा शुद्धिं परिप्राप्तो दृष्टेर्बोधस्य चात्मनः ॥ ५७ ॥
अयोगी त्यक्तयोगत्वात्केवलोऽत्पादनिर्वृत ।
साधितात्मस्वभावश्च परमेष्ठी परः प्रभुः ॥ ५८ ॥
लघुपञ्चाक्षरोच्चारकालं स्थित्वा ततः परम् ।
स स्वभावाद्व्रजत्यूर्ध्वं शुद्धात्मा वीतबन्धन ॥ ५९ ॥

अर्थ—उस अयोग केवली चौदहवें गुणस्थानमें केवली भगवान् निर्मल, शान्त, निष्कलङ्क, निरामय और जन्ममरणरूप संसारके अनेक दुर्निवार बंधके कष्टोंसे रहित हैं। इनका आत्मा सिद्ध, सुप्रसिद्ध और निष्पन्न है। तथा ये कर्ममलरहित निरंजन हैं, क्रियारहित हैं, शरीररहित हैं, शुद्ध हैं, निर्विकल्प हैं और अत्यन्त निर्मल हैं। इनके यथाख्यात चारित्र प्रगट हुआ है अर्थात् चारित्रकी पूर्णता हुई है। और अनन्त वीर्य सहित हैं अर्थात् अब अपने स्वरूपसे कभी च्युत नहीं होते। और आत्माके दर्शन ज्ञानकी उत्कृष्ट शुद्धताको प्राप्त हुए हैं। तथा ये मन वचन कायके योगोंसे रहित हैं इसलिये अयोगी हैं। अत्यन्त निर्वृत्त हैं इसलिये केवल हैं। इन्होंने अपना आत्मा सिद्ध करलिया है इसलिये साधितात्मा हैं तथा स्वभावस्वरूप हैं, परमेष्ठी हैं और उत्कृष्ट प्रभु हैं। उस चौदहवें गुणस्थानमें इतने समय तक ठहरते हैं कि जितने समयमें लघु पांच अक्षरका उच्चारण हो और फिर कर्मबन्धनसे रहित वे शुद्धात्मा स्वभावहीसे ऊर्ध्व गमन करते हैं ॥ ५७ ॥ ५८ ॥ ५९ ॥

इस प्रकार अबतक सूक्ष्म क्रियाऽप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवृत्ति इन दोनों शुक्लध्यानोंका निरूपण किया। इन दोनों ध्यानोंका फल मोक्ष है इसलिये अब मुक्तके स्वरूपका वर्णन करते हैं।

अवरोधविनिर्मुक्तं लोकाग्रं समये प्रभुः ।
धर्माभावे ततोऽप्यूर्ध्वगमनं नानुमीयते ॥ ६० ॥

अर्थ—पश्चात् वे भगवान् ऊर्द्ध गमन कर, एक समयमें ही कर्मके अवरोधरहित लोकके अग्रभागविषे विराजमान होते हैं। लोकाग्रभागसे आगे धर्मास्तिकायका अभाव है इसलिये इनका आगे गमन नहीं होता। यही अनुमानद्वारा दिखलाते हैं ॥ ६० ॥

धर्मो गतिस्वभावोऽयमधर्मः स्थितिलक्षणः ।
[illegible] । गतिस्थिती उदाहृते ॥ ६१ ॥

अर्थ [illegible] अर्थात् गमन करनेमें हेतु है सो धर्मास्तिकाय है और जो
स्थिति [illegible] पौंकी स्थितिमें कारण है सो अधर्मास्तिकाय है। इन
[illegible] और स्थिति कही गई है ॥ ६१ ॥

तौ लोकगमनान्तस्थौ ततो लोके गतिस्थिती।
अर्थाना न तु लोकान्तमतिक्रम्य प्रवर्त्तते ॥ ६२ ॥

अर्थ—वे धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय लोकके गमन पर्यन्त स्थित हैं, इसलिये पदार्थोंकी गति और स्थिति लोकमें ही होती है, लोकको उल्लघन करके नहीं होती॥६२॥

इसलिये भगवान् लोकाग्रभागतक ही गमन करते हैं।

स्थितिमासाद्य सिद्धात्मा तत्र लोकाग्रमन्दिरे।
आस्ते स्वभावजानन्तगुणैश्वर्योपलक्षित' ॥ ६३ ॥

अर्थ—सिद्धात्मा उस लोकाग्रमन्दिरमें स्थिति पाकर, स्वभावसे उत्पन्न हुए अनन्त गुण और ऐश्वर्यसहित विराजमान रहते हैं ॥ ६३ ॥

आत्यन्तिक निराबाधमत्यक्ष स्वस्वभावजम्।
यत्सुख देवदेवस्य तद्वक्तु केन पार्यते ॥ ६४ ॥

अर्थ—सिद्धात्मा देवाधिदेवका जो अत्यन्त, बाधारहित, अतीन्द्रिय और अपने स्वभावसे ही उत्पन्न सुख है उसका वर्णन कौन कर सकता है? ॥ ६४ ॥

तथाप्युद्देशतः किञ्चित् ब्रवीमि सुखलक्षणम्।
निष्ठितार्थस्य सिद्धस्य सर्वद्वन्द्वातिवर्त्तिनः ॥ ६५ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि जिनके समस्त प्रयोजन सम्पन्न हो चुके हैं और सुखके बाधक ऐसे समस्त द्वन्द्वोंसे जो रहित हैं ऐसे सिद्ध भगवानके सुख यद्यपि कोई नहीं कह सकता, तथापि मैं नाममात्रसे किञ्चित् कहता हू ॥ ६५ ॥

यदेव मनुजा. सर्व सौख्यमक्षार्थसम्भवम्।
निर्विशन्ति निराबाध सर्वाक्षप्रीणनक्षमम् ॥ ६६ ॥
सर्वेणातीतकालेन यच्च भुक्त महर्द्धिकम्।
भाविनो यच्च भोक्ष्यन्ति स्वादिष्ठं स्वान्तरञ्जकम् ॥ ६७ ॥
अनन्तगुणित तस्मादत्यक्षं स्वस्वभावजम्।
एकस्मिन् समये भुङ्क्ते तत्सुख परमेश्वरः ॥ ६८ ॥

अर्थ—जो समस्त देव और मनुष्य इन्द्रियोंके विषयोंसे उत्पन्न और इन्द्रियोंके तृप्त करनेमें समर्थ ऐसे निराबाध सुखको वर्तमान कालमें भोगते हैं। तथा सबने अतीत कालमें जो सुख भोगे हैं और जो सुख महाऋद्धियोंसे उत्पन्न हुए हैं तथा स्वादिष्ठ और मनको प्रसन्न करनेवाले जो सुख आगामी कालमें भोगे जावेंगे उन समस्त सुखोंसे अनन्त गुणे अतीन्द्रिय और अपने स्वभावसे उत्पन्न होनेवाले सुखको श्रीसिद्ध भगवान् परमेश्वर एक ही समयमें भोगते हैं ॥ ६६ ॥ ६७ ॥ ६८ ॥

इन्द्रियोंके बिना भगवान्‌के कैसे सुख होता है सो दिखलाते हैं ।

त्रिकालविषयाशेषद्रव्यपर्यायसंकुलम् ।
जगत्स्फुरति बोधार्के युगपद्योगिनां पते ॥ ६९ ॥

अर्थ—योगीश्वरोंके पति श्रीसिद्ध भगवान्‌के ज्ञानरूपी सूर्यमें भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों काल सम्बन्धी समस्त द्रव्य पर्यायोंसे व्याप्त जो यह जगत् है सो एकही समयमें स्पष्ट प्रत्यक्ष प्रतिभासित होता है । भावार्थ—इन्द्रियज्ञान तुच्छ है । उससे उत्पन्न हुआ सुख कितना हो सकता है । सिद्ध भगवानके एक ही समयमें समस्त पदार्थोंका ज्ञान होता है इसलिये उनके सुखकी क्या महिमा ? सुखका कारण ज्ञान है । जहा पूर्ण ज्ञान है वहां पूर्ण सुख भी है ॥ ६० ॥

अब सिद्ध भगवान्‌के गुणोंकी महिमा कहते हैं ।

सर्वतोऽनन्तमाकाशं लोकेतरविकल्पितम् ।
तस्मिन्नपि घनीभूय यस्य ज्ञानं व्यवस्थितम् ॥ ७० ॥

अर्थ—यह आकाश सर्वत अनन्त है और उसके लोक और अलोक ऐसे दो भेद हैं । इस समस्त आकाशमें सिद्ध परमेष्ठीका ज्ञान घनीभूत होकर, भरा हुआ है ॥ ७० ॥

निद्रातन्द्राभयभ्रान्तिरागद्वेषार्तिसंशयैः ।
शोकमोहजराजन्ममरणाद्यैश्च विच्युतः ॥ ७१ ॥

अर्थ—श्रीसिद्ध भगवान् निद्रा, तन्द्रा, भय, भ्रान्ति, राग, द्वेष, पीडा और संशयसे रहित हैं तथा शोक, मोह, जरा, जन्म और मरण इत्यादिकसे रहित हैं ॥ ७१ ॥

क्षुत्तृट्श्रममदोन्मादमूर्च्छामात्सर्यवर्जितः ।
वृद्धिह्रासव्यतीतात्मा कल्पनातीतवैभवः ॥ ७२ ॥

अर्थ—और क्षुधा, तृषा, खेद, मद, उन्माद, मूर्च्छा, और मत्सर भावोंसे रहित हैं और न इनकी आत्मामें वृद्धि ह्रास (घटना बढ़ना) है, और इनका विभव कल्पनातीत है ॥ ७२ ॥

निष्कलः करणातीतो निर्विकल्पो निरञ्जनः ।
अनन्तवीर्यतापन्नो नित्यानन्दाभिनन्दितः ॥ ७३ ॥

अर्थ—सिद्ध भगवान् शरीररहित हैं, इन्द्रियरहित हैं मनके विकल्पोंसे रहित हैं निरंजन हैं अर्थात् जिनके नये कर्मोंका बंध नहीं है । अनन्तवीर्यताको प्राप्त हुए हैं अर्थात् अपने स्वभावसे कभी च्युत नहीं होते और नित्य आनन्दसे आनन्दरूप हैं अर्थात् जिनके सुखका कभी विच्छेद नहीं होता ॥ ७३ ॥

परमेष्ठी पर ज्योतिः परिपूर्णः सनातनः।
ससारसागरोत्तीर्णः कृतकृत्योऽचलस्थितिः॥ ७४॥

अर्थ—तथा परमेष्ठी (परम पदमें विराजमान), पर ज्योति (ज्ञानस्वरूप), परिपूर्ण, सनातन (नित्य), ससाररूपी समुद्रसे उत्तीर्ण अर्थात् संसारसम्बन्धी चेष्टाओंसे रहित, कृतकृत्य (जिनको करना कुछ शेष नहीं है) अचलस्थिति (प्रदेशोंकी क्रियाओंसे रहित) ऐसे सिद्ध भगवान् हैं॥ ७४॥

सतृप्तः सर्वदेवास्ते देवस्त्रैलोक्यमूर्द्धनि।
नोपमेयं सुखादीनां विद्यते परमेष्ठिनः॥ ७५॥

अर्थ—पुन सिद्ध भगवान् सतृप्त है, तृष्णारहित है, तीन लोकके शिखरपर सदा विराजमान हैं अर्थात् गमनरहित हैं। इस ससारमें कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है जिसकी उपमा परमेष्ठीके सुखको दी जाय। उनका सुख निरुपमेय है॥ ७५॥

चरस्थिरार्थसम्पूर्णे मृग्यमाणं जगत्त्रये।
उपमानोपमेयत्वं मन्ये स्वस्यैव स स्वयम्॥ ७६॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि यदि चर और स्थिर पदार्थोंसे भरे हुए इन तीनों जगतोंमें उपमेय और उपमान ढूढा जाय तो मैं ऐसा मानता हू कि वे स्वय ही उपमान उपमेय रूप हैं। **भावार्थ**—सिद्ध भगवानका उपमान सिद्ध ही है और किसीके साथ उनकी उपमा नहीं दी जा सकती॥ ७६॥

यतोऽनन्तगुणानां स्यादनन्तांशोऽपि कस्यचित्।
ततो न शक्यते कर्तुं तेन साम्यं जगत्त्रये॥ ७७॥

अर्थ—क्योंकि तीनों जगतमें उन सिद्ध परमेष्ठीके अनन्त गुणोंका अनन्तवा अश भी किसी पदार्थमें नहीं है इसलिये उनकी समानता किसीके साथ नहीं कर सकते।
भावार्थ—इसीलिये उनका उपमान उपमेय भाव अपना अपने ही साथ है॥ ७७॥

शक्यते न यथा ज्ञातुं पर्यन्तं व्योमकालयोः।
तथा स्वभावजातानां गुणानां परमेष्ठिनः॥ ७८॥

अर्थ—जैसे कोई आकाश और कालका अन्त नहीं जान सकता उसी तरह स्वभावसे उत्पन्न हुए परमेष्ठीके गुणोंका अन्त भी कोई नहीं जान सकता॥ ७८॥

मालिनी।

गगनघनपतङ्गाहीन्द्रचन्द्राचलेन्द्र-
क्षितिदहनसमीराम्भोधिकल्पद्रुमाणाम्।
निचयमपि समस्तं चिन्त्यमानं गुणानां
परमगुरुगुणौघैर्नोपमानत्वमेति॥ ७९॥

अर्थ—आकाश, मेघ, सूर्य, सर्वोंका इन्द्र, चन्द्रमा, मेरु, पृथ्वी, अग्नि, वायु, समुद्र और कल्पवृक्षोंके गुणोंका समस्त समूह भी चिन्तवन किया जाय तो भी उनकी उपमा परम गुरु श्रीसिद्ध परमेष्ठीके गुणोंके साथ नहीं हो सकती। भावार्थ—संसारके उत्तमोत्तम पदार्थोंके गुण विचार करनेसे भी ऐसा कोई पदार्थ नहीं देख पड़ता कि जिसके गुणोंकी उपमा सिद्ध परमेष्ठीके गुणोंके साथ दी जाय ॥ ७९ ॥

नासत्पूर्वाश्च पूर्वा नो निर्विशेषविकारजा ।
स्वाभाविकविशेषा ह्यभूतपूर्वाश्च तद्गुणा ॥ ८० ॥

अर्थ—सिद्ध परमेष्ठीके गुण पूर्वमें नहीं थे ऐसे नहीं हैं "अर्थात् पूर्वमें भी शक्तिरूपसे विद्यमान ही थे। क्योंकि असत्‌का प्रादुर्भाव नहीं होता यह नियम है। यदि असत्‌का भी प्रादुर्भाव माना जाय तो शशशृंगका भी प्रादुर्भाव होना चाहिये, किंतु होता नहीं है। यही इस नियममें प्रमाण" और पूर्वमें व्यक्त नहीं थे तथा विशेष विकारसे उत्पन्न नहीं किंतु स्वाभाविक हैं। (इस प्रकार पूर्वार्द्धद्वारा निषेधमुख कथनकरके, इसी विषयको पुनः उत्तरार्द्धद्वारा विधिमुखवाक्यसे कहते हैं कि—) सिद्ध परमेष्ठीके गुण स्वाभाविकविशेष अर्थात् पूर्वमें भी शक्तिकी अपेक्षा स्वभावमें ही विद्यमान और अभूत-पूर्व अर्थात् पूर्वमें व्यक्त नहीं हुए ऐसे हैं। भावार्थ—आत्माके जो स्वाभाविक गुण पूर्वावस्थामें अव्यक्त रहते हैं वे ही सिद्धावस्थामें व्यक्त होजाते हैं, इसीसे (शक्तिकी अपेक्षा पूर्वमें भी विद्यमान होनेके कारण) उन गुणोंको 'पूर्वमें नहीं थे' ऐसा नहीं कह सकते। और पूर्वमें व्यक्त नहीं थे इससे 'पूर्वमें थे' ऐसा भी नहीं कह सकते। और स्वाभाविक होनेके कारण उनको विकारज भी नहीं कह सकते किंतु वे (गुण) शक्तिकी अपेक्षा स्वाभाविक और व्यक्तिकी अपेक्षा अभूतपूर्व ही कहे जाते हैं ॥ ८० ॥

वाक्पथातीतमाहात्म्यमनन्तज्ञानवैभवम् ।
सिद्धात्मना गुणग्राम सर्वज्ञज्ञानगोचरम् ॥ ८१ ॥

अर्थ—जिसका माहात्म्य वचनोंसे कहने योग्य नहीं है और जिसके अनन्त ज्ञानका विभव है, ऐसे सिद्ध परमेष्ठीके गुणोंका समूह सर्वज्ञके ज्ञानके गोचर है ॥ ८१ ॥

परन्तु यहां भी इतना विशेष है कि—

स स्वयं यदि सर्वज्ञ सम्यग्ब्रूते समाहित ।
तथाप्येति न पर्यन्तं गुणानां परमेष्ठिन ॥ ८२ ॥

अर्थ—सर्वज्ञ देव परमेष्ठीके गुणोंको जानते हैं, परन्तु यदि वे उन गुणोंको समाधान सहित अच्छी तरह कहें तो वे भी उनका पार पा नहीं सकेंगे। भावार्थ—वचनकी संख्या अल्प है और गुण अनन्त हैं इसलिये वे वचनोंसे नहीं कहे जा सकते ॥ ८२ ॥

त्रैलोक्यतिलकीभूतं निःशेषविषयच्युतम् ।
निर्द्वन्द्वं नित्यमत्यक्षं स्वादिष्टं स्वस्वभावजम् ॥ ८३ ॥
निरौपम्यमविच्छिन्नं स देवः परमेश्वरः ।
तत्रैवास्ते स्थिरीभूतः पिबन् ज्ञानसुखामृतम् ॥ ८४ ॥

अर्थ—श्रीसिद्ध परमेष्ठी परमेश्वर देव समस्त त्रैलोक्यका तिलकस्वरूप, समस्त विषयोंसे रहित, निर्द्वन्द्व अर्थात् प्रतिपक्षी रहित, अविनाशी, अतीन्द्रिय, स्वादस्वरूप, अपने स्वभावसे ही उत्पन्न, उपमारहित और निच्छेदरहित ज्ञान और सुखरूपी अमृतको पीते हुए स्थिरीभूत तीन लोकके शिखरपर विराजमान रहते हैं ॥ ८३ ॥ ८४ ॥

स्रग्धरा ।

देवः सोऽनन्तवीर्यो दृगवगमसुखानर्घ्यरत्नावकीर्णः
श्रीमांस्त्रैलोक्यमूर्ध्नि प्रतिवसति भवध्वान्तविध्वंसभानुः ।
स्वात्मोत्थानन्तनित्यप्रवरशिवसुधाम्भोधिमग्नः स देव
सिद्धात्मा निर्विकल्पोऽप्रतिहतमहिमा शश्वदानन्दधामा ८५

अर्थ—जिनके अनन्त वीर्य है अर्थात् प्राप्त स्वभावसे कभी च्युत नहीं होते, जो दर्शन ज्ञान और सुखरूप अमूल्य रत्नोंसहित है, जो संसाररूप अन्धकारको दूर कर सूर्यके समान विराजमान है, जो अपने आत्माहीसे उत्पन्न ऐसे अनन्त नित्य उत्कृष्ट शिवसुखरूपी अमृतके समुद्रमें सदा मग्न हैं, निर्विकल्परहित हैं, जिनकी महिमा अप्रतिहत (जो किसीसे आहत न होने) है और जो निरन्तर आनन्दके निवासस्थान है ऐसे श्रीसिद्ध परमेष्ठी देव शोभायमान जो तीनों लोकोंका मस्तक (शिखर) है उसमें सदा निवास करते हैं ॥ ८५ ॥

इति कतिपयवरवर्णैर्ध्यानफलं कीर्तितं समासेन ।
निःशेषं यदि वक्तुं प्रभवति देवः स्वयं वीरः ॥ ८६ ॥

अर्थ—ऐसे पूर्वोक्त प्रकार कितने ही श्रेष्ठ अक्षरोंके द्वारा संक्षेपसे ध्यानका फल कहा है । इसका समस्त फल कहनेको स्वयं श्रीवर्द्धमान स्वामी ही समर्थ हो सकते हैं ॥ ८६ ॥

दोहा ।

मन्द कषाय अभावतें, उज्वल चेतन भाव ।
शुक्लध्यानमें होय तब, कर्मनिर्जरा थाय ॥ १ ॥
सर्व कर्मका नाश करि, देत मोक्ष यह ध्यान ।
सुख अनन्त तहँ भोगवै, सदा रहै थिर थान ॥ २ ॥

अब ग्रन्थका उपसंहार करते हैं ।

मालिनी ।

इति जिनपतिसूत्रात्सारमुद्धृत्य किंचित्
स्वमतिविभवयोग्यं ध्यानशास्त्रं प्रणीतम् ।

विबुधमुनिमनीषाम्भोधिचन्द्रायमाणं
चरतु भुवि विभूत्यै यावदद्रीन्द्रचन्द्रः ॥ ८७ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि हमने इस प्रकार जिनेन्द्र देव सर्वज्ञके सूत्रसे थोडासा सार लेकर, अपनी बुद्धिके विभवानुसार यह ध्यानका शास्त्र निर्माण किया है। सो यह शास्त्र विद्वान् मुनियोंकी बुद्धिरूप समुद्रके बढानेके लिये चन्द्रमाके समान होता हुआ जबतक मेरु और चन्द्रमा रहें तबतक इस पृथ्वीमें अपनी विभूतिके लिये सदा प्रवर्त्तो (यह आचार्यका आशीर्वाद है) ॥ ८७ ॥

ज्ञानार्णवस्य माहात्म्यं चित्ते को वेत्ति तत्त्वतः ।
यज्ज्ञानात्तीर्यते भव्यैर्दुस्तरोऽपि भवार्णवः ॥ ८८ ॥

अर्थ—भव्य जीव जिसके ज्ञानसे ही अत्यन्त कठिनतासे पार करने योग्य संसाररूप समुद्रके पार हो जाते हैं ऐसे इस ज्ञानार्णव ग्रन्थका माहात्म्य यथार्थ रीतिसे अपने चित्तमें कौन जानता है ॥ ८८ ॥

इस प्रकार इस शास्त्रकी महिमा निरूपण की। इसका तात्पर्य यह है कि इस ग्रन्थका नाम ज्ञानार्णव सार्थक है। ज्ञानको समुद्रकी उपमा है। जो ज्ञानकी उज्ज्वलता है वही निर्मल जल है और उसमें जो सब पदार्थ प्रतिबिंबित होते हैं वे ही रत्न हैं। इस प्रकार ज्ञानकी स्वच्छता और एकाग्रता करनेका इसमें वर्णन है इस कारण इसका नाम ज्ञानसमुद्र (ज्ञानार्णव) है। यद्यपि यह ग्रंथ मुनियोंके पढने योग्य है परन्तु इस पंचमकालमें मुनियोंकी दुर्लभता है इस कारण गृहस्थी भी इसको पढै सुनै और सुनावै तो उसके यथार्थ श्रद्धान हो जाय तथा ज्ञानकी भावना रहै तो बडा लाभ हो, परंपरा संस्कार पर भवमें चला जाय तो उत्तम गति हो, सुखकी प्राप्ति हो, इस कारण गृहस्थको पढना सुनना सुनावना योग्य है।

सवैया २३ सा

ज्ञानसमुद्र सदा सुखनीर पदारथ पंक्ति रतन विचारो।
राग विरोध विमोह कुवस्तु मलीन करो तिन दूर विडारो॥
तांहि सँभार करो अवगाहन निर्मल होय सुतत्त्व उधारो।
ठान क्रिया निज नेम सदा गुन भोजन भोगन मोक्ष पधारो॥ ४२॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे पिंडस्थध्यान-
वर्णनं नाम द्विचत्वारिंशं प्रकरणं समाप्तम् ॥

त्रैलोक्यतिलकीभूतं निःशेषविषयच्युतम् ।
निर्द्वन्द्वं नित्यमत्यक्षं स्वादिष्टं स्वस्वभावजम् ॥ ८३ ॥